खड़ी बोली कविता में विरह-वर्णन

[आगरा विश्व-विद्यालय से पी-एच०डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध]

लेखक

डॉ रामप्रसाद मिश्र,

एम०ए०, पी-एच०डी

प्रकाशक

सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा

१९६४ : : मू०१६·००

प्रकाशक :
प्रतापचन्द जैसवाल
संचालक :
सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा, आगरा

प्रथम संस्करण

●

एक हजार प्रतियाँ

●

जून १९६४

●

मुद्रक :
कल्याण प्रिंटिंग प्रेस
अहीरपाड़ा, आगरा

समर्पण

पिता (शिवलाल मिश्र) को,
जो ६३ वर्ष पूर्ण करने
के पूर्व ही
१८ जुलाई १९६३,
को मुझे अनाथ
कर गए।

विषय-सूची

भूमिका

प्रस्तुत प्रबंध में विरह की व्याख्या तथा आधुनिक खड़ी बोली कविता के विरह-वर्णन का विवेचन किया गया है। इसका मूल शीर्षक "खड़ी बोली कविता में विरह-वर्णन था।" किन्तु विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए शीर्षक को "विरह-विवेचन और खड़ीबोली कविता में विरह-वर्णन" का रूप देना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ। मूल प्रबन्ध के कुछ अंश इससे हटा दिए गए हैं, पर जोड़ा कुछ नहीं के बराबर हो गया है। इसमें पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में विरह के विशद रूप का निरूपण करने का प्रयास किया गया है। भारतीय साहित्याचार्यों ने शृंगार रस का जो निरूपण किया है, वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उत्तम है। शृंगार या मानस में मन्मथोद्रेक मानव की सबसे व्यापक प्रवृत्ति है। शृंगार का आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रसराजत्व सर्वथा समीचीन है। किन्तु शृंगार समूची प्रेम-भावना का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता, यह भी स्पष्ट है। शृंगार तथा उसका स्थायीभाव रति तर्क से पृथक् होने पर जनता, शब्दकोषों तथा आचार्यों की परिभाषाओं सभी में दांपत्य-प्रेम या प्रिय-प्रिया-प्रेम का ही सूचक रहा है। अतः आचार्यों ने शृंगार को रसराजत्व प्रदान करने में अनौचित्य भले ही न किया हो, अन्य प्रेम-भावनाओं को भाव मात्र की स्थिति प्रदान करने में उन्होंने औचित्य की अवहेलना की है। इसका प्रमाण एकाधिक विषयों पर उनका मतभेद है। मुनीन्द्र, भोज तथा विश्वनाथ वात्सल्य को रस मानते हैं, अन्य आचार्य नहीं। हमने इस प्रबन्ध में शृंगार की महत्ता को पूर्णतः स्वीकार करते हुए भी उसे "प्रेमसंज्ञक" जैसी वस्तु न मानकर प्रेमरस का एक अंग माना है। कुछ व्यक्तियों को यह प्रयास शास्त्रीय दृष्टि से भले ही खटके, पर स्वतंत्र विचार की दृष्टि से विषय विचारणीय है। प्रेमभावना अत्यंत व्यापक है तथा अपनी उदारता एवं गम्भीरता की दशा में यह दांपत्येतर स्थितियों में भी रस-दशा तक पहुँच सकती है। प्रेम के सकाम तथा निष्काम दोनों रूपों में बड़ी गहराई होती है। उसका क्षेत्र नर-नारी की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। वह माता, पिता, संतान, गुरुजन, मित्र, जन्मभूमि, प्रियवस्तु चाहे वह जड़ हो या चेतन, सेवक, स्वामी, बन्धु, ईश्वर, इत्यादि तक फैला है तथा अपनी गम्भीरता एवं उदात्तता में उसके अनेकानेक रूप रस-दशा की प्राप्ति कर सकते हैं। हमने अपना विरह-विवेचन प्रेम-रस की भूमि पर खड़े होकर किया है, शृंगार मात्र की भूमि पर नहीं। प्रेम-रस में शृंगार, वात्सल्य तथा हरिरस के अतिरिक्त अन्य प्रेमभावनाएँ भी समाहित हैं तथा उसके विरह-पक्ष का प्रसार शृंगार, वात्सल्य तथा करुण तीनों की सीमाओं से

आगे तक है। हमसे हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध प्राध्यापक महोदय "विरह" शब्द को पकड़कर तथा उसे दांपत्य में बांधकर 'रूढ़ि योगात् बलीयसी" की चर्चा कर रहे थे। इस सम्बन्ध में निवेदन है कि माता, पिता, भ्राता, सुहृद इत्यादि से सम्बन्धित प्रकरणों में विरह शब्द का प्रयोग तुलसी, सूर तथा अन्य लब्धप्रतिष्ठ कवि अनेक बार कर चुके हैं। जब इस सम्बन्ध में तुलसी और सूर रूढ़िवादी नहीं हैं, तब बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में हमारा रूढ़िवादी न होना प्राध्यापक महोदय को न खटकना चाहिए।

प्रेमरस का विवेचन करने के बाद हमने अपने काव्य में प्राप्त विश्व-वर्णन की संक्षिप्त समीक्षा की है। ऋग्वेद के पुरूरवा-ऊर्वशी-प्रकरण में विरह के सभी तत्व-विरही की पीड़ा-विकलता, प्रिय के गुणों का उल्लेख, मिलनाशा-विद्यमान हैं। अत: हमने अपने विरह-वर्णन की परम्परा का उद्गम ऋग्वेद में ही माना है, इसके बाद वाल्मीकि, भास और कालिदास—संस्कृत काव्य के तीन आधार-स्तम्भों—की विरह दृष्टि पर कुछ प्रकाश डाला है। ऐसा करने का कारण यह है कि वाल्मीकि और कालिदास का हिंदी-कविता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है तथा उनकी विरह से हिन्दी की विरह-दृष्टि बहुत प्रभावित हुई है। भास पर जो कुछ कहा गया है वह उनकी उदात्त नारी-भावना एवं कालिदास पर उनके प्रभाव के कारण सोद्देश्य है।

हिन्दी-कविता में विरह-वर्णन की सुश्रृंखलित एवं क्रमबद्ध परम्परा विद्यापति से प्रारंभ होती है विद्यापति से बच्चन तक शत-शत कवियों ने विरह-गान गाए हैं। कहीं परकीया का वैंकिम वैकल्य चित्रित किया गया है, कहीं स्वकीया की शीतल ज्वाला के दर्शन कराए गए हैं, कहीं ईश्वर के विरह में आत्मा का पावन रोदन दिखलाया गया है, कहीं पितृ-हृदय की अत्यन्त प्रेम-विकलता को शब्द चित्र बना दिया गया है, कहीं मातृ-हृदय को काव्य-दर्पण में दिखला दिया गया है, कहीं मित्र-विछोह की पीड़ा का गान हुआ है, कहीं बन्धु-वियोग का अनुपात हुआ है। हमने हिन्दी कविता में उपलब्ध विरह-वर्णन की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करदी है। विद्यापति, कबीर, दादू, सूर, तुलसी, जायसी, मीरा, केशव, बिहारी, देव, मतिराम तथा रत्नाकर के विरह-वर्णन का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। इससे खड़ी-बोली का विरह-काव्य परम्परा की दृष्टि से कितना संपन्न है, यह कुछ-कुछ स्पष्ट हो जाता है।

काव्य में विरह-वर्णन की विहंगम आलोचना करने के पश्चात् हमने विरह-दशा में मानसिक स्थिति, विरह-विकलता में प्रकृति का रूप तथा प्रिय के प्रवास-स्थल की दूरी और विरह की स्थिति का स्पष्टीकरण किया है। तब विरह-वर्णन के विराट् क्षेत्र के सोलह रूपों का उल्लेख किया है। कल्पित प्रिय एवं अतीत तथा

अतीत-संबद्ध वस्तु के प्रति विरह-भावना की सम्भावना-असम्भावना का स्पष्टीकरण भी किया गया है। हिन्दी-विरह-काव्य शृंगार, वात्सल्य तथा हरिरस की दृष्टि से सम्पन्न होने पर भी व्यापकत्व की दृष्टि से कुछ संकुचित है, इसे भी स्पष्ट किया है।

द्वितीय अध्याय में भारतीय आचार्यों के विरह के शास्त्रीय विवेचन की समीक्षा की गई है। भरत मुनि, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ इत्यादि आचार्यों ने विरह पर जो विचार प्रकट किए हैं, उनका स्पष्टीकरण करते समय हमने प्राचीनता एवं आधुनिकता दोनों का ध्यान रखा है। पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण-विप्रलम्भ का स्पष्टीकरण और करुण-विप्रलम्भ एवं करुणरस का अन्तर स्पष्ट किया है। तदनंतर अभिलाषा-मूलक, विरह-मूलक, ईर्ष्यामूलक, प्रवासमूलक तथा शापमूलक विरह-भेदों का स्पष्टीकरण एवं इनकी पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण से तुलना की गई है। विरह के सात्विक भावादि तथा कामदशाओं पर प्रकाश डालकर हिन्दी में विरह-वर्णन करने वाले कवियों की डाक्टर नगेन्द्र द्वारा स्थापित तीन श्रेणियों का उल्लेख तथा दूत-दूती के माध्यम से विरह-वर्णन करने वाली कवियों की चौथी प्रवृति का स्पष्टीकरण किया गया है। विरह-वर्णन की शैलियों पर प्रकाश डालकर हमने हिन्दी के वात्सल्य-विरह की समीक्षा की है। इसी प्रकरण में हमने सन्तान के अभाव अथवा दूसरे की सन्तान को देखकर निस्सन्तान व्यक्ति के हृदय में उठने वाले या उठ सकने वाले भावों के वात्सल्य रस के अन्तर्गत होने न होने का प्रश्न भी उठाया है तथा वात्सल्य-भावना सन्तान के क्षेत्र से कहीं अधिक विस्तीर्ण है, इसे स्पष्ट किया है।

तृतीय अध्याय में युग-बद्ध क्रम से खड़ीबोली-कविता के विरह-वर्णन की आलोचना की गई है। द्विवेदी-युग, छायावाद-युग तथा छायावादोत्तर युग के विरह-काव्य का विवेचन करते समय बीसवीं सदी के अनेकानेक हिन्दी-कवियों के काव्यांश-पद्यांश हमने प्रयुक्त किए हैं। विरह एक ऐसी भावना है जो अपने किसी न किसी रूप में सभी हृदयों का स्पर्श अनिवार्य रूप से करती है। स्वभावतः सभी कवि विरह पर कुछ न कुछ लिखते हैं। इस स्थिति में यह सम्भव नहीं है कि विरह पर जिस किसी ने कुछ लिखा हो उसका उल्लेख प्रबन्ध में हो जाए। यद्यपि हमारा प्रयास यही रहा है कि अधिक से अधिक कवियों तथा उनके विरह-सम्बन्धी उद्गारों का हम उपयोग कर सकें, तथापि अनेक कवि और उनके वर्णन हमारी दृष्टि में न आ सके होंगे या अनेक कवियों के उद्गारों को कोई नवीनता, उदात्तता या महत्व न होने के करण हमें छोड़ देना होगा। एतदर्थ हम क्षमाप्रार्थी हैं।

चतुर्थ अध्याय में खड़ी-बोली के चार प्रमुख विरह-वैतालिकों—हरिऔध, मैथिलीशरण, प्रसाद और महादेवी—की आलोचना की गई है। खड़ी-बोली-काव्य को सृजनात्मक विभूति द्विवेदी-युग एवं छायावाद युग में ही मिली है। द्विवेदी-युग ने हिन्दी को हरिऔध और मैथिलीशरण, दो महाकवि, प्रदान किए। छायावाद की कलात्मक देन द्विवेदी-युग से भी अधिक महान है, जिसमें विरह-गान की दृष्टि से प्रसाद और महादेवी का स्थान अनूठा है। द्विवेदी-युग तथा छायावाद युग के बाद कुछ श्रेष्ठ कवि तो हुए हैं, पर कोई महाकवि प्रकाश में नहीं आया। अतः हमने प्रबन्ध के व्यक्तिमूलक चतुर्थ अध्याय में द्विवेदी-युग तथा छायावाद-युग के प्रमुख विरह-वैतालिकों की ही समीक्षा की है। परवर्ती कवियों में जिनका विरह-सृजन महत्वपूर्ण है, उनकी समीक्षा यथेष्ट विस्तार के साथ तृतीय अध्याय में कर दी गई है।

पंचम अध्याय में प्रबन्ध का उपसंहार है। इसमें हिन्दी-कविता में विरह-वर्णन की अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार प्रबन्ध में क्रमशः विरह के क्षेत्र की नवीन एवं स्वतन्त्र प्रस्तावना, हिन्दी विरह-काव्य की रूपरेखा, विरह के शास्त्रीय विवेचन की समीक्षा तथा प्रमुखतः खड़ी-बोली के विरह-वर्णन की आलोचना की गई है। विस्तार की प्रवृत्ति से बचने का भरसक प्रयास करते हुए भी हम यदि कहीं न बच पाए हों, तो क्षमाप्रार्थी हैं।

अन्त में ग्रंथसूची है। हमने केवल उन्हीं ग्रन्थों को सूची में स्थान दिया है, जिनका प्रबन्ध से सीधा सम्बन्ध है। फलतः यह सूची अपूर्ण एवं अवैज्ञानिक कही जा सकती है। किन्तु इसमें दिए गए ग्रन्थ इतने प्रसिद्ध हैं कि हमें उनका अभिनवीकरण न करना ही स्वाभाविक प्रतीत हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध की रचना श्रद्धेय गुरुवर डा० मुंशीराम शर्मा एम० ए०, (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच० डी०, डी० लिट्०, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, डी० ए० वी० कालेज कानपुर के निरीक्षण में हुई है। प्रारम्भ से अन्त तक श्रद्धेय शर्मा जी ने हमारा जो मार्ग-दर्शन किया है, उसके लिए हम अपनी विनम्र श्रद्धा प्रकट करते हैं।

५ नवम्बर, १९६०

—रामप्रसाद मिश्र

प्रेमरस

मनुष्य के मूल मनोविकार सुख तथा दुःख है। ख अक्षर का अर्थ है इंद्रिय। मानव की इंद्रियाँ जिस स्थिति में 'सु' का अनुभव करती हैं, उसे सुख कहते हैं, इसके विपरीत अनुभूति दुःख है। अपने मूल-रूप में सुख तथा दुःख परिस्थिति-सापेक्षता के परिणाम में अनुभूति-सापेक्ष अधिक होते हैं। एक व्यक्ति के लिए जो दुःख हो सकता है, वह दूसरे के लिए सुख। पंचाग्नि-तप तपस्वी के लिए आनंद है, सामान्य व्यक्ति के लिए दुःख। एक व्यक्ति के लिए जो सुख हो सकता है, वह दूसरे के लिए दुःख। विलासी के लिए मदिरा सुखों की कुंजी है, ब्रह्मचारी के लिए विष। किन्तु सुख-दुःख का अनुभूति-सापेक्ष रूप मानव को तभी प्रतीत होता है, जब वह आयु, अनुभव तथा ज्ञान की दिशाओं में कुछ आगे बढ़ जाता है। आयु, अनुभव तथा ज्ञान की अल्पता की स्थिति में सुख तथा दुःख इंद्रिय-सापेक्ष रहता है। शिशु के सुख-दुःख-संवेदन में ऐसा स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

अनुभूति के क्षेत्र-विस्तार के साथ-साथ सुख तथा दुःख रूपी मूल अनेक शाखा-प्रशाखा रूपी मनोविकारों को जन्म देता रहता है। शिशु केवल दो मनोभावों को प्रकट करता है, सुख तथा दुःख, जिन्हें वाणी के अभाव में वह हास और रोदन के द्वारा व्यक्त करता है। किन्तु आयु, अनुभव एवं ज्ञान के वार्धक्य के साथ सुख तथा दुःख अनेक भेद-विभेद ग्रहण करने लगते हैं। उदाहरण के लिए शिशु को चाहे कोई चारपाई से जमीन पर गिरा दे, चाहे वह स्वयं गिर पड़े, प्रतिक्रिया एक ही होगी-रोदन या दुःख का प्रकटीकरण। किन्तु यदि किसी युवक को कोई व्यक्ति चारपाई से ढकेल दे, तो उसे घृणा, क्रोध इत्यादि अनेक समानजातीय भाव अनुभूत होंगे, और यदि वह स्वयं गिर पड़े तो घृणा, क्रोधादि से भिन्न अपनी असावधानी पर वह खिसिया उठेगा, कहेगा—'कोई अधिक चोट नहीं लगी। यों ही गिर गया,' इत्यादि। यदि कोई उसकी असावधानी को मूर्खता सिद्ध करे, तो वह लड़ने पर आमादा हो जाएगा, और यदि कोई कह दे कि "अरे, बड़े-बड़े गिर पड़ते हैं, कोई बात नहीं," तो वह अपने को लापरवाह और मूर्ख घोषित करने लगेगा। इससे भिन्न यदि कोई रोगी चारपाई से गिर पड़े, तो वह निराशामूलक उद्गार प्रकट करेगा, यदि किसी

के द्वारा गिराया जाए, तो दर्शनशास्त्र के उद्धरण प्रस्तुत करने को विवश हो उठेगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रतिक्रिया परिस्थिति-निरपेक्ष नहीं होती।

उत्साह, निर्वेद, शोक, जुगुप्सा इत्यादि मनोभाव मूलभावों-सुख तथा दुःख में से किसी एक में मूलभूत होते हैं। उनकी क्रिया का प्रारम्भ एवं अंत सुख या दुःख में से किसी एक के ही साथ सम्बद्ध रहता है। इसके विपरीत सुख और दुःख दोनों का स्पर्श प्राप्त करता रहता है। प्रेम के प्रथम क्षण में ही परिचय का सुख तथा विरह का दुःख एकाकार हो सकता है, मिलन के सुख में भी विरह की शंका का दुःख मिश्रित हो सकता है। अतः स्पष्ट है कि प्रेम महाभाव है, जिसका विराट् क्षेत्र मूल मनोभावों-सुख तथा दुख-के प्रत्येक कोण का स्पर्श कर लेता है। यही कारण है कि चाहे मनोवैज्ञानिक हों या कवि, दार्शनिक हों या तार्किक, प्रेम को मानवीय मनोभावों में सर्वोपरि स्थान प्रदान करते हैं।

प्रेम महाभाव है, भावों का भाव है। अपने प्रारंभिक एवं स्थूल रूप में प्रेम कामना के अधिक निकट रहता है। इस दशा में वह लोभ-जैसा प्रतीत होने लगता है, यद्यपि लोभ से भिन्न होता है। लोभ अनेकनिष्ठ है, प्रेम एकनिष्ठ, लोभ का क्षेत्र प्रायः अर्थ-वस्तु-मूलक होता है, प्रेम का व्यक्ति-मूलक, लोभ का पाट बड़ा होता है, प्रेम में गहराई अधिक होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है 'मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही हैं इसका पता हमारी भाषा ही देती है। किसी रूपवान या रूपवती को देख उस पर 'लुभा जाना' बराबर कहा जाता है। अंग्रेजी के प्रेमवाचक शब्द 'लव' (Love) सेक्सन के 'लुफु' (Lufe) और लेटिन के लुबेट (Lubet) का सम्बन्ध संस्कृत के लोभ शब्द या लुभ् धातु से स्पष्ट लक्षित होता है।'[1] व्यष्टि-निष्ट लोभ का भाव प्रेम की प्रारम्भिक स्थिति है। यह लोभ कभी-कभी इतना अधिक बढ़ जाता है कि प्रेमी समष्टि-निरपेक्ष हो जाता है, ज्ञान-विवेक से विमुख हो बैठता है। हमारी समझ में प्लेटो ने जब प्रेम को मानसिक रोग की परिभाषा प्रदान की होगी, तब उनके समक्ष प्रेम का यही रूप रहा होगा। फारसी और उर्दू के काव्य में प्रेम का यह रूप बहुत अधिक चित्रित हुआ है।

मनुष्य की कुछ प्रवृत्तियाँ एक निर्दिष्ट सीमा पर पहुँचने के बाद अपना वह सूक्ष्म एवं गंभीर रूप धारण करती हैं, जो स्थूल दृष्टि से देखने पर विपरीत प्रवृत्ति-सा प्रतीत होता है। प्रेम में भी ऐसा दृष्टिगोचर होता है। तप की अग्नि में तप कर प्रेम की कामनामूलकता आत्मोत्सर्ग का रूप धारण कर लेती है, व्यष्टिगत-लोभ आत्मगत-त्याग में परिणत हो जाता है। पर इस स्थिति में भी आलंबन व्यक्ति

---

१. चिंतामणि (प्रथम भाग), लोभ और प्रीति, पृष्ठ ८६।

ही रहता है। हाँ, प्रेमी तुष्टि और असंतुष्टि की सीमाओं से ऊपर अवश्य उठ जाता है। 'प्रेमी तो प्रेम कर चुका, उसका कोई प्रभाव प्रिय पर पड़े या न पड़े। उसके प्रेम में कोई कसर नहीं। प्रिय यदि उससे प्रेम करके उसकी आत्मा को तुष्ट नहीं करता, तो उसमें उसका क्या दोष। तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता में कोई त्रुटि नहीं आ सकती।'[1]

इस पावन दशा में प्रेम चंडीदास के शब्दों में बोलता है—

आमि निज सुख-दुउ किछु न जानी।
तोमार कुशले कुशल मानी।।

कामना की संकुचित दीवारों से ऊपर उठने पर प्रेम अपनी उज्जवलता से प्रेमी का हृदय जाज्वल्यमान करने लगता है। एक स्थिति ऐसी आ जाती है, जब प्रेमी प्रिय से नहीं, प्रेम से प्रेम करने लगता है। प्रिय की आयु का अन्तर, यहाँ तक कि उसकी मृत्यु भी, उसके प्रेम-मार्ग में कोई व्यवधान नहीं डाल पाती। महाकवि भवभूति इसी स्तर के प्रेम के लिये "अद्वैतं सुखदुःखयौः" इत्यादि उद्‌गार प्रगट करते हैं। इसी स्तर के प्रेम के लिये कवियों में बारंबार घोषणा की है—प्रेम मृत्यु से दृढ़तर है।

सच पूछा जाय तो लोभ, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति इत्यादि अनेक भावों में संबंध का एक अविच्छिन्न सूत्र विद्यमान है। प्रेम की अनुदात्तता उसे लोभ के निकट पहुँचा देती है, विराटता श्रद्धा के निकट; पूज्यभाव की अत्यधिक वृद्धि एवं सान्निध्य-कामना भक्ति के निकट, चिर-अभाव की स्थिति करुणा के निकट। स्थल प्रेम-दशा में प्रिय कभी-कभी ईर्ष्या, द्वैष तथा क्रोध भी उत्पन्न कर देता है। स्पष्ट है कि प्रेम का भाव-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, तथा उसके सूक्ष्म-स्थूल रूपों के घेरे में मानव के प्रायः सभी भाव समाहित हो जाते हैं। प्रेमरस रसों का रस है, महारस है। प्रसिद्ध है—

प्रेम रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः।।

प्रेम के अनेक रूपों में शृङ्गार का महत्व सर्वोपरि है। शृंग शब्द का अर्थ है मन्मथ का उद्रेक।[2] शृङ्गार का स्थायीभाव रति है। रति की अनेक परिभाषाएं

---

१. चिंतामणि (प्रथम भाग), लोभ और प्रीति, पृष्ठ ६४।

२. शृङ्ग हि मन्मथोद्‌भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तम प्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते।। साहित्य-दर्पण (३।१८३)
यह श्योक निम्नांकित रूप में भी प्रसिद्ध है—
शृङ्गं हि मन्मथोद्‌भेदस्तदागमनहैतुकः।
पुरुषप्रमदाभूमिः शृङ्गार इति गीयते।।

हैं। यत्र-तत्र उसे प्रेम का पर्याय भी समझाया गया है। 'रतिर्देवादिविषया'[१] प्रभृति निष्पत्तियों के भी दर्शन होते हैं। इष्टार्थ विषय की प्राप्ति को भी रति कहा गया है—"इष्टार्थविषयप्राप्त्या रतिः समुपजायते।"[२] मनोनुकूल वस्तु की प्राप्ति से भी रति का संबंध जोड़ा गया है—"रतिर्मनोनुकूलेर्थे मनसः प्रवणायितम्।"[३] इस परिभाषा का इस रूप में भी प्रयोग हुआ है—"रतिस्तु मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनम्।" इन परिभाषाओं से रति का वास्तविक भाव स्पष्ट नहीं होता। रति का वास्तविक भाव पुरुष और नारी की पारस्परिक रमणेच्छा के रूप में ही लोक-प्रचलित है, यद्यपि शास्त्रीय विवाद ने इसके अन्य अर्थ भी प्रयुक्त किए हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों में भी जहाँ-कहीं रति का विस्तृत स्पष्टीकरण हुआ है, वहाँ वह स्त्री-पुरुष की रमणेच्छा का ही पर्याय है—

(अ) रतिनामं प्रमोदात्मिका ऋतुमाल्यानुलेपनाभरणभोजनवभवनानुभवना-प्रातिकूल्यादिभिर्विभावैः—स्मितवदनमधुरकथन भ्रूक्षेप कटाक्षदिभिरनुभावै।[४]

(ब) तत्र शृङ्गारस्य द्वो भेदो-सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र परस्परावलोकना-लिगंनाऽधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तत्वाद परिच्छेद्य एक एव गम्यते। —अपरस्तु अभि-लाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पंचविधः।[५]

(स) स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिःस्थायिभावः।[६]

३ महामुनि भरत के शृङ्गाररस के अनुभावादि, मम्मट के स्पष्ट स्पष्टीकरण और जगन्नाथ की निर्दिष्ट स्थापना रति को पुरुष और नारी की रमण-भावना के रूप में ही प्रस्तुत करती है। प्रसिद्ध भी है—"स्मरकरम्बिसान्तः करणयोः स्त्रीपुंसयोः परस्परं रिरंसा रतिः स्मृता।"

मानव-मानस में मन्मथोद्रेक एवं नर-नारी की रमणेच्छा, जिसे सेक्सभावना कहते हैं, निसर्गजात तथा व्यापकतम प्रवृत्ति है। अतः हमारे आचार्यों ने नर-नारी के पारस्परिक आकर्षण, प्रणय-व्यापार एवं रमण का चित्र प्रस्तुत करने वाले रस शृङ्गार को सर्वोपरि महत्व प्रदान किया है।

---

१. काव्य-प्रकाश (४।४८)।
२. नाट्यशास्त्र (७।६।१)।
३. साहित्य-दर्पण (३।१७६।१)।
४. नाट्यशास्त्र (७)
५. काव्य-प्रकाश (४)
६. रसगंगाधर (१)

महामुनि भरत ने शृङ्गार रस को "उज्ज्वलवेषात्मक" कहते हुए स्पष्ट किया है कि संसार में जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह शृङ्गाररस कहलाता है—"तत्र शृङ्गारोनाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः । यथा यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते ।"[१] कामभावना सकलजातिसुलभ एवं अत्यंत परिचित भावना है । अतः अन्य सभी की भांति आचार्य अभिनवगुप्त भी इस भावना को चित्रित करने वाले शृङ्गाररस को रसों में प्रथम स्थान प्रदान करते हैं—"तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयादत्यंत परिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृयतेति पूर्वं शृङ्गारः ।"[२] कामभावना का क्षेत्र मानव की अन्य समग्र भावनाओं का स्पर्श करने में समर्थ है । अतः रसास्वाद की दृष्टि से शृङ्गार ही रस है, वही प्रमुख एवं अन्यतम है, ऐसा प्रसिद्ध है—

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतहास्यरोद्र बीभत्सलभयानकशान्त नाम्नः ।
आम्नासियुदर्शरसान् सुधियोर्वदन्ति शृङ्गारमेवरसनाद्रसमामनामः ।।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने भी ऐसा ही कहा है—

(अ) मूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार । (कुशलविलास)

(ब) नवहूँ रस को भार बहु तिनके भिन्न विचार ।
सबको केशवदास कहि नायक है सिंगार ।।
(रसिकप्रिया)

(स) नबरस में सिंगाररस सिरे कहत सब कोय
(जगद्विनोद)[३]

कामभावना काव्य से बाहर भी मनुष्य की भावनाओं में सर्वोपरि महत्व रखती है । यही कारण है कि मानव-जाति के प्रथम ग्रंथ ऋग्वेद में काम की स्तुति की गई है । वेद॰घोषणा करता है-मानस का रेतस् या बीज काम सर्वप्रथम ईश्वर के निर्विकार हृदय में था । मनीषी ऋषियों ने गंभीर अनुसंधान करके हृदयस्थ परमात्मा में सत् से असत् का संबंध करानेवाले काम का ज्ञान प्राप्त किया :—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसारेतः प्रथम यदासीत्
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदा प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।[४]

---

१. नाट्यशास्त्र (६)
२. अभिनवभारती (६।१६)
३. हरिऔध कृत 'रस-कलश', पृष्ठ ८६ ।
४. ऋग्वेद (१०।१२९।४)

कामहीन चेष्टाओं की नकारात्मकता तथा समग्र कार्यों में कामचेष्टा का मूलभूत होना महामति भगवान मनु भी स्वीकार करते हैं :—

अकामस्य क्रिया का चिद्दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्धद्धि कुरुते किंचिततत्कामस्य चेष्टितम् ॥[1]

नर और नारी का पारस्परिक रति-संबंध सृष्टि का संचालक-तत्व होने के ही कारण महान एवं सर्वोपरि महत्वपूर्ण हो, ऐसी बात नहीं है; वह जीवन के प्रायः प्रत्येक क्रिया-कलाप में व्याप्त रहता है। मनुष्य का संघटन सेक्स से सर्वाधिक प्रभावित है। आधुनिक युग में फ्रायड ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के जीवन एवं उसके प्रत्येक कार्य का संचालन प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से सेक्स करता है। इस चिंतन की अति को स्वीकार करते हुए भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि नर-नारी-भावना मानव-जीवन की सर्वाधिक व्यापक भावना है।

प्राचीनतम युग में ही मनुष्य ने सृष्टि में आकर्षण की प्रमुखतम प्रतीक नारी की महिमा को समझ लिया था। वृहदारण्यक उपनिषद में महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से नारी की सृष्टि का वर्णन करते हुए बतलाया है कि प्रारंभ में सृष्टि में एकाकी पुरातन पुरुषत्व रमण के अभाव में क्लेश का अनुभव करते हुए अपने शरीर को दो भागों में बांट कर आनंदित हुआ था--आत्वैमेवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत, सौऽहमस्पीत्यग्रे व्याहरत्, ततोऽहंनामा भवत्; .... स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते; स द्वितीयमैच्छत् । स हेतवानास यथा स्त्रीपुमानंसौ संपरिष्वक्तो, स इममेवात्मानं द्वैधापातयत्, ततः पतिश्चपत्नीचामवताम् तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व, ...तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्वत एव, तां सम्भवत्, ततौ मनुष्या अजायन्त ।[2] 'एकाकी तत्व सौऽहम् कह कर सन्तुष्ट नहीं रह सका। उसने अपने भाग कर दिए। दोनों भाग मिल कर उस पुरातनपुरुष के सर्वोत्तम चमत्कार मानवत्व को पूर्ण करते हैं। उनका पारस्परिक आकर्षण दो का एक होने का प्रयास है, केवल इंद्रिय-चेष्टा नहीं। मनुस्मृति में ब्रह्मा के द्वारा देह को दो खंड करके अर्द्ध भाग से पुरुष तथा अर्द्धभाग से स्त्री की सृष्टि बतलाई गई है, जिसमें बाइबिल की भाँति नारी पुरुष से सर्जित न होकर, पुरुष के ही समान सर्जित घोषित की गई है—

---

१. मनुस्मृति (२।४)
२. वृहदा।कोपनिषद् (१।४१...३)

द्विधा कृत्वात्मनोदेहमर्धेन पुरुषोभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमत्सृजत्प्रभुः ।।[1]

बाइबिल में भी नारी-सृष्टि का इससे मिलता-जुलता वर्णन है । ईश्वर ने कहा कि यह अच्छा नहीं कि पुरुष अकेला रहे, मैं उसके लिए सहायक का निर्माण करूंगा । तब ईश्वर ने आदिमानव आदम को गहरी नींद सुला कर उसके बाम-भाग की एक आन्त से नारी की सृष्टि की । आदमी-मैन-के द्वारा निर्मित की जाने के कारण नारी वेन कही गई है । तब आदम ने अपनी प्रिया को देख कर कहा कि यह मेरी अस्थि की अस्थि है, मांस का मांस है ।[2] नारी नर के तथा नर नारी के जीवन का जीवन है, हृदय का हृदय है, शरीर का शरीर है । उसके प्रति प्रेम का अत्यंत तीव्र होना स्वाभाविक है । भारतीय आचार्यों ने नर-नारी संबंध को अत्यन्त पवित्र दृष्टि से देखा है, तथा पति-पत्नी के स्थायी प्रेम को ही शृँगार के रस-क्षेत्र में स्थान दिया है, परोढ़ा एवं वेश्या के अनुराग को रस की स्थिति तक नहीं जाने दिया :—

परोढ़ां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम् ।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ।। [3]

मानव-हृदय के भावों में पवित्र दाम्पत्य-प्रेम एक ऐसा विशद भाव है, जो प्रत्येक दशा में स्पृहणीय लगता है, दुःख में भी अपरिवर्तित रहता है, जिसकी प्रगति में शारीरिक परिवर्तनों से कोई व्यवधान नहीं आता, तथा जो सर्वत्र एकरस एवं पावन रहता है । प्रेम के स्वस्थतम एवं पवित्रतम रूप के अमर विश्लेषक महाकवि भवभूति ने लिखा है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनगुणं सर्वास्ववस्थासु यद् ।
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं ।
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं कि तत् प्राप्यते ।। [4]

शृंगार रस का वास्तविक क्षेत्र दाम्पत्य रति है, यह आचार्यों के विवेचन तथा परिभाषाओं से स्पष्ट है । शृंगार की महिमा से अत्यधिक आक्रांत होकर

---

१. मनुस्मृति (१।३२)
२. होली बाइबिल (ओल्ड-टेस्टामेंट, जिनेसिस)
३. साहित्य-दर्पण (३।१८४)
४. उत्तर रामचरितम् (१।३९)

हमारे आचार्यों तथा कवियों ने इसी एक रस पर अधिक विवेचन तथा सृजन किया अन्य प्रेम-भावों को गौण, उपेक्षित या त्याज्य वर्ग में रख दिया। अधिकांश आचार्यों ने देव, पुत्र-पुत्री, मुनि, गुरु, नृप आदि के प्रति प्रेम-भाव को भाव-ध्वनि के उपेक्षित कोण में डाल कर केवल दाम्पत्य-रति को रस-दशा तक पहुँचाने वाली प्रवृति के रूप में प्रतिपादित किया।

शृंगार के सर्वोपरि महत्व को स्वीकार करते हुए भी हम यह नहीं मानते कि शृंगार समग्र प्रेम का द्योतक है, तथा संतान, ईश्वर, गुरु, देश इत्यादि के प्रति प्रेम रस-दशा तक नहीं पहुँच सकता। आचार्यों तथा कवियों के शृंगार भाव पर ध्यान केंद्रित कर देने के कारण हमारे साहित्य में अन्य प्रेम-भावनाओं का चित्रण हुआ जिससे उसकी हानि हुई।

शृंगार को प्रेम मानने तथा अन्य स्नेह-संबंधों को भाव-मात्र घोषित करने ने विवेचन और काव्य-रचना में प्रेम की विराटता को व्यवधान पहुँचा। संस्कृत में शृंगार, वीर, करुण, इन तीन रसों की ही प्रधानता हो गई। हिंदी के विकास में संतों का योग अधिक रहा है, अतः इसमें भक्ति की धारा भी प्रवाहित हुई। किंतु रससिद्धांत के अनुयायी कवियों ने अन्य प्रेम-भावनाओं के प्रति अधिक उत्साह नहीं दिखलाया। रीतिकाल का काव्य इसका प्रत्यक्ष निदर्शन है।

किंतु हिंदी का विकास अपनी विशेष जलवायु में हुआ है। उसने संस्कृत से प्रेरणा लेते हुए भी उसका अनुकरण-मात्र करके संतुष्ट होना नहीं सीखा। फलतः हिंदी में संतान एवं ईश्वर के प्रति प्रेम-भावना के जो विशद एवं अमर वर्णन हुए हैं, वे संस्कृत की शास्त्रीय सीमाओं में नहीं आ सकते। संस्कृत में भोज, मुनींद्र एवं विश्वनाथ के अतिरिक्त सभी आचार्यों ने वात्सल्य की रस-स्थिति नहीं स्वीकार की। भोज, मुनींद्र एवं विश्वनाथ में से विशद शास्त्रीय निरूपण केवल विश्वनाथ में प्राप्त होता है, जिन्होंने साहित्य-दर्पण में वात्सल्य के विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों का उल्लेख करते हुए कालिदास के रघुवंशम् से संयोग-वात्सल्य का एक उदाहरण भी दिया है। किंतु वियोग-वात्सल्य का कोई उल्लेख या उदाहरण उन्होंने भी नहीं दिया। सच पूछा जाय तो संस्कृत में वात्सल्य को रस की गुरुता मिली ही नहीं। रामायण, रघुवंश, शाकुंतलम्, भागवत प्रभृति ग्रंथों में संयोग एवं वियोग वात्सल्य के वर्णन हुए अवश्य हैं, पर हमारे आचार्यों ने उधर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। हिंदी में महाकवि सूरदास की वात्सल्य रस के क्षेत्र में संसार की अनुपम प्रतिभा ने वात्सल्य की रस-स्थिति में कोई व्यवधान नहीं रहने दिये। यद्यपि परंपरावादी रीतिकालीन आचार्यों ने वात्सल्य की रस-सत्ता स्वीकार नहीं की, किंतु आधुनिक विद्वानों ने उसे एक स्वर से रस की स्थिति प्रदान की है। हो सकता है, यदि संस्कृत में सूर, तुलसी

एवं हरिऔध जैसे महान वात्सल्य-गायक हुए होते, तो वहां भी उसकी रस-स्थिति वस्तुतः पुष्ट होती।

हिंदी का वात्सल्य रस से संबद्ध काव्य प्रथम कोटि का है, जिसके प्रेरक सूरदास हैं। स्वाभाविकता एवं चित्रमयता उच्च कोटि के वात्सल्य-वर्णन के अनिवार्य तत्व हैं। सूर के वात्सल्य-वर्णन में ये दोनों तत्व अपने पुष्टतम रूप में विद्यमान हैं। सूर-साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान डाक्टर मुंशीराम शर्मा ने ठीक ही लिखा है— "वात्सल्य रस की पूर्ण प्रतिष्ठा करने का श्रेय तो महात्मा सूरदास को ही दिया जा सकता है।"[1] परवर्ती विरह वर्णनकारों पर सूर की छाप स्पष्ट रूप से पड़ी है। हिन्दी में वात्सल्य रस का उल्लेख सूरदास के उल्लेख का समानार्थी बन गया है।

संतान-प्रेम के अतिरिक्त मित्र-प्रेम, बन्धु-प्रेम, गुरु-प्रेम, देश-प्रेम, ईश्वर-प्रेम इत्यादि भी रस-दशा तक पहुँच सकने वाले महान भाव हैं। टेनीसन ने 'इन मेमोरियम' शीर्षक अमरग्रन्थ में अपने परम-सुहृद् आर्थर के देहावसान पर जो करुण विरहोद्गार प्रकट किए हैं, तुलसी के दशरथ ने राम-वन-गमन पर और राम ने लक्ष्मण के मेघनाद की शक्ति लगने के कारण मूर्च्छित हो जाने पर जो विलाप किया है, हाली ने अपने गुरु गालिब के निधन के पश्चात् जो विशद प्रेम-स्मृति एवं करुणा यादगारे-गालिब' में व्यक्त की हैं, "विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः"[2] की दृष्टि से भी रसदशा तक पहुँच सकने में सहज समर्थ हैं।

"इन मेमोरियम' और "यादगारे-गालिब" की विरह-व्यथा शोकमूलक होने के कारण करुण रस के अन्तर्गत आ जाती है, किंतु दशरथ एवं राम की वेदना आज्ञा से विच्छिन्न नहीं है। संस्कृत का शास्त्रीय विवेचन उसे किस रस के अंतर्गत रखेगा? सूर के कृष्ण का ब्रजप्रेम वह किस रस के अंतर्गत रखेगा? हरिऔध के श्रीदामा प्रभृति कृष्ण-सखाओं का विशद मित्र-विरह वहाँ क्या स्थान प्राप्त करेगा?

हिंदी का महान भक्ति-काव्य दो रूपों में प्राप्त होता है। उसका एक रूप संसार की क्षणभंगुरता पर दुःख प्रकट करते हुये निवृति का स्तवन करता है, मुक्ति की ओर ललक भरी दृष्टि से देखता है। किंतु यह रूप गुण तथा परिमाण दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण नहीं है। हमारे भक्ति काव्य का प्रायः सारा श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण कलेवर ईश्वर के प्रति प्रेम की सक्रिय भावना से अनुप्राणित है, वेदना का रस पीने को लालायित है; स्पष्टतः प्रवृति-मूलक है, निवृत्ति-मूलक नहीं। सूर की गोपिकाओं ने मोक्ष की खिल्ली उड़ाकर जीवन के संघर्षों एवं घात-प्रतिघातों के रस-पान का

---

१. भारतीय साधना और सूर-साहित्य; सूर-साहित्य की विशेषतायें, पृष्ठ ३९९।
२. नाट्यशास्त्र (६)

मुक्त-स्तवन किया है। मीरां लोकलाज खोकर कृष्ण को अपना पति घोषित कर उनके संयोग के अभाव में रोई हैं। तुलसी रघुनाथ-पद-रति चाहते हैं, अर्थ धर्म-काम और मोक्ष या निर्वाण-गति नहीं। कबीर स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं—

राता माता नाम का पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का माँगे मुक्ति बलाय॥

यह महान जीवन-काव्य निवृति-मूलक न होने के कारण शांत रस के अंतर्गत नहीं आ सकता। संस्कृत के आचार्यों ने पहले तो शांत रस की रस-स्थिति पर ही संदेश प्रकट किया, फिर 'शान्तोऽपि कह कर उसे किसी प्रकार रस की स्थिति प्रदान की। इस विषय पर विवाद भी हुआ है। हमारी समझ में निवृत्ति-कामना भी मनुष्य की एक स्थायी भावना है, अतः निर्वेदमूलक शांतरस रस का गौरव पाने के योग्य अवश्य है, किंतु निवृत्ति-कामना मनुष्य के जीवन में प्रायः सबके बाद में आती है, तथा इसके आने पर भी प्रवृति का प्रभाव पड़ता ही रहता है। अतः मनोवैज्ञानिक प्रभाव की दृष्टि से इसका स्थान स्थायीभावों में अंतिम होना चाहिए। ऐसा हुआ भी है। शांतरस का स्थायीभाव शम या निर्वेद (संसार) के विषयों से जी का हटना, (या उदासीन होना) है; आलंबन परमार्थ अथवा परमार्थ-स्वरूप ईश्वर; उद्दीपन ऋषियों के आश्रम, तीर्थ, शास्त्रों का अध्ययनादि; अनुभाव रोमांच, पुलक, अश्रु-विसर्जन आदि; संचारी धृति, मति, हर्ष, निर्वेद, स्मरण एवं विबोध आदि। शांतरस का सम्बन्ध शम तथा मोक्ष से है; वह तत्वज्ञान, वैराग्य तथा अध्यात्म से संबंधित है। यम, नियम, ध्यानादि उसके अनिवार्य तत्व हैं,- अथ शमो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः। स तु तत्वज्ञानवैराग्याशयशुद्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य यमनियमाध्यात्मध्यानधारणोपासनसर्वभूतदया-लिंगग्रहणादिभिरनुभावैः......व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदस्मृतिधृतिसर्वाश्रमशौचस्त-म्भरोमांचादयः। अत्रार्याः श्लोकाश्च भवन्ति-

मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्वज्ञानर्थै हेतुसंयुक्तः।
नैः श्रेयसोपदिष्टः शान्तरसौ नाम संभवति॥
बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः।
सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः॥
न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्त प्राथियो रसः॥[१]

शान्तरस की उक्त विवेचना इस रस को योग-साधना के निकट पहुँचा देती

१. नाट्यशास्त्र (६. शान्तरसप्रकरण)

है। साधना की दृष्टि से यह एक महान रस है। परवर्ती आचार्यों ने भी शान्तरस को इसी रूप में स्वीकृत किया है—

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः।।
अनित्यत्वादिनाशेषवस्तुनिःसारता तु या।।
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते।
पुण्याश्रम हरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः।।
महापुरुषसंगाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।
रोमांचाद्याश्चानुभावास्तथास्युर्व्यभिचारिणः।।
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतिदयादयः।[1]

जन-जीवन की दृष्टि से असाधारण तथा दुर्गम साधनात्मक रूप के कारण शान्त रस को आचार्य भरत ने नाटक के क्षेत्र में रस नहीं स्वीकार किया। उन्होंने नाटक में आठ रस ही माने हैं, क्योंकि नाटक दृश्य-काव्य होने के कारण जन-जीवन से सीधे रूप में सम्बन्धित है,

शृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्यै रसाः स्मृता।।[2]

हिंदी के भक्ति-काव्य में ईश्वर के प्रति जिन अनुरागात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति मिली है, वे शांतरस की उक्त निर्वेदात्मक या विरागात्मक परिभाषा में समाहित नहीं की जा सकतीं। हिंदी का भक्तिकाव्य अनुरागात्मक है, शांतरस विरागात्मक होता है। दोनों में बड़ा अन्तर है। पंडितराज जगन्नाथ, जिन्होंने हिन्दी के महान भक्ति-काव्य का भी अवलोकन किया होगा, भक्ति-रस को शांतरस से भिन्न मानते हैं—"न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावमर्हति अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्।[3] हिन्दी के आचार्य भी ऐसा स्वीकार करते हैं। पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी ने भक्ति काल के संबंध में लिखा है—"एक स्वतंत्र रस के रूप में भक्तिरस की प्रतिष्ठा हो गई, यही नहीं भक्ति ही प्रमुख रस माना गया। वात्सल्य, सख्य, दास्य और माधुर्य उसी के अंगभूत रस स्वीकार किए गए।"[4]

सच पूछा जाय, तो शृंगार, वात्सल्य, भक्ति, जिसके साथ मधुर, सख्य,

१. साहित्य-दर्पण (३, शान्तरसनिरूपण)
२. नाट्यशास्त्र (६ । १६)
३. रस-गंगाधर (१, रसभेदाः)
४. नया साहित्यः नए प्रश्न, पृष्ठ २२।

दास्य आदि भावों का सम्बन्ध जोड़ा गया है, मित्र-प्रेम, बंधु-प्रेम, देश-प्रेम, किसी, जड़ वस्तु या मानवेतर प्राणी के प्रति तलस्पर्शी' अनुराग इत्यादि का मूल प्रेम है। अतः अनेकानेक नामों की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार प्रेम के स्थूल वर्गीकरण से शास्त्रीय अध्ययन अपनी कसावट खो देगा। आधुनिक रहस्यवादी काव्य के लिए पृथक् रस का उल्लेख करना पड़ेगा, क्योंकि उसे मधुर-रस में शामिल करना अनेक विद्वानों को समीचीन प्रतीत न होगा। मैथिलीशरण की 'झंकार' का रहस्यवाद किस रस के अंतर्गत आएगा, जिसमें प्रिया-प्रिय-सम्बन्ध का मधुररसत्व नहीं है? बंधुप्रेम, गुरुप्रेम, सेवकप्रेम, देशप्रेम, पशुपक्षीप्रेम, जड़जगत के पदार्थों के प्रति प्रेम, इन भावों के पृथक-पृथक नामकरण उचित नहीं। यह कहना भी उचित नहीं कि ये प्रेम रसदशा तक पहुँच ही नहीं सकते। यादगारे-गालिब, इन मेमौरियम, तथा लक्ष्मण-शक्ति-प्रसंग में राम का विलाप उच्च-कोटि की रसात्मकता से युक्त है। अंग्रेजी में मातृभूमि-वियोग तथा प्रिय पशु-पक्षियों के वियोग पर अनेक ऐसी कविताएं मिलती हैं, जो रस-दृष्टि से उच्चकोटि की हैं।

यदि शृंगार रस, वात्सल्य रस, मधुर रस, भक्तिरस आदि को प्रेमरस या प्रेम महारस के अंतर्गत समाहित कर दिया जाए, तो शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से सुविधा हो जाएगी; साथ ही प्रेम के स्थूल, सूक्ष्म, लौकिक, पारलौकिक, जड़-संबद्ध, चेतन-संबद्ध सभी रूप समादृत हो जाएंगे।

जहां विशद अनुभूति होगी, वहाँ रस अवश्य होगा। प्रेम स्वतः विशद है। उसकी तलस्पर्शी अनुभूति चाहे वह प्रिय या प्रिया के प्रति हो, चाहे संतान के प्रति, चाहे माँ-बाप के प्रति, चाहे गुरु के प्रति, चाहे ईश्वर के प्रति, चाहे देश, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता या किसी अन्य वस्तु के प्रति, रस की स्थिति तक पहुँच सकती है। प्रेमरस के अंतर्गत शृंगार रस, वात्सल्य रस एवं हरिरस मुख्य होंगे, किन्तु उसका क्षेत्र इनके बाहर तक प्रसारित रहेगा।

करुण, वीर, शांत, बीभत्स, आदि रस अपने स्थायीभाव की सूचना स्वयं दे देते हैं; शृंगार रस अपने स्थायीभाव की वैसी स्पष्ट सूचना नहीं देता। प्रेमरस या प्रेममहारस कहने से स्थायीभाव अपने-आप स्पष्ट हो जाता है।

काव्य में विरह-वर्णन

प्रेम मानव-मानस का सर्वोत्तम रत्न है। प्रेम का विस्तार अनंत है और मानव के अधिकांश भाव ज्ञात-अज्ञात रूप में प्रेम-प्रसूत होते हैं। मानव की रागात्मक प्रवृत्ति का विस्तार चेतन-जगत से लेकर जड़-जगत तक तो प्रसारित है ही, निगूढ़तम अनुभूतियों के माध्यम से वह अप्रत्यक्ष तत्वों को भी समझने-बूझने के लिए प्रस्तुत रहता है। मनुष्य का प्रत्येक रागात्मक तत्व प्रेम के अंतर्गत आता है। यद्यपि प्रेमरस में शृंगार, वात्सल्य एवं हरिरस का महत्व जीवन की दृष्टि से अधिक है, तथापि अन्य विशद भावनाएं भी रसदशा तक पहुंच सकती हैं। "उपसर्प मातरं भूमिम्" के ऋग्वेद-सूत्र से लेकर आज तक के कवियों के स्वरों में मातृभूमि-प्रेम थोड़ी बहुत मात्रा में अवश्य विद्यमान रहा है। इसी प्रकार विशदता तथा भव्यता के साथ मानव-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम गुरुजन-प्रेम, ईश्वर-प्रेम एवं सर्वभूतिप्रेम इत्यादि दाम्पत्येतर भावनाएं भी रस की दशा तक पहुंच सकती हैं। जब आश्चर्य, तथा जुगुप्सा जैसी प्रवृत्तियाँ रस-दशा तक पहुँच सकती हैं। तब उपर्युक्त अधिक तलस्पर्शी तथा पवित्र भावनाएँ क्यों न पहुँचेंगी ? पर वे पृथक् रस का रूप न ग्रहण कर प्रेमरस के अंतर्गत ही रहेंगी।

अब हम परंपरागत शृंगार रस की दृष्टि से काव्य में विरह-वर्णन की स्थिति तथा महत्व पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

प्रिय-मिलन की अभाव-दशा अथवा व्यवधान-दशा में मानव-हृदय में जो तीव्र वेदना उद्भूत होती है, उसे विरह कहते हैं। मिलन और विरह प्रकृति का नियम है। रति स्थायीभाव-युक्त शृंगार के संभोग एवं विप्रलंभ दो पक्ष प्रारम्भ से अंत तक के आचार्यों ने स्वीकृत किए हैं। स्नेह की प्रारंभिक दशा से ही प्रिय-सान्निध्य की उत्कट भावना उत्पन्न हो जाती है। प्रेमांकुर-रूप में भी उसमें विकलता रहती है, पर मिलन के पश्चात् जो विरह होता है, वह संयोग के अनुभवों से पुष्ट होने के कारण अधिक विशद, अधिक तलस्पर्शी तथा अधिक गंभीर होता है। विभिन्न विरह-स्थितियों की दृष्टि से आचार्यों ने विरह-प्रकारों का विवेचन दो रूपों में किया

है। दोनों में कोई विशेष तात्विक अंतर नहीं है। अभिनवगुप्त, मम्मट तथा जगन्नाथ प्रभृति आचार्यों ने विप्रलंभ शृंगार पाँच प्रकार का माना है :—

(१) अभिलाषा मूलक।
(२) विरह मूलक।
(३) ईर्ष्या मूलक।
(४) प्रवास मूलक।
(५) शाप मूलक।

आचार्य विश्वनाथ ने विप्रलंभ शृंगार के चार प्रकार माने हैं:—

(१) पूर्वराग।
(२) मान।
(३) प्रवास।
(४) करुण।

आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है- 'यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ अभीष्टं नायकं नायिकां वा''[१]। जब नायक या नायिका को अभीप्सित रति की प्राप्ति नहीं होती, तब विप्रलंभ-भावना उत्पन्न होती है। संभोग दशा सुख-दशा है, विप्रलंभ-दशा दुःख-दशा। दुःख-दशा सुख-दशा से अधिक गंभीर होती है। क्योंकि सुख की स्थिति में मानव स्व के अधिक निकट पहुंच कर कतिपय वस्तुओं में केन्द्रित हो जाता है, उसके हृदय में इस दुःख-बहुल संसार के प्रति संवेदन का भाव नहीं प्रतीत होता है। दुःख में मानव-हृदय संवेदनाकांक्षी होकर संवेदन-प्रिय बन जाता है, और उसे संसार का तलस्पर्शी दर्शन करने की सुविधा प्राप्त हो जाती है। हँसने और रोने में जो अन्तर है, वही सुख और दुःख में भी।

शृंगार रस की वास्तविक महिमा विप्रलंभ पक्ष में ही है। मिलन के अवसर पर प्रेम का शरीर ही प्रकट हो पाता है, विरह में प्रेम की आत्मा के दर्शन होते हैं। विरह प्रेम की कसौटी है। भारतीय आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि बिना विप्रलंभ शृंगार के संभोग-शृंगार का सम्यक् आस्वदन नहीं हो सकता, और विप्रलंभ-शृंगार के अभाव में संभोग-शृंगार पुष्टि को प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार पहले वस्त्र को कषाचित करने अथवा किंचित् रक्तीकृत करने से उसकी शोभा बढ़ती है, उसी प्रकार विप्रलंभ-शृंगार से पुष्ट होने पर संभोग-शृंगार की शोभा बढ़ती है। प्रेम की आत्मा के दर्शन विप्रलंभ-शृंगार में ही होते हैं। साहित्य-शास्त्र-संबंधी अद्वितीय ग्रंथ-रत्न "साहित्य-दर्पण" में आचार्य विश्वनाथ ने विप्रलंभ के स्तवन में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है:—

१. साहित्य-दर्पण (३।५१-५२)।

न बिना विप्रलम्भेन संभोग : पुष्टिमश्नुते ।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान्रागो विवर्धते ।।[१]

आचार्यों के इस श्लोक का प्रेम-मूर्ति महाकवि सूरदास के भावुक अन्तःकरण ने यह सुन्दर एवं गंभीर विश्लेषण प्रस्तुत किया है:—

ऊधो बिरहौ प्रेम करै ।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि पुट गहे रसहिं परै ।।
जौ आंवों घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै ।।
जौ धरि बीज देह अंकुर चिरि तौ सत फरनि फरै ।।
जौ सर सहत सुभट संमुख रन तौ रबिरथहिं सरै ।
सूर गोपाल प्रेमपथ-जल ते कोऊ न दुखहि डरै ।।[२]

विरह-दशा में दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव तो होता ही है, सुखद अनुभूतियों का स्मरण भी दुःखद रूप में बना रहता है। विरह-दशा में सुख-दुःख की भावनाओं के संगम पर वेदना का तीर्थराज भाव-तीर्थों में अपना अद्वितीय महत्व रखता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है,........

दुःख और आह्लाद की दशा में एक भारी भेद है। जब हृदय दुःख में मग्न रहता है तब सुखद और दुःखद दोनों प्रकार की वस्तुओं से दुःख का संग्रह करता है। पर आनंद की दशा का पोषण केवल सामान्य या आनन्ददायक वस्तुओं से ही होता है, दुःखप्रद वस्तुओं से नहीं।[१]

कवि का हृदय संवेदन-परिपूर्ण होता है। यद्यपि सभी प्रकार के भावों को व्यक्त करने में उसका यथारुचि उत्साह रहता है, पर उसकी संवेदनशीलता का सम्यक् विकास विरह-वर्णन में होता है। विरह-दशा मानव की सर्वाधिक भावमयी दशा है। शोक-दशा से भी उसका तल अधिक गम्भीर रहता है, क्योंकि शोक में निराशा का एक अप्रत्यक्ष विवशताजन्य संतोष तो रहता ही है, विरह में ऐसा सन्तोष नहीं रहता, शुद्ध वेदना की आश्वस्त ज्वाला रहती है, जिससे अनेक भावों की सृष्टि होती चलती है। यही कारण है कि कवियों का मन विरह-वर्णन में सबसे अधिक रमा है। भारतीय काव्य-कला के सीमांत तथा संसार साहित्य के अद्वितीय महाकवि कालिदास कहते हैं—नजाने लोग यह क्यों कहा करते हैं कि विरह में प्रेम कम हो जाता है। सच्ची बात तो यह है कि जब अभीप्सित वस्तु उपलब्ध नहीं

१. साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद, शृंगार रस निरूपण का अन्तिम अंश।
२. भ्रमरगीत-सार, पद १७५।
३. जायसी-ग्रंथावली, भूमि का पृष्ठ ४७

होती तब उसकी प्राप्ति-कामना अतीव तीव्र हो उठती है और राशि-राशि प्रेम उस अभाव या वियोग में आकर केन्द्रित हो जाता है। [१] हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर नगेंद्र ने लिखा है....

विरह प्रेम का तप्त स्वर्ण है। वेदना की अग्नि में तप कर प्रेम की मलिनता गल जाती है और जो कुछ शेष रह जाता है, वह एकांत शुद्ध और निर्मल होता है। विरह में मिलन से अधिक गांभीर्य और स्थिरता होती है और प्रतीक्षा की अथवा अतृप्ति की उत्सुकता के कारण रसानुभूति की मात्रा भी अधिक रहती है। इसीलिए तो कवि-समाज में विप्रलंभ का मान अधिक रहा है। वह प्रेम के अश्रुमय स्वरूप पर अधिक रीझा है।

"And love is loveliest when emblamed in tears."

रवि बाबू कहते हैं कि मेरे हृदय में एक विरहिणी नारी बैठी है जो अपने दुःख का गीत सुनाया करती है। यह विरहिणी अजर-अमर है और उनके ही हृदय में नहीं, सभी कवियों की आत्मा में इसका निवास है। यही विरहिणी कालिदास के हृदय में शकुंतला, भवभूति के हृदय में सीता, जायसी की आत्मा में नागमती, सूर के अंतः में राधा और मीरा के प्राणों में अरूप होकर रोई थी। [२]

संयोग में क्रिया-क्रीड़ा अधिक रहती है, आत्मावलोकन कम या प्रायः नहीं, उसमें चहल-पहल अधिक रहती है, चिंतन कम या प्रायः नहीं; उसमें इंद्रियों की चेष्टाओं की प्रधानता रहती है, आत्म-चेष्टाओं की कम या प्रायः नहीं। विरह में मानव की प्रवृतियां प्रमुखतः अंतर्मुखी हो जाती हैं, तथा मानस-मंथन में तल्लीन होकर भावनाओं के राशि-राशि रत्न निकालने में सहज समर्थ हो जाती हैं। संयोग में मानसिक प्रवृतियां प्रमुखतः बहिर्मुखी रहती हैं, तथा इंद्रिय-व्यापार अधिक सचेष्ट रहता है। स्पष्टतः वियोग का मूल्य अधिक है। हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक तथा सेवक स्वर्गीय लाला भगवानदीन तथा पं० मोहन बल्लभ पंत ने श्रृंगार के वियोग पक्ष का मार्मिक विवेचन निम्नलिखित आडंबरहीन तथा सरल शब्दों में किया है,—

सच पूछा जाय तो श्रृंगार रस का वास्तविक स्वरूप वियोग पक्ष में ही देखा जाता है, संयोग पक्ष में नहीं। वास्तविक प्रेम का पता संयोग में नहीं चलता। जब तक दो प्रेमी एक साथ रहेंगे-उनका विछोह न होगा-तब तक उनको इस बात का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता कि हम परस्पर एक-दूसरे को कितना प्यार करते हैं।

---

१. उत्तरमेघ (५५)।

२. साकेत: एक अध्ययन, अध्याय ४, साकेत में विरह पृष्ठ ४१।

न उस समय आमोद-प्रमोद के कारण किसी को यह जानने की उतनी उत्कंठा ही रहती है । पर वियोग होते ही जब एक-दूसरे का अभाव खटकने लगता है अपने संयोग की याद रह-रह कर चित्त को व्याकुल कर देती है तब अपने प्रिय के सच्चे प्रेम का पता चलता है ।

वियोग प्रेम की कसौटी है । जिसका प्रेम विरहाग्नि में तप कर खरे सोने की तरह दमकता रहता है, विरह रूपी पाषाणशिला में घिसने पर जिसका प्रेम हीरे की भाँति और भी अधिक चमकने लगता है, वही सच्चा प्रेमी है । एक बात और भी है । संयोग में प्रेम का निर्वाह करना कुछ कठिन नहीं है, बात तो तभी सराहनीय है जब वियोग में हम प्रेम का निर्वाह पूर्ण रूप से कर सकें । संयोग कपट-प्रेम भी हो सकता है, पर वियोग में तो कपट-प्रेम को ठौर ही नहीं । संयोग में कभी-कभी वासना भी छिपी रहती है, पर वियोग में यह बात भी नहीं । इसी कारण आचार्यों ने संयोग शृंगार से विप्रलंभ शृंगार को ऊँचा स्थान दिया है ।[1]

आचार्यों ने विरह के प्रकारों की स्थापना प्रमुखतः दो रूपों में की है (१) अभिलाषामूलक, विरहमूलक, ईर्ष्यामूलक, प्रवासमूलक तथा शापमूलक और (२) पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण, इसका उल्लेख हम पूर्व-पृष्ठों में कर चुके हैं । इधर हिन्दी में सूर के महान वात्सल्य-काव्य के कारण वात्सल्य भी पृथक् रूप से रस स्वीकृत किया जा चुका है । यों मुनीन्द्र, भोज तथा विश्वनाथ प्रभृति संस्कृत के कुछ आचार्यों ने वात्सल्य को दसवां रस स्वीकार किया है । साहित्य-दर्पण में वात्सल्य रस के विभावानुभाव एवं संचारीभाव भी स्पष्ट किए गए हैं और संयोग वात्सल्य का एक उदाहरण भी दिया गया है ।[2] पर उसमें वियोग वात्सल्य का उल्लेख या उदाहरण नहीं है जो अवश्य होना चाहिए था । वास्तव में संस्कृत में वात्सल्य का रसत्व नाम मात्र के लिए ही है । हिन्दी में वात्सल्य दसवाँ रस मान लिया गया है । सूर साहित्य के सीमांत डाक्टर मुंशीराम शर्मा ने संयोग तथा वियोग वात्सल्य पर अपनें प्रसिद्ध ग्रंथ सूर-सौरभ में पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया है ।"जिस प्रकार संभोग शृंगार में भेद नहीं माने जाते (और वस्तुतः ऐसा समीचीन भी है, क्योंकि संभोग दशाएं अनेक होती भी नहीं हैं । (प्रायः एक-सी स्थिति रहती है), उसी प्रकार संयोग वात्सल्य में भी भेद नहीं माने गए । वियोग वात्सल्य के तीन भेद डाक्टर मुंशीराम शर्मा ने लिखे हैं :—

१. सूर-पंचरत्न, भूमिका, पृष्ठ ७२-७३ ।
२. साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद, वात्सल्यरस-निरूपण ।

(१) प्रवास को जाते हुए ।
(२) प्रवास में स्थित ।
(३) प्रवास से आते हुए ।

इसी प्रकरण में उन्होंने लिखा है,—वियोग में करुण विप्रलंभ एक चौथा भेद भी हो सकता है ।[1] इस प्रकार वियोग वात्सल्य के चार भेद माने गए हैं ।

प्रेम मनुष्य की सहज प्रवृति है, और विरह प्रेम की आत्मा है । विरहानुभव प्रत्येक हृदय को किसी न किसी रूप में होता ही है । विरह की अनेक स्थितियों, दशाओं तथा रूपों में दांपत्य विरह का महत्व सार्वधिक है, क्योंकि नर-नारी-सम्बन्ध मानव-जीवन में सबसे अधिक व्यापक तथा गम्भीर स्थान रखता है । अन्य प्रकार के विरह-वर्णन भी काव्य में प्रारम्भ मे ही हुए हैं, पर प्रधानता नर-नारी-विरह की ही रही । साहित्य तथा काव्य में विरह-वर्णन की परंपरा उतनी ही प्राचीन है, जितनी साहित्य तथा काव्य के जन्म तथा विकास-क्रम की परंपरा । विश्व-वाङ्मय के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद में पुरुखा तथा ऊर्वशी के प्रेम एवं आसन्न विरह की वेदना का अच्छा वर्णन हुआ है । संसार-साहित्य का सर्वप्रथम उपलब्ध आसन्न-विरह-वर्णन सौभाग्यवश हमारे देश के आदि ग्रन्थ में ही हैं । ऊर्वशी से वियुक्त होने की स्थिति से पूर्व ही विरही पुरुखा की आसन्न-वियोग-वेदना को दो मंत्रों में जिस ऋषि ने लिखा था, मानो उसने विश्व-काव्य में विरह-वेदना की अभिव्यक्ति का प्रारम्भ ही किया था । कालान्तर में भारतीय साहित्य में विरह-ताप नारी में अधिक दिखलाया गया, पर प्रारम्भ में पुरुष में ही उसकी अधिक तीव्रता दिखलाई गई थी । आदिकवि वाल्मीकि की रामायण में राम के विरहोद्गार अधिक तीव्रानुभूतिव्यंजक हैं और कवि-कुल-गुरु कालिदास का विरही यक्ष और चिर-विरह-व्यथित अब तो विश्व-काव्य के विरह-साहित्य म अद्वितीय रत्न ही हैं । भवभूति के राम कर्त्तव्य-पूर्ति-वश सीता को निर्वासित तो कर देते हैं, पर जब परिस्थितिवश उन्हें पुनः उन स्थानों में जाना पड़ता है, जहाँ वनवास काल में वे सीता के साथ रहे थे, तब उनका मानस फूट पड़ता है और स्मृति-पुष्ट विरह के मार्मिक उद्गार स्वतः व्यक्त हो जाते हैं । कालान्तर में ऐसा प्रतीत किया गया कि प्रेम-मूर्ति नारी में विरह-वेदना पुरुष से भी अधिक तीव्र गम्भीर तथा विशद होती है । तब विरह-वेदना का विशेष आधिक्य नारी में चित्रित किया जाने लगा पुरुष में विरह-वेदना अपेक्षाकृत अल्प विस्तार में की जाने लगी । हिन्दी-काव्य में विरह-वर्णन इसी दूसरे रूप में अधिक मिलता है । पर हिन्दी में भी पुरुष के हृदय के विरहोद्गारों का मर्मस्पर्शी चित्रण प्राप्त होता

१. सूर-सौरभ, पृष्ठ २११-१२ ।

है। तुलसी के विरही राम बाल्मीकि के विरही राम के समान ही खग, मृग और मधुकर-श्रेणियों से अपनी मृगनयनी सीता के विषय में पूछते फिरते हैं सूर के कृष्ण को भी ब्रज बिसरता नहीं है और जायसी के रत्नसेन तो अपरिचित प्रिया के लिए जोगी होकर निकल ही पड़ते हैं। इस युग में पुरुष-पक्ष की विरह-व्यथा का सबसे अधिक मार्मिक चित्रण महाकवि रत्नाकर के अनूठे काव्य 'उद्धव-शतक' में प्राप्त होता है, जिनके प्रेम-विह्वल कृष्ण उद्धव से संदेश "बैननि' से तो' नेंकु' ही कहते हैं, 'नैननि' से 'अनेकु' कहते हैं, और 'रही-सही हिचकीन सौं' कह देते हैं। पर हिंदी में नारी के विरह के वर्णन में कवियों का उत्साह पुरुषों के विरह के वर्णन की अपेक्षा अधिक रहा है।

हम पूर्व-पृष्ठों में कह आए हैं कि संसार-साहित्य का प्रवप्रथम उपलब्ध विरह-वर्णन ऋग्वेद में है। प्रेममयी संस्कृति के प्रतीक भारत ने यदि विश्व-साहित्य को प्रथम विरह-वर्णन प्रदान किया, तो आश्चर्य ही क्या है, क्योंकि कालांतर में भी यहाँ साहित्य में प्रेम एवं विरह के ललित वर्णनों की ही प्रधानता रही।

ऋग्वेद में अपनी प्रिया ऊर्वशी से आसन्न-विरहदग्ध राजा पुरूरवा विकल तथा करुणा-कलित स्वरों में कहता है—'हे प्रिये ऊर्वशी, तुम्हारे साथ प्रणय-क्रीड़ाएं करने वाला, शुभ गुणों से संपन्न तुम्हारा यह पति अभी यहीं शिथिल तथा दुर्बल होकर गिर पड़ेगा, अथवा अस्त-व्यस्त एवं नितान्त दयनीय दशा में किसी दूरादपि दूर-देश के लिए महाप्रस्थान कर देगा, और यदि कहीं जाने में असमर्थ रहा, तो इसी पृथ्वी पर विवश होकर शयन करेगा (निश्प्राणवत्-यहीं पड़ा रहेगा) या फिर विनाश के प्रतीक पापदेवता के सान्निध्य को ही उपलब्ध कर लेगा (प्राण त्याग देगा), और वन्य वृक्-समूह उसे समाप्त कर देंगे।[१]—

सुदेवो अथ प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः ॥[२]

---

१. सायणाचार्य का मंत्रार्थ—अथपरिदूनः पुरूरवा उवाच—सुदेवः त्वया सह सूक्रीड़ः पतिरद्य प्रपतेत्। अत्रैव प्रपततु। अथवा अनावृत् अनावृत्तः सन् परमां परावतं दूरादपि दूरदेशं गन्तवै महाप्रस्थानगमनं कुर्यात्। अथ अथवा यत्र कुत्रापि गन्तुमसमर्थः निर्ऋतेः पृथिव्या उपस्थे शयीत शयनं कुर्यात्। यद्वा निर्ऋतिः पापदेवता तस्याः उपस्थे उत्संगे संनिधौ मृयतामित्यर्थः। अथ अथवा एनं वृकाः आरण्याः श्वानः रभसास वेगवन्तः अद्युः भक्षयन्तु।

२. ऋग्वेद (१० । ८ । ९५ । १४)।

उक्त दुःख-पूर्ण शब्दों के अनंतर प्रेम का वह ज्योतिर्मय स्वरूप इस विरह वर्णन में प्रकट हुआ है, जिस में प्रिय के रूप को सृष्टि व्याप्त देखा जाता है, प्रिया प्रकृति-प्रतीक समझी जाती है, तथा मिलन का विश्वास प्रकट किया जाता है। राजा पुरूरवा कहता है कि अपने तेज से अंतरिक्ष को ज्योतिर्मय करने वाली तथा जग-जीवन के रंजक जल अथवा रस का निर्माण करने वाली प्रकृति रूपी प्रिया उर्वशी को वश में करूंगा, उसे अवश्य प्राप्त करूंगा। प्रिये, शोभन कर्मों का करने वाला आश्रय-प्रदाता या सुकृत-दाता पुरूरवा तुम्हारी प्राप्ति के लिये विकल हो रहा है। प्रिये, मैं अधीर हो रहा हूं। तुम जाओ, मेरा हृदय संतप्त हो रहा है।[1]

अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुपशिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः।
उपत्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्निवर्तस्व हृदयंतप्यते मे ॥[2]

उक्त दोनों मंत्र भारतीय विरह-वर्णन के आधार कहे जा सकते हैं। प्रथम में हृदय की तीव्र दुःखानुभूति प्रकट की गई है, तथा दूसरे में प्रिया की छवि तथा उसके सुकृत्यों के अनुरूप विराट् रूप में उसका वर्णन किया गया है। अपना असह्य दुःख, प्रिय की प्रशंसा तथा उसकी प्राप्ति में विश्वास, यह भारतीय विरह-वर्णन के तीन मूल तत्व रहे हैं। तीनों के प्रत्यक्ष या परोक्ष उद्गम उक्त दोनों मंत्र ही हैं।

वेद के उक्त विरह-वर्णन से हमारा सारा विरह-काव्य प्रभावित है। दूसरे मंत्र में प्रिय के जिस विराट् रूप का वर्णन है उसके विरह में रहस्यात्मकता का स्पष्ट आभास भी प्रतीत किया जा सकता है। ऐसे ही मूलों पर अनेक रूपों में सूफी-मत तथा प्राच्य-पाश्चात्य रहस्यवाद के अनेक रूप अनेक कालों में प्रकट होते रहे।

वैदिक-काल के अनंतर जब आदिकवि वाल्मीक ने भारतीय-काव्य साधना का प्रारम्भ किया, तब से लेकर आज तक क्रम-बद्ध रूप से विरह-वर्णन हमारे साहित्य में होता ही आरहा है। आदिकवि वाल्मीक जीवन के महान विश्लेषक विराट-वादी महाकवि थे। आदर्श जीवन की संस्थापना के प्रति उनके हृदय में उत्साह था, पर

१. सायण भाष्य---
अन्तरिक्षप्रां स्वतेजसान्तरिक्षस्यपूरयित्रीं तथा रजसः रंजकस्योदकस्य विमानीं निर्मात्रीम् उर्वशीं वसिष्ठः समानानांमध्येऽतिशयेनवासयिताहम् उपशिक्षामि वशं नयामि। सुकृतस्य शोभनकर्मणः रातिः दाता पुरूरवाः त्वा त्वाम् उपतिष्ठात् उपतिष्ठतु। मे हृदयं तप्यते। अतो निवर्तस्व। एवं राजोवाच।

२. ऋग्वेद (१० । ८ । ९५ । १७)।

यथार्थ जीवन के घात-प्रतिघातों एवं संघर्षों के प्रति वे उदासीन न थे। जीवन की सामान्य प्रवृतियों से भी वे भली भांति परिचित थे। उन्होंने राम के वियोग में माताओं, अयोध्यावासियों तथा, विशेषकर, दशरथ के विरह का, और सीता के वियोग में राम तथा राम के वियोग में सीता का विरह बहुत ही सजीव रूप में चित्रित किया है। राम का विरह-निवेदन संवेदात्मक विराटता का अद्वितीय उदाहरण है, जिसमें वे पशु-पक्षियों तथा लताओं से अपनी प्रिया के विषय में पूछते फिरते हैं। यह प्रवृति कालांतर में बहुत लोकप्रिय हुई। महाकवि कालिदास के विरही तथा विरहिणी-समुदाय में उपर्युक्त तथा अन्य प्रकृति-तत्व जीवतं प्रतीत होते हैं। "विक्रमोर्वशीयम्" में जब ऊर्वशी कार्तिकेय के शाप के कारण लता बन जाती हैं, तब उसके विरह में राजा पुरूरवा लताओं, वृक्षों, पुष्पों, पक्षियों तथा वन के सुंदर पशुओं से अपनी प्रिया के विषय में अत्यन्त विषाद-पूर्वक पूछते फिरते हैं। हिंदी में तुलसी के राम का विरह-निवेदन बहुत कुछ वाल्मीकि के राम के विरह-निवेदन जैसा ही है। वाल्मीकि की विराट् दृष्टि ने प्रकृति तथा उससे संबंधित सभी वस्तुओं को मानव जीवन में समाहित कर दिया है। विरह की दशा मानस की विराट् दशा है। उनका विरह-वर्णन भी पर्याप्त व्यापक अनुभूतियों पर आश्रित होकर चला है तथा प्रायः समग्र भारतीय विरह-वर्णन उनसे किसी न किसी प्रकार प्रभावित हुआ है।

वाल्मीकि के पश्चात् अन्य अनेक महाकवि हुए, जिनमें से कुछ के नाम यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं, पर कृतियां नहीं। कहीं-कहीं कृतियों के उदाहरण तथा उल्लेख अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। आदिकवि के बाद के महाकवियों में भास का स्थान बहुत ऊँचा है, जिनकी रचनाओं की खोज सन् १६०६ में धुरी दक्षिण के महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री ने की थी। भास रचित स्वप्ननाटकम्, प्रतिज्ञा-नाटिका, पंचरात्रम्, चारुदतम्, दूतघटोत्कचम्, अविमारकम्, बालचरितम्, मध्यम-व्यायोगः, कर्णभारम् तथा उरूभंगम् विद्वद्वर शास्त्री जी को उक्त ऐतिहासिक महत्व की खोज में प्राप्त हुये थे। एक अपूर्ण रूपक भी मिला था। कालांतर में उन्हें अपने एक विद्वान मित्र से "अभिषेकनाटक" तथा "प्रतिज्ञानाटकम्"—दो और—नाटक प्राप्त हुए, जो शैली-शिल्प में उपरोक्त ग्रंथों के ही समान थे। इस महान अनुसंधान का अंत "स्वप्नवासवदतम्" तथा "प्रतिज्ञायौगन्धरायण" की खोजों के साथ हुआ, जो भास के सर्वश्रेष्ठ नाटक तो हैं ही, समग्र संस्कृत-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटकों में भी जिनकी गणना गौरवपूर्वक होती है। "स्वप्नवासवदत्तम्" भास की सर्वोत्तम कलाकृति है, तथा संस्कृत नाटकों में "शाकुन्तल" और "उत्तररामचरितम्" के पश्चात् इस ग्रन्थ का नाम लिया जा सकता है। श्री गणपति शास्त्री ने भास का समय ईसा-पूर्व छठवीं शताब्दी के आसपास माना है। पर पाश्चात्यों तथा प्राच्यों में अधिकांश विद्वान उन्हें

ईसा की दूसरी सदी का कवि मानते हैं। भास एक महाकवि थे, इसमें संदेह नहीं, और उनके नाम का उल्लेख विक्रमोर्वशीयम् के प्रारम्भ में कालिदास ने भी किया है। भास भारत के प्रथम महान नाट्यकार माने जा सकते हैं।

महाकवि भास की सर्वोत्कृष्ट कलाकृति 'स्वप्नवासवदत्तम' में राजा उदयन का मंत्री योगंधरायण राजनीति में सफलता-प्राप्ति के लिए महारानी वासवदता से मिलकर उन को छिपा देता है, तथा उन्हें मृत प्रमाणित कर महाराज उदयन का बिवाह मगध देश की राजकुमारी पद्मावती से कराता है। वासवदत्ता के वियोग में भारतीय काव्य के सर्वश्रेष्ट धीर-ललित नायक उदयन के हृदय के करुण उद्गारों का वर्णन इस महाकवि ने अत्यंत गंभीर तथा विशद रूप में किया है, जिसका प्रभाव कालिदास जैसे महाकवि के अज-विलाप पर तक पड़ा है। एक-पत्नी-व्रत तथा अर्द्धांगिनी के प्रति सच्चे प्रेम एवं विरह-व्यथा के अनेक मार्मिक चित्र हमें "स्वप्नवासवदत्तम्" में देखने को प्राप्त होते हैं। नारी के प्रति महाकवि भास का उदात्त दृष्टिकोण अद्वितीय है, जिसे कालांतर में कालिदास ने ग्रहण कर पूर्ण पल्लवित किया है।[१] भास का प्रभाव संस्कृत-साहित्य पर बहुत अधिक है। वासवदत्ता से संबंधित काव्य तथा नाटक आधुनिक युग में भी लिखे गए हैं, तथा लिखे जा रहे हैं। इन सब पर महाकवि भास का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव रहता है। भास के विरह-वर्णन में बाल्मीकि जैसा कल्पना-प्रवण विराटवाद भले ही न मिले, पर गंभीर एवं एकनिष्ठ प्रेम के करुण तथा तलस्पर्शी चित्र अत्यंत मनोहारी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। भास के विरह-वर्णन में यद्यपि पुरुष के बिरह में नारी के उद्गार भी चित्रित किए गए हैं पर प्रधानता नारी के विरह में पुरुष के उद्गारों के प्रकटीकरण को ही मिली हैं। कवि ने नारी के प्रति पुरुष के विरह का चित्रण बहुत ही प्रशंसनीय किया है। भास का उदयन कवियों को बहुत लोकप्रिय लगा तथा उन्होंने उसे अपनाया भी बहुत। पर पद्य में ऐसी रचनाएं अब नहीं मिलतीं। यत्र-तत्र एकाध उल्लेख अवश्य मिलता है।[२]

---

१. महाकवि भास ने नारी को व्यापक तथा आदर पूर्ण दृष्टि से देखा था। वासवदता से वियुक्त उनका उदयन विलाप करते हुए कहता है,—

> महासेनस्य दुहिता शिष्या देवी च मे प्रिया।
> कथं सा न मया शक्या स्मर्तुं देहान्तरेष्वपि ॥ (६।११)

२. आचार्य कुतंक ने अपने विख्यात ग्रंथ वक्रोक्तिजीवितम् में कई स्थलों पर तापसवत्सराज' नामक नाटक का ससंमान उल्लेख किया है, तथा उसके उदाहरण दिए हैं। उदाहरण विरहानुभूति तथा काव्य-कला दोनों दृष्टियों से अत्यन्त उच्च कोटि के हैं। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि नाटक अवश्य उत्कृष्ट श्रेणी का रहा होगा। कथानक स्वप्नवासवदत्तम् जैसा ही है।

भास के अनंतर भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ महाकवि कालिदास के विरह-वर्णन सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। कालिदास की कला क्षीर-सागर है, जिसके गुण-रत्नों तथा बाह्य रूपों ने समग्र संसार को आकर्षित किया है। यह स्पष्ट हो चुका है कि वे संसार-साहित्य के सीमाँतों में हैं। उन्होंने विरह-वर्णन भी अत्यन्त उच्च-कोटि के किए हैं। पशु-पक्षी, गुरुजन, लता-द्रुम, दंपति, सुन्दर तथा रमणीय व्यक्ति सभी महाकवि कालिदास की विरह-दृष्टि में आए हैं। संक्षेप में विरह के क्षेत्र में भी व्यापकता की दृष्टि से सबसे ऊँचा स्थान उन्हीं का है।

नर-नारी के विरह के प्रति कालिदास का सर्वाधिक उत्साह है। नारी के प्रति कालिदास के मन में बहुत संमान की भावना थी। वे प्रिया नारी को गृहिणी, सचिव, सखी तथा प्रिय शिष्या प्रभृति अनेक रूपों में देखते थे।[1] उनके नायक अपनी पत्नियों का बड़ा सम्मान करते हैं, तथा अपने को दास तक कह देते हैं, जो पारिवारिक जीवन की दृष्टि से स्वाभाविक तथा एक सीमा तक श्रेयष्कर भी है। और तो-और शैव कालिदास के आराध्यदेव भगवान् शंकर तक तपस्विनी पार्वती से अपने लिए तपःक्रीत दास' विशेषण का प्रयोग करते हैं।[2] पर कहीं-कहीं नायक नायिकाओं के पैर छूने तथा दास होने की इतनी चर्चा करते हैं कि प्रतीत होने लगता है कि इस विनय के मूल में वासना की तीव्रता भी विद्यमान है। कालिदास ने भोग-विलास के प्रति अपनी पूरी आस्था प्रायः सर्वत्र दिखलाई है। पर वे प्रेम और सौंदर्य के कवि थे। इसलिए उनके विरह वर्णन उच्च कोटि के हुए हैं।

कालिदास की विरह-भावना समग्र प्रकृति में व्याप्त हो कर चलती है, तथा जड़-चेतन सबका संवेदन प्राप्त करने का प्रयास का करती है। प्रकृति के प्रति कालिदास का अनुराग भारतीय साहित्य में अद्वितीय तथा संसार-साहित्य में अप्रतिम है। उनके विरही यक्ष का संदेश मेघ ले जाता है, उनके विरही पुरूखा ऊर्वशी समझ कर लताओं का आलिगंन करते हैं उनके विरही अज तो प्रिया इन्दुमति के वियोग के

---

१. गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कला विधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥
(रघुवंशम् ८।६७)

२. अधप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः,
क्रीतस्तपोभिरित वादिनि चन्द्रमोलो।
अह्नाय सा नियमजं क्लमभुत्ससर्ज,
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधते॥
(कुमारसंभवम् ५।८४)

दुःख के पश्चात् कभी सम्हले ही नहीं, उनकी विरहिणी रति ने देवताओं को भी विगलित कर दिया, और उनकी विरहिणी शकुंतला तो विश्व-साहित्य में कोमलता, सरलता तथा विश्वास की मधुरतम प्रतीक ही बन गई है। कालिदास के विरह-वर्णन में भी यद्यपि नारी के विरह में पुरुष की व्यथा का प्रकटीकरण अधिक हुआ है, पर उन्होंने पुरुष के विरह में नारी की व्यथा का भी विशद चित्रण किया है, प्रमुख रूप से कुमारसंभवम् (चुतर्थ सर्ग) के रति विलाप में।

महाकवि कालिदास के विरह-वर्णनों में शारीरिक कृशता तथा मानसिका वेदना के भव्यतर चित्र देखने को प्राप्त होते हैं, तीव्र प्रेमानुभूति की शक्तिशाली अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होती है। उनका 'अज-विलाप' संसार-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ विरह-वर्णनों में स्थान प्राप्त कर सकता है। 'मेघ-दूत' में कला तथा प्रकृति-वर्णन ने विरहानुभूति को कुछ दबा दिया है। शाकुन्तल का विरह मर्मस्पर्शी है, पर वहाँ कार्य-गति के कारण उसे रुकना पड़ता है। विक्रमोर्वशीयम् में विरह मार्मिक तो है, पर अति-विस्तार के कारण वह 'विरह के लिए विरह'-जैसा हो गया है। रति के विलाप में एक अर्द्धांगिनी की पति के चिर वियोग में होने वाली करुणा तथा विकलता को सम्यक् अभिव्यक्ति भले ही न मिल सकी हो, पर उसमें भी मार्मिकता है। संक्षेप में कालिदास का विरह-वर्णन बहुत ही व्यापक तथा सुन्दर है।

किन्तु मूलतः संभोग के कवि होने के कारण कालिदास के विरह वर्णनों में संभोग वर्णन तथा संभोग-चेष्टाओं का इतना प्रचुर उल्लेख हो जाता है कि वह स्मृति संचारी कह कर टाला नहीं जा सकता। विरह की दशा दुःख-दशा है। उसमें सुख की स्मृति होती अवश्य है, पर वह उसी में बन्धी न रहकर संसार की समान वेदना का विराट् अवलोकन भी करती है, और अपनी निरीह दशा में भी प्रेम के मूल तत्व विश्वास के सहारे एक प्रकार के अमूल्य उल्लास का अनुभव भी करती रहती है। कालिदास के विरही संभोग के अभाव का रोना भी रोते हैं, जो विरह-भावना में स्वार्थ की निकटता की गंध देने लगता है। विरह-वर्णन में संभोग-सुख की स्मृति विरह-दुःख को तीव्र करने के लिए होती है, स्वतंत्र संभोग चित्र खींचने के लिए नहीं। पर कालिदास का विरही अपने दूत से भी मार्ग में विलास तथा संभोग का रस लेते रहने की चर्चा करता रहता है। वाह्य-वर्णनों के प्रति अनावश्यक उत्साह भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो जाता है।[1] मेघ-दूत संसार की श्रेष्ठतम रचनाओं में

१.　गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने,
छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगोलप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तन प्रेक्षितानि ॥

है, पर उसमें जो विस्तार है वह शुद्ध विरह-काव्य के स्पर्श की वस्तुओं से दूर तक की वस्तुओं का अत्याधिक स्पर्श करता चलता है। फलतः काव्य-कौशल प्रधान हो जाता है, विरह-निवेदन गौण। नीवी-बंध को ढीला करने में कालिदास की बड़ी रुचि है, जो संभोग शृंगार में भले ही प्रयास-पूर्वक औचित्य के अन्तर्गत मनवाई जा सके, पर विप्रलंभ शृंगार में अनुचित प्रतीत होती है।[२] वास्तव में विरह-दशा में हृदय दुःख में इतना लीन हो जाता है कि अपने पर भी ध्यान देना संभव नहीं हो पाता। विरही वेदना में खो जाता है। ऐसी दशा में लम्बे विस्तार तथा उससे भी अधिक स्वतन्त्र सुख-चित्रों का चित्रण न तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही ठीक रह पाता है, न औचित्य की दृष्टि से ही। महाकवि कालिदास की यह वैयक्ति रुचि विरह वर्णनों में प्रवेश पा जाती है। 'अज-विलाप' इस प्रवृत्ति से बहुत दूर तक मुक्त होने के कारण उनके विरह वर्णनों में सबसे अधिक मर्मस्पर्शी तथा गंभीर बन गया है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि कालिदास के विरह-वर्णन सामान्य श्रेणी के विरह-वर्णन है, अथवा वे किसी विलासी कवि के विरह-वर्णन करने के प्रयास मात्र है। महाकवि कालिदास भारतवर्ष के गौरव हैं, तथा उनके हृदय में शुद्ध प्रेम भी विद्यमान था, जिसकी झांकियां उनके विरह-वर्णनों में सर्वत्र मिलती हैं, और जिनकी तुलना में उपर्युक्त दोष अल्प परिमाण में हो प्राप्त होते हैं।

जिस प्रकार हिंदी का भक्ति-काव्य हृदय की तलस्पर्शी भावनाओं से संपन्न है, किंतु बाद का रीति-काव्य वैसा न होकर अलंकृत तथा बाह्य रूप से अत्यधिक चमत्कृत है, ऐसी ही बात संस्कृत के प्राचीन काव्य तथा उत्तरवर्ती काव्य में भी दृष्टिगोचर होती है। अधिकांश भाषाओं में ऐसा होता भी है "किसी भी भाषा का काव्य प्रौढ़ता प्राप्त करने के पश्चात् कला-प्रधान हो जाता है, उसमें अनुभूति की

तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तबानीरशारवं-
ह्नत्वा नीले सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि-
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥
(पूर्वमघ ४४-४५)

१. नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र विम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुंगानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपा-
न्ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥
(उत्तरमेघ ७)।

सम्पन्नता अपेक्षाकृत अल्पतर परिमाण में रह जाती है"—यह कोई नियम भले ही न हो, पर अधिकतर देखा ऐसा हो जाता है। संस्कृत में कालिदास के पश्चात् ऐसा हुआ है। यद्यपि काव्य के अलंकरण तथा भाषा,परिमार्जन का प्रयास कवि-कुल-गुरु में भी दृष्टिगोचर होता है, पर कालिदास का अलंकार-प्रयोग और भाषा-परिष्कार कविता की कांति बढ़ाने के लिये एक उपयुक्त परिणाम तक ही हुआ है, उसके प्रति कवि को कोई आसक्ति नहीं है। फलतः अलंकरण एवं भाषा-परिष्कार कालिदास में अर्थ-ग्रहण का बाधक नहीं, अपितु सहायक बन गया है। हिंदी में तुलसीदास के लिये भी ठीक यही बात लागू होती है।

कालिदास के पश्चात् संस्कृत-कवियों का ध्यान आंतरिक अनुभूतियों की अपेक्षा बाह्य-वस्तुओं के चित्रण की ओर अधिक रहा। पर सभी कवियों के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता, ठीक वैसे ही जैसे रीति-काल के प्रत्येक कवि को परंपरा-वादी भाव नहीं कहा जा सकता। कालिदास के पश्चात् भी महाकवियों ने द्रौपदी और दयमन्ती, राम और सीता तथा अन्य नायक-नायिकाओं के विरह-वर्णन किये हैं, पर उनमें शैली चमत्कार तथा कथन-वैचित्र्य होते हुये भी अनुभूतिगत नवीनता प्रायः कम ही है। महाकवि भवभूति इसके अपवाद हैं। वे पारिवारिक जीवन के महान् शब्द-चित्रकार थे। उनकी रचनाओं में मर्मस्पर्शी विरह-चित्र भी प्राप्त होते हैं।

विस्तार, भाषा तथा लिपि की दृष्टि से संस्कृत की प्रमुख उत्तराधिकारिणी हिंदी का जन्म अत्यंत विषम परिस्थिति में हुआ था। काव्य-विकास तो युद्धकाल में हुआ। जो समय हिंदी काव्य का शैशव-काल था, वह समय भारतवर्ष में मुसलमानी शासन की स्थापना का भी शैशवकाल था। काव्य को जो सृजन-प्रेरणा अंतस्तल की गहन भावनाओं से प्राप्त होनी चाहिये, हिंदी की परिस्थितिवश शस्त्रों की झंकार और टंकार से प्राप्त हुई, राजपूत राजाओं के पारस्परिक युद्ध, मुसलमान आक्रमण-कारियों से युद्ध-चारों ओर युद्ध ही युद्ध। फलतः हिंदी के आदिकालीन काव्य में प्रेम और विरह को अधिक स्थान प्राप्त होना संभव ही न था। जो थोड़ा-बहुत विरह-वर्णन रासो-काव्यों में हुआ, वह अनुभूति की तीव्रता या नवीनता की दृष्टि से कोई विशेष मूल्य नहीं रखता। कतिपय पंडितों ने वीरगाथा-काल की तथाकथित प्रतिनिधि तथा सर्वश्रेष्ठ रचना "पृथ्वीराज-रासो तक को महाकाव्य न मान कर विशालकाय प्रबन्ध-काव्य माना है। इसका यह अर्थ नहीं कि जिस प्रबन्ध काव्य में प्रेम, विरह और प्रकृति के वर्णन न हो वह महाकाव्य होगा ही नहीं। पर इतना स्पष्ट है कि महाकाव्य में जीवन के तलस्पर्शी भावों का अधिक वर्णन होना चाहिए।

मुसलमानी शासन की स्थापना से कुछ पूर्व ही बौद्ध धर्म की वज्रयान तथा सहजयान शाखाओं के 'परम सुख'-साधकों तथा 'महामुद्रा के उपासकों का प्रभाव बढ़ चला था। इन 'जुगनद्ध'- इसके प्रतिपादकों को सिद्ध कहा जाता है, जिनकी

संख्या चौरासी प्रसिद्ध है। ये सिद्ध कबीर के समय के कुछ ही पूर्व तक अपना 'महासुख' पाने का दर्शन प्रचारित करते रहे। यद्यपि 'सांग' का अश्लील उल्लेख, 'डोंबी' से प्रणयानुरोध के उद्गार और भोग के 'विख' से ही जीवन के 'विख' को नष्ट करने की चर्चा सिद्धों ने बारंबार की है, पर रागी बोविन के उपासक बंगाल के चंडीदास के समान वे कोई उल्लेखनीय विरह-काव्य नहीं रच सके। ऐसा स्वाभाविक भी है, क्योंकि सिद्धों का एक-मात्र उद्देश्य शुद्ध भोग के माध्यम से तथा कथित साधना करने का था, प्रेम और वियोग से उनका मतलब ही नहीं था। सामंतों के आश्रित कवि उनके यश का चारण-काव्य की बंधी परिपाटी के अनुसार गान करते थे, जिसमें आश्रयदाताओं के वैभव, युद्धों तथा राग-रासों का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन होता था। इस स्थिति में प्रेम एवं विरह का स्थान मिलना कठिन ही था। सिद्धों और सामंतों से ही इस काल का समस्त साहित्य प्रभावित है।[1] स्वतंत्र कवियों में प्रमुखतः दो ही प्राप्त होते हैं, अमीर खुसरो और मैथिल-कोकिल महाकवि विद्यापति। पर वे भी क्रमशः सुलतानों तथा मिथिलाधीशों के राज्याश्रित कवि ही थे। इन दो स्वतन्त्र कवियों ने विरह-वर्णन किए हैं, विशेषतः विद्यापति ने। खुसरो की विरह-वर्णन से संबंधित कुछ पंक्तियां ही प्राप्त होती हैं। वास्तव में खुसरो की विरह-संबंधी पंक्तियां सोद्देश्य रूप में नहीं सृजित हुईं; यों ही तरंग में रची गई हैं। फिर भी वे मनोरंजक हैं। उदाहरणार्थ,—

> न हाले मिस्कीं मकुन तगाफुल, दुराए नेना बनाए बतियां,
> कि तावे हिजरत न दारमेजां न लेहु काहे लगाय छतियां।
> शबाने-हिजरत दराज जूं जुल्फो रोजे वस्लत चु उम्र कोता,
> सखी, पिया को जो में न देखूं तो कैसे काटूं अंधेरी रतियां॥ २

यह संभाव्य- विरह वर्णन का प्रतीत होता है। वियोग-दशा न होने पर भी कोई स्त्री अपनी सखी से कह रही है कि यदि वह पिया को न देखे तो '"अंधेरी रतियां' कैसे कटें? फारसी और हिंदी का उक्त मेल बड़ा दिलचस्प है। कालांतर में अब्दुर्रहीम खानखाना ने भी ऐसे कुछ प्रयोगों पर अपना हाथ आजमाया, और सफल

---

१. प्रसिद्ध विद्वान राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी के आदिकाल को 'सिद्ध-सामंत-काल का नाम प्रदान किया है, जो उस काल के समूचे साहित्य तथा साहित्य की प्रवृत्तियों की दृष्टि से अत्यंत समीचीन है, तथा अन्य नामों, यथा वीरगाथा काल (पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा कालांतर में प्रायः सभी), रासो काल (मिश्रबंधु) चारणकाल (डा० रामकुमार वर्मा), से अधिक उपयुक्त है। कुछ लोग केवल आदि काल नाम का भी प्रतिपादन करते हैं।

२—मिश्रबधु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ १६६-७

भी हुए। पर यह परंपरा लोकप्रिय न हो सकी। कहीं-कहीं विरह-वर्णन में कुछ मार्मिकता भी है, पर कुछ पंक्तियों में तल्लीनता न तो सरलता से हो ही सकती है, न खुसरो का वह लक्ष्य ही था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है, — 'खुसरो का लक्ष्य जनता का मनोरंजन था।''[1] और अपने इस लक्ष्य में उदार-हृदय खुसरो को बहुत सफलता प्राप्त हुई है?' जिसका प्रमाण उनकी लोकप्रियता है। हां, तो कुछ पंक्तियों में थोड़ी-सी मार्मिकता भी है, पर बड़ी-ही सरल तथा सहज। ऐसी पंक्तियां हम यहां फारसी से मुक्त रूप में अवतरित करते हैं,———

किसे पड़ी है जो जा सुनावे पियारे पी को हमारी बतियां?
न नींद नैना, न अंग चैना, न आप आवें, न भेजें पतियां।
सपीतमन को दुराय राखूं जो जान जाऊं पिया की घतियां।[2]

कहीं-कहीं लोक प्रचलित "सूनी सेज" तथा "विरह-अगिन" की भी चर्चा है,-
सूनी सेज डरावन लागे,

विरहा अगिन मोहि डस-डस जाय।[3]

हिन्दी-काव्य में विरह का विशद तथा वास्तविक वर्णन सर्वप्रथम मैथिल-कोकिल महाकवि विद्यापति की पदावली में हुआ है। पीयूषवर्षी विद्यापति हिंदी के जयदेव हैं। चैतन्य महाप्रभु जैसे महापुरुष विद्यापति के पदों का श्रद्धापूर्वक गान किया करते थे। उनके पदों को मिथिला तक बिहार के अन्य अंचलों में अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। जनता उनके पदों का गान श्रद्धा-पूर्वक करती है। बंगला के आदि-कवि के रूप में वे बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहे तथा आज भी बंगाल में उनके पदों का गान होता है। इससे बढ़ कर हिंदी और बँगला की निकटता तथा एकता के सबूत की क्या जरूरत पड़ सकती है? आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ महाकवि तथा बंगला-साहित्य के सर्वोत्कृष्ट कलाकार रवींद्रनाथ ठाकुर पर भी विद्यापति का गहरा प्रभाव पड़ा था। हिंदी की कृष्ण-काव्य-रचना का प्रवर्तन विद्यापति के द्वारा ही हुआ, और सारे परवर्ती कवियों पर उनका प्रभाव पड़ा है, जिसमें महाकवि सूरदास भी संमिलित हैं। रीति-काल की राधा-कृष्ण- भावना का मूल विद्यापति के पदों में ही है, भले ही वह जयदेव के "गीत-गोविंद" से ग्रहण किया गया हो। भाषा की कोमलता तथा संगीतात्मकता की दृष्टि से विद्यापति के पद हिंदी को अमर ही नहीं, अद्वितीय

१. हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५२।
२. मिश्रबंधु-विनोद प्रथम भाग, पृष्ठ १३६।
३. हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५३।
४. हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५४।

संपति भी हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्वीकार किया है,—"इनका माधुर्य अद्भुत है।[1] इस व्यापक महिमा को ध्यान में रखकर तुलसी, सूर और कबीर के बाद विद्यापति को हमारे साहित्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया किया जा सकता है।

विद्यापति शृङ्गार, विशेषतः संभोग शृङ्गार के महाकवि थे। नख-शिख, वयः-संधि नायिका-भेद, सद्यः-स्नाता, लुका-छिपी, मान, नायक का नायिका को मनाना, नोंक-झोंक और प्रेमालाप इनके प्रिय वर्ण्य-विषय थे। अन्य वर्णन भी इनकी व्यापक प्रतिभा का स्पर्श पाने पर अच्छे हुए हैं, पर उनमें वह हार्दिक उत्साह नहीं दृष्टगोचर होता, जो उपर्युक्त प्रकार के वर्णनों में प्रचुर परिमाण में सर्वत्र प्राप्त होता है। मिश्रबंधुओं ने लिखा है,—आपकी कविता में विशेषतया शृङ्गार रस प्रधान है। इनकी कृष्ण-भक्ति-संबंधिनी रचना में ऐंद्रिय मानवीय लौकिक शृङ्गार की ध्वनि बहुत देख पड़ती है, यहां तक कि उसमें अश्लीलता तक की मात्रा आ गई है, जो कम भी नहीं है। ऐसी रचना के यही अगुवा हैं जो पीछे के वैष्णव शृङ्गार-पूर्ण भक्ति-काव्य के रचयिता हुए हैं, उस शैली के पथ प्रदर्शक विद्यापति माने जा सकते हैं।"[2] पर आगे मिश्रबंधुओं को स्वीकार करना पड़ा है, "इनकी प्रतिभा ऐंद्रिय वर्णन-युक्त होकर भी श्लाघ्य है।"[2]

वयः-संधि, सुंदरियों की रति-कामना को प्रकट करने वाले मोहक संकेतों, नायक-नायिका के रस-भरे संभाषणों, स्वयंदूतिका के अटपटे उद्गारों,नायिका के सौंदर्य-वर्णन, नायक के हृदय पर नायिका के प्रभाव, नायक-नायिका की विकलता तथा सुरति के वर्णन महाकवि विद्यापति ने अत्यंत कोमल तथा मनोहारी रूप में किए हैं। विद्यापति हिंदी में संभोग शृङ्गार के प्रमुख कवियों में हैं। उनके संभोग शृङ्गार में अनूठी तन्मयता के दर्शन होते हैं। हिंदी की शृङ्गारपूर्ण राधा-कृष्ण "काव्य-धारा के, जो बहुत-कुछ पवित्र रूप में भक्ति-काल में, तथा अपेक्षाकृत नग्न रूप में रीति-काल में प्रवाहित हुई, प्रवर्तक विद्यापति ही माने जा सकते हैं।

विद्यापति में भक्ति-भावना भी विद्यमान है। शिव, विष्णु, गंगा, देवी तथा कृष्ण प्रभृति देवताओं की स्तुति इन्होंने की है, तथा उसमें यत्र-तत्र सच्ची भक्ति-भावना प्राप्त होती है फलस्वरूप ग्रियर्सन, जनार्दन मिश्र तथा कुमारस्वामी प्रभृति विद्वान आध्यामिकता के दर्शन भी करते हैं परंतु इनकी कविता उन्हें शृङ्गारी ही घोषित करती है।

विद्यापति का विरह-वर्णन अनुभूति-गर्भित न होकर कल्पना प्रवण है, अतः

---

१. मिश्रबंधु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ १४८।

२. मिश्रबंधु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ १४८।

उसमें वह मार्मिकता प्राप्त होनी कठिन है, जो अज-विलाप अथवा जायसी के नागमती के वियोग-वर्णन में प्राप्त होती है । विरह में शारीरिक कृशता, वेदनामय मनोभावों, संचारी भावों, कामदशाओं इत्यादि का वर्णन अत्युक्तिपूर्ण भी हो गया है । दूती का सहयोग सभी शृंगारी कवि लेते हैं, विद्यापति ने भी लिया है । "मान" को भी आचार्यों ने विप्रलंभ के भीतर माना है । विद्यापति ने मान के वर्णन विस्तार से किए हैं । पूर्वराग तथा प्रवास के वर्णन अच्छे बन पड़े हैं । स्वप्न दशा में प्रिय-संयोग, और नेत्रों के खुलने पर वियोग-व्यथा का सौगुना हो जाना विरह काव्य में प्रायः सर्वत्र वर्णित हुआ है । विद्यापति ने भी इस विषय पर कुछ अत्यंत मनोरम पद लिखे हैं । उनकी मर्म पर चोट करने वाली भाषा ने सहज तल्लीनता की अल्पता होने पर भी विरह वर्णनों को मर्मस्पर्शी बना दिया है, इसमें संदेह नहीं है ।

विद्यापति ने विरह में काम-वेदना का उल्लेख भी किया है, जो स्थूलतर वस्तु है । कालिदास ने भी ऐसा किया है । पर विद्यापति प्रेम की तल्लीनता तथा तन्मयता से भी परिचित थे । पवित्र प्रेम से उत्पन्न विरह के अधिकतम होने पर अनुभूति-क्षेत्र में प्रिय और प्रेमी एक हो जाते हैं । "दर्द का हद से गुजर जाना है दवा हो जाना ।" विद्यापति की विरहिणी राधा प्रतिक्षण 'माधव-माधव' रटते हुए 'अहं' भूल जाती है, स्वयं 'माधव' हो जाती हैं,—'जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नाहिं'—वह अपने इस भाव में आत्मविस्मृत हो जाती है । ऐसे पदों में रहस्यवाद तथा आध्यात्मिकता के रंग की प्रतीति की जा सकती है,—

अनुखन माधव-माधव सुमरइत सुन्दरि भेलि गवाई ।
ओ निज भाव सुभावहिं बिसरत अपने गुन लुवधाई ।।
माधव अपरूव तोहर सिनेह ।
अपने बिरह अपन तनु जरजर जिबइत भेलि संदेह ।।
भोरहि सहचरि कातर दिहि हेरि छलछल लोचन पानि ।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा दानि ।। [1]

प्रिय की स्मृति में आत्म-विस्मृति के भाव का वर्णन भक्तिकाल तथा रीतिकाल के कवियों ने भी किया है । वह विरह दशा धन्य है, जिसमें "अहं" समाप्त हो जाता हो, तथा विरही सारी सृष्टि को ही नहीं, स्वयं को भी प्रिय के रूप में ही देखता हो । इसी भाव को व्यक्त करते हुए बिहारी कहते हैं—

पिय के ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि ।
आपु आपु ही आरसी लखि रीझति रिझवारि ।।

---

१. प्रो० गुणानन्द जुयाल द्वारा संपादित 'विद्यापति का अमर काव्य' ।

प्रेम-विरह की यह तन्मयता पाठक के हृदय को करुणा-कलित कर देती है। विरह की यह सर्वश्रेष्ठ दशा है, जहाँ प्रिय-प्रिया का भेद ही समाप्त हो जाता है। हम इसे प्रेम-कैवल्य कहते हैं।

रीति-काल के कवियों में प्रेम की पवित्रता तथा गंभीरता को सबसे अधिक समझने वाले श्रेष्ठ कवि देव ने इस भाव को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है। यद्यपि अधिक विस्तार के कारण इस छंद में पूर्वोक्त छंदों-जैसी गंभीरता तथा एक-रूपता नहीं आ सकी, फिर भी मार्मिकता है अवश्य,—

राधिका कान्ह को ध्यान धरै, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यों असुंवा बरसै, बरसाने को, पाती लिखि-लिखि राधे को ध्यावै।
राधे ह्वै जाय घरीक में देव, सुप्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आपुने आपु ही में उरझै, सुरझै बिरुझै समुझै समुझावै॥

विद्यापति के बाद हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग भक्ति-काल प्रारंभ होता है। भक्ति काल का वास्तविक प्रारंभ महात्मा कबीरदास से होता है। अपने सशक्त स्वरों से अंधविश्वास तथा पाखंड की नींव हिला देने वाले, हिन्दू-मुस्लिम एकता के सबसे बड़े साधक तथा भारत के प्रमुख रहस्यवादी कवि संत कबीर भारतीय इतिहास के सर्वश्रेष्ठ महापुरुषों में माने जाते हैं। मध्य-काल के परवर्ती संतों में सब पर इनका गंभीर प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। ऐसे संतों में नानक, रैदास तथा दादू प्रभृति ऐतिहासिक महत्व के महापुरुष भी संमिलित हैं। जायसी जैसे सूफियों तथा गुजरात के नरसी जैसे वैष्णव भक्तों ने भी कबीर के नाम का स्मरण बड़ी संमान-भावना के साथ किया है। जिस समय निराशा तथा वैषम्य की आंधी में वास्तविकता के विनाश का भय उपस्थित हो सकता था, उस समय में कबीर ने अपनी समन्वय-साधना से भक्ति-धारा के प्रवाह में सशक्त योग देकर देश को नास्तिक होने से बचाया था। भविष्य में जो भक्ति-मार्ग इस देश में प्रशस्त होकर जन-मंगलकारी बन सका, उसके प्रवर्तकों में एक प्रभावशाली व्यक्तित्व कबीरदास का भी था। आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि रवींद्रनाथ ठाकुर पर भी कबीर का अत्यधिक प्रभाव पड़ा था और वे उन्हें भारत के प्रमुख दार्शनिक कवियों में स्थान देते थे, जो पूर्णतः उचित है। रहस्यवाद की जो धारा आधुनिक भारतीय काव्य में प्रवाहित हुई, उसमें पाश्चात्य प्रेरणाओं के साथ कबीर का व्यक्तित्व भी मूलभूत तत्व के रूप में समाहित है। जन-जीवन पर इधर पांच-सौ वर्षों से कबीर का जो प्रभाव पड़ता आया है, वह लोकप्रियता की दृष्टि से तुलसी के बाद हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। वैयक्तिक महत्ता की दृष्टि से तुलसीदास के बाद कबीर का व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता है।

कबीर पर सूफी प्रभाव स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। सूफी-प्रेमतत्व का मूल भारतीय दर्शन में ही है और यही कारण है कि इस देश की कोटि-कोटि जनता ज्ञात-अज्ञात रूप से उसे श्रद्धा प्रदान कर सकी। अतः समग्रता की दृष्टि से यह कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता कि—सूफी कवियों की भाँति इनका रहस्यवाद माधुर्य-भावना-गर्भित न होकर दार्शनिक है।[1] इस कथन में एक तथ्य का प्रशंसनीय उद्‌घाटन अवश्य हुआ है। वह यह कि कबीर का प्रेमतत्व गम्भीर है, और उसमें 'जवानी इश्क हकीकी' मात्र न होकर गहन साधना का तत्व भी विद्यमान है। कबीर ने सूफीमत को भारतीय गाम्भीर्य से संयुक्त कर उसे एक नया रूप प्रदान किया, उन्होंने सूफीमत का भारतीयकरण किया। फलतः कबीर के सूफियाना भावों में भारतीयता कूट-कूट कर भरी है।[2]

यह सर्वसंमत तथ्य है कि कबीर ने निराकार ब्रह्म की उपासना की थी। पर इस विषय पर हिन्दी के विद्वानों में विवाद हुआ है कि क्या वे ब्रह्म के निर्गुण रूप मात्र के समर्थक थे अथवा सगुण रूप के प्रति भी उनके हृदय में कुछ आकर्षण था। एक बात स्पष्ट है। ईश्वर का निराकार रूप भले ही संभव हो, निर्गुण रूप संभव नहीं है। निर्गुण कह कर ही हम ईश्वर में एक गुण का आरोप कर देते हैं, भले ही वह गुण स्वीकारात्मक न होकर अस्वीकारात्मक हो। हिन्दी साहित्य के महान् सेवक तथा विद्वान मिश्रबंधुओं ने इस विषय पर विस्तार से लिखते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोजा का कथन उद्धृत किया है,—ईश्वर को निर्गुण बतलाने ही में हम उसमें एक गुण स्थापित करते हैं, अर्थात् यह कहते हैं कि उसमें अमुक बात का अभाव है। यह भी एक गुण ही है, यद्यपि भावात्मक न होकर अभावात्मक है।[3]

कुछ लोग कबीर को कवि न मान कर केवल उपदेशक मानते हैं। ऐसे लोग यदि पीपा, नानक, रैदास तथा अन्य कतिपय उपदेशकों के उद्‌गार पढ़ कर फिर उन्हें कबीर के उद्‌गारों से मिलाएं तो पता चल जाएगा कि कबीर का हृदय एक महाकवि का हृदय था, भले ही मस्तिष्क उपदेशक का रहा हो। प्रेम, विरह तथा राम की रटकारमूलकता पर जो साखियां तथा पद कबीर की तीव्र अनुभूति से फूट कर अभिव्यक्त हुए हैं उनमें एकांत तन्मयता, गहनतम भावुकता तथा अद्वितीय माधुर्य है। इस स्थिति में उन्हें केवल उपदेशक कहना उपयुक्त नहीं है। अनुकूल आलोचकों को भी स्वीकार करना पड़ा है,—भाषा बहुत परिष्कृत और परमार्जित

---

१. मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ १५८।
२. नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, द्वारा प्रकाशित कबीर-ग्रंथावली; भूमिका, पृष्ठ ४४।
३. संक्षिप्त हिन्दी-नवरत्न; पृष्ठ १२१।

न होने पर भी कबीर की उक्तियों में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है। प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी, इसमें संदेह नहीं।[1]

कबीर का विरह-वर्णन अलौकिक के प्रति आत्मा का अत्यंत पवित्र तथा गंभीर निवेदन है जिसकी विरहिणी आत्मा की वास्तविक विरहानुभूतियां अत्यन्त तीव्र हैं तथा तीव्र शब्दों में व्यक्त भी की गई हैं। प्रेम-साधना की गम्भीरता तथा कठिनता का जो वर्णन कबीर ने किया है, वह विख्यात है ही। उनके विरह-वर्णन में वह हल्कापन कहीं नहीं है, जो ऐसे वर्णनों में आंतरिक अनुभूति की अल्पता के कारण प्रायः आ ही जाता है। कबीर एक उच्च कोटि के साधक थे। ईश्वर की महानता से पूर्णतः परिचित होने पर भी उन्होंने उसे प्रियतम तथा आत्मा को प्रिया माना है,—

हरि मोरा पीव माई, हरि मोरा पीव,
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया,
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।।
किया शृङ्गार मिलन के ताईं,
काहै न मिलो राजा राम गुसांईं।।
अब की बेर मिलन जो पाऊं,
कहै कबीर भौजलि नहीं आऊं।।[2]

प्रतीक शैली का जो विधान उपर्युक्त पक्तियों में मिलता है, वह ऐसे शब्दों तथा साखियों में अनेकानेक स्थलों पर पाया जाता है। काव्य की दृष्टि से भी सबद तथा साखियां बहुत उच्च कोटि की हैं। एक बात ध्यान देने की है। हरि पिय अवश्य हैं, पर हरिरस-पान के लिए आलबंन की श्रेष्ठता आवश्यक है। अतः उसका उल्लेख भी है। कबीर ने शाश्वत प्रियतम के विरह में प्रिया-आत्मा के विरह के अत्यंत मर्मस्पर्शी चित्र खींचे हैं,——

जिया मेरा फिरे रे उदास।
राम बिन निकसि न जाई सास, अजहूं कौन आस ।।टेक ।।
जहां जहां जाऊं राम मिलावैन कोई,
कहौ संतौ, कैसे जीवन होई ।।
जरै सरीर यह तन कोई न बुझावै,
अनल दहै निस नींद न आवै ।।

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७५।
२. कबीर-ग्रन्थावली, (११७)।

चंदन घसि घसि अंग लगाऊं,
राम बिना दारुन दुख पाऊं ।।
सत संगति मति मन करि धीरा,
सहज जाति रामहिं भजै कबीरा ।।[1]

यहाँ प्रियतम के वियोग में प्रिया आत्मा के विरह के वर्णन के साथ चंदन घिस-घिस कर अंग लगाने से भी विरह ताप न मिटने का वर्णन अपने अभिधेयार्थ के साथ बाह्योपचारों से प्रिय-मिलन की असंभावना का व्यंग्यार्थ भी व्यक्त करता है। कुछ लोगों ने एक सांस में कह दिया है कि सत्संग इत्यादि के भी कबीर विरोधी थे, उनके लिये इस पद तथा ऐसे अन्य पदों का अनुशीलन अपेक्षित है। जो लोग कहते हैं कि कबीर ने भगवान की प्राप्ति को सर्वत्र कठिन बतलाया है, वे शब्द के साथ पूरा न्याय नहीं करते।

जब तक प्रिय मिलन न होगा, तनकी ताप नहीं जा सकती, यह कथन अभिधा तथा व्यंजना दोनों शब्द-शक्तियों के युक्त है। विरह-वर्णन करते हुए कबीर साधारण रहस्यवादी कवियों की तरह बिल्कुल लौकिक ही नहीं बन जाते, जिस ऊंचाई पर उनका आलंबन है, उसका ध्यान सदा रहता है,—

राम बिन तन की ताप न जाई,
जल में अगनि उठी अधिकाई ।।टेक ।।
तुम्ह जलनिधि मैं जल कर मीनां,
जल में रहौं जलहि बिन षीनां ।।
तुम्ह प्यंजरा मैं सुबनां तोरा,
दरसन देहु भाग बड़ मोरा ।।
तुम्ह सतगुर मैं नौतम चेला,
कहै कबीर रांमरमूं अकेला ।।[2]

कबीर की आत्मानुभूति में सच्ची विरह-व्यथा के सर्वत्र दर्शन होते हैं। यही कारण है कि हिंदी के ही नहीं, भारतवर्ष के समस्त रहस्यवादी कवियों में उनका स्थान सरलतापूर्वक सर्वश्रेष्ठ माना जा सकता है। जिस दिन संसार के रहस्यवादी कवियों पर पूर्वग्रह-हीन शुद्ध विचार किया जायेगा, कबीर को शीर्ष स्थान प्राप्त होगा ऐसा ही असंभव नहीं है। सामान्य विरह-व्यथा का निर्देश कर कबीर कहते हैं कि जब इस वियोग में यह पीड़ा है, तब जिसकी आत्मा में शाश्वत प्रियतम के प्रति वियोग भावना होगी, उनकी क्या क्या दशा होगीं, तो सामान्य हृदय पर भी वेदना छा जाती है और उनकी सच्ची अनुभूति की महिमा को स्वतः प्रकट कर देती है,—

१, कबीर-ग्रन्थावली, (१२०)।
२. कबीर-ग्रन्थावली, (१२०)

चकवी बिछुटी रैणि की, आए मिली परभाति।
जे जन बिछुटे राम सूं, से दिन मिले न राति।।[1]

वे कहते हैं कि आकाश में विरही पक्षी अपने विरहोद्गारों से बादलों का हृदय भी पिघला देता है। पंछी को इतनी व्यथा होती है कि वह तालाबों को भर देता है। फिर जिनको गोविंद का वियोग है उनकी व्यथा कितनी तीव्र होगी, —

अँबर कुंजा कुरलियां, गरजि भरे सब ताल।
जिनि पै गोबिंद बीछुटे तिनके कोण हवाल।। [2]

निम्नलिखित साखियों में कितनी मार्मिक विरह व्यथा प्रकट हुई है, उसे सहज ही समझा जा सकता है—

वासुरि सुख नां रैणि सुख, नाँ सुल सुपिने मांहि।
कबीर बिछुट्या राम सूं, नां सुख धूप न छांह।।
बिरहिनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझे धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलेंगे आइ।।
बहुत दिननि की जोवती, बाट तुम्हारी रांम।
जिय तरसे तुक मिलन कूँ, मनि नांहीं विश्राम।।
बिरहिन ऊठे भी पड़े, दरसन कारनि राँम।
मूंवां पीछें देहुगे, सो दरसन किहि काम।।
चोट सतांणी बिरह की, के जिहिं लागी सोइ।
मारणहारा जांनिहै, के जिहिं लागी सोइ।
जब हूँ मार्या खेंचि करि, तब में पाइ जांणि।।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छांणि।।
सब रग तंत रबाव तन, विरह बजावे नित।
और न कोई सुणि सके, के साईं कै चित्त।।
फाड़ि पुटोला धज करों, कामलड़ी पतिराउं।
जिहि जिहि भेषां हरि मिले, सोइ सोई भेप कराउं।। [3]

बिरही प्रियतम के विरह-रस का मूल्य भली भांति समझता है, फिर यह तो पवित्रतम बिरह और पवित्रतम व्यथा है। कबीर कहते हैं कि हे प्रियतम, जो विरह-बाण पहले मारा था, वही बार बार मारो। वह बड़ा सुखद है,—

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ ७।
२. कबीरग्रंथावली, पृष्ट ७
३. कबीर-ग्रंथावली, बिरह को अंग।

जिहि सर मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या ।
तिहि पर अजहूँ मारि, सर बिन सबु पाऊँ नहीं ।। [१]

सच्चा विरही विरह से ऊबता नहीं, उसके द्वारा अपने प्रेम को और भी परिपुष्ट करता है । वह विरह की निन्दा नहीं, प्रशंसा करता है । उसे दुःख अरुचि-कर नहीं, मोहक प्रतीत होता है । प्रेम-मूर्ति कबीरदास जी कहते हैं,—

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, विरहा है सुलितान ।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ।।
कबीर हसणां दूरि करि, कर रोवण सों चित्त।
बिन रोवा क्यूं पाइए, प्रेम पियारा मित्त ।।
हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिनि रोइ ।
जे हासे हि हरि मिले, तो नहीं दुहागिनि कोइ ।।

बिरह-जन्य प्रभावों का वर्णन भी कबीर ने किया है, कहीं-कहीं अत्युक्तिपूर्ण शैली के दर्शन भी होते हैं,—

आषणियां झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभणियां छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि ।।
नैना नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम ।
पपिहा ज्यूं पिव पिव करै, कबरू मिलहुगे राम ।
परवति परवति में फिरया, नैंन गंवाये रोइ ।
सो बूटी पाँऊं नहीं, जा तें जीबति होइ ।।
नैंन हमारे जलि गए, छिन-छिन लोड़ें तुझ ।
नां तू मिले न मैं खुसी, ऐसी वेदन मुझ ।। [२]

कबीर ने परमात्मा के विरह में आत्मा की व्यथा का बर्णन बहुत विस्तार से किया है, जिसमें विरह तथा व्यथा के प्रायः सभी चित्र प्राप्त होते हैं । उनमें परवर्ती कवियों-कवियित्रियों के ईश्वर-संबंधी विरह-वर्णनों पर कबीर का गंभीर प्रभाव पड़ा है । यह प्रभाव रूपान्तर के साथ आधुनिक युग तक चला आया है । जिस प्रकार संतों को उपदेशात्मक रचनाओं पर कबीर का प्रभाव पड़ा है, उसी प्रकार ईश्वर-विरह का वर्णन करने वालों संतों और कवियों पर, परंतु कबीर की गंभीरता तथा सत्यता दादू और मीरा को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त हो सकती ।

---

१. कबीर-ग्रंथावली, विरह को अंग (१७)
२. कबीर ग्रंथावली, 'विरह को अंग' ।

कबीर का उपर्युक्त कोटि का विषद वर्णन तथा ऐसे अन्य वर्णन अपने में एक स्वतन्त्र रस है, जो शृंगार के अंतर्गत नहीं आ सकते, साथ ही शांत रस में समाहित नहीं किये जा सकते कबीर के ऐसे वर्णनों को शृंगार के अन्तर्गत मानने की चेष्टा करना उपयुक्त नहीं है। यह तथ्य मिश्रबंधुओं के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायेगा ?——

"कबीर साहब ने आत्मा को स्त्री मानकर ईश्वर में प्रायः पति-भाव स्थापित किया है। रूपक की भांति इन दोनों के विवाहों के भी अनेक प्रकार से वर्णन किए गए हैं। आपकी भक्ति सखी-सम्प्रदाय की थी। इनकी रचनाओं में शृंगार पूर्ण वर्णन इस संबंध में बहुत आया है, किंतु उसमें भी शृंगार का आभास मात्र है। प्रत्येक स्थान पर पाठक को भासित होता जाता है कि शृंगार कहने ही भर को है, वास्तविक वर्णन जीवात्मा तथा परमात्मा ही का है। इन कारणों से आपका शृंगार अरुचिकर हो गया है और उसे पढ़कर अधिकतर स्थानों में काव्यानन्द नहीं आता। आपके ऐसे थोड़े ही इस प्रकार के छंद हैं, जिनमें काव्य का स्वाद मिलता है। कई स्थानों पर भावों में जीवात्मा और परमात्मा का विचार इतना दृढ़ है कि उत्प्रेक्षा, रूपक आदि के ऊपरी कथन को सत्य मानने से स्त्री के काम इतने उन्मत्तापूर्ण हो गए हैं कि कोई कुलटा भी उतनी निर्लज्जता न दिखलावेगी।[1]

उपर्युक्त कथन कबीर को समझने वाले आज के पाठक को विचित्र प्रतीत होता है पर वास्तव में ऐसा नहीं है और इस कथन के लेखकों पर इसका उत्तर-दायित्व भी नहीं है। यह तथा ऐसे ही अन्य भ्रम समस्त प्रकार के प्रेमों को शृंगार रस के अंतर्गत लेने के सिद्धांत के कारण उत्पन्न हुए हैं तथा होते हैं। हिंदी - काव्य का विकास स्वतंत्र रूप में हुआ है। अतः उस पर आंख मूंद कर संस्कृत के नियम नहीं लगाए जा सकते। हम पहले ही लिख आए हैं कि हिंदी का ईश्वर-प्रेम-संबंधी काव्य न तो शृंगार के अंतर्गत ही आ सकता है, न शांत के ही। कुछ लोग उसे स्वतंत्र भक्ति रस मानते हैं। पर प्रत्येक नवीन दृष्टिगोचर होने वाली भाव-धारा के लिए पृथक् रस का नामकरण शास्त्रीयता की दृष्टि से समीचीन नहीं हो सकता। भक्ति वस्तुतः प्रेम का ही श्रद्धा-समन्वित रूप है। प्रेम ही क्षुद्र वासना से मुक्त, विशद तथा उदात्त होकर भक्ति का स्वरूप ग्रहण करता हैं। इन्हीं कारणों से हमने शृंगार के स्थान पर प्रेम का प्रयोग किया है तथा ऐसे भावों को प्रेम महारस (या प्रेमरस) के हरिरस के अंतर्गत माना है। इस 'हरिरस' के संकेत कबीर ने स्वयं किए हैं,—

कबीर हरिरस यों पिया', बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुंभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि॥

१—हिन्दी-नवरत्न, पृष्ठ ४२२-२३।

हरिरस पीया जांणिये, जे कबहूं न जाइ खुमार ।
मेमंता घूंमत रहे, नांही तन की सार ।। [१]

कबीर के बाद निर्गुण-धारा के कवियों का जो प्रचुर साहित्य सृजित हुआ. वह अधिकांशतः उपदेश-प्रधान था । नानक, रैदस, मलूकदास, अक्षर अनन्य, जग-जीवन सहाब, दूलमदास, भीखा तथा पलटू प्रभृति संत वास्तव में, उपदेशक थे, कवि नहीं । सुन्दरदास अवश्य एक सुकवि थे और उनका काव्य-क्षेत्र उपदेशों के घेरे से बाहर तक फैला भी है । पर प्रेम-तत्व और विरह-वर्णन जैसा दादू में प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र नहीं । हिंदी के निर्गुण संत-काव्य में कबीर के बाद दादू का स्थान सर्वश्रेष्ठ है । दादू रहस्यदर्शी संत तथा भावुक कवि थे । प्रेम तथा आत्मा का परमात्मा के प्रति विरह-वर्णन करने में उनकी समता करने वाला कवि हिंदी में कबीर को छोड़कर शायद ही कोई हो । महात्मा दादू का जन्म सं० १६०१ में अहमदाबाद में हुआ तथा गोलोकवास सं० १६६० में जयपुर से लगभग पच्चीस कोस की दूरी पर स्थित मराने की पहाड़ी पर । इनका दादू-पंथ अब तक चल रहा है । 'आपकी भाषा जयपुरी-मिश्रित पश्चिमी हिंदी है । आपके कुछ पद गुजराती और पंजाबी के भी हैं । कुछ खड़ी-बोली की क्रियाएं भी आपके पदों में हैं । [२] दादू के पदों में प्रेम तथा विरह का निरूपण अत्यंत उत्कृष्ट हुआ है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है, ...'दादू की बानी में यद्यपि उक्तियों का वह चमत्कार नहीं है जो कबीर की बानी में मिलता है, पर प्रेम-भाव का निरूपण अधिक सरस और गंभीर है । [३] यद्यपि कबीर की तुलना में दादू के लिए ऐसा कहना समीचीन नहीं है, तथापि यह पूर्णतः सत्य है कि प्रेम-तत्व का निरूपण दादू ने बहुत उच्चकोटि का किया है । इनके दोहों तथा पदों में बड़ी मार्मिकता है जो यह सिद्ध करती है कि इनकी पवित्र आत्मा ने परम प्रिय के प्रेम तथा उसके विरह का सच्चा अनुभव किया था । कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे,—

बाट बिरह की सोधि कर पंथ प्रेम का लेहु ।
लव के मारग जाहके दूसर पांव न देहु ।।
जब लगि नैन न देखिए परगट मिलेन आय ।
एक सेज संगति रहे यह दुख न सहया न जाय ।।
प्रीति न उपजह विरह बिन प्रेम भक्ति क्यों होय ।
झूठे दादू भाव बिन कोटि करइ जो कोय ।।

१. कबीर-ग्रंथावली, रस को अंग ।
२. मिश्रबंधु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ २५० ।
३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८० ।

विरह जगावइ दरद को दरद जगावइ जीव ।
जीव जगावइ सुरति को यंत्र पुकारइ पीव ।।
पहिला आगम् बिरह का पीछइ प्रीति प्रकाश ।।
प्रेम मगन लवलीन मन तहां मिलन की आस ।।
विरहा मेरा मीत है विरहा बैरी नाहिं ।
बिरहा को बैरी कहे सो दादू किस मांहि ।।
नहीं मृतक नहिं जीवता नहिं आवे नहिं जाय ।
नहिं सूता नहिं जागता नहिं भूखा नहिं खाय ।।
राम अकेला रहि गया तन मन गया बिलाय ।
दादू बिरही तब सुखी जब दरस परस मिल जाय ।। [१]

विरह की महता का गान दादू ने सर्वत्र किया है । रहस्यमय के प्रति विरह की अनुभूतियों में जो पवित्रता दादू में प्राप्त होती है, वह हिंदी की ही नहीं, भारतीय साहित्य की एक श्रेष्ठ निधि है । दादू स्पष्ट कहते हैं,———

बिरह अगिनि में जल गए मन के मैल बिकार । [२]

प्रेम की अनिर्वचनीयता पर दादू कहते हैं,—

केते पारखि पचि मुए कीमति कही न जाइ ।
दादू सब हैरान हैं गूंगे का गुड़ खाइ ।। [३]

प्रेम की एकात्मकता पर सभी संत तथा भक्त पूरी आस्था रखते हैं । महात्मा दादू भी अपने प्रेम की एकनिष्ठता प्रकट करते हैं—

जब मन लागे राम सों तब अनत काहे को जाइ ।
दादू पाणी लूण ज्यों ऐसे रहे समाइ ।। [४]

---

१. श्री शंभुप्रसाद बहुगुना की पुस्तक 'घन-आनंद' ।
२. घन आनंद, पृष्ठ २८ ।
३. हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८० ।
प्रेम की अनिर्वचनीयता पर महात्मा कबीरदास ने भी ऐसे ही उद्‌गार प्रकट किए हैं,—

अकथ कहांणीं प्रेम की, कछू कही न जाई ।
गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई ।।

(कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ १३६)

४. हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८१ ।

अपने प्रियतम के विरह में दादू की पवित्र आत्मा में जो व्यथा थी उसका पूरा चित्र उनके पदों में प्राप्त होता है, जिनमें अनुभूति की तीव्रता अभिव्यक्ति के शब्द-शब्द पर अंकित हो गई है। कविता की दृष्टि से भी ऐसे पदों का असाधारण मूल्य है। उदाहरणार्थ—

> अजहुं न निकसे प्राण कठोर।
> दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर।।
> चार परह चारहु जुग बीते रैन गंवाई भोर।।
> अवधि गए अजहूं नहि आए कतहुं रहे चितचोर।।
> कबहूं नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर।
> दादू अइसहि आतुर बिरहिनि जइसहिं चंद चकोर।।[1]

सगुण भक्ति-धारा में काव्य का जो उत्कृष्ट रूप सामने आया, उसका अधिक विस्तृत, अधिक साधारणीकरण-परिपूर्ण तथा अधिक सरस रूप होना स्वाभाविक भी था क्योंकि उसके आलंबन अधिकतर राधा और कृष्ण थे, जिनकी स्पष्ट रूपरेखा भक्त कवियों के मन-मानस-पटल पर अंकित थी। कृष्ण-भक्ति-धारा में विरह-वर्णन की प्रधानता रही। ऐसे सभी वर्णनों को विप्रलंभ-शृंगार के अंतर्गत रखना अधिक समीचीन नहीं होगा। यों तो मीरां का विरह-निवेदन स्थूल दृष्टि से शृंगार रस के अंतर्गत भी रखा जा सकता है।[2] पर तत्व की दृष्टि से उसे हरिरस के अंतर्गत मानना ही उचित होगा। मीरां का विरह ईश्वर के प्रति विरह है, भले ही वह ईश्वर शुद्ध प्रियतम के रूप में हो, पति के रूप में हो। नारी होने के कारण मीरां का कृष्ण के प्रति पति-भाव निर्गुण-धारा के पुरुष संत-कवियों के ईश्वर के प्रति पति-भाव की अपेक्षा अधिक मनोरम तथा तलस्पर्शी बन पड़ा है।

---

१. मिश्रबंधु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ २५१-५२।

२. सभी प्रकार के प्रेमों को शृंगार रस के अंतर्गत मानने से कैसी भ्रांतियाँ उत्पन्न होती हैं, यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। ऐसी एक भ्रांति हम और उद्धृत करते हैं जो मीरां के प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए तथा लेखकों में अगाध पांडित्य और पवित्रता के होते हुए भी सभी प्रकार के प्रेमों को शृंगार रस के अंतर्गत मानने के कारण हुई है। मिश्रबंधुओं को मीरां के पदों में सात्विक अश्लीलता न दृष्टिगोचर होती, यदि वे सभी प्रकार के प्रेमों को शृंगार रस के अंतर्गत न मानते—

इनकी कविता में अखंड भक्ति का प्रवाह बहता है। आपकी भाषा राज-

मीरां हिन्दी-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री हैं। गुजराती साहित्य में भी उन्हें यही स्थान प्राप्त है। यह भारतीय भाषाओं की एकता का एक बड़ा प्रमाण है। किन्तु मीरां की भाषा यह स्पष्ट सूचित करती है कि उन्होंने व्रजभाषा में रचना करने की चेष्टा की थी, जिनमें राजस्थानी के बहुत-से शब्दों का आ जाना स्वाभाविक था, क्योंकि वे राजस्थान की थीं। मीरां के पदों का प्रचार पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्य-प्रदेश, गुजरात और राजस्थान में बहुत अधिक है। दक्षिण में भी मीरां बहुत लोकप्रिय है। वहाँ मीरादासी संप्रदाय तक चल गया है। लोकप्रियता की दृष्टि से तुलसी और कबीर के पश्चात् उनका स्थान अद्वितीय है। प्रेम की तीव्रानुभूति तथा कृष्ण के प्रति विरह की उज्ज्वल व्यथा के जो दर्शन मीरां में होते हैं, वे बहुत मार्मिक तथा अत्यंत उच्चकोटि के हैं। जो सरलता तथा अकृत्रिमता मीरां के प्रेम तथा विरह-निवेदन में है, वह अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त हो सकती। हिन्दी-साहित्य अपनी इस अमर तथा सर्वश्रेष्ठ कवयित्री पर गर्व करता रहेगा।

मीरां का कृष्ण-प्रेम सहज तथा स्वाभाविक था। "शैशव-काल से ही मीरां के हृदय-पटल पर श्री गिरधारी लाल के प्रति आत्मयिता की भावना अंकित होने लगी थी, जो उनकी उन्हें पति-रूप में वरण करने अथवा उनकी स्वप्न में परिणत होने तक की, कल्पनाओं द्वारा क्रमशः दृढ़तर होती गई। कुंवर भोजराज का वास्तविक पाणिग्रहण भी उसे विभाजित न कर सका और न उसमें कोई बाधा डाल सका।.........मीरांबाई के जीवन भर में केवल एक ही भाव है, एक ही रस है और एक ही रंग है और उसकी स्पष्ट छाया उनकी पदावली में हमें सर्वत्र दीख पड़ती है। उसके अतिरिक्त मीरां कुछ नहीं जानतीं, समझतीं वा न जानना-समझना ही चाहती हैं। उसी से उनकी सारी अंतरात्मा व्याप्त है और उसी को आत्म-प्रदर्शन द्वारा प्रकट करने की चेष्टा में वे पद-रचना करने की ओर स्वभावतः प्रवृत्त हो जाती हैं। मीरां बाई के हृदय पर उनके जीवन भर एक ही मधुर भावना की लहरें हिलोर मारती रहीं—वे सदा समझती रहीं कि मैं श्री गिरधर लाल की 'अपनी' हूँ और उनके द्वारा अवश्य अपनाई जाऊँगी।" [1]

पूतानी-मिश्रित ब्रजभाषा है, और वह सर्वतोभावेन सराहनीय है। इनके पदों में कहीं-कहीं कुछ अश्लीलता भी आ गई है, किन्तु वह पूर्णतया सात्विक है।

(मिश्रबंधु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ २२७)

अश्लीलता का यह भ्रम स्वकीया के गंभीर प्रेम को समादर प्रदान करने वाले रसराज के अंतर्गत मीरां के प्रेम को भी समाहित करने के कारण हुआ है।

१. पं० परशुराम चतुर्वेदी कृत 'मीरांबाई की पदावली, भूमिका, पृष्ठ ३८—३९।

मीरांबाई के पदों में कृष्ण के लिए 'अविनासी' तथा ऐसे ही अन्य शब्दों को देखकर कुछ लोग अनुमान लगाते हैं कि वे संत-मतानुयायिनी थीं। किन्तु मीरां पग-पग पर कृष्ण की रूप-माधुरी, विष्णु के विभिन्न अवतारों तथा कृष्ण की लीलाओं का जो उल्लेख करती हैं, वह स्पष्ट कर देता है कि सूर इत्यादि अन्य कृष्ण-भक्तों के समान अपने उपास्य का ब्रह्मत्व समझते हुए भी वे प्रेम भगवान् कृष्ण से ही करती थीं और उन्हीं की भक्ति में लीन रहती थीं। संत-साहित्य के तलस्पर्शी विद्वान् पं० परशुराम चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है,——मीरांबाई द्वारा किए गए इष्टदेव के निर्गुण-वत् निरूपण तथा उसकी प्राप्ति के लिए प्रयोग में आने वाली चारित्रिक साधनाओं के आधार पर कुछ लोग उन्हें संत-मत की अनुयायिनी मान लेना चाहते हैं। किन्तु ऐसा करना उचित नहीं जान पड़ता। मीरां ने अपने अनेक पदों में उक्त 'हरि अविनासी' को ही एक परम ऐश्वर्यशाली एवं लीलामय भगवान् के सगुण रूप में भी अंकित किया है।......मीरांबाई को उस 'प्रियतम' के वास्तविक रूप का आध्यात्मिक रहस्य ज्ञात है। किन्तु उनके प्रेम की तीव्र भावना उसे अमूर्तमान कर अपनाने नहीं देती। उनके स्त्रियोचित हृदय में निराकार के लिए स्वभावतः कोई स्थान नहीं। वे उसके प्रतीक स्वरूप भगवान् श्री कृष्णचन्द्र की विश्व-मोहिनी मूर्ति को सदा अपने सामने रखती हैं और उसी के सौंदर्य का आभास उन्हें सर्वत्र दीख पड़ता है।" [१] भारतीय धर्म-साधना में ईश्वर मूलतः निर्गुण ही है। किन्तु वह सगुण भी हो सकता है और होता है। अधिकांश भक्तों की आत्मा सगुण की सुगमता के कारण इसी रूप पर अधिक रीझी है। भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदास जैसे कुछ सन्तों ने तो निर्गुण और सगुण रूपों में कुछ भेद ही नहीं माना।

मीरा तथा कतिपय अन्य सन्त-कवियों के प्रेम के लिए माधुर्य भाव तथा मधुर रस प्रभृति विशेषणों का प्रयोग होता है। भक्ति रस की अन्य धाराओं में शान्त, दास्य- सख्य तथा वात्सल्य चार भाव भी बहुत बार चर्चा के विषय बनाए गए हैं। शृंगार नामक पाँचवें भाव का उल्लेख भी प्राप्त होता है। किन्तु यदि हम इन्हीं की दृष्टि से देखें तो सूर प्रभृति अनेक कवियों में माधुर्य भाव, मधुर रस, शान्त, दास्य, सख्य शृंगार तथा वात्सल्य की सभी धाराएं यत्र-तत्र प्राप्त होती रहेंगी। वास्तव में मध्यकालीन धर्म-साधना तथा सन्त-कवियों की काव्य-साधना का मूल ईश्वर-प्रेम था और जिस प्रकार प्रेम कभी दाम्पत्य रस का रूप ग्रहण करता है, कभी वात्सल्य का, कभी दास का तथा कभी सखा का और प्रत्येक रूप में भारी अन्तर भी

१—मीराबाई की पदावली, भूमिका, पृष्ठ ३८-३९।

रखता है, उसी प्रकार यह मूल प्रेम-भावना कभी किसी रूप में प्रकट हुई, कभी किसी रूप में। सूर में शृंगार-भावना भी है, सख्य भावना भी, वात्सल्य भावना भी, दास्य भावना भी, शान्त भावना भी। उनकी गोपिकाओं में मधुररस भी विद्यमान है। तुलसी में भी शान्त तथा दास्य भावना के साथ वात्सल्य भावना अत्यन्त सशक्त रूप में विद्यमान है। अतः इस प्रकार रसों के पृथक्-पृथक् नामकरण करने से नाम बढ़ते जाएंगे। मध्यकालीन भक्ति-काव्य का मूल प्रेम है, जो ईश्वर के प्रति होने के कारण बहुत पवित्र है और अनेक परिस्थितियों में अनेक रूपों में प्रकट हुआ है। मीरा का प्रेम ईश्वर को पति के रूप में देखता था; सूर का स्वामी, शिशु तथा सखा इत्यादि अनेक रूपों में; तुलसी का अधिकतर स्वामी के रूप में; कबीर का स्वामी के रूप में भी 'पिय' के रूप में भी। अतएव माधुर्य भाव, मधुर रस; दास्य' सख्य, शान्त शृंगार तथा वात्सल्य प्रभृति भावनाएं उसी व्यापक प्रेम की शाखाएँ मात्र हैं, जो ईश्वर के प्रति होकर 'हरिरस' कहलाता है।

मीरां पर सूफी प्रभाव भी बताया जाता है, जो उनके विरह वर्णन में शारीरिक क्षीणता इत्यादि के वर्णनों से प्रकट होता है तथा स्पष्ट किया गया है। यह प्रभाव मीरां पर कबीर प्रभृति संतों के माध्यम से पड़ा होगा, क्योंकि उनके पदों में उनका सूफीमत का अध्ययन-अनुशीलन या सूफियों से सत्संग प्रकट नहीं होता।

मीरां का विरह-वर्णन हिंदी-विरह काव्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उन्होंने शुद्ध भक्ति से पूर्ण आत्मोद्बोधन से संबंधित तथा उपदेशात्मक पद भी कहे हैं और उन्हें ऐसा कहने का अधिकार भी था, पर उनकी अमरता का प्रधान कारण कृष्ण-प्रेम तथा विरह के पद ही हैं, जिनकी तीव्र अनुभूति हिंदी या भारत ही नहीं, विश्व की कवयित्रियों में अप्रतिम है। प्रेमासक्ति में अदृश्य प्रियतम भी उन्हें साकार हो जाते हैं—

णैणां लोभां अटका शक्यां णा फिर आय।। टेक।।
रूमं रूमं नखसिख लख्या ललक ललक अकुलाय।
म्हां ठाढ़ी घर आपणे मोहन निकल्यां आय।
वदन चंद परगासतां मंद मंद मुसकाय।
सकल कुटुम्बां वरजतां बोल्यां बोल बनाय।
णेणा चंचल अटक णा माण्या परहथ गया बिकाय।
भलो कह्यां कांह कह्या बुरोरी सब लया सीस चढ़ाय।
मीरा रे प्रभु-गिरधर नागर विणा पलह र्यां णा जाय।।[1]

१. मीरांबाई की पदावली, पृष्ठ (१३)

अपनी विरह-दशा का कारण स्पष्ट करते हुए वे कहती हैं—

> आली री म्हारे णेणां बाण परीं ।। टेक ।।
> चित्त चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत हिवड़ा अणी गड़ी ।
> कवरी ठाढ़ी पंथ निहारां अपणे भवण खड़ी ।
> अटक्यां प्राण सांवरो प्यारो जीवण मूर जड़ी ।
> मीरां गिरधर हाथ विकाणी लोग कह्या बिगड़ी ।।[१]

तीव्र प्रेम-जन्य विरहानुभूति ने मीरां के सूक्ष्म प्रियतम को उनके लिए साकार प्रियतम बना दिया था । वे उसके प्रति स्पष्ट निवेदन करती हैं,—

> सइयां, तुम बिनि नींद न आवै हो ।
> पलक पलक मोहि जुग से बीतैं छिनि छिन बिरह जरावै हो । [२]

अपनी विरह-व्यथा का वर्णन मीरां ने सूफी-पद्धति पर भी किया है, जो उन्हें संत-साहित्य के संपर्क अथवा युग-प्रभाव के रूप में प्राप्त हुई थी । उनके कुछ पद अत्युक्तिपूर्ण हैं । पर इसमें संदेह नहीं कि उनके प्रेम की पीर सच्ची थी । वे स्पष्ट कहती हैं कि प्रिय-मिलन के विना वे जीवन-लीला समाप्त कर देंगी । बाद में उन्होंने कुछ ऐसे पद भी लिखे हैं जिनमें प्रियतम-दर्शन, मिलन तथा कृपा का स्पष्ट उल्लेख है, जिससे पता चलता है अपनी साधना में वे सफल भी हुई थीं । प्रेम की पीर को संसार ठीक से नहीं समझता, इसका उल्लेख मीरां ने बार-बार किया है । बंधी-बंधाई पद्धति पर ऋतुओं के क्रम से विरह-दशा में व्यथा-वर्णन मीरां ने नहीं किया, पर वर्षा तथा होली के त्यौहार जैसे अवसरों पर प्रिय के अभाव में कैसी तीव्र पीड़ा होती है, इसका मर्मस्पर्शी वर्णन उन्होंने अनेक पदों में किया है । बारहमासा भी मीरां ने लिखा है, जो संक्षिप्त होने पर भी सुन्दर है । विप्रलम्भ-शृंगार में सुन्दर ऋतु, सुन्दर पक्षियों का कल-रव तथा पर्वोल्लास इत्यादि व्यथा का उद्दीपन कराने के लिए प्रयुक्त होते हैं, मीरां ने हरि-विरह में इनका प्रयोग किया है । लोक-गीतों में काक का बोलना प्रिय के आगमन का सूचक माना जाता है तथा उनमें विरहिणियां काक को अनेक आश्वासन देती हैं, मीरां ने भी ऐसा किया है । पपीहा इत्यादि को विरहिणियाँ फटकारती हैं तथा धमकाती भी हैं, मीरां ने भी ऐसा किया है । नींद न आने, बाट जोहने, सारा घर अंधेरा लगने रात भर जागते रहने, कृशगात होने वैद्य की चिकित्सा व्यर्थ होने, खान-पान अच्छा न लगने इत्यादि के जो-जो वर्णन विरह के चित्रण में प्राप्त होते हैं, सब मीरां में भी विद्यमान हैं । बाह्यतः उनकी विरह-दशा का वर्णन विप्रलंभ-शृगार जैसा ही है । पर

---

१. वही (१४) ।
२. वही (९२) ।

अत्यधिक मानसिक भाव-प्रवणता के कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि यह साधारण विरह नहीं है । संक्षेप में, परम-प्रिय के प्रति विरह की व्यापक उद्भावनाएं मीरां में जैसी विशद प्राप्त होती हैं, वैसी अन्यत्र नहीं । धन्य है उनका हृदय, जिसने शाश्वत प्रियतम के प्रति विरह का इतना सच्चा अनुभव किया था !

कृष्ण-भक्त कवियों में सूरदास का स्थान सर्वश्रेष्ठ है और यह सर्व-समस्त तथ्य है कि वे हिंदी ही नहीं, भारत के श्रेष्ठतम कवियों में स्थान रखते हैं, और वात्सल्य तथा शृंगार रस में उनकी जैसी पहुंच सम्भवतः संसार के किसी भी कवि की नहीं है । सूर की रचनाओं में प्रचुर परिमाण में विरह-वर्णन प्राप्त होता है । सूरदास अष्ट-छाप के सूर्य थे । यद्यपि अष्टछाप के अन्य कवियों में भी किसी-किसी ने विरह-वर्णन किया है, पर उसमें कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती । अष्टछाप के दूसरे समर्थ कवि नन्ददास की रुचि रास-लीला के वर्णन में अधिक है । उनका भ्रमर-गीत भी अपने विषय की एक अनूठी रचना है, पर उसमें विरह-वर्णन की अपेक्षा निर्गुण के तर्कपूर्ण खंडन की प्रवृति अधिक सक्रिय परिलक्षित होती है ।

महाकवि सूरदास का विरह-वर्णन.क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । मातापिता क सन्तान के प्रति विरह, सन्तान का मातापिता के प्रति विरह, प्रिय का प्रिय के प्रति विरह, प्रिया का प्रिय के प्रति विरह, मित्र विरह तथा स्थान के प्रति विर के मर्मस्पर्शी वर्णन तो सूर ने किए ही हैं, प्रकृति के पदार्थों पर विरह का आरोप भ बहुत ही उच्च कोटि का किया है । शृंगार एवं वात्सल्य के क्षेत्रों में विरह-वर्णन क गम्भीरता तथा स्वाभाविकता का सीमाँत सूर में दृष्टिगोचर होता है, यद्य वात्सल्य तथा शृंगार के संयोग-क्षेत्र में भी सूर की प्रतिभा का चमत्कार सीमा त पहुंच गया है । मिश्रबंधुओं ने ठीक ही लिखा है,....आपने-अपने प्रिय विषयों के वर्ण बहुत ही सांगोपांग और विस्तार से किए । इस गुण में शायद संसार-साहित्य आपकी समानता करने वाला कोई भी कवि नहीं हुआ ।[1] सूर-सागर वास्तव रस-सागर है ।[2] यद्यपि विप्रलंभ-शृंगार की सभी दशाओं का बड़ा ही व्यापक वर्ण इनके सागर में प्राप्त होता है तथापि केवल दाम्पत्य-प्रेम में ही सूर नहीं बंधे रहे, अ प्रकार के प्रेम-सम्बन्धों (यथा पिता-पुत्र, माता-पुत्र मित्र, स्थान आदि से प्रेम-सम्बन्ध का भी इन्हें सतत् ध्यान रहा और इन सभी के प्रति वियोग के वर्णन 'सूर-साग में मर्मस्पर्शी रूप में प्राप्त होते हैं । कृष्ण के मथुरा जाते समय ब्रजभूमि के नि सियों, विशेषतः यशोदा, राधा, गोप-गोपिकाओं इत्यादि की जो दशाएँ इन्ह

---

१. मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ १६० ।

२. भ्रमरगीत-सार, भूमिका, पृष्ठ २४ ।

चित्रित की हैं, वे संसार-साहित्य की एक अपूर्व निधि हैं। मिश्रबंधुओं ने ठीक ही लिखा है,.........इनका मथुरा-गमन बड़ा ही हृदय-द्रावक है। वर्णन-पूर्णता, साहित्य-गौरव, बारीक बीनी, रंगों का संमिश्रण एवं तत्प्रभाव और भाव-गरिमा की सूरदास में अच्छी बहार है। भक्ति-गाँभीर्य के साथ इन्होंने ऊँचे विचारों, प्रकृति-निरीक्षण एवं मानव-शील-गुणावलोकन के अनुभवों को खूब मिलाया है। आपने चरित्र-चित्रण में अच्छी सफलता प्राप्त की है।'[१] सूर में संयोग तथा वियोग दोनों दशाओं में प्रकृति का वर्णन भी बड़ा सटीक किया है। स्व० प्रो० बैनी प्रसाद ने लिखा है,-प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन तुलसीदास ने कहीं विस्तार से नहीं किया, सूरदास ने सर्वत्र विस्तार से किया है और हिन्दी में सबसे अच्छा किया है।[२] सूर का संयोग-वर्णन कहीं-कहीं बहुत अश्लील होगया है, पर विरह में यों ही अश्लीलता का प्रश्न कम उठता है, और सूर में वह प्रायः नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी के विरह-वर्णन से सूर के विरह-वर्णन की तुलना करते हुए अनेक स्थलों पर इनके विरह-वर्णन की आलोचना की है, कहा है कि चार कदम पर मथुरा गए हुए गोपियों को बैठे-बैठे रुलाने वाला वियोग, झाड़ियों में थोड़ी देर के लिए छिपे हुए कृष्ण के निमित राधा की आँखों से आंसुओं की नदी बहाने वाला वियोग, सुदूर अशोक बन में राक्षसों से घिरी बैठी सीता के वियोग के समक्ष अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी बाल-क्रीड़ा-सा लगता है।[३] आज के यथार्थवादी दृष्टिकोण से सारे प्राचीन अथवा मध्यकालीन कवियों का कसा जाना समीचीन नहीं है, और सूर की एक संप्रदाय-विशेष से सम्बन्ध होने की परिस्थिति भी हमें सामने रखनी पड़ती है। फिर भी, यदि सूर की गोपिकाएँ लोक-मर्यादा के कारण घर पर बैठ कर विरह-रोदन करतीं, तो आचार्य शुक्ल का कथन असंगत हो जाता। पर सूर की गोपिकाएँ एक ओर तो "यम बन ढूढ़ि सकल बन ढूँढ़ो कतहुँ न स्याम लहौं" कहती हैं, दूसरी ओर मथुरा का बारम्बार उल्लेख करते हुए "निसिदिन बरसत नैन हमारे" की घोषणा करती हैं। इस स्थिति में स्वाभाविकता की दृष्टि से वर्णन खटकने लगता है। यदि हम कृष्ण और गोपिकाओं की यथार्थ परिस्थिति को भुलाकर काव्य-दृष्टि से सूर का विरह-वर्णन पढ़ें, तो उसकी मर्मस्पर्शिता बढ़ जाती है, अन्यथा एक सीमा तक वह 'विरह वर्णन के लिए 'विरह वर्णन'[४] ही प्रतीत होता है। परन्तु सूर ने

---

१. मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ १९१।

२. डा० बैनीप्रसाद-संपादित संक्षिप्त सूर-सागर, भूमिका, पृष्ठ २७।

३. गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ९२

४. सूर का वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिए है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। (भ्रमरगीतसार, भूमिका, पृष्ठ ७।)

केवल राधा या गोपिकाओं का कृष्ण के प्रति विरह-वर्णन ही नहीं किया, वात्सल्य-वियोग, स्थान-वियोग तथा मित्र-वियोग के विशद वर्णन भी किए हैं। इस दृष्टि से उनका व्यापकत्व सर्वोपरि है, इसमें सन्देह नहीं। गोपिकाओं का विरह-वर्णन भी कई सौ पदों में हुआ है और तर्क-दृष्टि हटाकर देखने से बहुत प्रभावशाली भी है। वात्सल्य-वियोग का वर्णन करने वाले कवियों में सूर का स्थान हिन्दी या भारत ही नहीं कदाचित् संसार साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है। शृंगार-वियोग की दृष्टि से भी रचना के व्यापकत्व को देखते हुए उनका स्थान अद्वितीय है। हाँ, सहज गाम्भीर्य तथा तलस्पर्शी मार्मिकता की दृष्टी से जायसी का विरह वर्णन केवल इस क्षेत्र में अधिक उत्कृष्ट है। तुलसी ने विरह-वर्णन अपेक्षाकृत बहुत थोड़ा किया है, अतः सूर से इस क्षेत्र में तुलना करना उचित नहीं प्रतीत होता। वैसे भी तुलसी और सूर की तुलना करना वैसा ही है जैसे एक आँख की दूसरी आँख से तुलना करना। तुलसी और सूर हिन्दी-साहित्य की दोनों आँखें हैं। उनकी तुलना करने का युग अब व्यतीत हो चुका है, भले ही हम संसार-साहित्य की दृष्टि से तुलसी को अपना सर्वश्रेष्ठ कवि कहते रहें। कुल मिलाकर तथा प्रेम एवं विरह की व्यापकता को देखकर सूर को विरह-वर्णन के क्षेत्र में हिन्दी में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया जा सकता है।

समय के अनुसार कुछ पूर्ववर्ती होते हुए भी काव्य-सृजन की दृष्टि से महाकवि जायसी सूर के समसामयिक-से थे। जायसी का हिन्दी-साहित्य में बहुत ऊंचा स्थान है। उनका विरह-वर्णन हमारे साहित्य की एक ऐसी निधि है जो अपने क्षेत्र में किसी दिन संसार-साहित्य में अद्वितीय मानी जा सकती है।

जायसी हिन्दी के सूफी कवियों में सरलता पूर्वक सर्वश्रेष्ठ स्थान रखते हैं। उनके पूर्ववर्ती कुतुबन और मंझन की रचनाएं प्राप्त होती हैं। कुतुबन की 'मृगावती' काव्य दृष्टि से साधारण रचना है। मंझन की 'मधु-मालती' में सूफी प्रेम-साधना का सुन्दर रूप दृष्टिगोचर होता है, जिसका जायसी पर बहुत प्रभाव भी पड़ा है। इन्होंने प्रेम तथा विरह के विशद तथा हृदयग्राही वर्णन किए हैं। प्रेमतत्व को प्रकृति में व्याप्त दिखलाने की प्रवृत्ति भी मंझन में है, जिसे जायसी ने पूर्ण रूप से पल्लवित किया है। ऐसी अनेक रचनाएं रची गई होंगी, पर आज प्राप्त नहीं होती। जायसी के बाद भी प्रेममार्गी सूफी कवियों की काव्य-धारा प्रवाहित होती रही, जिस पर उनका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। परवर्ती रचनाओं में उसमान की 'चित्रावली' शेखनबी की 'ज्ञानदीप', कासिमशाह की 'हंस-जवाहिर' तथा नूर-मुहम्मद की 'इंद्रावती' और अनुराग-बाँसुरी' प्रसिद्ध हैं। इन सब रचनाओं में स्थायित्व के उपयुक्त तथा उच्च काव्य-गुणों से युक्त सर्वश्रेष्ठ रचना जायसी का 'पद्मावत' है, जिसका स्थान हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में बहुत ऊंचा है।

जायसी का विरह-वर्णन शुद्ध हृदय-तत्व-प्रधान विरह-वर्णन का अनूठा उदाहरण है। नागमती के रूप में एक आदर्श हिन्दू नारी को चित्रित करते हुए पति के वियोग में जो वेदना व्यक्त की गई है, वह प्रेमतत्व को सृष्टि-व्यापी बनाते हुए विरह का प्रभाव सारे संसार पर आरोपित करती है। जायसी जिस प्रकार प्रेम की पावन अरुणिमा सूर्य, मजीठ, टेसू, बसंत की बनस्पतियों, जोगी-जतियों, गेरू इत्यादि में देखते हुए उसे सृष्टि के कण-कण में व्याप्त बताते हैं, उसी प्रकार अपनी विरहिणी की व्यथा तथा ऊष्मा का कारण गेहूं-जैसे अनाजों तथा तालाबों में दरारें और विरह-धूम से भौंरा और काग में कालापन इत्यादि भी देखते हैं। उनका विरह सारी सृष्टि पर प्रभाव डालता दृष्टिगोचर होता है। महाकवियों ने प्रयास-पूर्वक मेघ, हंस, पवन, भ्रमर प्रभृत्ति पशु-पक्षियों एवं प्राकृतिक पदार्थों द्वारा विरह-संदेश भिजवाए हैं, पर जायसी का विहंगम नागमती की विरह-दशा से स्वयं विगलित हो दूत बन कर **रत्नसेन** के पास जाता है। वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास के खग, मृग और मधुकर इत्यादि विरहियों को उत्तर नहीं देते, पर जायसी की नागमती से स्वयं पक्षी प्रश्न करता है और उसकी सहायता करता है। जायसी की भावुकता अद्वितीय है। कालिदास के मेघ के बाद जायसी का विहंगम भारतीय विरह-काव्य का सबसे अधिक सहृदय दूत है। उनकी अत्युक्तियों में भी एक मर्मस्पर्शी तन्मयता है, जो हृदय को ऐसी गहराई में जाकर छूती है कि कुछ समय के लिए अत्युक्तियाँ भी स्वभावोक्तियाँ बन जाती हैं। उनकी विरहिणी का प्रेम भोग-विलास के कारण नहीं है, आत्मा में मिला एक ऐसा तत्व है जो प्रिय के दर्शन मात्र से तृप्त हो जाता है। उनकी विरहिणी प्रिय का चरण-स्पर्श मात्र पाने के लिए तन को जला कर छार करने को प्रस्तुत रहती है। हिन्दी-साहित्य के एक सीमांत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसा बुद्धि-तत्व-प्रधान आलोचक को भी जायसी की भावुकता ने आलोचना करते समय हृदय-पक्ष-प्रधान बना दिया है और उनकी वह तर्क-पद्धति थोड़ी देर के लिए दूर कर दी है, जिसके कारण अन्य अनेक कवियों को यत्र-तत्र पूरा न्याय नहीं प्राप्त हो पाया। जायसी पर आचार्य शुक्ल ने लिखा है, वह पर्याप्त है और हिन्दी-समीक्षा की एक सीमा-रेखा बना हुआ है।

विरह-वेदना का जो हृदयग्राही चित्र जायसी ने खींचा है, वह आत्मानुभूति-प्रेरित होने के कारण अत्यंत गंभीर और पवित्र बन गया है। नागमती का विरह हिन्दी-विरह-काव्य, विशेषतः हिन्दी के विप्रलंभ-शृंगार से संबंधित काव्य में सर्वश्रेष्ठ है। इसका कारण कवि की आत्मा है, जिसने अपने काव्य के प्रत्येक शब्द को रक्त की लेई से जोड़ा था और उसमें व्याप्त प्रगाढ़ प्रेम की बेल को आँसुओं के जल से सींच कर बढ़ाया था,—

जोरी लाइ रक्त कै लेई।
गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई ॥ [1]

नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में तो अद्वितीय है ही, यदि कभी संसार के विरह-वर्णन पर निष्पक्ष विचार हुआ तो उसे उसमें भी अत्यंत उच्च, कदाचित् अपूर्व, स्थान प्राप्त होगा। इसका कारण उसमें विरह-व्यथा-वर्णन की सीमाओं का स्पर्श है, जो पवित्र दांपत्य-प्रेम से पुष्ट होकर सहसा यह कहने को विवश कर देता है,—'क्या इससे अधिक मर्मस्पर्शी विरह-वर्णन होना संभव है ?' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक लिखा है,—"जायसी को हम विप्रलंभ-शृंगार का प्रधान कवि कह सकते हैं। जो वेदना, जो कोमलता, जो सरलता और गंभीरता इनके वचनों में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।" [2] भारतीय साहित्य के सीमांत महाकवि कालिदास के विरह-वर्णनों में भी जायसी-जैसी तन्मयता नहीं प्राप्त होती। सूर का शृंगार-संबद्ध विरह-वर्णन उतना स्वाभाविक नहीं बन पड़ा, जितना जायसी का। वास्तव में 'भागवत' में कृष्ण के जीवन की कल्पित घटनाओं में सहज जीवनोपयुक्त तत्व आ भी नहीं सकता। कृष्ण से संबन्धित अधिकांश विरह-काव्य में अस्वाभाविकता का मूल कारण यही है। घनानंद का विरह-निवेदन सहज आकुलता तथा व्यथा से परिपूर्ण होने पर भी कला के भार के दबा हुआ है, साथ ही समग्र सृष्टि में अपनी भावना को व्याप्त देखने की जो निस्सीम भावुकता महाकवि जायसी को प्राप्त है, वह घनानन्द को नहीं प्राप्त हो सकी। मैथिलीशरण जी का विरह-काव्य बहुत व्यापक होते हुए भी अत्यंत अन्तर्दर्शनिमग्न है, अतः उसमें वह नैसर्गिक विकलता व्यंजित नहीं हो सकी जो जायसी में सहज परिप्लावित है। यही बात कवि-सम्राट हरिऔध के विरह-वर्णन के लिए भी लागू होती है, जिनकी विरहिणी राधा अंततोगत्वा नैत्री मात्र रह जाती है। संक्षेप में, हिन्दी-साहित्य में विप्रलंभ-शृंगार के क्षेत्र में जायसी को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया जाना सर्वतोरूपेण उचित है।

जायसी के विरह-वर्णन में अत्युक्तियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। कहीं-कहीं 'सेज-नागिनी' के डसने तथा 'अधिक काम' में दग्ध होने की चालू चर्चाएं भी प्राप्त हो जाती हैं। कुछ अलोचकों का मत है कि नागमती के विरह-वर्णन में जायसी का 'स्व' इतना अधिक सक्रिय है कि नागमती का रानीपन दब जाता है, वह अपने को भूल जाती है। एक सीमा तक यह ठीक भी है।

गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकवि ही नहीं, वाल्मीकि,

---

१. जायसी-ग्रंथावली, पद्मावती का उपसंहार, पृष्ठ ३०१।
२. जायसी-ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ ४६।

व्यास और कालिदास के साथ भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। जिन पाश्चात्य विद्वानों ने उनकी रचनाओं का अध्ययन-अनुशीलन किया है, उन्होंने मुक्तकंठ से उनकी प्रतिभा को स्वीकार करते हुए माना है कि वे संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में हैं। इसी विद्वान ए० जी० बारंनिकोव ने 'रामचरितमानस' को 'भारतीय संस्कृति का विश्व कोष तथा तुलसीदास को 'विश्व-कवि' कहा है। सरजार्ज ग्रियर्सन-जैसे अद्वितीय विद्वान ने उन्हें भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ कवियों में ही नहीं, सर्वश्रेष्ठ सुधारकों में भी स्थान प्रदान करते हुए घोषणा की थी कि मेरे लिए तो समग्र पूर्व में तुलसी ही एकमात्र कवि हैं। महात्मा गांधी ने 'रामचरितमानस' को भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ स्वीकार किया है। वास्तव में 'मानस' रामायण और महाभारत के साथ-साथ भारतीय-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ-रत्न है, जिनकी समता में आने वाले ग्रंथ सारे संसार में बीस से अधिक नहीं प्राप्त हो सकते। गोस्वामी तुलसी जी, वाल्मीकि, व्यास, होमर, कालिदास, दांते, शैक्सपियर और गेटे के स्तर के विश्व के सर्वश्रेष्ठ महाकवियों में हैं, यह अब प्रायः सर्वस्वीकृत होता चला जा रहा है। भारतीय महापुरुषों में भी उनका स्थान बुद्ध, शंकराचार्य और महात्मा गांधी के साथ है, जिसका कारण उनका व्यापक लोक-मंगल है जो सदियों के उत्तरापथ की जनता के जीवन को राममयकरता चला आ रहा है।

गोस्वामीजी की महान प्रतिभा ने जीवन के प्रायः सभी हृदयग्राही तथा प्रभावशाली भावों का मनोहारी स्पर्श किया है। विरह-वर्णन उनसे कैसे छूट सकता था? उनकी व्यापक दृष्टि ने दांपत्य-विरह से आगे बढ़कर पुत्र-विरह, बंधु-विरह, जन्मभूमि-विरह तथा पशु-पक्षियों से संबन्धित विरह के प्रभावशाली चित्र खींचे हैं। तुलसी ने सूर, जायसी, मीरा, घनानंद, मैथिलीशरण तथा हरिऔध के सदृश विस्तृत-विरह-चित्र नहीं खींचे, क्योंकि उनका उद्देश्य व्यापक जीवन का विशाल चित्रांकन था, किसी एक प्रवृति को लेकर उसी के तल तक पहुंचना नहीं। फिर भी, उनके दांपत्य-विरह,बन्धु-विरह तथा पुत्र-विरह के कतिपय अमर चित्र अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। 'मानस' में सीता-हरण पर राम का विरह-निवेदन लगभग वाल्मीकि के विरह-निवेदन के स्तर का ही है। 'गीतावली' में अधिक मर्मस्पर्शी रूप से यही वर्णन हुआ है। राम के वियोग में दशरथ के संक्षिप्त उद्गारों में जो व्यापक करुणा तथा अद्वितीय पुत्र-प्रेम विद्यमान है, वह अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होता। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम के उद्गार भी हिन्दी साहित्य की संपत्ति हैं, जो पाठकों और श्रोताओं को रुला कर अपनी सफलता का परिचय देते हैं। कहीं-कहीं राम के प्रतिश्रद्धा के अतिरेक में कवि ने कौशल्या के पुत्र-विरह का ऐसा चित्रण किया है, जो सूर के यशोदा की तुलना में बहुत साधारण प्रतीत होता है, जैसे राम के वन-गमन के पश्चात् कौशल्या

का 'प्रभु जू की ललित पनहियाँ' उर और नयनों में लगाना । 'बरवै-रामायण' में 'विरह-आगि उर-ऊपर जब अधिकाय' का वर्णन भी तलस्पर्शी नहीं है, क्योंकि विरहाग्नि उर के ऊपर नहीं, बहुत भीतर अधिक होती है । पर ऐसे स्थल मर्मस्पर्शी स्थलों की संख्या में बहुत कम हैं । राम के विरह में पशुओं की दयनीयता का जो चित्रण तुलसी में प्राप्त होता है, वह स्वाभाविक भी है और मर्मस्पर्शी भी । संक्षेप में हिन्दी-साहित्य के इस सूर्य का विरह-वर्णन भी उच्च कोटि का तथा प्रभावशाली हुआ है । उसका पाट भले ही कम हो, पर गहराई अधिक है ।

महाकवि केशवदास की अलंकार-प्रियता ने उनके सहज कवि को बहुत अधिक आक्रान्त किया है। उनकी भावना भी आडंबर-प्रिय दरबारी-कवियों जैसी थी । पर मिश्र बंधुओं, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा बाबू श्यामसुन्दर दास ने उनकी आलोचना करते समय पर्याप्त सहानुभूति से काम नहीं लिया । उनके विभिन्न वर्णनों पर जो आक्षेप किए गए हैं, वैसे ही अथवा वही वर्णन संस्कृत के महाकवियों ने भी किए हैं, जिन्हें काव्य-रचना की एक विशेष परिपाटी के अन्तर्गत स्वीकार करते हुए संस्कृत के आलोचकों ने निंदित नहीं किया । हिन्दी के पुराने आलोचकों ने भी केशव की निंदा न करते हुए उनकी प्रशंसा ही की है । पर कुछ आधुनिक आलोचक केशव के वातावरण तथा प्रवृति के प्रति कोई सहानुभूति न दिखाते हुए, उन्हें तुलसी और सूर के घेरे में नाप कर, उनके साथ न्याय नहीं कर सके । एकाध आलोचक तो केवल रहे होंगे या होंगे जैसे निम्नश्रेणी के आधार पर ही केशव के व्यक्तित्व पर आक्षेप करते हैं । यदि पुष्ट प्रमाण हों तो कवि के जीवन के भले-बुरे तथ्यों पर प्रकाश डालना उचित ही नहीं, प्रशंसनीय भी माना जाएगा । पर 'रहे होंगे या' होंगे' के अधकचरे पथ पर चल कर किसी भी कवि या महाकवि पर आक्षेप करना एक अवांछनीय मनोवृति है ।

केशवदास के विरह-वर्णन अलंकार-प्रधान हैं । परन्तु अलंकारिक शैली में सृजित होने पर भी उनमें यत्र-तत्र भाव-प्रवणता तथा मर्मस्पर्शिता विद्यमान है । हाँ, अधिकतर वर्णन अंलकारों के अजायबघर मात्र रह गए हैं, इस सत्य को स्वीकार करके ही ऐसा कहना उचित होगा ।

आसन्न-विरह का वर्णन करते हुए कवि ने एक नायिका का चित्र खींचा है, जिसमें सहज भाव को भी अनूठी मर्मस्पर्शिता प्रदान की गई है ?...

मेरी सौं तुमहिं हरि रहियौ सुखहि सुख,
मोहूँ है तिहारी सौंह रहौं सुख पाए ही ।
चले ही बनत जो तो चलिए चतुर पीय,
सोवत ही जैयो छांड़ि जागोंगी आए ही ।।

उपर्युक्त पंक्तियों की आलोचना करते हुए प्रसिद्ध आलोचक पं० कृष्णशंकर शुक्ल लिखते हैं,—एक नायिका का प्रिय परदेश जा रहा है। वह कहना तो यह चाहती है कि मैं तुम्हारे बिना न जी सकूंगी, परन्तु इसी बात को कैसे प्रकारांतर से, कैसे काव्योचित ढंग से कह रही है। वह कहती है कि तुम मुझे सोती छोड़ कर चले जाना और जब तुम लौट कर आओगे तभी मैं जगूँगी। यदि नायक का बाहर जाना रात्रि भर के लिए ही होता तो उपर्युक्त कथन के वाच्यार्थ में कोई ऐसा विशेष चमत्कार न था। परन्तु यह विदेश-गमन है, नायक दो-चार दिन में लौटने वाला नहीं है और नायिका को भी कुम्भकर्णी-निद्रा का वरदान प्राप्त नहीं है। ऐसी अवस्था में उसके कहने का तात्पर्य ध्वनि से वही निकलता है जो ऊपर कहा जा चुका है।[1] यदि उक्त पंक्तियों का भाव वही है, जो पं० कृष्णशंकर शुक्ल मानते हैं तो निस्सन्देह उनमें उच्च कोटि की कविता की भाव व्यंजना विद्यमान है।

प्रिय के परदेश-गमन की बेला में नायिका के हृदय की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का बहुत ही मर्मस्पर्शी चित्र प्रिय के प्रति उसके कथन में महाकवि केशवदास ने निम्नलिखित पंक्तियों में खींचा है, ...

जौ हौं कहौं 'रहिए' तो प्रभुता प्रगट होति,
चलन कहौं तो हित-हानि नाहिं सहनो।
'भावै सौ करहु' तौ उदास भाव प्रान नाथ,
'साथ ले चलहु' कैसे लोक-लाज बहनो॥
केसोदास की सों तुम सुनहु छबीले लाल,
चले ही बनत जौ पे नाहीं राजा रहनो।
तैसिये सिखावो तुमही सुजान प्रिय,
तुमहीं चलत मोहिं जैसो कुछ कहनो॥

प्रिय परदेश जा रहा है। नायिका के हृदय-सागर में भावों का ज्वार उमड़ा है, पर वह निर्णय नहीं कर पा रही कि प्रिय से क्या कहे, क्या न कहे। यह दशा आसन्न-विरह की बड़ी स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक दशा है। प्रिया को चुप देख-कर प्रिय उसको प्रसन्न करने के लिए कहता है कि तुम कुछ बोल क्यों नही रहीं ? चुप क्यों हो ? इस के उत्तर में नायिका सीधे-सीदे शब्दों में अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए उससे कहती है कि मैं क्या कहूं, तुम्हीं बता दो मुझे क्या कहना चाहिए। उपर्युक्त हृदयग्राही पंक्तियों की आलोचना करते हुए केशव के विद्वान आलोचक पं० कृष्णशंकर शुक्ल लिखते हैं,—एक नायिका का पति परदेश जा रहा है। बेचारी

१— केशव की काव्य-कला, पृष्ठ ३१-३२।

यह नहीं समझ पाती कि उसे चलते समय अपने प्रियतम से किन शब्दों में क्या कहना चाहिए। यह है तो अवश्य संस्कृत के एक प्रसिद्ध श्लोक का भावनुवाद, परन्तु वैसे मंजे रूप में केशव ने भाव को अपनाया है कि यह अनुवाद-सा प्रतीत नहीं होता।[1]

राम को विश्वामित्र लिए जा रहे हैं। दशरथ के पितृ-हृदय की स्थिति इतनी विकलतापूर्ण हो गई है कि वे आते हुए पुत्रों को देख भी नहीं सकते। राम के चलते ही उनके नेत्रों में अश्रु भर जाते हैं, वे शीघ्रता से ऋषि के पैर छूकर भवन के अन्दर चले जाते हैं एक शब्द भी नहीं बोल पाते। इस दशा का मर्मस्पर्शी चित्र महाकवि केशवदास ने थोड़े-से शब्दों में ही खींच दिया है,—

राम चलत नृप के युग लोचन।
बारि भरित भए बारिद रोचन।।
पायन परि ऋसि के सजि मोनहिं।
केशव उठि गए भीतर भौनहिं।।[2]

यहाँ 'सजि' शब्द का प्रयोग किसी को भले ही कुछ प्रसंग-विपरीत लगे, पर कुल मिला कर दशरथ की हृदय-वेदना अनूठे ढंग से प्रकट की गई है। केशव को हृदय-हीन कहने वाले वे आलोचक जो उन्हें बिना सहानुभूति-पूर्वक पढ़े ही अपने निर्णय देते हैं, यदि ऐसे स्थल पढ़े तो सत्य प्रकट हो सकता है। उपर्युक्त प्रसंग-जैसे प्रसंग केशव की अलंकार-प्रियता के कारण यद्यपि हैं कम ही, फिर भी उनका नितांत अभाव नहीं है।

सीता-हरण के बाद राम की विरह-दशा का वर्णन केशव ने किया है। उनके राम भी पक्षी और वृक्ष से सीता के विषय में पूछते हैं। यद्यपि वाल्मीकि, कालिदास या तुलसीदास जैसी तन्मयता केशव में नहीं है, तथापि वे प्रभाव अवश्य डालते हैं और अपनी सबसे बड़ी कमजोरी, आवश्यकता से अधिक अलंकार-प्रियता, की थोड़ी-बहुत उपस्थिति में भी हृदय को कुछ छूते हैं,...

सरिता इक केशव सोभ रई।
अवलोकि तहाँ चकवा चकई।।
उर में सिय-प्रीति समाइ रही।
तिन सों रघुनायक बात कही।।
शशि को अवलोकन दूर किए।
जिनके मुख की छवि देखि जिए।।

---

१. केशव की काव्य-कला, पृष्ठ ३२।

२. लाला भगवान 'दीन' की टीका-युक्त रामचंद्रिका' (पूर्वार्द्ध), (२।२७)

क्रति चित चकोर कछूक धरो।
सिय देह बताय सहाय करो।।
कहि केशव, याचक के अरि संपक, शोक अशोक भए हरिके।
लखि केतक केतकि जाति गुलाब ते तीक्ष्ण जानि तजे हरिकै।
सुनि साधु तुम्हें हम बूझन आए रहे मन मौन कहा धरिके।
सिय को कछु सोधु कहौ करुणामय है करुणा करुणा करिके।।[१]

उपर्युक्त पंक्तियों को अलंकार-प्रेम से कुछ मुक्त होकर कवि अधिक मर्मस्पर्शी बना सकता था, पर उसकी रुचि ने वैसा नहीं होने दिया। सुग्रीव से भेंट के समय उनके द्वारा सीता के वस्त्राभरण दिखाए जाने पर राम की जिस गम्भीर दशा का चित्रण गोस्वामी तुलसीदास (गीतावली में) तथा वाल्मीकि ने संक्षिप्त, किन्तु अत्यन्त हृदयग्राही रूप में किया है, वह केशव के अलंकार-प्रेम के कारण बहुत ही साधारण हो सका है,...

रघुनाथ जबै पट नूपुर देखे।
कहि केशव प्राण समानहि लेखे।
अवलोकन लक्ष्मण के कर दीन्हें।
उन आदर सों सिर लाइके लीन्हें।।
पंजर के खंजरीट नैनन को केशोदास,
कैधौं मीन मानस को जलु है कि जारु है।
अंग को कि अंगराग गेंडुवा कि गल सूई,
किधौं कोट जीवन को उर को कि हारु है।
बंदन हमारो काम केलि को, कि ताड़िबे को,
ताजनो बिचार को, के व्यजन विहारु है।
मान की जमनिका के कंजमुख मूंदिबै को,
सीताजू को उत्तरीय सब सुख सारु है।।[२]

उपर्युक्त छंद में जहां राम के द्वारा उत्तरीय हृदय से लगा कर चुप हो जाने का वर्णन होना चाहिये था, उनको आंसू-भरे रूप में दिखाया जाना चाहिए था वहां मर्मस्पर्शी स्थलों को ठीक से न पहचानने वाले कवि में संदेहालंकार का खिलवाड़ दिखला दिया है। यही नहीं: पांचवीं पंक्ति में 'स्मरण' संचारी की ओट में राम के साथ अन्याय भी किया है। लक्ष्मण की उपस्थिति में राम के द्वारा काम-केलि की चर्चा मर्यादापुरुषोत्तमराम से संबंधित काव्य में प्रयुक्त नहीं की जा सकती।

१. रामचंद्रिका (१२।३८-३९-४०)।
२. रामचंद्रिका (१२।६१।६२)

अशोक-वन में सीता का चित्रण करते समय विरह-मूर्ति सीता को कवि ने अलंकार-मंजूषा में बंद कर दिया है। उत्प्रेक्षा और संदेह की भंवर में भाव-प्रवणता एकदम डूब ही गई है। हनुमान के द्वारा मुद्रिका के गिराए जाने पर सीता के हृदय में कितने भाव एक साथ उठें होंगे, इसका अनुमान सामान्य सहृदय व्यक्ति भी कर सकता है, पर केशव ने भ्रम तथा संदेह प्रभृति अलंकारों की झांकी दिखा कर ही संतोष कर लिया[1]। मुद्रिका को देखकर सीता भाव-विभोर न होकर हनुमान से बौद्धिक-तत्व-युक्त प्रश्नोत्तर करने लगती हैं। यह ठीक है कि इस प्रकरण को जितना मर्मस्पर्शी रूप में चित्रित किया जाना चाहिए था उतना, या उसके देखते हुए आधा भी, मर्मस्पर्शी गोस्वामी तुलसीदास भी नहीं कर सके अथवा उन्होंने किया नहीं, पर इस अवसर पर भी केशव के द्वारा अलंकार-मंजूषा का प्रयोग अनुचित है। उत्प्रेक्षा पुष्ट रूपक, श्लेष-पुष्ट संदेह, श्लेष-पुष्ट समुच्चयोपमा में सीता की दशा आवृत हो जाती है। केवल अलंकारों से मुक्त- प्रायः एक दोहा मर्म को छूता है,—

श्रीपुर में, बन मध्य हों, तू मग करी अनीति।
कहि सुन्दरी अब तियन की को करिहै परतीति॥

'रामचंद्रिका' के तेरहवें प्रकाश में राम की विरहावस्था का जो वर्णन केशवदास ने किया है, वह अलंकार-बोझिल तो है ही, अस्वाभाविक तथा हास्यास्पद भी है। यद्यपि इस पर संस्कृत के कवियों का प्रभाव है, पर केवल इतने से ही केशव की रक्षा नहीं की जा सकती। समर्थ कवि महान से महान कवियों के थोथे भावों को नहीं ग्रहण करते। गोस्वामी तुलसीदास ने बालमीकि और कालिदास के बहुत प्रकरण छोड़ कर स्वतंत्र रुचि का परिचय दिया है या अन्यत्र से तत्व ग्रहण कर अपनी कथा-शृंखला को शक्तिशाली बनाया है। कालिदास ने महाभारत के लंपट दुष्यंत को अपनी अपूर्व कल्पना-शक्ति से धीरोदात्त नायक का रूप प्रदान किया है। इसी मौलिक स्थापना-शक्ति को आचार्य कुंतक ने प्रकरण-वक्रता कहा है। केशवदास में इस शक्ति का अभाव है।

सीता का पता लगाकर जब हनुमान राम के पास आते हैं और सीता की चूड़ामणि उन्हें देते हैं तब राम की दशा का वर्णन केशवदास ने सुन्दर किया है। राम के उद्गार अच्छे हैं,—

श्री रघुनाथ जबै मणि देखी।
जी महं भागदशा सम लेखी॥

---

१. राम-चंद्रिका (१३।८५)।

फूलि उठ्यो मन ज्यों निधि पाई ।
मानहुं अंध सुडीठि सुहाई ।।
मणि होहि नहीं मनु आय प्रिया को ।
उर प्रगट्यो गुन प्रेम दिया को ।।
मन भाग गयो जु हुतो तम छायो ।
अब में अपने मन को मत पायो ।।
दरसे हमकोऽब नहीं दरसाए ।
उर लागनि आय बर्याई लगाए ।।
कुछ उत्तर देत नहीं चुप साधी ।
जिय जानति है हमको अपराधी ।।[1]

प्रिया की चूड़ामणि पाने पर राम का हृदय हर्ष से प्रफुल्लित हो उठा । अब तक सीता का कहीं पता न लगने के कारण मानस-पटल तथा आंखों के सामने जो अंधकार छाया था, वह दूर हो गया । चूड़ामणि को आंखों की तरह प्रतीत हुई । वह राम को सौभाग्य के समान लगी । विश्व की सारी संपत्ति मानों प्राप्त होगई । मणि मणि नहीं, सीता के हृदय-जैसी प्रतीत हुई, जिसने हृदय प्रकाशित कर दिया । अब सीता का पता चल गया है, अतः अब वह कर्म-पथ प्रशस्त हुआ जो पूर्व-चिन्तित था । यहाँ केशवदास ने राम की भावुकता के साथ उनकी उदात्त कर्मठता का भी चित्रांकन किया है । पर अभी भावुकता को ही प्रधानता मिलनी चाहिए । अतः प्रलाप में वे चूडामणि को सीता की जीवंत प्रतीक मानते हुए कहते हैं कि तू हमारी ओर देखती यों नहीं, कुछ उत्तर क्यों नहीं देती । यह स्थल सचमुच अत्यंत सुन्दर बन पड़ा है ।

हनुमान द्वारा राम से सीता की विरह-दशा का वर्णन आवश्यकता से कुछ अधिक अलंकृत होने पर भी सुन्दर है । लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का विलाप बहुत उत्कृष्ट है । लक्ष्मण के प्राण सूर्योदय तक सम्यक् औषधोपचार न होने पर चले जाऐंगे, पर अभी आशा है । भावी चिर-विरह की संभावना यहां सारी भावना को अनुप्राणित करती है,—

लक्ष्मण राम जहीं अवलोक्यो ।
नैनन तै न रह्यो जल रोक्यो ।।
बारक लक्ष्मण मोहिं विलोको ।
मोकहं प्राण चले तजि रोको ।।
हौं सुमरों गुण केतिक तेरे ।
सोदर पुत्र सहायक मेरे ।।

१. रामचंद्रिका (१४।२४-२५-२६) ।

लोचन बान तुही धनु मेरो ।
तू बल विक्रम बारक हेरौ ।।
तू बिनु हौं पल प्रान न राखो ।
सत्य कहौं कुछ झूँठ न भाखो ।।
मोहिं रही इतनी मन संका ।
देन न पाई बिभीषन लंका ।।
बोलि उठौ प्रभु को पन पारो ।
नातरु होत है मो मुख कारो ।।[1]

उक्त वर्णन अत्यन्त मर्मस्पर्शी तथा व्यंजना-पूर्ण हैं । केशव के विरह-वर्णन में एक बात स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है । वे जहां अलंकारों के अत्यधिक प्रयोग की सनक से मुक्त हो जाते हैं, वहां वर्णन बहुत सुन्दर करते हैं । कुल मिलाकर केशव को हृदयहीन कहना उचित नहीं है । उनके गुण दोषों से कम भले ही हों, पर वे एक श्रेष्ठ कवि थे, यह असंदिग्ध तथ्य है ।

केशवदास के पश्चात् रीति-काल का विकास हो चला । सच तो यह है कि केशवदास ही रीति-काल को प्रारम्भ करने वाले थे, भले ही परवर्ती कवियों ने उनका पथ छोड़कर दूसरा पथ ग्रहण किया हो । रीति-काल वास्तव में हिंदी-काव्य का कला-काल है, जिसमें काव्य में अनुभूति-प्रवणता की अपेक्षा बाह्य सज्जा अथवा अलंकरण का प्रयास अधिक सचेष्ट दृष्टिगोचर होता है । इस युग के काव्य में अलंकरण-चेष्टा इतनी अधिक व्यापक हो गई है कि इस काल को अलंकृत काल भी कहा गया है । अलंकरण-चेष्टा से प्रेरित तथा कालमय रूप में सृजित रीति-काल का अधिकांश काव्य श्रृंगार रस से संबंधित है । इसीलिए एकाध विद्वान इस काल को श्रृंगार काल कहते हैं । पर रीति-काल नाम आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विराट व्यक्तित्व के कारण प्रायः सर्व-मान्य हो गया है ।

रीति-काल में अधिकांश रचना श्रृंगार रस से ही संबंधित रहीं । अतः इस काल में विप्रलंभ-श्रृंगार का बाहुल्य स्वाभाविक है । किंतु एक बात स्पष्ट है । अधिकांश रीति-कालीन कवि जिस दरबारी वातावरण में रहते थे, वह प्रेम-जैसे गंभीर भाव के शुद्ध रूप के बहुत अनुकूल न था । शुद्ध प्रेम की भावनाओं का संमान विलासी राजा-रईस नहीं कर सकते थे । फलस्वरूप रीति-काल का अधिकांश श्रृंगार-वर्णन वासना की नींव पर खड़ा है । उक्त युग के राजा-रईसों के लिए प्रेम का एक ही अर्थ—नित नूतन विलास-भोग था । कवियों को भी उनकी रुचि के अनुकूल सृजन करना पड़ता था, कहना पड़ता था कि है कन्हैया आज इस बड़ी-

१. रामचंद्रिका (१७।४३-४४-४५-४६)

बड़ी आंखों वाली के साथ रास-रस लूटिए, कल कोई काम की कुमारी-सी दूसरी आएगी। विरह के प्रति ऐसे राजा-रईसों में कोई रुचि होनी संभव न थी। अतः इस काल के काव्य में विरह-वर्णन संयोग-वर्णन की अपेक्षा स्वल्प परिमाण में ही हो सका, और बहुत अंशों में गुण की दृष्टि से भी विशेष उत्कृष्ट न हो पाया। जो कुछ कवि दरबारी वातावरण से मुक्त थे, उनकी वाणी में प्रेम और विरह का उच्च स्वरूप स्पष्ट लक्षित होता है। दरबारी कवियों के भी आखिर आत्मा तो थी ही, वे भारत में ही जन्मे थे। अतः कभी-कभी उनके विरह तथा प्रेम से संबंधित आत्मोद्गार भी प्रकट हो जाते थे।

रीति-काल के प्रमुख कवि दो भागों में विभक्त हैं। प्रथम रीति-बद्ध काव्य रचना करने वाले जिनकी संख्या बहुत अधिक है, दूसरे रीति-मुक्त काव्य रचना करने वाले स्वच्छंद कवि जिनकी संख्या बहुत कम है। रीति-बद्ध रचना करने वाले कवियों में चिंतामणि, बिहारी, भूषण, मतिराम, देव, कालिदास, कुलपति सुखदेव भिखारीदास, दूलह, पद्माकर तथा द्विजदेव प्रभृति प्रमुख हैं। रीतिमुक्त रचना करने वालों में कई नाम लिए जा सकते हैं, पर वास्तव में समर्थ कवित्व-शक्ति घनानंद में ही दृष्टिगोचर होती है, जो रीति-काल ही नहीं, हिंदी-साहित्य के श्रेष्ठ कवियों में पर्याप्त उच्च स्थान रखते हैं। इन सभी कवियों ने विरह-वर्णन किए हैं, पर जिनके वर्णनों में कुछ नवीनता, व चमत्कार अथवा हृदय-ग्राहिता है, वे कवि बिहारी, देव, मतिराम तथा घनानंद हैं। शेष के वर्णनों में मौलिकता बहुत कम और अनावश्यक विस्तार अधिक है।

बिहारी आचार्य-कवि न होते हुए भी रीति काल के प्रतिनिधि कवि माने जा सकते हैं, क्योंकि रीतिकालीन काव्य की सारी आंतरिक प्रवृत्तियां उनकी 'सतसई, में विद्यमान हैं। अलंकार तथा छंद-निरूपण न करने पर भी प्रायः सभी परवर्ती तथा आधुनिक आलोचकों ने बिहारी को रीति काल के कवियों में अत्यंत उच्च स्थान प्रदान किया है। अध्ययन-अनुशीलन भी उन पर सबसे अधिक हुआ है। बिहारी की 'सतसई' रीतिकालीन कविता का संक्षिप्त विश्व-कोष है, जिसमें रीति-कालीन काव्य की सभी आंतरिक विशेषताएं विद्यमान हैं। नायिका-भेद, नख-शिख, अभिसार, मान, विरह, संयोग सुरति, विपरीत रति, लुका-छिपी, नोंक-झोंक, इशारेबाजी, कटाक्ष-कला इत्यादि के जो बंधे-बधाए वर्णन रीति-काल के कवियों के प्रमुख विषय थे, सबकी छोटी-छोटी झांकियां 'सतसई' में देखने को प्राप्त होती हैं। कहने की नजाकत, वक्रता और अलंकारिकता के जो तत्व रीतिकाल के कवियों की अभिव्यक्ति के मूल हैं, वे भी बिहारी में पूरे समारोह के साथ दृष्टिगोचर होते हैं।

बिहारी के विरह-वर्णन में कहीं-कहीं उच्च कोटि के मर्मस्पर्शी भाव भी हैं।

जब उनकी विरहिणी अपने प्रियतम के नख-क्षत सूखने पर खोंट-खोंट कर आरक्तिम करते हुए स्मृति-सुख प्राप्त करती है, जब प्रिय के रूप-जल में प्रिया का मन 'पानी का लोन' बन कर गल जाता है, जब वह यमुना-तट पर पहुंचने पर मनको संयोग-दशा का अनुभव करते पाती है, जब पिय के ध्यान में 'वही वही' 'वही' हो जाती है अथवा जब परदेशी प्रिय के प्रति कहती है,-क्या हुआ जो हम तुम दूर-दूर हैं, हमारा-तुम्हारा मन तो साथ ही है, पतंग कहीं भी उड़े, पर उसकी डोर तो उड़ायक के हाथ में ही रहती है, तुम दूर होने पर भी मेरे निकट हो, तब हृदय स्वीकार करने लगता है कि कवि के हृदय में प्रेम तथा विरह का सच्चा रूप विद्यमान अवश्य था। पर ऐसे वर्णन कुछ दोहों तक ही सीमित हैं। अधिकतर दोहों में तो आश्रयदाता का मनोरंजन करना ही मूलभूत तत्व बना हुआ है। ऐसे स्थलों पर केवल हास्यास्पद चमत्कार प्राप्त होता है। उनकी नायिका विरह-व्यथा के कारण इतनी दुर्बल हो जाती है कि श्वास लेने-देने में क्रमशः छह-सात हाथ इधर-उधर लुढ़कना पड़ता है, श्वास खींचने में छह-सात हाथ अपनी ओर श्वास छोड़ने में छह-सात हाथ आगे की ओर, इस स्थिति में वह झूले में चढ़ी-सी रहती है। उसका विरह-ताप इतना अधिक बढ़ जाता है कि शिशिर ऋतु के पाले में भी बेचारी पड़ोसिनों को जेठ-बैसाख की लू के झोंके सहने पड़ते हैं। उसके कष्ट से सहानुभूति रखते हुए सखियों को यदि उपचारार्थ निकट जाना पड़ता है, तो जाड़े की रात्रि में वस्त्र गीले करने पर भी बड़े साहस से काम लेना पड़ता है। विरहिणी के कष्टों का कहीं अंत नहीं, उसकी मृत्यु भी नहीं हो सकती, क्योंकि वह इतनी दुबली हो गई है कि मृत्यु आंखों में चश्मा लगाकर आए, तो भी वह दिखलाई नहीं पड़ेगी। प्रिया के जीवित होने का समाचार प्रिय को बिहारी बड़े कौशल से देते हैं। पति चला आ रहा है। द्विविधा में है कि मेरे अधिक दिनों के प्रवास के कारण प्रिया की क्या दशा होगी, वह जीवित भी होगी या नहीं। इतने में ही उसके गांव की तरफ से आते पथिक दिखाई देते हैं। वे बातें कर रहे हैं जिसमें उस ग्राम में लू चलने की चर्चा अधिक है। पति जान लेता है कि इस माघ के महीने में भी उसके गांव में लू चल रही है। बस, उसे विश्वास हो जाता है कि पत्नी जीवित है और लू उसी के विरह के कारण ही चलती है। बिना पूछे ही उसे पत्नी के जीवित होने का समाचार मिल जाता है। मनोरंजनार्थ ऐसे दोहे अवतरित करना ही ठीक होगा,—

इत आवति चलि जात उत चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासन साथ॥

सीरे जतननि सिसिर ऋतु सहि विरहिनि तन ताप।
बसिवे कौं ग्रीषम दिनन परयौ परौसिनि पांय॥

आड़ै दै आले वसन जाड़े हूँ की राति ।
साहस के के नेहबस सखी सबै ढिग जाति ।।
करी विरह ऐसी तऊ गैल न छांडति नीच ।
दीने हूँ चसमा चखन चाहै लहै न मीच ।।
सुनत पथिक-मुंह मांह निसि लुवैं चलैं वहि ग्राम ।
बिन बूझे बिन ही सुने जियत बिचारी बाम ।।०

ऐसे वर्णनों की आलोचना करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है,—'विरह की क्षीणता आदि के वर्णन में कहीं-कहीं इनकी वस्तु-व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खिलवाड़ के रूप में हो गई है।'[1] पर हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक तथा विद्वान् स्व० साहित्याचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के विरह-वर्णन की तारीफ करते हुए अपनी विख्यात वाह-वाह-वादी शैली में लिखा है,—'अन्य कवियों की अपेक्षा बिहारी ने विरह का वर्णन बड़ी विचित्रता से किया है। इनके इस वर्णन में एक निराला बांकापन है—कुछ विशेष वक्रता है, व्यंग का प्रावल्य है, अतिशयोक्ति और अतियुक्ति का (जो कबिता की जान और रस की खान है). अत्युत्तम उदाहरण है, जिस पर रसिक सुजान सौ जान से फिदा हैं। इस मजमून पर और कवियों ने भी खूब और मारा है, बहुत ऊँचे उड़े हैं, बड़ा तूफान बांधा है, 'क्यामत बरपा' करदी हैं, पर बिहारी की चाल-इनका मनोहारी पद-विन्यास सबसे अलग है।'[2] पं० पद्मसिंह शर्मा के मस्तिष्क पर उर्दू के मशहूर शायर नासिख और गालिब के विरह-वर्णनों की बारीकी और नजाकत का प्रभाव उपर्युक्त पंक्तियों में बोलता प्रतीत हो रहा है। वास्तव में इस प्रकार के वर्णनों में बिहारी नखसिख से भी कुछ आगे बढ़ गए हैं। उपर्युक्त प्रशंसा में पं० पद्मसिंह शर्मा ने वही शैली ग्रहण की है, जो बिहारी ने अपने विरह वर्णनों में ग्रहण की है।

बिहारी निरे विलासी ही न होकर प्रेम तथा विरह की स्वाभाविक दशा से भी परिचित थे, तथा विरह की गम्भीरता को भी समझते थे। प्रिय की प्रवास दशा में प्रिया की विकलता, मन न लगने, प्रतीक्षा में इधर-उधर टहलने घूमने का मर्मस्पर्शी, स्वाभाविक तथा चित्रमय वर्णन भी उन्होंने किया है। विरह प्रेम को बढ़ाता है। सच्चा प्रेम विरह-दशा में दिन-रात बढ़ता और गम्भीर होता है। इस मर्मस्पर्शी तथ्य से बिहारी का परिचय था। प्रकृति के सौंदर्य में संयोग-स्मृतियां कितनी सजग हो उठती हैं, इससे भी ये अपरिचित न थे। योगिनी को निद्रा में प्रिय-संमिलन से क्या सुख प्राप्त होता है तथा नींद उचटने पर उसके प्रति कितना

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ट २२६।
२. संजीवन भाष्य, पृष्ठ १५६।

क्रोध आता है, यह भी बिहारी को ज्ञात था। सोते जागते, स्वप्न-दशा में, क्रोध में, शान्ति में प्रियतम की मूर्ति विस्मृत नहीं होती। सच्चे प्रेम के इस मर्म को भी वे जानते थे। प्रिय-प्रवास की आसन्न दशा में भावुकता की मूर्ति नारी की क्या दशा होती है, इसे भी बिहारी खूब समझते थे। अंततोगत्वा, प्रिय के ध्यान में 'स्व' को निमग्न करना भी उन्हें मालूम था। जहाँ वे चमत्कार की प्रवृत्ति से मुक्त हुए हैं, वहाँ उनका विरह-वर्णन गम्भीर और स्वाभाविक है। कुछ उदाहरण देना आवश्यक प्रतीत होता है:...

> ह्याँ ते ह्वाँ ह्वाँ ते यहाँ, नेको धरति न धीर।
> निसि दिन डाढ़ी सी रहै बाढ़ी गाढ़ी पीर।।
> सघन कुंज छाया सुखद सीतल मंद समीर।
> मन ह्वै जात अजों वहै वा जमुना के तीर।।
> सोवत सपने स्यामघन हिलिमिली हरत बियोग।
> तब ही टरि कितहूँ गई नींदौं नींदन जोग।।
> सोवत जागत सपन बस रिस रस चैन कुचैन।
> सुरति स्यामघन की सुरति बिसरे हूँ बिसरै न।।
> रहि हैं चंचल प्रान ये कहि कौन के अगोट।
> ललन चलन की चित धरी कल न पलन की ओट।।

ऐसे दोहे 'बिहारी-सतसई' में और भी हैं। अतः यह स्पष्ट है कि दरबारी मनोवृत्ति के कारण विरह का निरा चमत्कारपूर्ण वर्णन करते हुए भी बिहारी प्रेम तथा विरह की सच्ची अनुभूति से परिचित थे और उनकी आत्मा विरह के प्रकृत स्वरूप को समझती थी। इस स्थिति में श्री शंभुप्रसाद बहुगुना का यह कथन हमें असंगत प्रतीत होता है,...बिहारी को प्रेम की वास्तविक अनुभूति शायद न थी। संभवतः प्रेम को उन्होंने पोथियों से जाना था। प्रेम की पीर जिसे जायसी खूब पहचानते थे, जिसने सूर के हृदय को मथित कर उसके रत्नों को 'सूर-सागर' के रूप में संवारा था, जिसने मीरा को जीवन भर रुलाया था, वह बिहारी के लिए अनजान थी।[1]

कविवर मतिराम रीतिकाल के सबसे श्रेष्ठ तथा सबसे मधुर कवियों में हैं। उनकी भाषा में जो कोमलता तथा सरलता है, रीतिकाल के किसी भी रीति-बद्ध या रीति मुक्त कवि में नहीं प्राप्त होती। मतिराम की रुचि संयोग-वर्णन में अधिक है। इस दृष्टि से मतिराम रीतिकाल के विद्यापति हैं। वियोग-वर्णन उन्होंने थोड़ा

---

१. घन-आनंद, पृष्ठ ६७।

ही किया है। मतिराम के वियोग-वर्णन में कोई विशेष नवीनता नहीं है। पर कोमलता के जो तत्व उनकी कविता का सहज शृंगार है, वे विरह-वर्णन में भी विद्यमान हैं। शुद्ध प्रेम की दशा में विरह स्नेह में वृद्धि करता है, इस तथ्य से मतिराम परिचित थे,—

ज्यों-ज्यों विषम वियोग की अनल ज्वाल अधिकाय।
त्यों-त्यों तिय के देह में नेह उठत उफनाय।।[1]

जिस प्रकार आंच पाकर स्नेह उफनता है, वैसे ही विरह की ज्वाला में स्नेह उफन रहा है। अलंकरण ने भाव को यहाँ सशक्त किया है, अशक्त नहीं। जो लोग अलंकार का नाम सुन कर ही नाक-भौं सिकोड़ते हैं, वे हिन्दी-कविता में ऐसे सैकड़ों स्थल ढूंढ सकते हैं, और अपनी प्रवृत्ति का परिष्कार कर सकते हैं।

वियोग-दशा में संयोग-दशा के सुखों तथा संभोग-स्थलों का स्मरण बहुत आता है। यद्यपि ऐसे स्मरण प्रायः पीड़ा देते हैं, पर उस पीड़ा में प्रेम रस भी मिला रहता है। पूर्व-संभोग-स्थल अनेक स्मृतियाँ जगा देते हैं। ऐसे स्थलों पर एक अनोखा आश्वासन भी प्राप्त होता है। बिहारी ने भी इस विषय पर एक दोहा लिखा है, पर मतिराम के सवैये में भाव अधिक निखरा हुआ है,—

ह्याँ मिलि मोहन सों मतिराम सुकेलिकरी अति आनंदवारी।
तेई लता द्रुम देखत दुःख चले अंसुवा अँखियान ते भारी।।
आवति हौं जमुना तट को नहिं जानि परै बिछुरे गिरिधारी।
जानति हौं सखि आवन चाहत कुंजन ते कढ़ि कुंज बिहारी।।[2]

बिहारी के समान मतिराम ने भी विरह का अत्युक्ति-पूर्ण वर्णन अनेक स्थलों पर किया है। उनकी अत्युक्तियों में कहीं-कहीं संतुलन भी है। बिहारी और मतिराम प्रायः समकालीन थे, अतः यह कहना बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होता कि बिहारी के अनुकरण पर या उनसे भावापहरण कर मतिराम ने ऐसे वर्णन किए हैं।

सखिन करत उपचार अति परति बिपति उत रोज।
झुरसत ओज मनोज के परस उरोज सरोज।।
जागत ओज मनोज के परसि तिया के गात।
पापर होत पुरैनि के चन्दन पंकिल पात।।
बिरह तचे तिय कुचनि लौं अंसुवा सकत न आय।
गिरि उड़यन ज्यों गगन तें बीचहि जात बिलाय।।

---

१. पं० कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा संपादित मतिराम-ग्रन्थावली, परिचय भाग, पृष्ठ १०२।

२. मिश्रबन्धु कृत हिन्दी-नवरत्न, पृष्ठ ३३७।

अंसुवन के परवाह में अति बूड़िबे डेराति ।
कहा करें नैनानि को नींद नहो नियराति ।।[1]

उपर्युक्त दोहों से 'मनोज' के ओज' का जो उत्साहपूर्ण वर्णन हुआ है, वह रीति-काल की विशेष मनोवृत्ति ही है । यों, कालिदास इत्यादि ने भी मनोज की सहायता ली है । कहीं-कहो प्रकृति के विराट् चित्रों की सहायता से विरह का वर्णन दूर की सूझ के साथ होने पर भी बहुत-कुछ हृदयग्राही है,—

चन्दकिरन लगि बालतन उठे आगियौ जानि ।
दुपहर दिनकर कर परिसि ज्यौं दरपन में आगि ।।
पिय वियोग तिय दृग जलधि जल तरग अधिकाय ।
बरुनि मूल वेला परसि बहुरयो जाति विलाय ।।
बाल बिलोचन बारि के बारिध बढ़े अपार ।
जारे जो न वियोग की बड़वानल की झार ।।[2]

शारीरिक कृशता चन्द्रोपालंभ तथा नायक की निठुरता के सभी कवियों में प्रचलित वर्णन भी मतिराम ने किए है । मूलतः संभोग-शृंगार के कवि होने के कारण कहीं-कहीं विप्रलंभ-शृंगार-वर्णन में शब्द-विन्यास कुछ अशक्त रह गया है ।

रीतिकाल के कवियों में महाकवि देव का स्थान बहुत ऊंचा है । देव और विहारी अथवा बिहारी और देव रीति काल के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं । देव का काव्य-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । प्रेम के पवित्र रूप को रीति काल के कवियों में देव ने सबसे अधिक गम्भीरता से देखा है । यद्यपि अत्यधिक विस्तार, आवश्यकता से अधिक शब्द-व्यय तथा यत्र-तत्र अरुचिकर शृंगार-प्रेम, उनकी कला के प्रमुख दोष, बहुत स्थलों पर प्राप्त होते हैं, पर स्थान-स्थान पर पवित्रता के दर्शन भी होते हैं । प्रेम के सम्बन्ध में देव के कुछ विचार दे देना अनुचित न होगा, क्योंकि विरह और प्रेम का [illegible] है,......

मायादेवी नायिका नायक पुरुष आप ।
सबै दंपतिन में प्रगट देव करै तिहि जाप ।।
दंपति सुख संपति सजत विषय विग भुख ।
देव सुकवि जीवत सदा पीवत प्रेम पियूख ।।
नव सुन्दर दंपति जदपि सुख संपति को मूल ।
प्रेम बिना छिन छेम नहिं हेम सलाका तूल ।।

१. मतिराम-ग्रन्थावली, परिचय भाग पृष्ठ १०१-१०२ ।
२. मतिराम-ग्रन्थावली, परिचय भाग, पृष्ठ ६४-६५-६० ।

यह विचार प्रेमीन को विषयी जन को नाहिं ।
विषय विकाने जनन को प्रेमी छियत न छाहिं ।।[१]

जो लोग यह समझते हैं कि रीति काल के सारे कवि प्रेम को केवल भोग-विलास समझते थे, उनको रीतिकाल के कवियों की ऐसी रचनाएँ देखनी चाहिए। रीतिकाल के शृंगार पर भी हमारे आलोचक जिस कृत्रिम मर्यादावाद का चश्मा चढ़ा कर दृष्टिपात करते रहे हैं, वह बहुत सस्ते दामों का है। शृंगार की जिस सीमा का स्पर्श भारत के सर्वश्रेष्ठ महाकवि कालिदास ने ऋतुसंहार, 'रघुवंशम्' के उन्नीसवें सर्ग, कुमारसंभवम् के आठवें सर्ग, विक्रमोर्वशीयम् तथा 'उत्तर मेघ' (मेघदूत) इत्यादि में किया है, उस सीमा तक रीति काल के बहुत थोड़े कवि ही पहुंच पाए हैं। पर जिस प्रकार कालिदास शृंगार का खुला वर्णन करते हुए भी प्रेम के प्रकृत या शुद्ध रूप से परिचित थे, उसी प्रकार अपनी सीमाओं में रीति-काल के अनेक कवि भी यत्र-तत्र शृंगार का खुला वर्णन करते हुए भी प्रेम के शुद्ध रूप से परिचित हैं। यह उनके काव्य का सम्यक् अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है।

विरह-वर्णन में देव ने विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। अतिशयोक्तिपूर्ण शैली का प्रयोग भी किया है, स्वाभाविक का भी। विरह में संयोग-समय की स्मृति, सुखदाई वस्तुओं का दुखदाई लगना, क्षीणता, विकलता, प्रलाप तथा अन्यमनस्कता इत्यादि का चित्रण उन्होंने मन लगा कर किया है। देव का विरह-वर्णन एक स्वतंत्र निबंध का विषय है। अतः थोड़ी चर्चा के साथ कुछ उदाहरण देकर हम इस विषय को समाप्त करेंगे।

विरहिणी की शारीरिक कृशता बढ़ती जारही है। देव ने इस कृशता का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। कहा है कि शरीर के पांचों तत्व अपने अपने व्यापक रूपों में मिलते जा रहे हैं,—

साँसन ही सों समीर गयौ अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयौ गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।।
जीव रह्यौ मिलिबेई कि आस कि आसहू पास अकास रह्यौ मरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हंसि हेरि हियौ जु लियौ हरिजू हरि।

प्रिय का पवित्र वियोग वास्तव में एक प्रकार का योग ही है। वियोग-योग के अनेक मर्मस्पर्शी चित्र कुछ संस्कृत के कवियों और सूरदास, रत्नाकर तथा मैथिलीशरण प्रभृति श्रेष्ठ कवियों ने खींचे हैं। महाकवि देव ने भी वियोग-योग का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। इस वर्णन में अलंकारों के प्रयोग ने अर्थ-गौरव को प्रशंसनीय सहायता पहुंचाई है ?—

१. मिश्रबंधु-संपादित 'देव-सुधा' भूमिका, प्रेम, पृष्ठ १३-१४ ।

अंग डुलै न उतंग करै उर ध्यान धरै बिरहा ज्वर बाधति ।
नासिका अग्र की ओर दिए अधमुद्रित लोचन को रस माधति ।
आसन बांधि उदास भरै अब राधिका देव कहा अवराधति ।
भूलिगो भोग कहैं लखि लोग वियोग किधौं यह योगहि साधति ।।

प्रलाप करती हुई विरहिणी राधिका, अनुकूल कल्पना की सहायता से अपने घर को प्रिय का घर समझ लेती हैं और सखी को प्रिय मानकर उसका दर्शन इत्यादि करती हुई घूंघट काढ़ लेती हैं, घूंघट की ओट से एकटक प्रियतम के रूप का पान भी करती हैं । सखी समझाती है,—

ना यह नंद को मंदिर है वृषभान को मौन कहा जकती हो ।
हों ही यहां तुमहीं कहि देव जू काहि धौं घूंघट के तकती हो ।
भेंटती मोंहि भटू केहि कारन कौन की धौं छवि सों छकती हो ।
कैसी भई सो कहौ किन कैसे हू कान्ह कहां है कहा बकती हो ।।

सोते समय स्वप्न में प्रिय के दर्शन होते हैं । मौसम सुहावना है, झीनी-झीनी बूंदें पड़ रही हैं । झूले का आयोजन होता है । प्रिय स्वयं प्रस्ताव करता है । प्रिया फूली नहीं समाती । पर इतने में ही निगौड़ी नींद चली जाती है और आंखों में आंसू ही रह जाते हैं । स्वप्न में प्रिय-मिलन का वर्णन अनेक कवियों ने किया है, पर देव की कल्पना ने परंपरा से आगे बढ़कर उसके सुंदर आयोजन द्वारा नई रमणीयता उत्पन्न कर दी है,—

झहरि झहरि झीनी बूंद है परति मानों,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में ।
आनि कह्यौ स्याम मो सौं चलौ झूलिबे को आज,
फूली ना समानी भई ऐसी हों मगन में ।
चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में ।
आंखि खोलि देखौं तो न घन है न घनस्याम
बेई छाई बूंदें मेरे आंसू ह्वै दृगन में ।।

उपर्युक्त मर्मस्पर्शी छंद देव की सहृदयता तथा सच्ची भावुकता का परिचय देते हैं । यहां एक बात स्मरण में रखने योग्य है । वह यह कि देव ऐसे उत्कृष्ट वर्णन सर्वत्र नहीं करते । अधिकतर अलंकारों की दौड़-धूप और चमत्कार के चक्कर में ही रहते हैं । पर जहां-कहीं भाव-निमग्न होकर वर्णन करते हैं, उच्च

कोटि का करते हैं। रीति-काल के कवियों में उत्कृष्ट विरह-वर्णन की दृष्टि से घनानन्द के बाद देव का स्थान सबसे श्रेष्ठ माना जा सकता है।

नायिका की आंतरिक तथा बाह्य स्थिति का कुछ स्थलों में आवश्यकता से अधिक वैविध्य पूर्ण चित्रण कुछ-कुछ अस्वाभाविक हो गया है। उदाहरण देकर हम आगे बढ़ेंगे,—

जब तें कुंवर कान्ह रावरी कलानिधान,
कान परी वाकैं कहूं सुजस कहानी सी।
तब ही तें देव देखी देवता सी, हंसति सी,
रीझति सी, खीझति सी, रूठति, रिसानी सी।
छोही सी, छली सी, छीन लीनी सी, छकी सी, छिन,
जकी सी, टकी सी, लरी थकी, थहरानी सी।
बींधी सी, बंधी सी, विष बूड़ति, विमोहित सी,
बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी सी।

रीति-मुक्त काव्य-धारा में यों तो बोधा तथा ठाकुर के विरह-संबंधी उद्‌गारों में भी मर्मस्पर्शिता विद्यमान है और आलम के मनोहारी छंद भी अपनी सहज वेदना से अंतस्तल को प्रभावित करते हैं, पर घनानंद का स्थान निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ है। प्रायः लौकिक प्रेम की दशा में निराशा, व्यवधान या बोध प्राप्त होने के पश्चात ही पारलौकिक प्रेम उत्पन्न होता है। बाल्मीकि, तुलसी, सूर, नंददास, तथा रसखान इत्यादि इसके साक्षी हैं। घनानंद भी पहले सुजान के लौकिक प्रेम में आसक्त थे, कालांतर में वह प्रेम राधा-कृष्ण के पारलौकिक प्रेम में परिवर्तित हो गया। प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर नगेंद्र ने लिखा है कि घनानंद का विरह लौकिक प्रेम पर आश्रित व्यक्तिगत विरह है।[1] डा० नगेंद्र का दृष्टिकोण घनानंद के विशद विरह-काव्य के केवल एक पक्ष का स्पर्श करता है। दूसरा पक्ष, जिसमें पूर्णतः राधा-कृष्ण से संबद्ध भावनाएं प्रकट की गई हैं, इससे अछूता रह जाता है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का निम्नलिखित विभाजन घनानंद की दृष्टि से पूर्णतः उपयुक्त है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिकाल को शृंगार काल मानते हुए काल का निम्नलिखित विभाजन किया है,—

---

१. साकेत:एक अध्ययन, साकेत में विरह
२. घनानंद ग्रंथावली, पृष्ठ १६।
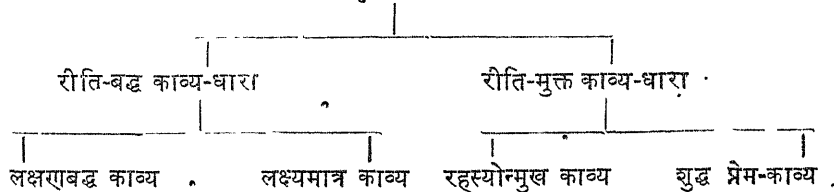
संक्षेप में घनानंद के प्रेम तथा विरह-काव्य में लौकिक प्रेम तथा रहस्योन्मुख प्रेम दोनों के सुंदर दर्शन होते हैं।

विरह-वर्णन के क्षेत्र में घनानंद का स्थान रीतिकाल में ही नहीं, समग्र हिंदी-साहित्य में बहुत ऊंचा है। विरह की सच्ची अनुभूति का हृदय-द्रावक वर्णन जायसी को छोड़कर हिंदी का कोई कवि वैसा नहीं कर सका, जैसा घनानंद। घनानंद ने वात्सल्य-विरह तथा अन्य प्रकार के विरह का वर्णन करने की ओर रुचि नहीं दिखलाई। उनका क्षेत्र अपने और सुजान के तथा कृष्ण और राधा के विरह-वर्णन तक ही सीमित है। सूर या हरिऔध के सदृश व्यापक क्षेत्र में वे नहीं बढ़े। इसका कारण उनकी अनुभूति-प्रवण काव्य-सृजन की सच्ची प्रवृत्ति है। इस दृष्टि से वे 'अनुभव-साँच-पंथी' थे।

विरह-दशा में मानसिक विकलता के जैसे तथा जितने विशद और अंतस्तल-स्पर्शी चित्र घनानंद ने खींचे हैं, वैसे तथा उतने हिंदी-साहित्य का कोई कवि नहीं खींच सका। प्रिय के प्रति पूरी आस्था तथा विरह-रस का सच्चा आस्वाद जैसा घनानंद में है, वैसा जायसी को छोड़कर अन्यत्र प्राप्त होना कठिन है। प्रेम से परिपूर्ण घनानंद- जैसा कवि-हृदय किसी भी साहित्य का शृंगार कर सकता है। भाव-पक्ष तो अद्वितीय है ही, घनानंद का कला-पक्ष भी असाधारण रूप से सफल है। लक्षणा के क्षेत्र में जैसी मौलिक सफलता घनानंद को प्राप्त हुई है, वैसी आधुनिक युग के घनानंद पंत को छोड़कर कदाचित् किसी भी कवि को नहीं। विरोधाभास अलंकार के मनोहारी प्रयोग की दृष्टि से कोई भी कवि उनकी तुलना में नहीं खड़ा हो सकता। भाषा कुछ कठिन होने पर भी बड़ी साहित्यिक, स्वाभाविक तथा गंभीर है। रीति-काल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में उनका स्थान है। विरह-वर्णन की दृष्टि से रीति-काल में घनानंद की समता कोई भी कवि नहीं कर सकता।

विरह प्रेम की आत्मा है। सच्चा प्रेम तभी माना जाएगा, जब विरह में भी प्रिय के प्रति पूरा आदर बना रहे, उसके प्रति अनुराग में सतत वृद्धि होती रहे। निम्नलिखित पंक्तियों में विरही घनानंद पवन से अपने प्रिय की चरण-रज

लाने की प्रार्थना कर रहे हैं। प्रत्येक शब्द में उनकी विकल तथा अनुराग-शिथिल आत्मा बोलती है। ऐसी विकलता अन्यत्र दुर्लभ है,—

ए रे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन, बीर,
तो सों और कौन मनै ढरकौ हीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान, घन,
आनंद निधान सुखदान दुखियान दै।
जान उजियारै, गुन भारे अति मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह बिथा को मूरि आंखिन में राखों पूरि,
धूरि तिन्ह पायंन की हा हा नेकु आनि दै।

जीवन की अन्तिम घड़ियों तक घनानंद का हृदय प्रेम से परिपूर्ण रहा। प्रिय के प्रति एक क्षण को भी वे उदासीन नहीं हुए। ऐसा प्रेमी कवि संसार में शायद ही हुआ हो, जिसने न तो कभी निर्मोही प्रिय की निंदा की (सहज-उपालंभ भले ही दिए हों), न विरह में प्राण-त्याग की चर्चा ही की (वह ऐसे प्राण-त्याग को प्रेम के क्षेत्र में कायरता समझता है), प्रेम और विकलता को सतत् सहेज कर रखा, अनुराग में सदैव वृद्धि करता रहा और अंत में अपने लहू से प्रिय को संदेश देता गया। उनके अंतिम संदेश में प्रेम की आत्मा साकार होकर रोदन करती है। ऐसे उद्गार जिन परिस्थितियों में घनानंद ने प्रकट किए थे, वे इस बात के प्रतीक हैं कि प्रेम मृत्यु से दृढ़तर होता है,—

बहुत दिनान की अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवत छबीले मन भावन को,
गहि गहि राखति है दे दे सनमान को।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घनआनंद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करिके पयान प्रान,
चाहत चलन ये संदेसौ लै सुजान को॥

प्रेम की पीर घनानंद की अभीप्सित वस्तु बन गई थी। प्रेम कोई व्यापार नहीं है कि हम जितना दें, उसी के मूल्य के अनुसार हमें भी उतना ही प्राप्त हो। यही बहुत है कि हम प्रेम करते हैं, प्रिय करे या न करे। सच्चा प्रेमी प्रिय को प्रेम का प्रतीक मानकर उसकी उपासना करता है। स्थूलता वहां नहीं रहती। साक्षात्

प्रेममूर्ति घनानंद विरह-व्यथा में प्राण-त्याग को बहुत ही सरल वस्तु मानते थे। प्रेम की गंभीरता तो तब है, जब घुल-घुल कर भी उसे सशक्त किया जाए। मीन प्रेम का प्रतीक है, पर वह प्रिय जल से बिछुड़ कर प्राण त्याग देता है। घनानंद मीन के प्रेम की इस प्रवृत्ति को कायरता मानते हुए अपने प्रेम के समक्ष उसके प्रेम को बहुत साधारण समझते हैं,——

हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु मों अकुलानि समानै।
नीर सनेही को लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रीति सुक्यों समझै जड़ मीत के पानि परै कौ प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनंद जीव की जीवनि जान ही जानै॥

रीतिकाल में कवियों का ध्यान वियोग की अपेक्षा संयोग के वर्णन में अधिक रहा, जिसका कारण विलासी राजाओं और कवियों की सामान्य परिस्थितियां थीं। यों विरह-वर्णन भी अधिकांश कवियों ने थोड़ा-बहुत किया है, पर प्रायः या तो केवल लक्षण दिखाने के लिए या परंपरा-पालनार्थ।

इस काल का संयोग-वर्णन भी बहुत कर के स्थूल रूप में ही प्राप्त होता है। रीतिकाल का संयोग-वर्णन अनुभव-प्रवण होने के कारण यत्र-तत्र अश्लील हो गया है। वास्तव में उत्कृष्ट संयोग-वर्णन कल्पना-प्रवण होता है। अनुभव-प्रवण होते ही उसमें अश्लीलता आने लगती है। संयोग ऐसी साधारणीकृत वस्तु है, जिसका परिचय प्रायः सभी को रहता है, अतः उसमें अनुभव-प्रवणता का कोई मूल्य नहीं रहता। वियोग का सच्चा परिचय किसी बिरले को ही प्राप्त होता है। सभी लोग प्रेम नहीं कर सकते, न उसे समझ ही सकते हैं। अतः वियोग-वर्णन जितना ही अनुभव-प्रवण होता है, उतना ही उत्कृष्ट एवं गंभीर भी होता है। रीतिकाल का वियोग-वर्णन अधिकतर कल्पना-प्रवण है। संक्षेप में रीतिकाल का अधिकांश संयोग-वर्णन अनुभव-प्रवण होने के कारण बहुत उत्कृष्ट नहीं हो सका, क्योंकि संयोग-वर्णन कल्पना-प्रवण होने पर ही उत्कृष्ट हो सकता है, और वियोग-वर्णन कल्पना-प्रवण होने के कारण बहुत उत्कृष्ट नहीं हो सका, क्योंकि वियोग-वर्णन अनुभव-प्रवण होने पर ही उत्कृष्ट हो सकता है। पर सब कवियों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

रीतिकाल के अधिकांश कवियों में सामाजिक परिस्थितियों तथा संस्कृत के उत्तरवर्ती सामान्य श्रेणी के काव्य के अधिकाधिक प्रभाव के कारण उच्छृङ्खल विलास-चेष्टा के प्रति विशेष आसक्ति दृष्टिगोचर होती है। कोई-कोई कवि गृह-लक्ष्मी को बिलास-प्रिया के रूप में उपस्थित कर पति-विरह में परदेशी से कामानुरोध की कला दिखाने में भी उत्साह रखते हैं। कोई कुमारिका यदि किसी परदेशी पर आसक्त

होकर ऐसे अनुरोध करें तो आपत्तिजनक लगने पर भी उसे कवि-रुचि की दृष्टि से संभवतः स्वाभाविक कहा भी जा सके, पर किसी विवाहिता के ऐसे उद्गार उद्दाम विलासिता ही नहीं, उच्छृङ्खल काम-लोलुपता कहे जाएँगे। रीतिकाल के कवि यदि कुमारिका के मुख से वातावरण को थोड़ा अधिक अनुकूल बनाकर ऐसी काव्य रचना चाहते, तो रच सकते थे। पर कुछ तो अंधानुकरण और कुछ अपनी रुचि के कारण उन्होंने ऐसा नहीं किया। प्रिय के वियोग में किसी परदेशी से कामानुरोध प्रेम नहीं, इंद्रिय-लोलुपता है। रीतिकाल में ऐसी रचनायें भी हुई हैं। सुखदेव मिश्र रीतिकाल के एक श्रेष्ठ आचार्य-कवि माने जाते हैं। राजा राजसिंह गौड़ ने उन्हें कविराज की उपाधि दी थी। भिखारी दास ने उन्हें आप्तकवियों में स्थान प्रदान किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है,—वास्तव में ये बहुत प्रौढ़ कवि थे और आचार्यत्व भी इनमें पूरा था। छंदःशास्त्र पर इनका सा विशद निरूपण और किसी कवि ने नहीं किया है। ये जैसे पण्डित थे वैसे ही काव्य काल में भी निपुण थे।[१] वे एक विरक्ति-भावनामय श्रेष्ठ पुरुष थे, ऐसा इतिहासकारों ने लिखा है तथा जन-श्रुति भी कहती है। उनकी स्वयं-दूतिका परदेशी से अपनी काम-जन्य विकलता का वर्णन करती है,...

> ननद निनारी, सासु मायके सिधारी,
> अहै रैनि अंधियारी भरी, सूझत न करु है।
> पीतम को गौन, कविराज न सोहात भौन,
> दारुन बहत पौन, लाग्यो मैव झरु है।
> संग ना सहेली, वैस नवल, अकेली,
> तन परी तलबेली-महा, लाग्यौ मैन सरु है।
> भई अधिरात, मेरो जियरा डरात,
> जागु जागु रे बटोही इहाँ चोरन को डरु है।।[२]

उपर्युक्त छंद का काव्य-कौशल उच्चकोटि का है, किन्तु भाव का गुण उसके विपरीत है। उक्त छंद नायिका-विशेष के लक्षण-विश्लेषणार्थ लिखा गया है। पर यह रीति काल की एक विशेष प्रवृति पर भी प्रकाश डालता है। हमने ऐसे और छंद उद्धृत न करके इसे इसलिए उद्धृत किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाए कि रीति काल में शृंगार की उद्दाम भावना इतनी लोक व्यापक हो गई थी कि विरक्तप्राय श्रेष्ठ आचार्य तथा सत्कवि भी उससे अछूत नहीं रह पाते थे।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २४०-४१।

२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २४१।

रीति काल के पश्चात् आधुनिक काल का प्रारम्भ होता है। आधुनिक काल यद्यपि गद्य-साहित्य की प्रधानता होने के कारण गद्य-काल कहा गया है, तथापि श्रेष्ठ कविता की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न है। आधुनिक काल का वास्तविक प्रारम्भ भारतेंदु हरिश्चन्द्र से होता है। भारतेन्दु तथा उनके युग में हिन्दी-गद्य का निर्माण तथा विकास प्रारम्भ हुआ, पर कविता के क्षेत्र में देश-प्रेम, समाज-सुधार एवं जातीयता के स्वरों के गान के अतिरिक्त कोई विशेष नवीनता नहीं आई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक श्रेष्ठ कवि थे। उनकी कविता का प्रधान विषय प्रेम था। विरह-वर्णन भी उन्होंने बहुत किया है। पर नवीनता या मौलिकता की दृष्टि से वह बहुत उल्लेखनीय नहीं है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के महान् व्यक्तित्व के हिन्दी-साहित्य में प्रवेश के साथ ही जहाँ गद्य-साहित्य का ठोस सृजन एवं विकास हुआ, वहीं खड़ीबोली-कविता का सुनि-योजित आरम्भ एवं उत्थान भी हुआ। द्विवेदी-युग, छायावाद-युग, प्रगतिवाद-युग तथा प्रयोगवाद-युग इस सदी के काव्य-सृजन के प्रमुख सोपान माने जाते हैं। इनमें गुण की दृष्टि से छायावादी कविता को प्राधान्य प्राप्त होना उचित है। पर खेद है कि छायावादी झोंक में कई उत्कृष्ट तथा अमर कवियों की उपेक्षा भी हुई है। कविता में नवीनता, रस, अलंकार, ध्वनि, प्रवाह, प्रभाव, लोक-मंगल, रमणीयता तथा स्थायित्व इत्यादि सभी दृष्टियों से हरिऔध, रत्नाकर, मैथिलीशरण, प्रसाद, निराला पंत और महादेवी इस युग की कविता के स्तंभ तथा सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। विरह-वर्णन इस युग के अधिकांश कवियों ने किए हैं, जिनमें हरिऔध रत्नाकर, मैथिलीशरण, प्रसाद तथा महादेवी के विरह-वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली हैं। पंत, नरेंद्र, बच्चन, अंचल और नीरज विरह-वर्णन करने वाले अन्य मुख्य कवि हैं। इस प्रबन्ध में खड़ीबोली-कविता के विरह-वर्णन का विस्तारपूर्वक अध्ययन होगा ही, अतः हम ब्रजभाषा के आधुनिक महाकवि रत्नाकर के विरह-वर्णन का संक्षिप्त विवेचन करके इस विषय को समाप्त करेंगे।

निर्विवाद रूप से कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आधुनिक युग में ब्रजभाष के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। वे शब्द योजना के अद्‌भुत आचार्य और भावों के सहृदय सम्राट थे। प्रायः सभी रसों में उनकी श्रेष्ठ रचनाएँ प्राप्त होती हैं। आधुनिक कविता में वे प्राचीन परंपरा के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक हैं। 'गंगावतरण' उनकी स्थायी महत्व की रचना है। उनकी सर्वश्रेष्ठ कलाकृति 'उद्धव-शतक' हिन्दी-साहित्य में सदैव अमर रहेगी। पुराने विषयों और भावों में भी अपनी व्यापक प्रतिभा से उन्होंने नवीन रस तथा चमत्कार भर दिया है। भावानुकूल भाषा की दृष्टि से हिन्दी के कुछ ही कवि उनकी समता कर सकेंगे। छायावादी-काव्य-रचना के युग में उनका देहावसान हुआ और

खड़ीबोली-काव्य-रचना के प्रारम्भिक युग में उनके कवि-जीवन का प्रारम्भ। पर उनका परंपरा-प्रेम नवीन आन्दोलनों से प्रभावित नहीं हुआ। अनेक आलोचकों ने छायावादी-कविता की धारा में बह कर सबसे अधिक उपेक्षा रत्नाकर की ही की, यद्यपि हरिऔध का नाम इस दृष्टि से रत्नाकर से थोड़ा ही पीछे है। मैथिलीशरण जी का विराट् सृजन तथा युग-सजग व्यक्तित्व उपेक्षित नहीं होने पाया, विशेषकर श्रेष्ठ समालोचकों तथा कवियों द्वारा। छायावादी कवियों के प्रभावशाली आलोचक तथा प्रसिद्ध विद्वान पं० नंददुलारे बाजपेयी ने भी स्वीकार किया है कि अपनी प्रारम्भिक पुस्तकों, विशेषत:'बीसवीं शताब्दी और 'जयशंकर प्रसाद' में वे युग के अन्य समर्थ कवियों के साथ न्याय नहीं कर सके।[1] समर्थ आलोचक पं० नंददुलारे जी ने अपनी प्रौढ़ता में भूल को स्वीकार कर एक उज्जवल उदाहरण प्रस्तुत किया है।

रत्नाकर ने विरह-वर्णन 'उद्धव-शतक' में किया है। ब्रज-भूमि, वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य तथा वहाँ के सभी निवासियों-नंद, यशोदा, गोप-गोपिकाएँ इत्यादि-- के प्रेम में विभोर कृष्ण अपनी व्याकुलता प्रकट करते हैं, जिसमें मनोवैज्ञानिक विस्तार है, केवल गोप-गोपी या राधा-राधा की बंधी-बंधाई परंपरागत रट नहीं। कृष्ण को ब्रज-भूमि, यमुना-तट, गोप मित्र तथा प्रेममूर्ति गोपिकाओं, सभी का विरह सताता है। प्रेमानुभूतिमयी मूर्ति का जो चित्र रत्नाकर ने खींचा है, तथा प्रेमाभि-व्यक्ति का जो सजीव एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, वह केवल समझा जा सकता है, उसका विवेचन चाहे जितना किया जाए अपूर्ण ही प्रतीत होता जाएगा,---

> विरह-विथा की कथा अकथ अथाह महा,
> कहत बनै न जो प्रवीन सुकबीनि सौं।
> कहै रत्नाकर बुझावन लगे ज्यों कान्ह,
> ऊधौ कों कहन हेत ब्रज जुवतीनि सौं।।
> गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यों,
> प्रेम परयौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।
> नैंकु कही बैननि अनेकु कही नैननि सौं,
> रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं।

इस दशा में किसी प्रकार वे मुख खोलते हैं,---

> नंद औ जसोमति के प्रेम पगे पालन की,
> लाड भरे लालन की लालच लगावती।
> कहे रत्नाकर सुधाकर प्रभा सौं मढ़ी,
> मंजु मृगनैनिनि के गुन गन गावती।।

---

१. नया साहित्य; नए प्रश्न, निकष, पृष्ठ, १-२।

जमुना कछारनि की रंग रस रारनि की,
विपिन बिहारिनि की हौंस हुमसावती
सुधि ब्रजवासिनि दिवैया सुख रासिन की,
ऊधौं नित हमकौं बुलावन कौं आवती ।।

इसके पश्चात् कृष्ण ब्रज, ब्रजवासियों एवं गोपिकाओं, विशेष कर राधा, की स्नेह स्मृति का विशद वर्णन करते हैं तथा अतीत की प्रेम-दशा के समक्ष वर्तमान को दयनीय बतलाते हैं। अतीत को सरलता तथा स्वाभाविक उल्लास के सामने अपने राजसी ठाट को नगण्य कहते हैं। इन सबका वर्णन रत्नाकर ने अनूठा किया है। उद्धव के ब्रज-मंडल में पहुंचते ही उनकी ज्ञान-गठरी की समाप्ति का वर्णन भी बहुत ही सरस हुआ है। इसके पश्चात् गोपिकाओं की विरह-दशा तथा उनके अतीत व मर्मस्पर्शी उद्‌गारों का रसस्नात वर्णन हैं, जो एक विस्तृत निबंध का विषय है। हम यहां दो उदाहरण देकर विषय को समाप्त करेंगे।

उद्धव के ब्रज-भूमि में पहुंचने पर सभी ओर से दौड़-दौड़ कर गोपिकाओं के आने, भीड़ में घिरे उद्धव को पैरों के पंजे ऊंचे करके देखने एवं कृष्ण के पत्र को देख कर आशंका तथा औत्सुक्य प्रकट करने का रत्नाकर ने बड़ा ही सजीव तथा हृदयग्राही चित्र खींचा है। काव्य में चित्रमयता के ऐसे उदाहरण आधुनिक हिंदी-कविता ही नहीं, समग्र हिंदी-कविता में बहुत नहीं मिलेंगे। प्रेमी प्रिय के पत्र को प्रिय का प्रतीक मानता है। मेरे लिए क्या लिखा है? यह प्रश्न ही उसकी व्याकुल आत्मा की समस्या का सर्वोत्तम समाधान होता है। गोपिकाओं का एक साथ अपने-अपने लिए 'क्या लिखा है?' पूछना जितना स्वाभाविक है, उतना ही मर्मस्पर्शी भी,

भेजे मन भावन के ऊधव के आवन की
सुधि ब्रज गांवनि में पावन जबै लगीं।
कहै रतनाकर गुवालिनि की झौरि झौरि
दौरि दौरि नंद पौरि आवन तबै लगीं ।।
उझकि उझकि पद कंजनि के पंजनि पै
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगीं।
"हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमको लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं ।।

प्रायः सारा उद्धव-शतक प्रेम तथा विरह के अनूठे तथा अतीव हृदयग्राही चित्रों से भरा है। मार्मिकता की दृष्टि से ऐसे काव्य हमारे साहित्य में बहुत थोड़े ही हैं। एक भी छंद या पंक्ति व्यर्थ की या हल्की नहीं है। कामायनी, साकेत, प्रिय-प्रवास, पल्लव, परिमल और नीरजा को छोड़ कर आधुनिक युग का कोई भी

काव्य-ग्रंथ उद्धव-शतक की तुलना में नहीं खड़ा किया जा सकता। इस ग्रंथ के सभी (एक-सौ अठारह) छंद हिंदी-काव्याकाश के उज्ज्वल नक्षत्र हैं। अतः एक उदाहरण देकर हम आगे बढ़ते हैं। विरह वह अग्नि है जो प्रेम के स्वर्ण की दीप्ति संवर्द्धित कर उसे जाज्वल्यवान बना देती है। राधा या कोई गोपी कहती है, 'हे उद्धव तुम अपने कठोर वाक्यों के पाषाण-खंडों से मेरे हृदय-मुकुर को टूक-टूक मत करो। एक हृदय-मुकुर में एक कृष्ण ने यह दशा कर रखी है, टूक-टूक होने पर अनेक टुकड़ों में अनेक कृष्ण हो जाने पर क्या दशा होगी, इसका तो विचार करो।' तुम अपने कठोर तर्कों से मेरा हृदय विदीर्ण करते हुए सोच रहे हो कि इससे मेरा कृष्ण-प्रेम कम हो जाएगा। यह भूल है। जितना ही हृदय विदीर्ण करोगे, प्रेम उतना ही बढ़ेगा; जितनी ही व्यथा बढ़ेगी, अनुराग उतना ही सशक्त होगा। अलंकारों के प्रयोग ने यहां भाव की शक्ति को कई गुना बढ़ा दिया है,—

आये हौ सिखावन कौं जोग मथुरा तें तौपे,
ऊधौ ये वियोग के बचन बतरावौ ना।
कहै रतनाकर दया करि दरस दीन्यौ,
दुख दरिबै कौं तौपै अधिक बढ़ावौ ना॥
टूक टूक ह्वै है मन मुकुर हमारौ हाय,
चूकि हूं कठोर बैन पाहन चलावौ ना।
एक मन मोहन तौ बसि कै उजारयो मोहि,
हिय मैं अनेक मन मोहन बसावौ ना॥

विरह-दशा में मानसिक-स्थिति

सुख तथा दुःख मानव के समग्र भावों के मूलभूत तत्व हैं। अन्य भाव केवल भाव हैं, सुख और दुःख महाभाव हैं। इन्हीं दो से मानव-मानस के समस्त भाव सम्बद्ध रहते हैं, तथा अन्ततोगत्वा इन्हीं में उन का अवसान होता है। विभिन्न कारणों; वस्तुओं तथा प्रवृत्तियों से मानवेन्द्रियों को जिस रमणीयता का अनुभव होता है, वह सुख कहलाता है। अनेक कारणों, वस्तुओं तथा प्रवृत्तियों से मानवेन्द्रियों को जिस क्लेश का अनुभव होता है, वह दुःख कहलाता है। सुख और दुःख मानव-जीवन-रथ के दो चक्र हैं, जो उसे सतत् गतिशील करते हैं। श्रृंगार के सम्भोग तथा विप्रलम्भ पक्षों में सुख तथा दुःख दोनों समाहित हैं। अतएव मानव-मानस के अधिकांश, प्रायः सभी, भाव स्वतः उसमें प्राप्त हो जाते हैं या हो सकते हैं। श्रृंगार के रस राजत्व का यही प्रमुख कारण है।

श्रृंगार का स्थायीभाव रति है। रति का भाव सम्भोग श्रृंगार है, अभाव विप्रलम्भ श्रृंगार। आद्याचार्य भरत मुनि तथा उनके परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय-इन आठ सात्विक अनुभावों का उल्लेख किया है। श्रृंगार रस में इन सभी सात्विक अनुभावों का होना सहज संभव है। विरह-दशा में भी किसी न किसी स्थिति या रूप में इन आठों अनुभावों का होना संभव है। संचारी या व्यभिचारी भावों की संख्या 'नाट्य-शास्त्र' तथा परवर्ती ग्रंथों में तेंतीस मानी गयी है,—निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम, मद, जड़ता उग्रता, मोह, शंका, चिन्ता, ग्लानि, विषाद, व्याधि, आलस्य अमर्ष, हर्ष, गर्व, असूया, धृति, मति, चापल्य, व्रीडा, अवहित्था, निद्रा, स्वप्न, विबोध, उन्माद, अपस्मार, स्मृति, औत्सुक्य, त्रास, वितर्क तथा मरण। इनमें से उग्रता, आलस्य तथा मरण प्रभृति तीन-चार को छोड़ कर सभी संचारीभाव आचार्यों के मतानुसार श्रृंगार रस के क्षेत्र में आ जाते हैं। हमारी समझ में यदि परम्परा के स्थान पर वास्तविकता की दृष्टि से देखा जाये तो सारे संचारीभाव श्रृंगार के क्षेत्र में आ जाते हैं यही नहीं, जागृति, स्वप्न एवं सुषुप्ति की स्थितियों में किसी न किसी रूप में वे विप्रलम्भ

श्रृंगार के क्षेत्र में भी जाते हैं। दूसरे किसी रस को अनुभावों तथा संचारी भावों की इतनी व्यापक भूमि नहीं प्राप्त है। विरहिणी की काम-दशा का 'साहित्य दर्पण' प्रभृति ग्रंथों में दस प्रकार से वर्णन किया गया है। काम-दशाओं के नाम हैं,—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण। वास्तव में कामदशायें संचारी भावों से विरह के विशेष अनुकूल प्रवृतियों का चयन मात्र हैं। संस्कृत तथा हिंदी के अनेक कवियों ने विप्रलम्भ श्रृंगार में काम-दशाओं का विशद वर्णन किया है। आधुनिक काल मुक्तक-काव्य का काल है। अतः अनुभावों, संचारीभावों अथवा काम-दशाओं का क्रम-गत वर्णन न तो अधिक संभव ही है, न कवियों ने ऐसा किया ही है। किन्तु 'साकेत' तथा 'प्रिय-प्रवास' प्रभृति प्रबन्ध-काव्यों में ऐसे वर्णन अत्यन्त सुन्दर तथा विशद रूप में प्राप्त होते हैं।'साकेत' में विरह के शास्त्रीय पक्ष से संवद्ध विस्तार की सीमाओं का पूर्ण विस्तार स्पर्श किया गया है हमारे यथार्थ-प्रधान बौद्धिक युग की मुक्तक कविताओं में अभिलाषा, चिंता, तथा सबसे बढ़कर स्मृति का वर्णन ही अधिक संभव है, और इन दशाओं का वर्णन हुआ भी है। अब कवि अपने मनोवेगों को स्वच्छंद रीति से व्यक्त करता है, शास्त्रीय परम्परा में आवद्ध होकर नहीं। विरह-वर्णन में ऐसा और भी अधिक हुआ है, क्योंकि स्वाभाविक विरह वर्णन उच्च स्तर के अनुभूति तत्व के बिना उत्कृष्ट हो ही नहीं सकता। अधिकांश आधुनिक विरह-वर्णन समग्र जीवन से संबंधित व्यापकता की दृष्टि से भले ही विशद न हो सके हों, पर अनुभूति पुष्ट घनत्व की दृष्टि से उनका महत्व बहुत गंभीर है।

दाम्पत्येतर दशा में प्रेम आवेश-प्रधान रहता है। पर यह कोई-नियम नहीं है कि सर्वत्र आवेश रहता ही है। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं है कि दाम्पत्य प्रेम सर्वत्र आवेश-मुक्त ही रहे। प्रेम में वासना का आवेग अधिक तीव्र होने पर विरह में मानसिक वेदना के स्थान पर शारीरिक सुख का अभाव-दुःख प्रधान हो जाता है। लोक-गीतों में अनेक विरह-वर्णन इस स्थूल वेदना का चित्रण करते हैं। यद्यपि शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे वर्णन नितान्त निराधार नहीं कहे जा सकते, तथापि तल-स्पर्शी प्रेम के वे बहुत निकट नहीं माने जायेंगे। जब तक इन्द्रियों की पिपासा विद्यमान है, प्रेम का वास्तविक स्वरूप नहीं समझा जा सकता। इन्द्रिय-लिप्सा के अभाव की व्यथा प्रेम-व्यथा न होकर वासना व्यथा है, जिसमें प्रदान की अपेक्षा आदान की सपृहा तीव्र बनी रहती है और समर्पण के स्थान पर ग्रहण की प्रवृति सजग रहती है। कभी-कभी ऐसे प्रकरणों में भी प्रेम जैसी तीव्रता दिखलाई पड़ जाती है या पड़ सकती है, पर वस्तुतः वह प्रेमाभास है, प्रेम नहीं। विरह की दृष्टि से यह स्थूल विरह दशा है।

उदाहरणार्थ,——

चढ़ली जवानी, मोरा अंग अंग फरकै से,
कब होइहै गवना हमार रे भउजिया।
हंथवा रंगाये सैयाँ डैहरी बइठाई गैले,
फिरहू न लैहलैं उदेश रे भउजिया।

कहीं-कहीं चोली तथा अंगिया इत्यादि का उल्लेख भी प्राप्त होता है और लंबी भुजायें पसार कर मिलने की कामना भी,——

बीजुलियां चहलावहलि आभइ आभइ एक।
कदी मिलूं उण साहिबा कर काजल की रेख॥
बीजुलियां चहलावहलि आभइ आभय च्यारि।
कद रे मिलउंली सज्जना लांबी बांह पसारि॥
बीजुलियां चहलावहलि आभय आभय कोडि।
कद रे मिलउंली सज्जना कस कंचूकी छोड़ि॥
गिरह परवालण, सर भरण, नदी हिंडोलणहारि।
सूती सेजइं एकली हइ हइ दइवमतारि॥१

केवल लोक-गीतों में ही विरह-वर्णन में काम वेदना तथा तीव्र मिलनेच्छा का वर्णन हुआ हो, ऐसा नहीं है। संस्कृत काव्य में तथा हिन्दी के सूर, जायसी और रीति-काल के कवियों की रचनाओं में भी इसकी झांकियाँ मिलती हैं। आधुनिक काल में यह प्रवृति प्रायः समाप्त हो चुकी है, भले ही कहीं-कहीं परोक्ष रूप में उसका आभास हो जाता हो इस युग के मुझे फूल मत मारो जैसे उद्गार वासना-मूलक नहीं हैं, वे केवल सहज मानवीय संकेत मात्र हैं। साथ ही, जिन कवियों ने विरह में वासना-जन्य विकलता का वर्णन किया है, उन्होंने कोई अपराध नहीं किया। एक सीमा तक मानव-शरीर तथा हृदय की स्थूलता का वर्णन यथार्थ की दृष्टि से अनुचित नहीं कहा जा सकता। ऐसे वर्णन कालिदास, सूर, जायसी तथा बिहारी जैसे उच्च कोटि के कवियों ने भी किये हैं। हो सकता है ऐसे वर्णनों का ज्ञात अथवा अज्ञात मूल लोक-गीतों में हो।

विरह में आशंका की भावना अत्यन्त तीव्र हो उठती है। प्रेम का अतिरेक प्रिय के अभाव में उसकी स्थिति की-अनेक कल्पनायें करता है। यदि अनुराग बहुत गम्भीर न हुआ तो विरह से दग्ध हृदय प्रिय की काल्पनिक या सुनी हुई सुख-दशा और अपनी वास्तविक दुःख-दशा का रोना रोता है। उर्दू की शायरी में ऐसा

१. ढोला मारू रा दूहा (४४-४७)।

बहुत हुआ है । हिन्दी में सूर की गोपिकाओं के कथनों में कहीं-कहीं इस प्रवृति का हल्का-सा आभास मिलता है, जिसकी आलोचना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की है ।[1] अनुराग के गम्भीर होने पर प्रवासी प्रिय के कष्टों की ओर अधिक ध्यान जाता है । आशंका रहती है कि प्रिय विपत्ति में पड़ा होगा,—

सावन गरजै, भादों बरसै, पवन चले पुरवाई ।
कउन्यों पेड़ तर भीजत होइ हैं राम लखन दोउ भाई ।।

महाकवि सूरदास की यशोदा तथा गोस्वामी तुलसीदास की कौशल्या अपने प्रिय पुत्रों के सामान्य जीवन, भोजन, शयन तथा अन्य कार्यों में ऐसे कष्टों की कल्पना-व्यथा में डूबी दृष्टिगोचर होती हैं । महाकवि सूरदास ने पुत्र विरह में आशंका के तत्व को बहुत व्यापक, स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक रूप में चित्रित किया है । प्राचीन काल में जब यातायात के साधन बहुत ही साधारण तथा सीमित थे तब प्रवासी पुत्र तथा पति के प्रति ऐसी आशंकाओं के लिए अधिक स्थान था, जो यातायात तथा सूचनाओं के उत्कृष्ट साधनों के आधुनिक युग में बहुत कम होता जा रहा है । विरह में आशंका तत्व दब कर उसकी मर्मस्पर्शिता के एक अंश को समाप्त करता जा रहा है । कालिदास के बिरही यक्ष ने अपनी विरहिणी प्रिया का जैसा अमर चित्र खींचा है, वैसा संवाद-साधनों के इस युग में शायद ही खींचा जा सके । मेकाले का यह कथन कि ज्यों-ज्यों सभ्यता का उत्थान होता है, त्यों-त्यों काव्य का पतन होता जाता है, एक अंश तक ठीक है । पर संवाद-साधन चिरन्तन मानवीय प्रवृति को समाप्त नहीं कर सकते, उसके परिमाण तथा तीव्रता में अन्तर भले ही डाल दें । इसलिए यह देख कर खेद होता है कि आधुनिक कवि विरह के इस अमूल्य तत्व के प्रति उदासीन होते जा रहे हैं ।

विरह में प्रिय-स्मृति की तन्मयता अत्यधिक व्यापक होकर बाह्य जगत तथा परिस्थितियों के प्रति विरही या विरहिणी को अन्यमनस्क कर देती है । यों तो अन्यमनस्कता को जड़ता संचारी में रखा जा सकता है, पर विरह की एकांत दृष्टि से इसका अस्तित्व प्रायः स्वतन्त्र है । अन्यमनस्कता तथा जड़ता में अन्तर है । जड़ता अस्थायी वस्तु है, अन्यमनस्कता प्रिय की प्राप्ति न होने तक स्थायी । उन्माद तो इससे नितान्त भिन्न है । अतः अन्यमनस्कता का भाव एक स्वतन्त्र संचारी माना जा सकता है । कालिदास की शकुंतला दुर्वासा की उपस्थिति अथवा आगमन को नहीं जान पाती । ऐसा होना उसकी जड़ता के कारण तर्क-दृष्टि से भले ही सिद्ध किया जा सके. वास्तविक दृष्टि से अन्यमनस्कता या भाव-तल्लीनता ही मूल

---

१. 'भ्रमरगीत-सार' की भूमिका ।

कारण प्रतीत होगा। यह अन्यमनस्कता विरह दशा में इतनी तीव्र हो जाती है कि मनुष्य संसार के कार्यों में लगा होने पर भी अनजाने ही अपनी स्वाभाविक स्थिति का परिचय सबको कराता रहता है। छिपाने पर भी प्रेम के न छिपने का एक कारण यह भी है। अतः जड़ता या उन्माद से अन्यमनस्कता पूर्णतः भिन्न है। जड़ता या उन्माद की दशा में मनुष्य कोई विशेष कार्य नहीं कर सकता, अन्यमनस्कता की दशा में वह करता है, भले ही उसका अपचेतन या अर्द्ध चेतन किसी रूप में फूट कर कभी प्रकट हो जाये। प्रेम के पूर्ण रूप के अद्वितीय चितेरे महाकवि कालिदास की ऊर्वशी इन्द्र की नाट्य-सभा में पुरुरवा के प्रति अपनी विरह-व्यथा को छिपाये हुए अभिनय कर रही है। नाटक में वारुणी बनी मेनका प्रश्न करती है,—'सखी, यहाँ तीनों लोकों से एक से एक सुन्दर पुरुष, लोकपाल और स्वयं विष्णु भगवान आए हुए हैं, इनमें कौन तुम्हे सबमे अधिक भाता है? लक्ष्मी बनी हुई ऊर्वशी को कहना चाहिए था—'पुरुषोत्तम', पर उसके मस्तिष्क में तो पुरुरवा छाया है, फिर यहाँ पुरुषोत्तम और पुरुरवा में एक सीमा तक वर्ण साम्य भी है। अतः वह कह देती है—'पुरुरवा'। ऊर्वशी अभिनय कर रही थी। जड़ता या उन्माद की दशा में अभिनय करना संभव नहीं है। वह अभिनय करती तो है, पर ध्यान पुरुरवा में ही केन्द्रित है, जो स्वाभाविक ही है। अन्यमनस्कता के कारण मुँह से हृदय-धन का नाम प्रकट हो जाता है।

स्मृति विरह-दशा का सबसे अधिक व्यापक तथा घनीभूत भाव है। प्रिय के रूप रंग, शील, व्यवहार, संभोग की नाना स्मृतियां, अपने मान तथा रूठने, झगड़ने इत्यादि की शत-शत स्मृतियां स्वप्न एवं प्रत्यक्ष दशाओं में विरह की स्थिति में साकार हो उठती हैं। छोटी-छोटी बातें भी विरह के दीर्घ-दर्शक-यंत्र के कारण अत्यन्त विस्तृत रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। अपनी भूलें तथा प्रिय के गुण तिल से ताड़वन कर हृदय को आलोड़ित-विलोड़ित करते रहते हैं। प्रायः सभी कवियों ने संचारी भावों अथवा काम-दशाओं में स्मृति को विरह-वर्णन में सर्वप्रथम स्थान प्रदान किया है, जो स्वाभाविकता की दृष्टि से सर्वतोरूपेण ठीक है। स्वप्न को विरह-वर्णन में जो महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, वह अभिलाषा को अस्थायी सन्तोष देने के कारण तो है ही, स्मृति को सन्तुष्ट करने के कारण भी है। हिन्दी-काव्य में सूर और मैथिलीशरण ने स्मृति संचारी के अत्यन्त उत्कृष्ट तथा स्वाभाविक चित्र खींचे हैं। संस्कृत में महाकवि भवभूति ने अपने अमर नाटक 'उत्तररामचरितम्' में प्रचलित परंपरा से आगे बढ़ कर स्मृति के कतिपय सूक्ष्म तथा सर्वश्रेष्ठ चित्र प्रस्तुत किए हैं, जो संसार साहित्य में बेजोड़ हैं। स्मृति का क्षेत्र प्रिय से अपने संयोग के संस्मरणों तक ही सीमित नहीं है, उससे सम्बद्ध और उसकी प्रिय

वस्तुओं से भावोद्दीपन-ग्रहण के विराट् क्षेत्र तक विस्तृत है। विरह-दशा में प्रिय की स्मृति मानस के अधिकांश क्षेत्र को भर लेती है। आधुनिक कवियों ने भी स्मृति के सुन्दर वर्णन किए हैं। हिन्दी-काव्य में युगानुकूल परिवर्तन करने का जो प्रयोग कुछ युवक कवि कर रहे हैं, उनमें से एकाध ने स्मृति के क्षेत्र में परम्परा से आगे बढ़ कर रचना के स्तुत्य तथा नूतन प्रयास किए हैं, जिनकी मर्मस्पर्शिता सर्वोच्च कोटि की है। प्रिय के अभाव में उसकी ओर सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु में अनोखा आकर्षण उत्पन्न हो जाता है, जो हमरी आत्मा के प्रत्येक कोण को भाव-विह्वल करता रहता है। इस स्थिति में यदि कोई ऐसी वस्तु हमारे पास होती है, जिससे प्रिय के प्रति हमारा प्रेम-निवेदन संबन्धित हो, तो वह स्थायी भाव-राशि की प्रतीक बन जाती है, और नित्य-प्रति उसकी महत्ता बढ़ती जाती है। प्रयोगवादी कवि श्री रघुवीर सहाय की 'भला' शीर्षक कविता में अनुभूति अकृत्रिम रूप में प्रकट होकर भी उच्चकोटि की है,...

मैं कभी-कभी कमरे के कोने में जाकर।
एकान्त जहाँ पर होता है,
चुपके से एक पुराना कागज पढ़ता हूँ,
मेरे जीवन का विवरण उसमें लिखा हुआ,
यह एक पुराना प्रेम-पत्र है जो लिख कर
भेजा ही नहीं गया, जिसका पाने वाला,
काफी दिन बीते गुजर चुका।
उसके अक्षर-अक्षर में से इतिहास छिपे
छोटे-मोटे;
थे जो मेरे अपने, वे कुछ विश्वास छिपे,
संशय केवल इतना ही उसमें व्यक्त हुआ,
क्या मेरा भी सपना सच्चा हो सकता है ?
जैसे-जैसे उसका नीला कागज पड़ता जाता फीका
वैसे-वैसे मेरा निश्चय, यह पक्का होता जाता है
प्रत्याशा की आशा में कोई तथ्य नहीं
उत्तर पाकर ही जाऊंगा कृतकृत्य नहीं
लेकिन जो आशा की,
जो पूछे प्रश्न कभी
अच्छा ही किया उन्हें जो मैंने पूछ लिया।[१]

---

१. दूसरा सप्तक, अज्ञेय द्वारा सम्पादित, पृष्ठ १६०।

विरह में जो विकलता प्रायः सदैव विद्यमान रहती है, उसका सम्यक् वर्णन केवल भुक्त-भोगी ही कर सकते हैं। । हिंदी में जायसी, घनानन्द तथा बच्चन ने विरह-विकलता के सर्वश्रेष्ठ चित्र खींचे हैं। विरह-वर्णन करने वाले इन श्रेष्ठ कवियों ने सारी सृष्टि में विकलता के दर्शन किए हैं। नागमती की विकलता किसी भी काव्य के विरह वर्णन में उच्चतम श्रेणी का स्थान पा सकती है। घनानन्द की विकलता वैयक्तिक अनुभूति से पुष्ट है। जब वे कहते हैं कि मैं धरती में धंस जाऊं या आकाश को चीरूं तो भावुक के हृदय-नेत्र तथा बाह्य-नेत्र गीले हो उठते हैं। 'निशा निमन्त्रण' तथा 'आकुल अंतर' में बच्चन सारी प्रकृति में विकलता को व्याप्त देखते हैं। विरह की विकलता में 'अब क्या करें ?' का प्रश्न प्रधान रहता है, क्योंकि वर्तमान विरही को खाता-सा प्रतीत होता है। स्मृति के पश्चात् विरही के मानस में विकलता का ही शासन होता है। परंतु आश्चर्य है कि विरह-वर्णन करने वाले कवियों में अधिकतर ने इस ओर सम्यक् ध्यान नहीं दिया। इसका कारण भी शायद शास्त्रीय बंधन ही है। विकलता का भाव वस्तुतः संचारी के रूप में अपना स्थान रखने की सामर्थ्य रखता है।

उपालंभ विरह का एक अंग है। सर्वत्र तो नहीं पर अधिकतर विरहिणी या विरही अपने प्रिय या प्रिया के प्रति उलाहना देते हैं यदि चिर-विरह हुआ तो "हमें अकेला छोड़ कर चले गए, इतना प्रेम रखने पर भी अकेला छोड़ गए, धोखा दे गए इत्यादि कहते हुए प्रायः सभी को सुना जाता है। श्री हर्ष तथा सूरदास के विरह-जन्य उपालंभ बहुत ही स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी हैं, और वास्तव में विस्तृत निबंधों के विषय हैं। उर्दू के शायरों ने भी उपालंभ का बहुत प्रयोग अपने विरह वर्णनों में किया है। भले ही वासनोत्तेजन के कारण उसमें स्थूलता का परिमाण अधिक हो गया हो, पर मर्म को कहीं-कहीं उनके उद्गार भी छूते हैं। कुछ विद्वान उपालंभ की प्रवृति को अनुराग की न्यूनता समझते हैं। यह प्रवृति स्थूल भले ही हो, पर मानव-हृदय का एक सहज व्यापार है, अतः इसे अनुराग की न्यूनता न कह कर अनुराग की अपरिपक्वता कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। प्रिय के विरह में कार्य करते रहने तथा जीवित रहने के कारण नेत्रों तथा प्राणों की निन्दा वास्तव में अपने प्रति एक उपालंभ है। इस संबंध में प्रायः सभी समर्थ कवियों ने बड़े हृदयग्राही वर्णन प्रस्तुत किए हैं। उपालंभ विरह की दृष्टि से पृथक् संचारी का रूप ग्रहण कर सकता है।

विरह-दशा में संयोग-दशा की सुखद वस्तुएं तथा आनंददायिनी प्रकृति पूर्णतः दुःखद प्रतीत होती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह ठीक है। मानव-मानस सृष्टि को अपने भाव तथा विचार के चश्मे से देखता है। अंग्रेजी के महाकवि मिल्टन ने

ठीक ही लिखा है कि मानव मस्तिष्क अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होकर तत्व-निर्णय करता है और वह अपने में ही स्वर्ग का नरक तथा नरक का स्वर्ग बना सकता है।[1] विरह में संयोग की सुखद वस्तुएं तथा समग्र प्रकृति दुखद बन जाती हैं। सभी भाषाओं में ऐसे वर्णन किए गए हैं। हिंदी में जायसी ने प्रायः सारी सृष्टि को विरह-व्यथा से प्रभावित दिखला कर इस क्षेत्र में सरलता-पूर्वक अद्वि-तीयता प्राप्त कर ली है। इस युग की हिंदी-कविता में प्रसाद के 'आंसू' हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' तथा मैथिलीशरण के 'साकेत' में ऐसे उत्कृष्ट वर्णन अत्यन्त प्रभाव-शाली रूप में किए गए हैं।

विश्वास पवित्र तथा महान् प्रेम की प्रेरक शक्ति और आत्मा है। जहां विश्वास नहीं, वहां शुद्ध प्रेम नहीं हो सकता। आशंका तो एक पर्यटक के रूप में ही प्रेम में पावन देश की सीमा में प्रवेश कर सकती है, साम्राज्य तो वहां विश्वास के राजा का ही रहता है। कितना भी कष्ट हो, पर सच्चा विरही-हृदय जानता है,—"दोनों ओर प्रेम पलता है।"[2] सच्चे प्रेमी को यह विश्वास रहता है ?—

एक दिन थम जाएगा रोदन
तुम्हारे प्रेम अंचल में,
लिपट स्मृति बन जायंगे कुछ कन
कनक सींचे नयन जल में।[3]

प्रेम की प्रारम्भिक तथा स्थूल अवस्था में जो हृदय सहज आभास करता है ?—

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर
विरह अहह कराहते इस शब्द को
किस कुलिश की तीक्ष्ण चुभती नोंक से
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा॥[4]

वही हृदय प्रेम की प्रौढ़ तथा सूक्ष्म दशा में 'स्मृति' करते हुए कहता है,—

यौवन बेला वह, स्वप्न लिखी
छवि-रेखायें जिसमें ओझल,
तुम अन्तर्मुख शोभा-धारा

---

१. The mind is its own place, and in itself
can make a Heaven of hell, a Hell of Heaven. (Paradise lost, Book I, 254-55)
२. साकेत, नवम् सर्ग पृष्ठ २०४।
३. निराला कृत परिमल की 'निवेदन' कविता, पृष्ठ ३२।
४. पंत कृत ग्रन्थि, पृष्ठ ४२।

बहती अब प्राणों में शीतल ।।[१]

इन्द्रियोन्मुख प्रेम पौढ़ होकर आत्मोन्मुख हो जाता है। तब वह उत्तेजना नहीं अमरत्व बनकर आत्मा ही नहीं, शरीर को भी शीतल कर देता है। प्रेम बाह्योन्मुख होने पर विरह का मूल्य नहीं समझ सकता, वह अन्तर्मुख होकर ही उसकी महत्ता को नहीं समझ सकता है, जो विश्वास के बिना संभव नहीं है। घनानंद प्रेम के मूल्य को समझ कर ही मीन के प्राण-त्याग को हेय ठहराते हैं। विश्वास प्रिय पर ही हो, यह आवश्यक नहीं। असली विश्वास तो तब है, जब हम अपने और अपने प्रेम पर विश्वस्त बने रहें, विरह का सच्चा रस तभी प्राप्त होता है। महादेवी इसी रस का अमर पान करके गाती हैं,—"विरह की घड़ियां हुई अलि, मधुर मधु की यामिनी सी।"[१]

यही विश्वास दान मांगने वाले प्रेमी-हृदय को वेदना और पीड़ा वरदान बना कर प्रदान करता है, अपनी भ्रांति के स्वीकरण में भी प्रिय के द्वारा दिए गए मान का अनुभव करता है। कवि श्री रामकुमार 'शर्मा' निशंक उक्त दान और वरदान तथा भ्रांति और मान को प्रश्न रूप में प्रस्तुत करके भी उत्तर दे देते हैं।

मांगता था दान तुमसे पर दिया बरदान यह क्यों !
भ्रांति का रूपक सजग था तब दिया है मान यह क्यों ?[२]

अपने प्रेम के प्रति हो या प्रिय के प्रेम के प्रति, बिश्वास प्रेम का मुकुट है, जिसके बिना उसकी कान्ति अधूरी ही रहती है। इसी विश्वास के बल पर सहस्त्रों नारियां जीती हैं, सहस्त्रों पुरुष बचे रह जाते हैं, अन्यथा विरह-व्यथा सभी नारियों को सती कर देती, सभी पुरुषों को अज बना देती। यही विश्वास प्यार को संशय के सामने हारने नहीं देता, और उसे विनयपूर्वक धैर्य का खाद्य प्रदान करता रहता है,—

दृश्यों के अन्तराल में
जीवन बिला गया
संशय के दंश से
साहस तिलमिला गया
प्यार पर हारा नहीं
अमल विनय से

---

१. पन्तकी अतिमा, स्मृति, पृष्ठ ३० ।
२. 'सान्धय-गीत', पृष्ठ ३४ ।
३. दयानंद महाविद्यालय, कानपुर की पत्रिका (१९५६)

आस-फूल धैर्य का
धूप के खिला गया ।[1]

यही विश्वास निराशा में भी सन्तुष्ट रहता है, कहता रहता है,......
तुमसे मिलने की आशा कम , विश्वास बहुत है ।'[2]

शुद्ध प्रेम की एक अत्यन्त उदात्त विरह दशा के दर्शन तब होते हैं, जब हृदय केवल प्रदान करना चाहता है, आदान नहीं । वह प्रेम को आदान-प्रदान की प्रवृति का प्रतीक व्यापार नहीं समझता, केवल अपने प्रेम से सन्तुष्ट तथा आनन्दित रहता है,– प्रिय प्रेम करे या न करे,वह सुखी रहे, हमारे लिये इतना ही बहुत है कि हम उसे संपूर्ण हृदय से प्रेम करते हैं । अनेक महान कवियों ने इस प्रदान-मय प्रेम के पावन गीत गाए हैं । इस युग के कवियों ने इस क्षेत्र में अत्यन्त श्रेष्ठ सृजन किया है । अपने एक मर्मस्पर्शी गीत में श्री विद्यावती मिश्र कहती हैं, —

तुमने पूजा स्वीकार नहीं की तो भी क्या ?
स्वीकृति का उठता प्रश्न कि जब फल की इच्छा
होती, मन में तीव्र प्राप्ति की अभिलाषा,
पर मुझको विश्वास प्राण का यह चातक
रहा सदा से और रहेगा चिर प्यासा... ।
बस एक याचना की थी तुम्हें परखने को,
तुमने वह अंगीकार नहीं की तो भी क्या ?
तुमने पूजा स्वीकार नहीं की तो भी क्या ?
यह मेरे श्रद्धा-सुमन न मुरझाने वाले-------
सिंचित करता है आत्म-समर्पण का अमृत,
है अर्चन के उपकरण दूसरे यहां नहीं,
प्रतिमा है, मैं हूँ, है चरणों में मस्तक नत ।
मैं रही बुलाती तुम्हें अकेलापन न खले,
सार्थक वह करुण पुकार नहीं की तो भी क्या ?
तुमने पूजा स्वीकार नहीं की तो भी क्या ?
तुम निष्ठुर हो---यह कभी किसी से कहा नहीं,
है सुखद निराशा में आशा की क्षीण किरण,

१. अज्ञेय-कृत 'बावरा अहेरी', पृष्ठ १३ ।
२. प्रसिद्ध कवि श्री बलबीर सिंह 'रंग' की सुनी हुई कविता की एक पंक्ति का अंश ।

पाषाण-सदृश दृढ़ रहना देव तुम्हारी हठ——
सरिता बन युग-युग तक बहना है मेरा प्रण ।

तुमने उससे अपने पद-पद्म छुआ करके
सुरसरि की पावन धार नहीं की तो भी क्या ?
तुमने पूजा स्वीकार नहीं की तो भी क्या ?

एकांत प्रदान की यह प्रवृति परोक्षतः विश्वास से ही उत्पन्न होती है, पर उसकी सत्ता विश्वास से कुछ भिन्न तथा ऊपर उठी प्रतीत होती है। कुछ अपरिपक्व बुद्धि से प्रेरित लोग फ्रायड की दुहाई देकर या यथार्थ का हौवा दिखा कर ऐसी भावना को अस्वाभाविक बतलाने का प्रयास करते हुए देखे जाते हैं । ऐसे लोग मनोविज्ञान के पूर्णत्व तथा यथार्थ के तल से अपरिचित हैं। उनके अज्ञान पर क्रोध नहीं दया करनी चाहिए ।

विरह की करुणतम दशा वह है, जहां प्रेमी अंतिम सांसों में या अंतिम सांसों के अवसर के लिए भी प्रिय से निवेदन करता है कि तुम यह कहानी भुला कर सुखी बनना, अंतिम अवसर पर मेरे पास आकर दुखी मत होना, मैं जा रहा हूँ। हां, यदि हो सके तो कभी-कभी मेरी समाधि पर आकर दो अश्रु-पुष्प चढ़ा जाना या एक चिराग रख जाया करना । उर्दू के शायरों ने कहीं-कहीं ऐसे मर्म-भेदक गान गाए हैं, जिनका मूल्यांकन करना भाषा की शक्ति से बाहर की वस्तु है । दुर्भाग्यवश विरह भावना से अपरिचित तथा सहानुभूति-शून्य कुछ ऐसे व्यक्ति भी मौजूद रहे हैं तथा हैं, जो ऐसे स्वाभाविक उद्‌गारों में भी मीन-मेख निकालते रहे हैं, तथा निकालते रहते हैं। हिंदी में भी ऐसे उद्‌गार मिलते हैं। श्री सुरेन्द्र की निम्नलिखित पंक्तियों में कितनी मर्मस्पर्शिता है,——

अनुरोध एक पर तुमसे,
मेरे स्वप्नों की रानी ।
उस क्षण तुम पास न आना
मेरी जब मिटे कहानी ।...
तुमको दुखिया कर कैसे...
सौंपूंगा यम को सांसें ।
कैसे मैं देख सकूंगा.
आंसू में डूबी आंखें । ......

१. 'धर्मयुग' साप्ताहिक (रविवार २१ सितम्बर १९५८ का अंक)

तब तुम समाधि पर सिर धर
कुन्तल धन बिखरा देना।
मेरी मिट्टी को अपने
हाथों से सहला देना।
फिर अपने कोमल स्वर से
मेरे कुछ गीत सुनाना।
यदि हृदय अधिक भर आये
आंसू दो चार गिराना।[1]

ऐसे स्थलों पर अधिक भावावेश के कारण कभी-कभी स्वाभाविकता को धक्का लगता है। या लग सकता है, पर उसमें संदेह नहीं कि उचित भावावेश होने पर ऐसे उद्गार मूल्यवान होते हैं।

विरह की दशा में मानसिक स्थिति का बड़ा ही व्यापक चित्रण संचारी भावों या उनमें से विरह के अधिक निकट रहने वाली काम-दशाओं की दृष्टि से तथा स्वतंत्र दृष्टि से कवियों ने बहुत अधिक परिमाण में किया है। इस विषय में हमारे शास्त्रगत दृष्टिकोण में विस्तार की आवश्यकता है, जो कवियों को युगानुकूल तथा व्यापक उत्तेजना प्रदान करने में सहायक हो सकें।

---

१. 'एक रात पृष्ठ; १५-१३-१८।

विरह और प्रकृति ४

प्रकृति का सृष्टि के सभी जीवों के जीवन से अनिवार्य संबंध है। जीवन की सारी गतिविधि प्रकृति से ही अनुप्राणित होती है। संयोग की दशा में प्रकृति अपार आनंद की विधात्री प्रतीत होती है, वियोग की दशा में अपार दुःख की। मानव-मानस अपने भाव या विचार के अनुकूल ही सारी सृष्टि को देखता है। मिलन के अवसरों पर उसे प्रकृति मिलन की विराट् दृश्यावली प्रतीत होती है—सुख तथा उन्माद में खोई हुई। पर्वतों के गले में पड़ी सरिताओं की भुज-लतायें वृक्षों के विशाल वक्ष पर लेटीं बेलें, सागर से आलिंगन करती हुई जल-धारायें तथा सुदूर क्षितिज में आकाश को भेंटती हुई धरती इत्यादि सभी में उसे मिलन ही मिलन, सुख ही सुख, मस्ती ही मस्ती दीख पड़ती है। विरह की स्थिति में सारी सृष्टि विरह में तड़फती हुई प्रतीत होती है। सागर-रूपी प्रियतम, से मिलने को व्याकुल सरिता, प्रिय मिलन में व्यवधान स्वरूप पर्वत को जड़ कहती हुई, उसे छोड़कर गिरती-पड़ती, रोती-चिल्लाती, विकल दशा में भागती दिखलाई पड़ती है, विरही आकार प्रिया-धरित्री से मिलने को झुकता हुआ मरु-मरीचिका में भटकता प्रतीत होता है, उषा की लालिमा, सायंकाल की रक्तिमता और सूर्य का गोला इत्यादि में भीषण अग्नि-काण्ड का आभास होता है। कोयल की कूक, पपीहे का पी! कहाँ ?, बुलबुल की पुकार, चक्रवाक के प्रश्नोत्तर, चकोर की विकलता और सारस की चीखों में उसे विरह का चीत्कार सुनाई पड़ता है। प्रकृति को विरह में दुःख की मूर्ति तथा उसकी नाना वस्तुओं को विरहमयी स्थिति में चित्रित करने की प्रकृति सभी कवियों में देखी जाती है। कभी-कभी प्रकृति के सरिता-सागर-संगम मृग-मृगी-संयोग तथा विभिन्न पक्षियों के संभोग इत्यादि को देख कर विरही दुःख तथा ईर्ष्या का अनुभव करते हुए भी चित्रित किए गये हैं। कालिदास तथा तुलसी-दास के ऐसे चित्रण बहुत ही उत्कृष्ट हैं। कालिदास, जायसी, सूर तथा बच्चन इत्यादि कवियों ने विरह के कारण सृष्टि में शोक का हाहाकार बहुत मर्मस्पर्शी रूप में चित्रित किया है। इस क्षेत्र में जायसी की तन्मयता तथा भावुकता सर्वोपरि

है, जो पशु-पक्षियों, ग्रहों, अन्नों तथा प्रकृति के सभी प्रधान अवयवों को विरहिणी के उत्ताप से दग्ध देखती है, प्रकृति की समग्र आरक्तिमता को विरहिणी के रक्त से निर्मित चित्रित करती है,---

जेंहि पंखी के निअर होइ कह बिरह के बात।
सोई पंखी जाइ जरि तरिवर होंइ निपात।।
कुहुकि कुहुकि जस कोयल रोई।
रक्त आंसु घुंघुची बन बोई।।
भइ करमुखी नैन तन राती।
को सेराव ? बिरहा दुख ताती।।
जहं जहं ठाढ़ होइ बन बासी।
तहं तहं होइ गुंघुचि कै रासी।।
बूंद बूंद महं जानहुं जीऊ।
गुंजा गूंजि करै पिउ पीऊ।।
तेहि दुख भये परास निपाते।
लोहु बूड़ि उठे होइ राते।।
राते बिंब भीजि तेहि लोहूं।
परवर पाक, फाट हिय गोहूं।।

जायसी को अपनी विरहिणी की विरह-ज्वाला तथा उसके रक्ताश्रुओं के कारण समग्र सृष्टि विरह-दग्ध एवं रक्त-वर्ण दृष्टिगोचर होती है। सहृदयता की पराकाष्ठा, भावुकता की सीमा तथा कल्पना-शक्ति की अन्तिम रेखाओं का स्पर्श करने वाली जायसी की विरह-भावना संसार-साहित्य में अद्वितीय है,---

अस परजरा बिरह कर गठा।
मेघ साम भये धूम जो उठा।।
दाढ़ा राहु केतु गा दाधा।
सूरुज जरा, चांद जरि आधा।
औ सब नखत तराईं जरहीं।
टूटहिं लूक धरति महं परहीं।।
जरै सो धरती ठावंहि ठाऊं।।
दहकि पलास जरै तेहि दाऊं।।
बिरह सांस तस निकसै झारा।
दहि दहि परबत होहिं अंगारा।

भवर पतंग जरे औ नागा ।।
कोइल, भुजइल, डोमा, कागा ।।
बन पंखी सब जिउ लेइ उड़े ।
जल महँ मच्छ दुखी होइ बुड़े ।।
महूं जरत तहं निकसा, समुद बुझाएहुं आइ ।
समुद्र पानि जरि खार भा, धुंवा रहा जग छाइ ।।

सृष्टि के विभिन्न अवयवों में कल्पित कारण के द्वारा जो हाहाकार जायसी की विरह-दृष्टि देख सकी, वह संसार में इतने विराट् रूप में किसी कवि की दृष्टि नहीं देख सकी, ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि जायसी ने सीमाओं का स्पर्श कर लिया है, जिसके आगे बढ़ने का प्रश्न उठाना शायद संभव नहीं हो सकता। सामान्यतर हृदय वाले वाले व्यक्तियों की तर्क-बुद्धि को छोड़कर शेष सभी की आत्माएं जायसी की इस तलस्पर्शी भावुकता से रस विभोर हो उठती हैं। सूर की व्यापक दृष्टि से यमुना को 'विरह जुर जारी' देखा है। हरिऔध की विरहिणी ने सूर्य को 'आग का एक गोला' समझ कर भय प्रकट किया है। कहीं-कहीं इस प्रकृति ने सम्यक् भावुकता के अभाव में चन्द्रमा को 'कसाई इत्यादि कह कर परंपरा-बद्ध हृदय-हीनता का भी परिचय दिया है, पर समर्थ रस-सिद्ध कवियों के द्वारा ऐसा नहीं हुआ। आधुनिक काल में स्वानुभूति-पूर्ण विरह का करुणामय तथा हृदयग्राही वर्णन करने वाले लोक-प्रिय कवि बच्चन ने सृष्टि तथा मानव की विभिन्न वस्तुओं और चेष्टाओं में विकलता के स्वाभाविक तथा आत्मय वर्णन किये हैं....

लहर सागर का नहीं शृंगार,
उसकी विकलता है,
अनिल अम्बर का नहीं खिलवार,
उसकी विकलता है,
विविध रूपों में हुआ साकार,
रंगों से सुरंजित,
मृत्तिका का यह नहीं संसार,
उसकी विकलता है।
गंध कलिका का नहीं उद्गार,
उसकी विकलता है,
फूल मधुवन का नहीं गलहार,
उसकी विकलता है,
कोकिला का कौन-सा व्यवहार

ऋतुपति को न भाया ?
कूक कोयल की नहीं मनुहार,
उसकी विकलता है ।
गान गायक का नहीं व्यापार,
उसकी विकलता है,
राग वीणा की नहीं झंकार,
उसकी वि अ लता है,
भावनाओं का मधुर आधार
सांसों मे विनिर्मित,
गीत-कवि-उर का नहीं उपहार,
उसकी विकलता है ।[1]

प्रकृति के परिवर्तनों के साथ विरह-वेदना के भी परिवर्तन तथा उसमें आने वाली तीव्रता का वर्णन षड्ऋतु के क्रम से विरह-वर्णन करने वाले अनेक महाकवियों तथा साधारण कवियों ने किये हैं। मीरा तथा प्रधान-तया जायसी प्रभृति भावुक हृदयों तथा लोकगीत-कारों की विकल आत्मा में से बारहमासों के रूप में फूट फूट पड़ने वाले उद्गार भी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

विरह की दशा में प्रकृति बेचारी को कभी-कभी फटकार भी सहनी पड़ती है। सूर की गोपिकायें हरे बने रहने के कारण मधुवन की भर्त्सना करती हैं:— "तुम्हें शर्म नहीं लगती, जो कृष्ण-वियोग होने पर भी हरे बने हो ? तुम्हारी शाखायें पकड़कर श्याम सुन्दर खड़े होते थे। उनके वियोग में तुम जल कर राख नहीं हो गये। धिक्कार है तुम्हें। कभी-कभी प्रकृति-सत्ता के विस्तार पर संदेह होने लगता है—"क्या उस देश में पावस, हेमन्त तथा बसन्त जैसी स्मृति तथा रस-भाव को उत्तेजित कर मिलन-प्रेरणा देने वाली मधुर ऋतुएँ तथा इसी गुण वाले कोकिल-पपीहा इत्यादि पक्षी नहीं है ? यदि होते, तो क्या प्रिय को मेरी स्मृति कराते हुए इधर आने के लिए विवश न कर देते ? महाकवि जायसी ने एक दोहे में विरहिणी नागमती से यह आत्म-स्पर्शी प्रश्न उठवाया है, जिसके प्रत्येक शब्दों में भावना का सागर तरंगायित होता है,—

नहिं पावस ओहि देसरा, नहिं हेवंत बसन्त ।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत। ।[2]

---

१. आकुल अन्तर, पृष्ठ १३-१४ ।
२. पद्मावत, नागमती-वियोग खण्ड, अंतिम दोहा ।

विरह में प्रकृति का दुःख एवं विरह की मूर्ति के रूप में चित्रण बहुत हुआ है। किन्तु विरह-क्षेत्र में प्रकृति के प्रयोग का यह एक पक्ष मात्र है। दूसरे पक्ष में प्रकृति विरह-दशा में सहायक चित्रित की गई है,सान्त्वना तथा धैर्य देने वाली चित्रित की गई है। उसके विभिन्न जड़ तथा चेतन तत्व दूत का कार्य करते हैं। मेघ-दूत, पवन-दूत, हंस-दूत, तथा भ्रमर-दूत इत्यादि की अनेकानेक कल्पनाएँ करके कवियों ने विरह-दशा में प्रकृति का सहयोग प्राप्त किया है। वाल्मीकि, कालिदास तथा तुलसीदास इत्यादि के विरही खग, मृग, मधुकर श्रेणी, लता इत्यादि से अपनी प्रिया के विषय में प्रश्न करते हैं। कालिदास का विरही पुरुखा तो लता को प्रिया ऊर्वशी समझ कर उसका आलिंगन ही करने लगता है। सहृदय-सम्राट् कालिदास उसके आलिंगन को सफल भी कर देते हैं! प्रकृति में प्रिय के दर्शन करने का प्रयास भी कवियों ने किया है, जिसकी झलकें कालिदास तथा पंत प्रभृति कवियों में मिलती हैं। प्रकृति से दुःख-मुक्त करने की प्रार्थनाएं भी कवियों ने अपनी विरहिणियों से कराई हैं। तुलसीदास की सीता 'पावकमय शशि तथा अशोक-वृक्ष से कष्ट-मुक्ति की प्रार्थना करती हैं, लोकगीतों में धरती से फटने की प्रार्थना करती हैं, जिससे वह उसमें समा जायें। प्रकृति के विशद रूपों का स्वागत भी किसी किसी-कवि ने कराया है। आधुनिक-काल के विरह-वर्णन करने वाले एक प्रमुख कवि मैथिलीशरण गुप्त की विरहिणी ऊर्मिला ने विभिन्न ऋतुओं के प्रति उनमें होने वाले परिवर्तनों में प्रिय के अवयवों तथा कार्यों का अभास पाने के कारण स्वागत से पूर्ण उद्‌गार प्रकट किये हैं। शरद के आगमन पर उसके भाव दर्शनीय हैं,—

> निरख सखी, ये खंजन आये,
> फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये।
> फैला उनक तन का आतप, मन से सर सरसाये,
> घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये,
> करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये,
> फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बंधूक सुहाये।
> स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
> नभ ने मोती वारे लो ये अश्रु-अर्घ्य भरलाये॥[1]

प्रकृति के पदार्थों तथा पशु-पक्षियों से संवेदन की प्राप्ति करने तथा उनके प्रति सद्-भावना के भावों को प्रकट करने की शुभ प्रवृत्ति गुप्त जी के विरह-वर्णनों, विशेष कर 'साकेत' में बहुत विस्तृत रूप में दृष्टिगोचर होती है। गुप्तजी की विरह-काव्य के क्षेत्र में यह एक व्यापक देन है, जिसमें वे प्रचलित परंपरा से आगे बढ़कर नवीन

१. साकेत, नवम सर्ग, पृष्ठ २१६-१७।

संवेदनात्मक उद्भावनाएं कर सकने में समर्थ हुए हैं। जो लोग उन्हें 'परम्परावादी मात्र' मानते हैं, वे यदि इधर ध्यान दे सकें, तो उनकी भ्रान्ति का बहुत-कुछ निराकरण हो सकता है।

जिस प्रकार प्रकृति विराट समृद्धि उदारतापूर्वक मानव के भौतिक जीवन को सभी कुछ प्रदान करती है, उसी प्रकार उसके बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा भावनात्मक जीवन को भी यथेष्ट तत्व-दान करते हुये सम्पन्नतर बनाती है। यदि कविगण विरह-भावना में अनेक प्रकार से प्रकृति-दर्शन करते हैं तो स्वाभाविक ही है, क्योंकि विश्व में प्रकृति ही ऐसा तत्व है जो पूर्णातिपूर्ण है। मानव के पास जो कुछ भी है, वह उसी का प्रत्यक्ष या परोक्ष दान है।

विरह और प्रिय के प्रवास-स्थल की दूरी   ५

महाकवि सूरदास के विरह-वर्णन की आलोचना करते हुये महान आलोचक आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है,... 'परिस्थिति की गंभीरता के अभाव में गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं। गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते किसी कुंज में या झाड़ी में जा छिपते हैं, या यों कहिये कि थोड़ी देर के लिए अंतर्द्धान हो जाते हैं। बस गोपियाँ मूर्छित होकर गिर पड़ती हैं। उनकी आंखों से आंसुओं की धारा उमड़ चलती है। पूर्ण वियोग दशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें तो ऐसा विरह-वर्णन असंगत प्रतीत होगा। पर जैसा कहा जा चुका है 'सूर-सागर प्रबन्ध-काव्य नहीं है जिसमें वर्णन की अनुपयुक्तता या उपयुक्तता में घटना या परिस्थति के विचार का बहुत कुछ योग रहता है।'[1] तुलसी के विरह वर्णन से सूर के विरह वर्णन की तुलना करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं-...' वन में सीता का वियोग चारपाई पर करवटें बदलने वाला प्रेम नहीं है...चार कदम पर मथुरा गए हुए गोपाल के लिए गोपियों को बैठे-बैठे रुलाने वाला वियोग नहीं है, झाड़ियों में थोड़ी देर के लिए छिपे हुए कृष्ण के निमित्त राधा की आखों से आंसुओं की नदी बहाने वाला वियोग नहीं है...यह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमनेवाला, सेना एकत्र करानेवाला, पृथ्वी का भार उतारने वाला वियोग है। इस वियोग की गंभीरता के सामने सूरदास द्वारा अंकित वियोग अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी बाल-क्रीड़ा सा लगता है।' [2]

---

१. भ्रमरगीत सार, भूमिका, पृष्ठ ७।

२. गोस्वामी तुलसीदास, तुलसी की भावुकता, पृष्ठ ९२।

उक्त कथनों में 'कई सौ कोस दूर; 'दो चार कोस दूर' तथा 'चार कदम पर' के प्रयोग ऐसा आभास देते हैं कि आचार्य शुक्ल विरह में दूरी के अनुपात से व्यथा का अस्तित्व या चित्रण समीचीन समझते हैं। सीता और राधा तथा गोपियों की विरह दशायें नितान्त भिन्न हैं। सीता की कथा ऐतिहासिक आधार पर आश्रित एक वास्तविक कथा है, राधा और गोपियों की कथा महाभारत तथा प्राचीन ग्रंथों में अपना कोई अस्तित्व न रखने वाली और बहुत काल के अनन्तर युग की आवश्यकताओं के अनुकूल सरल एवं आकर्षक प्रेम-साधना की स्थापना के प्रयास में आविष्कृत एक काल्पनिक कथा है। यह स्पष्ट है कि 'भागवत' एक अत्यन्त महान रचना है, पर यह भी स्पष्ट हो चुका है कि वह व्यास और शुकदेव की रचना नहीं है, बहुत परवर्ती रचना है जिसका निर्माण रामानुजाचार्य से कुछ ही पूर्व हुआ होगा। भागवत में भी राधा का उल्लेख नहीं है। कल्पना पर आश्रित राधा और गोपियों के कृष्ण-प्रेम तथा कृष्ण-वियोग में वह स्वाभाविकता ढूंढना नितांत असंगत है, जो यथार्थ पर आश्रित सीता के राम-प्रेम तथा राम- वियोग में है। पर प्रिय के प्रवास-स्थल की दूरी का प्रश्न अपने सैद्धान्तिक रूप में अधिक विचारणीय बन जाता है। प्रेम दूरी से प्रभावित न होता हो, ऐसा कहना यथार्थ की अवहेलना करना होगा, पर वह दूरी के अनुपात से कम या अधिक वेदना का अनुभव करेगा ही, यह गलत है। प्रेम एक अनुभूति-मूलक व्यापार है, वाह्य कारणों तथा परिस्थितियों पर वह बहुत निर्भर नहीं रहता। संयोग तथा वियोग दोनों की यही स्थिति है। यदि प्रिय के प्रति पूरी आस्था तथा विश्वास है, तो प्रिय के दूरातिदूर होने पर भी विरह-वेदना अपेक्षाकृत स्वल्प हो सकती है, और यदि प्रिय के प्रति आस्था तथा विश्वास का अभाव है तो एक शय्या पर लेटे होने पर भी असहनीय व्यथा का अनुभव हो सकता है। यह व्यथा स्थूल शब्दों में विरह भले ही न मानी जाये, पर वस्तुतः विरह से भी बढ़ कर यातना-दायिनी होती है। यदि प्रिय पर पूरी आस्था तथा अपने प्रेम पर पूरा विश्वास है तो विरह-दशा में भी संयोग का जैसा या उससे भी बढ़कर सुख-संतोष प्राप्त हो सकता है, कविवर बिहारी के शब्दों में कहा जा सकता है,' 'प्रियतम' क्या हुआ जो हम तुम विमुक्त हो गये हैं, हमारा और तुम्हारा मन तो साथ है, पतंग कहीं पर उड़ कर चली जाये, पर डोरी के कारण वह 'उड़ायक के हाथ में ही रहती है। तुम कितनी ही दूरी पर क्यों न हो, पर मेरी स्नेह-डोर में बंधे होने के कारण ही मेरे वश में हो, अतः अत्यन्त निकट हो। सूर साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान पं० मुंशीराम शर्मा ने इस संबंध में अपना मत इन शब्दों में व्यक्त किया है—"साधारण लौकिक वातावरण में भी यदि पति-पत्नी भावनाओं में मेल नहीं खाते, तो पास-पास रहते हुए भी ये एक-दूसरे के वियोग में, भाव-वियोग में दुखी और व्याकुल रहते हैं। अतः वियोग में मुख्यता भाव-दृष्टि की है, देश और काल की नहीं। इस दृष्टि से सूर का वियोग-

वर्णन वास्तविक और तात्विक रूप में सत्य ही माना जायगा ।———सूर के वियोग-वर्णन में प्रतीक रूप से भी परमात्मा से वियुक्त जीवात्मा की क्रंदन-ध्वनि और हृदय का हाहाकार अतीव तीव्र भाव तरंगों में अभिव्यंजित हुआ है ।[1] संस्कृत साहित्य के अंतिम महान आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने इस तथ्य को बड़े सुंदर शब्दों में स्पष्ट किया है,———"तत्र शृंगारो द्विविधः । संयोगो विप्रलंभश्च । रतेः संयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमः । वियोग कालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः । संयोगश्च न दम्पत्योः समानाधिकरणम्, एक तल्पशयनेऽपीर्ष्यादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैय वर्णनात् । एवं वियोगोऽपि न नैयधिकरण्यम्,.........तस्माद्वाविपौ संयोवियोग ग्यावन्तः करणवृत्ति विशेषौ । यत्सं-युक्तो वियुक्तश्चास्मीति धीः ।"[2] पति-पत्नी पास हैं,इसलिये सुख प्राप्त कर रहे हैं, अथवा दूर है, इसलिए विकल हो रहे हैं, यह कहना-समझना स्थूल तथ्य से परिचित होना मात्र है । संयोग-वियोग वास्तव में अन्तःकरण-वृत्तियां हैं, बाह्य तथा स्थूल वृत्तियां नहीं । यद्यपि साधारणत दृष्टि से ऐसा कहना बहुत ऊँची भूमिका से कहा जाना माना जायेगा, पर अपने तलस्पर्शी रूप में यह पूर्णतः सत्य है और सूक्ष्मतर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अनुमोदनीय है । कुछ कवियों ने इस गंभीर प्रेम-तत्व को भली प्रकार समझा भी है । कालिदास का अग्निमित्र प्रिया का नैकट्य होने पर भी विदग्ध हृदय विरही-सा है । दादू की रहस्यमयी स्थापना बहुत दूर तक मानवीय प्रेम पर भी लागू होती है,......

जब लगि नैन न देखिये परगट मिलै न आय ।
एक सेज संगति रहै यह दुख सह्या न जाय ।।

सूर की गोपिकाओं के संबंध में आचार्य शुक्ल के विचार एक हद तक ठीक हैं, क्योंकि एक ओर गोपिकाएं "यक बन ढूँढि सकल बन ढूँढों, कतहुं न श्याम लहौं" कहती हुई कृष्ण-प्रेम पर पूरी आस्था दिखलाती हैं और दूसरी ओर काजल की कोठरी मथुरा में राजकाजों में व्यस्त 'कारे' कन्हैया की शिकायत करती हैं । यदि सामाजिक व्यवधानों, संकोच अथवा रूठने के कारण वे मथुरा न जा पातीं अथवा यह न जानती होतीं कि कृष्ण कहां हैं, तो सूर का विरह-वर्णन बहुत दूर तक औचित्यपूर्ण हो जाता । पर ऐसा नहीं है । अतः गोपियों और सीता की विरह-दशाओं में अन्तर ही पड़ेगा । किंतु दूरी को सिद्धान्त-रूप में विरह-व्यथा का मापक या निर्णायक तत्व

१. सूर-सौरभ, पृष्ठ २७३ ।
२. रस-गंगाधर, प्रथमानन, शृंगार द्वैविध्यम् ।

नहीं स्वीकार किया जा सकता। हमारी समझ में उपर्युक्त कथनों में आचार्य शुक्ल का तात्पर्य गोपियों और सीता की विरह दशा का अन्तर स्पष्ट करने में ही है, दूरी और विरह पर किसी सिद्धान्त की स्थापना करने में नहीं। अतः जो लोग आचार्य की इस दृष्टि से प्रत्यालोचना करते हैं, वह उचित नहीं है।

विरह-वर्णन का क्षेत्र

जहाँ प्रेम है, वहाँ मिलन और विरह के होने का प्राकृतिक नियम लागू होता ही है। हम पहले कह आये हैं कि सभी प्रकार के प्रेमों का शृंगार के अंतर्गत रखना या मानना समीचीन नहीं है। वात्सल्य प्रेम, गुरु-प्रेम, देश-प्रेम तथा ईश्वर-प्रेम इत्यादि-इत्यादि अनेक ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें केवल 'भाव' मानना मानव की अन्तरात्मा को ही संकुचित मानना है। सूर और हरिऔध के काव्य में यशोदा की कृष्ण-वियोग-व्यथा रस की परमोच्च भूमिका तक पहुंचाने वाली व्यथा है, उसे भाव मात्र मानना हास्यास्पद है। उर्दू के प्रसिद्ध शायर हाली के 'यादगारे-गालिब' में गुरु के प्रति जो उद्गार प्रकट किए गए हैं, उसके चिर-वियोग पर जो तलस्पर्शी करुणा व्यक्त की गई है, वह भाव मात्र नहीं है, रस की उत्कृष्ट भूमिका पर पहुंचाने वाली वस्तु है। अंग्रेजी के किसी अज्ञात कवि ने अपनी एक प्रसिद्ध कविता में मातृभूमि-वियोग की दशा में बहुत मर्मस्पर्शी उद्गार प्रकट किए हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि विलियम कापर ने 'दि सालिच्यूड आफ एलैक्जैन्डर सैल्कर्क' शीर्षक कविता के नायक के हृदय में निर्जन द्वीप में स्थित होने की दशा में स्वदेश-स्मृति का हृदय-ग्राही वर्णन किया है। ऐसे वर्णन भाव मात्र नहीं हैं। वे हृदय को छूते हैं तथा उनका भाव-बद्ध उद्रेक मानव-मानस की एक स्थायी सम्पत्ति है। कबीर, दादू, मीरा इत्यादि की आत्माओं ने अपने शाश्वत प्रियतम के प्रति जिस प्रेम तथा वियोग-व्यथा का वर्णन किया है, वह भाव मात्र है, ऐसा कहना हृदय-हीनता होगी। हमने इन्हीं कारणों से शृंगार रस को प्रेमरस का एक अंग माना है तथा दूसरे अंगों में वात्सल्य रस, हरिरस तथा अन्य प्रकार के गंभीर प्रेमों से सम्बद्ध रसों को रखा है। प्रेम एक बहुत व्यापक स्थायी-भाव है, उसे किसी एक क्षेत्र में बांधना ठीक नहीं है। अस्तु।

विरह-भावना बहुत व्यापक क्षेत्र तक फैली हुई है। शृंगार तथा वात्सल्य का तो वह एक पक्ष है ही, हरिरस का भी प्रधान पक्ष है। यहाँ तक तो वह प्रेमरस के

अन्तर्गत ही रहती है। पर चिर-विरह की दशा में वह करुण रस के अन्तर्गत पहुँच जाती है। ईश्वर-प्रेम से संबंधित विरह तथा मातृभूमि के प्रति विरह करुण रस के क्षेत्र से मुक्त है, क्योंकि ऐसी प्रेम-दशाओं में आलंबन शाश्वत एवं विनाश की शक्ति से परे रहता है। शेष प्रकार के प्रायः सभी प्रेमों में विरह का क्षेत्र करुण रस से भी संबंधित हो सकता है। हाली ने गालिब के प्रति, अज ने इन्दुमती के प्रति और मन्नन द्विवेदी गजपुरी ने स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले के प्रति जो व्यथा व्यक्त की है, वह करुण रस के अन्तर्गत आती है। उसमें चिर-विरह की करुण वेदना प्रकट हुई है। अतः स्पष्ट है कि विरह का क्षेत्र करुण रस से भी संबंधित है। नीचे हम विरह के इसी व्यापक रूप को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे। यद्यपि विरह के अनेक रूप हो सकते हैं, जिसमें से कुछ रस-दशा तक पहुंचते हैं, कुछ नहीं, तथापि अध्ययन की सुविधा के लिये हमने थोड़ेसे रूप चुन लिये हैं। अब हम क्रम से उनका वर्णन करेंगे।

दाम्पत्य-विरह :—

पति और पत्नी के शुद्ध प्रेम से संबंधित विरह सब से अधिक गंभीर, सच्चा तथा मर्मस्पर्शी होता है। इस बात से शायद कोई इन्कार न करेगा कि हमारे जीवन में सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध पति-पत्नी-सम्बन्ध ही है। प्रेम की संयोग-दशा में पति-पत्नी का संबंध जितना शान्त तथा उत्तेजना-हीन होता है, वियोग-दशा में उतना ही विकलतापूर्ण तथा हृदय वेधक हो जाता है। पर उसमें विश्वास तथा आशा की पवित्रता शीतलता विद्यमान रहती है और वह सामान्य उत्तेजना से मुक्त रहता है। भारतीय आचार्यों ने शृंगार की रस- दशा तक पहुंचने वाला रति-भाव केवल दाम्पत्य शृंगार में माना है। हमारे काव्य में विरह-वर्णन का अधिकांश भाग दाम्पत्य-विरह से ही संबंधित है। उसके भेदों-विभेदों का शास्त्रीय निरूपण एवं उससे आबद्ध वर्णन वाल्मीकि से लेकर मैथिलीशरण तक इतने अधिक मिलते हैं, कि उदाहरण देना व्यर्थ प्रतीत होता है। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष प्रभृति संस्कृत के महाकवियों तथा जायसी, तुलसी, हरिऔध और मैथिलीशरण प्रभृति हिन्दी के महाकवियों के दांपत्य-विरह-वर्णन बहुत ही विशद तथा उत्कृष्ट हैं।

जीवन-संगिनी तथा जीवन-संगी के चिर-वियोग से संबंधित विरह-वर्णन अपेक्षाकृत कम हुए हैं। महाकवि कालिदास का अज-विलाप तथा रति-विलाप- महाकवि भास के उदयन का वासवदत्ता के निधन समाचार से दुःख तथा विलाप-

प्रलाप [1] और वर्तमान कवि बच्चन के प्रिया के चिर-वियोग से संबंधित अनेक हृदय-ग्राही गीत इस क्षेत्र के चिर स्मरणीय वर्णन हैं। आधुनिक भारत के कवियों ने ऐसे वर्णनों में पर्याप्त उत्साह दिखलाया है। मानव पर पड़ने वाले प्रभाव की दृष्टि से करुण-रस-सम्बद्ध दाम्पत्य विरह-वर्णन पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण विप्रलंभ से संबंद्ध विरह वर्णनों की अपेक्षा अधिक मर्मस्पर्शी तथा हृदय-विदारक होते हैं।

सामान्य प्रेम-विरह :—

दाम्पत्य प्रेम से ही आवद्ध रहने की प्रवृति सभी मनुष्यों में नहीं होती। स्वभाव से ही मनुष्य का मन बड़ा चंचल होता है। सेक्स के सम्बन्ध में तो उसकी चंचलता बहुत ही अधिक होती है। उसके जीवन के सारे कार्य भले ही सेक्स मात्र के कारण न होते हों, पर ज्ञात-अज्ञात स्थिति में अधिकांश जीवन तो उससे प्रभावित रहता ही है। विवाह के पूर्व मनुष्य की सेक्स-भावना बहुत ही उद्दाम रहती है। यदि यह भावना गंभीर हुई और प्रिय या प्रिया के प्रति भावी दाम्पत्य-भाव से सम्पन्न हुई तो प्रेम पूर्वराग कहलाता है। पूर्वराग दाम्पत्य प्रेम का एक अंग है। पर इधर पाश्चात्य प्रभाव के कारण यह प्रश्न उठाया जाने लगा है, 'क्या यह आवश्यक है कि एक पुरुष एक ही स्त्री से अथवा एक स्त्री एक ही पुरुष से अपने को बांधे रहे ? फ्रायडीय मनो-विज्ञान की दृष्टि से और...

> चंचल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलबद्दृढम् ।
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।[2]

की दृष्टि से यह अमनोवैज्ञानिक और अस्वाभाविक है। मुक्त भोगवाद ही जीवन का सहज नियम है " हिन्दी में इस विषय पर साधारण स्तर का थोड़ा-सा साहित्य मिलता है। हिंदी की कोई बड़ी कवयित्री या बड़ा कवि अभी तक इस मैदान में नहीं उतरा। पर सिद्धों के सिद्धान्तों के कायल तथा फ्रायड के कतिपय भक्त इधर बड़े समारोह के साथ बढ़ रहे हैं, यद्यपि अभी साहित्य में वे कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं बना पाये।

---

१. वासवदत्ता वास्तव में मरी नहीं थी। पर उदयन के लिए वह मर गई थी। अतः उक्त वर्णन को करुण रस से सम्बन्धित विरह में स्थान देना ही समीचीन है। 'तापसवत्स-राजचरितम् नामक नाटक का ऐसा विलाप भी करुण रसान्तर्गत माना गया है। उदयन का स्थायी-भाव इन विलापों में शोक है, रति नहीं।

२. श्रीमद्भगवद्गीता (६।६४)

दाम्पत्येतर प्रेम के सम्बन्धित विरह में भी गंभीरता तथा व्यथा का उत्कृष्ट वर्णन हुआ है। अंग्रेजी में कीट्स और हिन्दी में घनानंद का प्रेम और विरह-व्यथा से सम्बन्धित काव्य बहुत मर्मस्पर्शी हैं। वास्तव में घनानंद तथा कीट्स का अपनी प्रेमिकाओं सुजान और फेनी ब्राउन के प्रति शुद्ध प्रेम था, तथा यदि वे अवसर देतीं, तो वह प्रेम का दाम्पत्य-रूप भी ग्रहण कर लेता। संसार के प्रमुख प्रेमाख्यानों में यही बात देखी गई हैं, भले ही उनमें से अनेक दाम्पत्य-रूप न ग्रहण कर सके हों। अतः जो प्रेम शुद्ध तथा गंभीर है, वह मोटे तौर पर दाम्पत्य प्रेम के रूप में न होने पर भी सामान्य नहीं कहा जा सकता। पर स्वच्छंद भोगवाद से संबंधित प्रेम चर्चा प्रेम नहीं, मानव की भग्न सेक्स-तुष्टि की भावना है। उसमें चाहे जितना अस्थायी जोश हो, वह सामान्य ही मानी जायेगी। स्वच्छंद भोगवाद 'आज एक, कल दूसरी' या 'आज एक, कल दूसरा' के सिद्धान्त पर आधारित है। उसकी पिपासा ऐसी होती है जो पीने पर तृप्त नहीं होती, बढ़ती है, उसकी भूख ऐसी होती है जो खाने पर सन्तुष्ट नहीं होती, बढ़ती है। ऐसी प्रवृति को प्रेम मानना ही गलत है। यह वासना है। वासना की तीव्रता में भी माशूक का अभाव खटकता है, पर उस खटकने में ज्वाला ही ज्वाला रहती है, उत्तेजना ही उत्तेजना रहती है, विश्वास का सन्तोष नहीं। ऐसे विरह-वर्णन बड़े अत्युक्तिपूर्ण होते हैं, क्योंकि वासना-पूर्ति की कामना में व्यवधान-दशा बड़ी ही प्रचण्ड होती है। माशूक सय्याद, जल्लाद, कातिल, हत्यारा, विश्वासघाती तथा क्रूर प्रतीत होता है, क्योंकि वह आशिक को वासना की अतृप्ति-ज्वाला में जलता रहा है। हमारी समझ में ऐसे विरह-वर्णन अधिकतर सच्चे विरह-वर्णन होते ही नहीं, क्योंकि इनमें न तो प्रिय के मिलन की अधिक आशा ही रहती है, न स्थायित्व ही। कई ऐसे कलाकार, कवि तथा प्रेमी जीव भी देखे गये हैं जो 'सीजनल लव' (एक ऋतु में एक प्रेम) करते हैं, या करने का प्रयास करते हैं। प्रत्येक प्रेम के प्रारम्भ में उबलते हुए पत्र, जलते हुए हृदय और अमर-प्रेम की शब्दावली रहती है, पर यह चार-छः महीने बाद समाप्त हो जाती है। यह तथाकथित प्रेम यूरोप से यहाँ आया है और सिनेमा के व्यापक क्रोड़ में पलकर छट भैये कवियों तथा कलाकारों में पनप-पनप कर समाप्त होता रहता है। हम इस प्रेम को प्रेम तथा इससे संबंधित विरह को विरह मानते ही नहीं। केवल उल्लेख के लिये उल्लेख कर दिया है। ऐसे विरह के उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उर्दू की अनेकानेक गजलों, शैरों, रीतिकाल कि अनेक कविताओं और कवि-सम्मेलनों के बाजार की गरमागरम तानों में वे भरे पड़े हैं।

प्रेम दाम्पत्येतर स्थिति में भी हो सकता है। पर ऐसा प्रेम अपरिवर्तनीय तथा समर्पणमय होता है। जिसकी शीतल ज्वाला निराश करने वाले प्रिय को भी अमर कर देती है। ऐसे प्रेम में वासना की पिपासा का दुर्दमनीय प्रवेग नहीं रहता, न प्रिय

के प्रति अपशब्दों की बौछार ही होती है। घनानंद, कीट्स, प्रसाद और पंत प्रभृति अनेक अमर कलाकारों की कला ऐसे प्रेम के स्पर्श से पुलकित हुई है। तथाकथित सामान्य प्रेम एवं तज्जन्य विरह के दर्शन दो रूपों में होते हैं। प्रथम में आलंबन नारी रहती है, दूसरे में कोई हसीन छोकरा या नवयुवक। यहां यह बात ध्यान देने की है कि इस तथाकथित प्रेम एवं विरह का संबंध अभी तक मुक्तक काव्य से ही रहा है, प्रबन्ध के क्षेत्र में नायक प्रायः महान होते हैं, अतः उधर यह प्रेम और विरह नहीं बढ़ सका। ऐसे प्रेम तथा विरह का मूल संबंध प्रायः इस प्रवृत्ति के कवियों से ही रहता है। अतः मुक्तक कविता में ही ऐसे वर्णन हुये हैं, या हो सकते हैं। नारी-संबंधित ऐसे प्रेम की चर्चा ऊपर हो चुकी है, हसीन छोकरों तथा नवयुवकों से संबंधित इस प्रकार के प्रेम और विरह की चर्चा अभी बाकी है।

फारसी-काव्य में प्रेम का क्षेत्र हसीन छोकरों तक फैला है। फारसी से यह प्रभाव उर्दू में आया और इतने जोर-शोर से आया कि मीर जैसे उच्च कोटि के कवि भी अत्तार के लौंडे से 'दवा लेते हैं। उर्दू के आबरू, जानजानां मजहर तथा तावां प्रभृति शायरों के नाम इश्क के इसी पहलू के कारण प्रसिद्ध हैं। शायद ही कोई पुराना शायर ऐसा हो, जिसने ऐसे इश्क से संबंधित रचनायें न लिखी हों। कोई-कोई खूबसूरत शायर तो एक साथ अनेक के माशूक तथा एकाध के आशिक रहे हैं। उर्दू के एक शायर ताबा बहुत खूबशूरत एक नवयुवक थे। शाह आलम के समकालीन थे। उन पर फिदा तो सारी दिल्ली थी, सौदा तथा मीर भी आशिकों में थे, पर जानजानां मजहर का स्थान इस क्षेत्र में प्रथम था। मुशायरों में जानजानां एकटक उनकी ओर घूरते रहते थे। तावां के आशिकों की संख्या बहुत अधिक थी, पर वे भी सुलेमान नामक एक लड़के के आशिक थे और दिन-रात शराब के नशे में बुत उसके वियोग में रोते तथा करवटें बदलते रहते थे। आजाद और हाली के युग से पूर्व ऐसी ही शायरी अधिक होती थी। आज भी उर्दू शायरी और शायर इस प्रवृत्ति से पूर्णतः मुक्त नहीं हैं।

उक्त काव्य में विरह के अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों की खिल्ली तो हिन्दी के बहुत से विद्वानों ने उड़ाई है, तथा आज भी उड़ाते हैं, पर इन वर्णनों के मूल पर किसी का ध्यान नहीं गया। उर्दू का काव्यगत विकास मुहम्मदशाह रंगीले के समकालीन शायर वली से प्रारंभ हुआ माना जाता है। वली उर्दू के आदि-कवि कहे जाते हैं। मुहम्मदशाह का समय राजनैतिक एवं सामाजिक दृष्टियों से पतन का समय था और तब तक बना रहा, जब तक आजाद और हाली ने काव्य में तथा सर सैयद अहमद खां ने समाज एवं राजनीति में नवयुग का सूत्र-पात नहीं किया। वली से लेकर दाग तक उर्दू के अधिकांश श्रेष्ठ शायर पतन के युग में जी रहे थे। युग के ऊपर वे नहीं उठ सके। परिणामतः पतनोन्मुख स्वरों का समावेश उनके काव्य में होना स्वाभाविक

है । पर विरह में आवश्यकता से अधिक हाहाकार तथा अत्युक्तियों का कारण कुछ और भी है । इसमें सन्देह नहीं कि उर्दू के ऐसे अत्युक्तिपूर्ण विरह-वर्णनों में भी यत्र-तत्र हृदय-दग्धकारिणी भावुकता विद्यमान है । हमारी समझ में उर्दू के विरह-वर्णनों में अत्युक्ति-प्रधानता का कारण तरुण-रति की भावना है । पुरुष किसी तरुण से रति-संबंध जोड़ने पर उससे नारी-सुलभ व्यवहार की अपेक्षा करने लगता है । तरुण अपने प्रेमी के प्रति कितना भी आस्थावान तथा नम्र क्यों न हो, आखिर नारी तो बन नहीं सकता । फलस्वरूप तरुण-प्रेमी का हृदय कभी सन्तुष्ट नहीं हो पाता । तरुण नारी की भांति अपने प्रेमी के पास सदा नहीं रह सकता, और रहे भी तो, उसका नारी-जैसा स्वभाव नहीं हो पाता । फलतः ऐसे प्रेमी के हृदय में हाहाकार बना ही रहता है । तावां का माशूक सुलेमान अपने आशिक के प्रति पूरी तरह से वफादार था । फिर भी तावां रो-रो कर गाते रहते थे,......

नहीं कोई दोस्त अपना यार अपना मेहरबां अपना ।
सुनाऊं किसको गम अपना अलम अपना क्यां अपना ।।
बहुत चाहा कि आवे यार या इस दिल को सब्र आवे ।
न यार आया न सब्र आया दिया जी में नदां अपना ।।
कफस में तड़पे हैं यह अन्दलीबां सख्त बेबस हैं ।
न गुलशन देख सकते हैं न यह सब आशियां अपना ।।
मुझे आता है रोना ऐसी तनहाई पए ताबां ।
न यार अपना न दिल अपना न तन अपना न जां अपनां ।।[1]

ताबां के हृदय में अपने माशूक के प्रति मुहब्बत अवश्य थी । उनकी कविताएं इसका सबूत हैं । वह उनकी आंखों में समाया रहता था,......

सुलेमां क्या हुआ गर तू नजर आता नहीं मुझको ।
मेरी आंखों की पुतली में तेरी तसबीर फिरती है ।।[2]

पर 'सुलेमां' नारी तो बन नहीं सकता था । पुरुष की वासना का समाधान प्रकृति पुरुष के द्वारा नहीं करा सकती, चाहे पुरुष-माशूक कितना ही अनुकूल क्यों न हो । उर्दू के शायरों के प्रेम तथा वियोग में जो तड़प और हाहाकार है, उसका यही कारण है । यह एक स्पष्ट तथ्य है कि तरुण-रति में आशिक और माशूक दोनों को अन्ततोगत्वा वेदना ही मिलती है । इस वेदना के दोनों पक्ष बड़े ही दयनीय होते हैं । इसी कारण अनेक देशों में तरुण-रति को दण्डनीय अपराध समझा जाता है । लेकिन इतना स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति एक व्यापक मानवीय दुर्बलता है । फारसी-उर्दू की ही

---

१. कविता-कौमुदी, चौथा भाग, पृष्ठ १५९-६० ।
२. कविता-कौमुदी, चौथा भाग, पृष्ठ १६१ ।

नहीं, हिंदी तथा अन्य भाषाओं की कविता में भी कहीं-कहीं इसकी गंध मिलती है। यूरोप के हार्डी तो अपनी ऐसी प्रवृत्तियों के लिए प्रसिद्ध ही हैं।

सुन्दर छोकरों या तरुणों के प्रति रति की भावना मनुष्य की सहज भावनाओं में है, जिसके दूषणों को मानव अत्यंत प्राचीन काल से ही समझता आ रहा है। सभ्यता के विकास के साथ ही यह प्रवृत्ति बहुत-कुछ दबती गई है। कुछ लोग कहते हैं कि यह सहज भावना है, इसे दबाना मानसिक आत्म-हत्या जैसी चीज है। उत्तर में निवेदन है कि यदि मानव सहज भावनाओं में बंधा रहता तो द्विपद पशु ही बना रह जाता और आज भी यदि वह सहज भावनाओं पर आंख मूँद कर चलने लगे तो पशु बन जायेगा। अनेक व्यक्ति इस रूप में देखे भी गए हैं। यही कारण है कि शारीरिक वासनाओं पर अधिक स्नेह रखने वाले पश्चिम ने भी इस रति-भावना को अनुचित माना है तथा अपने बड़े-बड़े कलाकारों को भी इस अपराध के कारण दण्डित किया है।

बालकों तथा तरुणों के प्रति रति के भाव उर्दू में फारसी से आये हैं। इस भाव के साहित्यिक मूल पर विचार करते हुए पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है,... 'एक विद्वान् का कथन है कि यह भाव फारस-वालों ने यूनान से लिया। वहां की कविता में भी नायिका नहीं है। पर वहां की कविता में माशूक के साथ आशिक की उस कुप्रवृत्ति का भाव भी नहीं है, जो फारसी और उर्दू की शायरी में है। अनुमान किया जाता है कि फारसी के शायरों ने यूनानी कविता का भाव पहले-पहल सूफियाने ढंग पर ग्रहण किया। पीछे वही बिगड़ते-बिगड़ते अश्लीलता की सीमा पर पहुंच गया, जिससे मुस्लिम-संसार में एक अप्राकृतिक प्रेम की नींव पड़ी।'[1] हमारी समझ में ये विवेचन तलस्पर्शी नहीं है। यूनानी काव्य-सृजन होमर से प्रारम्भ हुआ माना जा सकता है। होमर से पूर्व ही पश्चिमी एशिया के देशों में यह प्रवृत्ति बहुत व्यापक रूप में विद्यमान थी। बाइबिल के 'ओलड टेस्टामेन्ट' के प्रारम्भ में लूत से संबंधित आख्यान हमारे कथन को प्रमाणित करता है। लूत के नगर सदूम में पुरुष पुरुष से रति करते थे। ईश्वर ने इसे बुरा समझा। उन्होंने ऐसे पापी नगर को पूर्णतः नष्ट कर देने का निश्चय किया। फलस्वरूप एक दिन शाम को दो देवदूत सुन्दर मानवों के रूप में नगर-द्वार पर आये। लूत ने उनका रूप देखकर जान लिया कि यदि ये नगर-वासियों की नजर में पड़ गये तो वे इनकी दुर्दशा कर डालेंगे। इसलिए दयालु लूत उन्हें चुपचाप अपने घर पर ले गये। पर नगर वालों को पता चल गया। उन्होंने लूत का घर घेर लिया। अतिथि-सत्कार का धर्म पालन करने वाले लूत ने उनसे प्रार्थना की,......भाइयों, पुरुष होकर पुरुष से संभोग करते हो, यह बहुत बुरी

१. कविता-कौमुदी, चौथा भाग, पृष्ठ ५६-५७।

बात है । फिर ये दोनों तो अतिथि हैं । यदि तुम्हारी वासना बहुत तीव्र है तो मेरी दो तरुण कन्याएं हैं, जिन्होंने पुरुष को अभी तक न समझ पाया है । उन्हें ले जाओ और उनसे जो चाहो करो ।।" पर नगर-निवासी न माने और आक्रमण करना चाहा देवदूतों ने सबको अंधा कर दिया और लूत से नगर से कहीं दूर चले जाने का अनुरोध किया । लूत ने ऐसा ही किया । बाद में ईश्वर ने उस नगर को अग्नि-वर्षा द्वारा नष्ट कर दिया [1]। बाइबिल का यह अंश मूसा के युग से बहुत पूर्व के समय से संबंधित है । पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण से भी यह समय होमर से पूर्व का ठहरता है । अतः यह स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति यूनानी काव्य-रचना के प्रारंभ होने से पहले ही पश्चिमी एशिया में विद्यमान थी । इस्लाम का जन्म तो बहुत बाद में हुआ। हमारी समझ में उपर्युक्त कथा की कल्पना उपदेश देने वाले महात्माओं ने लोगों में व्याप्त इस दुष्प्रवृत्ति को मिटाने के लिए ही की होगी । स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है । सच तो यह है कि यह मानवीय दुर्बलता मानव के साथ ही उत्पन्न हुई है । पर सभ्यता ने जैसे अन्य अनेक मानवीय दुर्बलताओं को नष्ट या कम किया है, वैसे ही इसे भी ।

भारतीय काव्य-साधना में यह भाव नहीं प्राप्त होता । इसका कारण हमारी महान तथा आदर्श-प्रधान संस्कृति है, जिसने हजारों वर्ष पूर्व ही हमारे जीवन को मर्यादाओं से सुश्रृङ्खलित कर दिया था । फलस्वरूप मुसलमानी शासन में जब छोकरे भारी रकम देने पर मिलते थे, रति विक्रय में 'जर' की लम्बी मांग करते थे और जब सुन्दरियों की उपमा यूसुफ[2] के साथ दी जाती थी, तब भी हमारी काव्य साधना में ऐसे स्वर प्रवेश न पा सके । इधर बीसवीं सदी में रसखान, हार्डी, जानजाना, मजहर तथा मीर का नाम लेने वाले कुछ लेखक तथा कवि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इधर गये भी, पर समाज ने उन्हें आगे नहीं बढ़ने दिया । सौभाग्यवश हमारा साहित्य इस भाव से मुक्त है ।

अप्राकृतिक प्रेम से संबंधित विरह भी अस्वाभाविक प्रतीत होता है । उसमें पीड़ा तथा व्यथा के अत्युक्तिपूर्ण लगने वाले वर्णन होते हैं, जो लेखकों या कवियों, की दयनीय वेदना प्रकट करते हैं । भारतीय काव्य में ऐसे वर्णन उर्दू के आबरू, मजहर, तावां तथा मीर इत्यादि शायरों की गजलों और स्फुट शेरों में प्राप्त होते हैं ।

वात्सल्य-विरह :—

संस्कृत-साहित्य में वात्सल्य को स्वतंत्र रस का स्थान मुनीन्द्र, भोज, एवं

१. होली बाइबिल, ओल्ड टेस्टामेन्ट के प्रारम्भ में लूत के संबंधित अंश ।

२. श्री ब्रजरत्नदास-द्वारा अनूदित जहांगीरनामा, पृष्ठ ३ ।

विश्वनाथ प्रभृति कुछ आचार्यों को छोड़कर किसी ने नहीं प्रदान किया। आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य के आलम्बन, उद्दीपन एवं अनुभावों का उल्लेख किया है। संयोग वात्सल्य का उदाहरण भी दिया है। पर वियोग-वात्सल्य का उदाहरण नहीं दिया। ऐसा तो नहीं है कि समस्त संस्कृत-साहित्य में संयोग और वियोग-वात्सल्य के उदाहरण ही न मिल पायें,[1] पर इतना स्पष्ट है कि संस्कृत के कवियों का ध्यान वात्सल्य के रस-रूप पर अधिक नहीं गया। जो वर्णन उत्कृष्ट हो गये हैं, वे महाकवियों की सहज भावुकता के कारण ही हुए हैं, रस-दृष्टि से वर्णन-चेष्टा के कारण नहीं। भागवत में वात्सल्य-वर्णन बहुत उत्कृष्ट हुआ है, पर उसमें सूर का जैसा सहज रस तथा व्यापकत्व नहीं आ सका। तमिल काव्य की मीरां आण्डाल या गोदा के गुरू विष्णुचित दक्षिण के वैष्णव भक्तों (आलवारों) में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने कृष्ण की बाल-लील के अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन किये हैं। संयोग-वात्सल्य से संबंधित उनके पद संख्या में कम होने पर भी गुण की दृष्टि से सूर की जैसी उच्च कोटि की प्रतिभा से सम्पन्न हैं। सूर का क्षेत्र वियोग-वात्सल्य में भी व्यापक है। उनकी मौलिकता भी अद्वितीय है। अतः हिंदी को यह गौरव प्राप्त है कि उसके काव्य में सूर की वात्सल्य-क्षेत्र की अद्वितीय प्रतिभा के कारण यह रस सचमुच रस-दशा तक पहुँच सका है। सूर का वात्सल्य-वर्णन संसार-साहित्य में बेजोड़ है, भारतीय-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। वियोग-वात्सल्य का भी बड़ा ही हृदय-ग्राही वर्णन सूर ने किया है। कृष्ण के मथुरा जाते समय यसोदा की वेदना का अद्वितीय चित्रण सूर ने किया है; वात्सल्य रस के क्षेत्र में सूर के पश्चात् उनके सम-सामयिक महाकवि तुलसीदास भी बढ़े। तुलसी का वियोग-वात्सल्य भी उत्कृष्ट है, हालांकि सूर की तुलना में वह बहुत साधारण लगता है। राम के वियोग में दशरथ के उद्गार तथा उनके अन्त का जो वर्णन तुलसी ने किया है वह पुत्र - वियोग के वर्णनों में अनुपम है ;...

धरि धीरजु उठि बैठ भुवालू।
कहुँ सुमंत्र कहं राम कृपालू॥

---

१. कालिदास ने 'रघुवंशम्' के तृतीय सर्ग में (श्लोक २५-२६) राजा दिलीप के रघु के प्रति वात्सल्य भाव का वर्णन किया है। दो श्लोकों में सीमित होने पर भी यह वर्णन बहुत उच्च कोटि का है, तथा संयोग वात्सल्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। इनमें से पहला श्लोक आचार्य विश्वनाथ द्वारा उद्धृत किया है,...

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

कहां लखनु कहं राम सनेही ।
कहं प्रिय पुत्रबधू वैदेही ।।
बिलपत राउ विकल बहु भांती ।
भइ जुग सरिस सिराति नराती ।।
तापस अन्ध साप सुधि आई ।
कौसल्यहि सब कथा सुनाई ।।
भयहु विकल वरनत इतिहासा ।
राम रहित धिग जीवन आसा ।।
सो तनु राखि करब मैं काहा ।
जेहिं न प्रेम पनु मोर निबाहा ।।
हा रघुनन्दन प्रान पिरीते ।
तुम्ह बिनु जियत बहुत दिन बीते ।।
हा जानकी लखन हा रघुबर ।
हा पितु हित चित चातक जलधर ।[1]

थोड़े से शब्दों में दशरथ की विकलता तथा उनके अनुपम पुत्र-प्रम का चित्र-सा खड़ा कर दिया गया है । प्राण-त्याग का कारण प्राण-स्पर्शी तथा हृदय-वेधक है, ...'उस शरीर को रखकर मैं क्या करूंगा, जिसने मेरे प्रेम के प्रण का निर्वाह नहीं किया । राम से विरहित होकर यदि जीवन की आशा भी करूं, तो उस आशा को धिक्कार है ।'

आधुनिक युग में सूर के उत्तराधिकारी महाकवि हरिऔध के 'प्रिय-प्रवास' में वात्सल्य विरह का विस्तृत एवं मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है । नंद के मथुरा से अकेले लौटने पर यशोदा के द्वारा व्यक्त प्राणों की वीणा को झंकृत करने वाले उद्गार आधुनिक काल के ही नहीं, समूचे हिन्दी-साहित्य के रसमय वर्णनों में बहुत ऊंचा

(पिछले पृष्ठ का शेषांश)

तमंगमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्श रसज्ञतां ययौ ।।

राम-वन-गमन के वर्णन में बाल्मीकि ने कौशल्या तथा सुमित्रा की वेदना का चित्रण बहुत मर्मस्पर्शी तथा विशद किया है । दशरथ की पुत्र-वियोग-व्यथा का वर्णन भी उनके द्वारा बहुत हृदयग्राही हुआ है । संस्कृत के विपुल साहित्य में ऐसे कुछ और उदाहरण भी मिल सकते हैं ।

१. रामचरितमानस, अयोध्या-काण्ड, दशरथ-मरण ।

स्थान रखते हैं। हरिऔध खड़ीबोली के सूर हैं । वात्सल्य रस, विशेषतः वियोग-वात्सल्य के सरस वर्णनों में उनको जो सफलता प्राप्त हुई है, वह सूर के बाद हिंदी में अद्वितीय हैं । मैथिलीशरण जी ने भी वात्सल्य रस से संबंधित कविताएं लिखी हैं, पर हरिऔध के समान सफलता उन्हें इस क्षेत्र में नहीं मिल सकी । आधुनिक तुलसी को आधुनिक सूर के क्षेत्र में वैसी सफलता नहीं मिली तो आश्चर्य ही क्या है । सूर के क्षेत्र में तुलसी को ही वैसी सफलता कहाँ मिली थी ।

संक्षेप में हिंदी-काव्य में वात्सल्य रस का रसत्व असंदिग्ध ही नहीं, अत्यंत प्रौढ़ भी हो चुका है । सूर और हरिऔध का वात्सल्य-वर्णन, विशेषकर वियोग-वात्सल्य-वर्णन, अपने क्षेत्र में हिन्दी या भारतीय साहित्य ही नहीं, संसार-साहित्य में बेजोड़ हैं । विश्व के काव्य को 'रामचरितमानस' की भक्ति के साथ-साथ वात्सल्य की यह विभूति हिंदी की सबसे बड़ी देन है ।

गुरुजन-विरह :—

भारतीय संस्कृति में गुरु को बहुत महत्व प्रदान किया गया है । उसे ब्रह्मा विष्णु, महेश तथा अंततोगत्वा परब्रह्मा के समान भक्ति का पात्र बतलाया गया है । गुरु शब्द का अर्थ ही है...महान । व्यापक अर्थ में 'गुरुजन' शब्द के भीतर ज्ञान-दाता के साथ ही जन्म-दाता भी समाहित रहते हैं । यही नहीं, पूज्य तथा वयोवृद्ध व्यक्ति एवं संबंधी भी गुरुजन कहलाते हैं । माता तथा पिता के वियोग में हमारे कवियों की कल्पना-शक्ति और भाव-शक्ति प्रयुक्त नहीं हुई । सूर के कृष्ण और तुलसी के राम यशोदा, नन्द तथा दशरथ का स्मरण मात्र करके सन्तुष्ट हो गये हैं । गद्य में प्रेमचन्द के कुछ पात्रों में मातृ-विरह के मर्मस्पर्शी उद्‌गार प्राप्त होते हैं, पर पद्य में नहीं, अंग्रेजी के कवि वाल्टर स्काट ने मातृ-स्मृति में मनोहारी तथा मर्मस्पर्शी उद्‌गार प्रकट किये हैं । हिंदी में अभी ऐसा नहीं हुआ । जो हुआ है वह नाम-मात्र के लिये है, विशद उत्कृष्ट एवं मौलिक नहीं । ज्ञान-दाता गुरु की महिमा का मान तो हुआ है, पर भावमयी स्मृति के गीले गान नहीं हो सके । कबीर से लेकर मैथिलीशरण तक में गुरु के प्रति भक्ति की पवित्र भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है । कबीर ने 'गुरु को अंग' लिख कर विस्तार से गुरु-महिमा का गान किया है, सूर ने 'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो' कह कर गुरु के प्रति सम्पूर्ण आस्था तथा भक्ति प्रकट की है, गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'मानस' के प्रारंभ में ही 'गुरु-पद-रज मृदु मंजुल-अंजन' के प्रभाव का व्यापक वर्णन किया है एवं मैथिलीशरण ने 'महावीर' के महान 'प्रसाद' का गुण-गान सच्ची श्रद्धा के साथ किया है । किन्तु हिंदी-कवियों में अधिकांश में गुरु के वियोग में आंसू बहते नहीं दिखाये, करुणा नहीं व्यक्त की । यह विचित्र लगता है कि हम जिस गुरु के प्रति पिता के समान आदर-भाव तथा देवता के समान

भक्ति-भाव रखें, उसके वियोग में वाणी से फूट पड़ने वाले दुःख का अनुभव न करें, उसके निधन पर चार शब्द तक न कहें, यह कहा जाना भी बौद्धिकता व्यायाम मात्र है कि ज्ञान के दाता जिस गुरु की कृपा से विश्व के दुःख-जाल से मुक्ति प्राप्त होती है, उसके वियोग में रोना उसके द्वारा प्रदत्त ज्ञान का असम्मान मा करना है। जब पिता के वियोग में हम रोते हैं, विकल होते हैं, ईश्वर के वियोग में आंसू बहाते हैं, तब गुरु के वियोग में ऐसा हो सकता है। एकाध ऐसी श्रेष्ठ कविताएं मिलती भी हैं। उदाहरणार्थ 'सनेही' जी की "हा द्विवेदी जी" शीर्षक करुण-रस की उत्कृष्ट कविता में कवि ने अपने महान गुरु के प्रति भाव-पूर्ण श्रद्धांजलि एवं उनकी स्मृति में विगलित-हृदयोद्गार प्रकट किये हैं। [1] भक्ति-काल के प्रसिद्ध कवि हरिराम व्यास ने अपने गुरु हित-हरिवंश जी के चिर-वियोग पर मर्मस्पर्शी शब्दों में अपनी आत्म-व्यथा प्रकट की थी,......

> हुतो रस रसिकन को आधार।
> बिन हरिबंसहिं सरस रीति को कापै चलि है भार॥
> को राधा दुलरावै गावै वचन सुनावै चार।
> वृंदावन की सहज माधुरी कहि है कौन उदार॥
> पद रचना अब कापै ह्वै है, निरस भयो संसार।
> बड़ो अभाग अनन्य सभा को उठिगो ठाट सिंगार॥
> जिन बिन दिन छिन जुग सम बीतत सहज रूप आगार।
> व्यास एक कुल कुमुद चंद बिनु उडुगन जूठी थार। [2]

पर ऐसी श्रेष्ठ रचनाएं एक तो बहुत ही कम मिलती हैं, दूसरे छोटी-छोटी भी हैं। विशदता का अभाव है। उर्दू के विख्यात कवि हाली की पवित्र आत्मा से अपने गुरु महाकवि गालिब के निधन पर जो करुण उद्गार प्रकट हुये हैं, वे अपने ढंग के अद्वितीय तथा सर्वोच्च-कोटि के महान् उद्गार हैं, और यह स्पष्ट करते हैं कि गुरु के वियोग अथवा चिर-वियोग की व्यथा तथा विकलता बहुत व्यापक, गंभीर और महान होती है। हाली का 'यादगारे गालिब' अपने ढंग की एक ही पुस्तक है। 'यादगारे गालिब' उर्दू साहित्य का 'इन मेमोरियम' है, जिसकी मर्म-भेदक करुणा किसी भी साहित्य की अमर सम्पत्ति बन सकती है। कुछ ही पंक्तियाँ पढ़ कर उक्त महान कृति की महिमा का परिचय प्राप्त हो जाता है,......

---

१. 'करुणा-कादम्बिनी, में उक्त कविता।

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १७५।

बुलबुले हिन्द मर गया हैहात ।
जिसकी थी बात बात में एक बात ।।
नुक्तादां नुक्ता संज नुक्ता शनास ।
पाकदिल पाकजात पाक सिफात ।।
लाख मजमून और उसका एक ठठोल ।
सौ तकल्लुफ और उसकी सीधी बात ।।
एक रोशन दिमाग था, न रहा ।
शहर में एक चिराग था, न रहा ।।
नवदे मानी का गंजदां न रहा ।
खाने मजमूं का मेजवां न रहा ।।
कोई वैसा नजर नहीं आता ।
वह जमीं और वह आस्म न रहा ।।
साथ उसके गयी बहारे सखुन ।
अब कुछ अंदेश ए खिजां न रहा ।।।
क्या हैं जिसमें वह मर्दे कार न था ।
इक जमाना कि साजयार न था ।।
शाइरी का किया हक उसने अदा ।
पर कोई उसका हक गुजार न था ।।
खाकसारों से खाकसारी थी ।
सरबुलन्दों से इन्किसार न था ।।
बे रियाई थी जुहद के वदले ।
जुहद उसका अगर शआर न था ।।
ऐसे पैदा कहां हैं मस्तो खराब ।
हमने माना कि होशियार न था ।।
हिन्द में नाम पायगा अब कौन ।
सिक्का अपना बिठायगा अब कौन ।।
उसने सबको भुला दिया दिल से ।
उसको दिल से भुलायगा अब कौन ।।
उससे मिलने को यां हम आते थे ।
जाके दिल्ली से आयगा अब कौन ।।
था बिसाते सुखन में शातिर एक ।
हमको चालें बतायेगा अब कौन ।।

शेर ये नातमाम हैं हाली।
गजल उसकी बनायगा अब कौन ।।
किसको जाकर सुनायें शेरो गजल।
किससे दादें सखुनवरी पायें ।।
पस्त मजमूं है नोह ए उस्ताद।
किस तरह आस्मां पै पहुँचायें ।।
अब न दुनिया में आयेंगे ये लोग।
कहीं ढूंढ़े न पायेंगे ये लोग ।।
उठ गया था जो मायेदारे सखुन।
किसको ठहरायें मायेदारे सखुन ।।
मजहरे शान हुस्ने फितरत था।
मानिये लफ्ज आदमीयत था ।।[१]

हाली के उपर्युक्त उद्‌गार उर्दू के सर्वश्रेष्ठ महाकविगालिब की पूरी महानता का भावनामय चित्र उतार कर रख देते हैं। हिन्दी में ऐसा कोई विशद रचना नहीं प्राप्त होती। कुछ कवियों ने सामयिक तथा छोटे आकार की कवितायें अवश्य लिखीं हैं। भारतेन्दु, आचार्य द्विवेदी तथा अन्य साहित्य-महारथियों पर कुछ ऐसी रचनाएं इधर-उधर बिखरी मिलती हैं। पर स्थायी लोकप्रियता तथा विशद महत्व की दृष्टि से 'यादगारे-गालिब के स्तर की रचना अभी होने को है, है नहीं।

गुरुजन-विरह का एक व्यापक भाव हम उसे भी कहते हैं, जब किसी राष्ट्रीय-प्रेरक महामानव को निर्वासन का दण्ड दिया जाने पर कृतज्ञ राष्ट्र उसके प्रति विरह की व्यथा प्रकट करता है तथा आततायियों पर क्रोध व्यक्त करता है। देश या मानवता को सच्चे पथ पर लगाने वाले महापुरुष सच्चे गुरु होते हैं। उनके प्रवास, निर्वासन या चिर-वियोग पर प्रकट किये गये उद्‌गार भी वस्तुतः गुरुजन-विरह के अन्तर्गत ही जायेंगे।

हिन्दी-कविता इस क्षेत्र में पिछड़ी है लोकमान्य तिलक को कई वर्षों तक माण्डले की जेल में रहना पड़ा, लाजपतराय विदेशों में निर्वासित फिरते रहे, नेताजी अफगानिस्तान, रूस, जर्मनी और जापान इत्यादि में देश के लिये घोर श्रम करते रहे, पर हमारे कवियों ने इन विषयों पर कोई अमर-गान नहीं गाया। युग-गुरुओं, कला-गुरुओं तथा कवि-गुरुओं के देहान्त होते रहते हैं, पर हम अपनी स्मृतियों में परम्परा से आगे बढ़ कर सच्चे विशद एवं स्वतंत्र प्रेमोद्‌गारों को स्थान नहीं देते, केवल दिवंगत की प्रसंशा और अपना संमान दिखाकर शान्त हो जाते हैं। साहित्यकारों की

---

१. कविता-कौमुदी, चौथा भाग, पृष्ठ ४९०-९१।

मृत्यु पर तो शायद ही कोई कवि कलम उठाता हो। कलम तो नेताओं की मृत्यु पर उठती है, वह भी केवल उठ कर ही रह जाती है, आगे बढ़कर कोई विशेष नूतन प्रयोग नहीं कर पाती।

मित्र-विरह :—

मित्र जीवन का प्रकाश-दाता होता है। वह मनुष्य सचमुच अतीव भाग्यशाली है, जिसे कुछ, या एक भी सच्चा तथा पवित्र मित्र प्राप्त हो। जीवन में जब किसी को सचमुच मित्र प्राप्त हो जाता है, तो वह उसे कभी भूल सकता ही नहीं। सच्ची मित्रता और विस्मरण में कोई सम्बन्ध नहीं है। हिन्दी-कविता में मित्र-वियोग का सीमित, पर अच्छा, वर्णन हुआ है। अपने अभिन्न-हृदय आश्रय-दाता तथा सुहृद राजा शिवसिंह के निधन के पश्चात् कुछ स्थलों पर महाकवि विद्यापति ने उनकी थोड़ी-बहुत स्मृति की है, सूर के कृष्ण कभी-कभी अपने बाल-सखाओं की स्मृति कर लेते हैं, रत्नाकर के कृष्ण भी ऐसा करते हैं। मैथिलीशरण ने अपने जयशंकर 'प्रसाद' जैसे मित्रों के निधन पर कुछ मर्मस्पर्शी उद्‌गार प्रकट किये हैं। पर हिन्दी काव्य में मित्र-विरह का सर्वोत्तम विशद तथा प्राणस्पर्शी वर्णन महाकवि हरिऔध के 'प्रिय-प्रवास' में हुआ है- जिसमें श्रीदामा प्रभृति कृष्ण-मित्रों वेदना का वर्णन अत्यन्त उत्साहपूर्वक किया गया है। मित्र की 'स्मृति' के बड़े ही उत्कृष्ट भावना की मूर्ति हरिऔध ने बहुत स्वाभाविक शैली में खींचे हैं। हमारे काव्य के इन क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं। उनके अतिरिक्त जो वर्णन प्राप्त होते हैं उनके अधिकांश या तो 'यों ही' आ गये हैं या केवल 'वर्णन के लिये वर्णन हैं। कुछ मर्मस्पर्शी पंक्तियाँ कहीं मिल गयीं तो विशेष बात नहीं मानी जायेगी। कुछ पंक्तियाँ कितनी भी मार्मिक हों, आखिर रहेंगी तो कुछ पंक्तियां ही।

इस क्षेत्र में बहुत विशद तथा महान प्रयास अंग्रेजी महाकवि टेनीसन का 'इन मेमोरियम' नामक उत्कृष्ट काव्य है, जिसे कवि ने अपने अभिन्न मित्र आर्थर के चिर-वियोग में लिखा था। करुण रस के व्यापक प्रभाव की दृष्टि से टेनीसन की यह सर्व-श्रेष्ठ कृति संसार-साहित्य की श्रेष्ठ रचना है। मित्र की स्मृति के सभी पक्ष इस महान कृत में अत्यन्त गंभीर वेदना से संपृक्त होकर प्रकट हुए हैं। कवि मित्र-वियोग की करुण दशा में सारे संसार को दुःख से परिपूर्ण पाता है। श्रृंगार रस से सम्बन्धित विरह-वर्णन के क्षेत्र में जैसी महान सफलता हिन्दी के महाकवि जायसी को प्राप्त हुई है, करुणा रस से सम्बन्धित विरह-वर्णन के क्षेत्र में वैसी ही महान तथा व्यापकता सफलता महाकवि टेनीसन को मिली है। कालिदास का 'अज-विलाप' विस्तार में यदि अधिक होता तो 'इन मेमोरियम' के उसकी तुलना हो सकती थी। टेनीसन अंग्रेजी-साहित्य के श्रेष्ठ कवियों में अपना उच्च कोटि का स्थान रखते हैं और

इस स्थान को प्राप्त कराने का सर्वाधिक श्रेय उनके अमर काव्य 'इन मेमोरियम' को प्रदान किया जा सकता है, जिसका आदर उनकी ही नहीं, उनके युग की सर्वश्रेष्ठ रचना के रूप में हुआ था। अंग्रेजी के प्रसिद्ध महाकवि मिल्टन ने भी अपने छात्र जीवन के मित्र एडवर्ड किंग की 'जल- समाधि पर उसके चिर-वियोग में बहुत मर्म-स्पर्शी तथा लम्बी कविता लिखी है, जिसका अंग्रेजी-साहित्य में अमर स्थान बन चुका है। कविता का शीर्षक 'लिसीडस' है।

जन्मभूमि-विरह :—

जन्मभूमि के प्रति मानव की सहज श्रद्धा होती है। जिसकी रज में लौट-लोट कर मनुष्य बढ़ता है, जिसके शक्तिदायी तत्वों से अणु-अणु बढ़कर पूर्णता को प्राप्त करता है तथा जिसके दयामय अंचल में वह अबोध से सबोध होता है, उस मातृभूमि के प्रति उसका अपार अनुराग होना स्वाभाविक है। कैसा भी देश हो, जन्मभूमि के रूप में वह अनुपम प्रतीत होता है तथा ऐसा प्रतीत होना चाहिये भी। संसार के काव्य में जन्म-भूमि-प्रेम की असंख्य उत्कृष्ठ रचनाएँ प्राप्त होती हैं। भारतवर्ष प्रकृति, इतिहास एवं संस्कृति की दृष्टि से एक महान् राष्ट्र है। यहाँ के लोगों में सभ्यता के प्रारंभिक युगों से ही देश के प्रति गर्व तथा प्रेम की भावना विद्यमान रही है। ऋग्वेद में भूमि के प्रति संमान की भावना ही नहीं है, उसके प्रति कर्तव्य के उद्‌बोधन स्वर भी हैं। "उपसर्य मातरं भूमिम्" के तीन शब्दों में अपार शक्ति तथा पवित्रता सन्निहित है। भूमि को माता तथा अपने को उसका पुत्र समझने की पवित्र भावना का वर्णन संसार में सर्वप्रथम इस देश के वाङ्मय में ही हुआ था। वैदिक काल में ही जन्मभूमि के प्रति पवित्र श्रद्धा से भरे हुये आत्मा के महान स्वर हमारे पूर्वजों के सशक्त कण्ठ से फूट पड़े थे,....माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। भागवत तथा अन्य पुराणों में अनेकानेक स्थलों पर हमारे कवियों ने इस देवभूमि में जन्म लेने के गौरव का पावन गान किया है। 'विष्णु-पुराण' के इस श्लोक की भावना इस देश के कोटि-कोटि निवासियों के अन्तरतम की भावना है,—

गायंति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषा सुरत्वात्॥

इस देश की समृद्धिशाली प्रकृति एवं तज्जन्य सम्पन्नता का हर्ष कालान्तर में यहाँ की पवित्र भूमि में अवतीर्ण होने वाले महामानवों की ज्ञान-त्याग-दीप्ति से ज्योतिर्मय हो उठा तथा मनु के शब्दों में शाश्वत गौरव का स्वरूप ग्रहण करने लगा,—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः ।।

प्राचीन काल के भारतीय वाङमय में मातृभूमि के प्रति पवित्र श्रद्धा तथा उसमें उत्पन्न होने के गौरव का भाव प्रचुर परिमाण तथा उत्कृष्ठ गुण में प्राप्त होता है। कालिदास का काव्य विशाल भारत की महान राष्ट्रीयता का ज्वलंत प्रतीक है, उनका देश-प्रेम तथा राष्ट्रीय गौरव के स्वर किसी न किसी परिमाण में प्राप्त हो ही जाते हैं।

मध्य काल की भीषण परतंत्रता तथा प्रचण्ड प्रतारणा में जीवन की दयनीयता ने देश-प्रेम के स्वरों को बहुत कुछ दबा दिया। फिर भी तुलसी जैसे महान् राष्ट्र-कवि की वाणी में कहीं-कहीं जाने-अनजाने "भली भारत भूमि" जैसे एकाध स्वर प्रकट होते ही रहे। आधुनिक काल के राष्ट्रीय जागरण के युग में भारत का कवि भी जगा और उसने अपने देश-प्रेम के पावन तथा शक्तिशाली उद्घोषों से राष्ट्र की कोटि-कोटि प्रसुप्त जनता को जगाने की कर्तव्य-पूर्ति में भाग लेकर गौरव का अनुभव किया। असंख्य राष्ट्रीय कविताओं की रचना हुई। हमारे राष्ट्रीय कवियों में प्रमुख रवीन्द्रनाथ, इकबाल, भारती, वल्लतोल और मैथिलीशरण की पावन आत्माओं की प्रेरणा पाकर जो शक्तिशाली स्वर देश के अन्तरिक्ष में गुंजरित हुये हैं तथा हो रहे हैं, वे सरलतापूर्वक संसार के किसी भी राष्ट्र के देश-प्रेम के महानतम स्वरों में सर्वोच्च कोटि का गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकते हैं। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण, हरिऔध, प्रसाद, निराला, माखनलाल, सुभद्राकुमारी, नवीन, सोहनलाल तथा दिनकर के देशप्रेम तथा राष्ट्रीय गौरव के शत-शत गान हमारे साहित्य की स्थायी संपत्ति हैं तथा संसार की किसी भी भाषा की राष्ट्रीय तथा देश-प्रेम से संबंधित कविता की तुलना में गर्व पूर्वक खड़े किए जा सकते हैं।

आश्चर्य का विषय है कि देश-प्रेम तथा राष्ट्रीयता के शत-शत गानों से समृद्ध हिन्दी में मातृभूमि-विरह के वर्णन नहीं हुए। तिलक को निर्वासित कर कारागार में डाला गया था। माण्डले की जेल में उनके हृदय में मातृभूमि-विरह की व्यथा कितनी तीव्र रही होगी, इस पर किसी कवि की लेखनी नहीं चली। लाजपतराय, रासबिहारी सावरकर, महेन्द्रप्रताप, हरदयाल तथा सुभाषचन्द्र जैसे महान एवं वीर देश-भक्त जब विदेशों में रहने को विवश हुये थे, तब उनके अशान्त प्राणों में मातृ-भूमि-विरह का कितना हाहाकार मचा होगा। पर हमारे कवियों ने अब तक अपनी कल्पना के नेत्रों से उस हाहाकार को नहीं देखा। आश्चर्य है।

संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी मातृभूमि-विरह पर कोई विशेष काव्य-सृजन नहीं हुआ। देश की महिमा का गान तथा देश-प्रेम के गीत गाकर ही हमारे कवि सन्तुष्ठ हो गये। भारतीय संस्कृत के सूर्य मर्यादापुरुषतम भगवान राम जब सुदूर लंका में पड़े थे, तब उनके भावना-भरे अन्तरतल में अयोध्या तथा भारत की स्मृति कितने तीव्र रूप में आयी होगी, पर वाल्मीकि, कालिदास तथा तुलसीदास जैसे सर्वोच्च कोटि के विश्व-कवि भी दो-चार शब्दों में ही सीमित रह कर यत्र-तत्र अयोध्या-प्रेम की सूचना मात्र दे सके हैं। इस संबंध में एक श्लोक अवश्य प्रसिद्ध है, जिसमें मातृभूमि-गौरव के साथ मातृभूमि-विरह का भी समावेश है,—

इयं स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतीय व्यापारी समुद्र-मार्ग से दूर-दूर के देशों तक जाते थे। उन्हें वहाँ अधिक काल तक रहना भी पड़ता होगा। कितनों ही ने समुद्र के गर्भ में चिर-समाधि भी ली होगी। प्रवास के समय या चिर-समाधि लेने के समय उनके मन में मातृभूमि तथा स्वजनों के प्रति कैसी गम्भीर भावना उठती रही होगी, इस तरफ हमारे प्राचीन या अर्वाचीन कवियों का ध्यान नहीं गया। मैथिलीशरण के 'किसान' काव्य में ऐसी एक मामूली झांकी मिलती है। ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्मों के जो महान सांस्कृतिक दूत विदेशों में गये तथा रहे, उन्हें स्वदेश की स्मृति किसी न किसी रूप में अवश्य आयी होगी। पर इस तरफ हमारे प्राचीन या अर्वाचीन कवियों का ध्यान नहीं गया। राजकुमार महेन्द्र तथा राजकुमारी संघमित्रा जब जलयान पर बैठ कर लंका की ओर चले होंगे, तब स्वजनों के साथ उन्हें स्वदेश के प्रति भी कैसा अनुराग तथा विरह-भाव अनुभूत हुआ होगा और लंका में कर्तव्य-पूर्ति करते हुये भी उन्हें स्वदेश की कितनी पवित्र स्मृति आयी होगी, इस तरफ हमारे प्राचीन या अर्वाचीन कवियों की कल्पना नहीं मुड़ी। बंधे-बंधाये विषयों पर ही चिपक कर कविता करने से यही होता है, हो सकता है। इस युग में नवीनता के नाम पर जो इधर-उधर से 'टीपने की प्रवृति आ गई है, उससे भी इस समस्या का सभाधान होना सम्भव नहीं है। इसके समाधान के लिये गम्भीर अध्ययन तथा तलस्पर्शी मौलिक भावुकता की आवश्यकता है।

अँग्रेजी के अमर उपन्यासकार तथा कवि वाल्टर स्काट ने प्रवास-दशा में भी स्वदेश-स्मृति में लीन होकर आनन्द का अनुभव न करने वाले व्यक्ति को 'नीचे' कहते हुये जिस महान गीत की रचना की है, वैसा मौलिक गीत भारतीय

भाषाओं में शायद ही मिले। विलियम कापर ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'दि सालिच्यूड आफ एलेक्जेन्डर सेल्कर्क' में कविता के नायक के हृदय का स्वदेश से दूर निर्जन द्वीप में पहुंचने पर जो सहज उद्वेग प्रकट किया है, वैसा उद्वेग अभी भारतीय काव्य में प्रकट नहीं हो सका। शायद इसका कारण विदेश-यात्राओं के प्रति हमारी वह तिरष्कार-भावना है, जिसने सदियों तक हमें परतंत्र तथा कूप-मण्डूक बनाये रखा। पर अब तो हम यात्राएँ भी खूब करते हैं।

अंग्रेजी के एक अज्ञात कवि ने होमलैण्ड शीर्षक कविता में प्रवास-काल में अपने एकाकी विदेश-भ्रमण तथा देश की प्रेममयी मंगल-कामना का बड़ा ही आत्म-स्पर्शी वर्णन किया है। स्वदेश पहुँचने की एवं स्वदेश-कल्याण की ललक महान हृदय में अपनी द्वन्द्वमयी तथा विषम स्थिति में भी बनी रहती है, इसके उच्चतम कोटि के प्रेरणादायी भाव कवि ने अपनी कविता में प्रकट किये हैं। कविवर गोल्डस्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'दि ट्रेवेलर' में अपनी प्रवास-स्थिति का मनोहारी वर्णन किया है, जिसमें मातृभूमि-विरह का भी तलस्पर्शी समावेश है।

मातृभूमि-प्रेम से मिलता-जुलता और उसके ही अन्तर्गत आवास के प्रिय स्थल, नगर अथवा ग्राम का प्रेम है। मनुष्य जिस स्थान में रहता है, वह स्थान भी उसे बहुत प्रिय हो जाता है। उर्दू के सौदा, मीर तथा गालिब इत्यादि शायरों का दिल्ली-प्रेम प्रसिद्ध है। मीर ने लखनऊ के प्रवास-काल में दिल्ली की स्मृति में बहुत ही मर्मस्पर्शी शेर कहे हैं। नासिख का लखनऊ-प्रेम भी ऐसा ही है जो प्रयाग में ही लखनऊ के विरह में 'तीन तिरबेनी' और दो अपनी आंखों की अश्रु-सरिताओं के कारण पंजाब के दर्शन करता है। भक्ति-काल के कुछ भावुक भक्त-कवियों ने अपने निवास-स्थानों (जो प्रायः मथुरा जैसे प्रसिद्ध तीर्थ हुआ करते थे) के प्रति ऐसे प्रेम से सम्बन्धित कुछ कविताएँ लिखी हैं। हमारे आधुनिक कवियों में निराला और पंत का प्रयाग-प्रेम प्रसिद्ध है, प्रसाद का काशी-प्रेम प्रसिद्ध रहा है। पर स्थान के विरह पर वेदना के उद्गार इन कवियों ने नहीं प्रकट किये।

मातृभूमि विरह से संबंधित श्रेष्ठ तथा विशद कविताएँ हिन्दी में नहीं लिखीं गई। इस क्षेत्र में पाश्चात्य, विशेषतः अंग्रेजी. कविता बहुत अधिक सम्पन्न है। इसका कारण यूरोप, विशेषकर इंग्लैंड, के निवासियों का उत्कट राष्ट्र-प्रेम है। भारतवर्ष में राष्ट्र-प्रेम अपने व्यापक रूप में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही विकसित हुआ। अस्तु।

प्रियवस्तु-विरह :—

मनुष्य की भावना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। दीर्घकालीन सहवास तथा थोड़े काल के भी प्रभावशाली सम्पर्क से चेतना-सम्पन्न प्राणियों से तो उसका प्रेम

हो ही जाता है, जड़ वस्तुओं से भी उसका अटूट स्नेह सम्बन्ध जुड़ जाता है। अपने प्रिय पशुओं तथा पक्षियों के प्रति मनुष्य का प्रेम प्रसिद्ध है। उनके वियोग अथवा चिर-वियोग में उसका हृदय वेदना-विह्वल होते देखा जाता ही रहता है। अंग्रेजी-साहित्य में प्रिय कुत्तों, घोड़े, फाख्तों तथा अन्य जीव-जन्तुओं के प्रति वेदना के ऐसे अनेक सहज उद्गार सुन्दर कविताओं के रूप में मिलते हैं। पर हिन्दी-कविता में ऐसी कविताओं का अभाव ही है।

राजस्थानी, विशेषकर मेवाड़ी, काव्य में राणा प्रताप के हृदय का अपने अश्व चेतक के प्रति प्रेम तथा उसके अवसान के आकस्मिक आघात से उत्पन्न वेदना का सुन्दर चित्रण कुछ कवियों ने बड़ा मनोहारी किया है। श्री श्यामनारायण पाण्डेय ने भी अपनी 'हल्दी घाटी' में ऐसे कुछ शब्द लिखे हैं। पर वे चेतक की गौरव-गरिमा को देखते हुए अपर्याप्त हैं। अंग्रेजी में हमने केवल घोड़ों पर ही लिखे गये गीतों का एक सुन्दर तथा बड़ा संग्रह देखा है, जिसके सच्चे भावुक तथा अध्यवसायी सम्पादक ने अँग्रेजी के विपुल साहित्य के अश्व-गीतों को संकलित कर मनुष्य की पशु-जगत तक व्याप्त विराट् अनुभूतियों का एक पक्ष दिखलाने में बहुत सफलता पाई है।[1] अश्व-सम्बन्धी साहित्य भारत में भी मिलता है, भले ही वह कम हो।

कालिदास, वाण, तुलसीदास तथा सूदन इत्यादि कवियों की अश्व-सम्बन्धी रचनायें संकलित की जाने पर एक छोटा सा संग्रह बन सकता है। इस संबंध में संस्कृत-गद्य के सर्वश्रेष्ठ लेखक महाकवि वाण भट्ट का स्थान बहुत ही उत्कृष्ट है, जिन्होंने कादम्बरी में एक स्थल पर अश्व, चेष्टाओं का बहुत ही सजीव, सहज तथा अद्वितीय वर्णन किया है। हिन्दी कवियों का ध्यान अभी इस ओर नहीं गया। झांसी की रानी के हृदय में अपने अश्व के घायल होने अथवा राणाप्रताप के हृदय में अपने अश्व के अवसान पर कैसे भाव उत्पन्न होंगे। अभी इधर हमारे कवियों की कल्पना नहीं मुड़ी।

हमारा देश कृषि-प्रधान देश है। गाय और बैल हमारे राष्ट्रीय जीवन का आधार है। किसान का एक भी बैल जब मर जाता है, तब उसकी वेदना का वार-पार नहीं रहता। यदि बैल परिश्रमी तथा अच्छा हुआ, तो उसकी स्मृति जीवन भर आती रहती है, तथा उसके गुणों की चर्चा होती रहती है। गाय के दो-चार दिनों के लिये खो जाने की दशा में भी उसकी मानसिक-दशा दयनीय हो जाती है, मरने पर वह उसके गुण गान किया करता है, 'बिल्कुल कामधेनु थी, सीधी इतनी की बच्चे

१—हाफटन मिफिलिन कम्पनी, दि रिवर-साइड प्रेस, कैम्ब्रिज, द्वारा प्रकशित ग्रंथ सांग्स आफ़ हार्स। सम्पादक राबर्ट फादिघम।

थन में मुँह लगाकर दूध पी लें। जब चाहो दुहलो। खूब दूध पिलाया। यह रमुवां जो बटुवा जैसा रक्खा है, चुरा-चुरा कर उसका दूध पीने के कारण ही ऐसा है। हाय,हमें छोड़ कर चली गई। इत्यादि। हमारे पिता पेंतीस वर्ष पूर्व मरने वाली एक भैंस 'चांदी' की स्मृति में अब तक मर्मस्पर्शी करुणा व्यक्त करते रहते हैं। पर ऐसे हृदयग्राही प्रकरणों की ओर हमारे कवियों की दृष्टि नहीं गई।

नगरों में पाश्चात्य अनुकरण पर टामी, टाइगर तथा लायन इत्यादि घरों की शोभा बढ़ाते हैं। उनकी सेवा सुश्रुषा के लिये नौकरों पर रोज डांट-फटकार पड़ती रहती है। ऐसे अल्शेशियन तथा साधारण स्वानरत्नों में गुण भी होते हैं, जिनके कारण उनके स्वामी, विशेष कर स्वामिनियां, उन पर मुग्ध रहती हैं। ऐसा कोई श्वान-रत्न जब जीवन-लीला समाप्त करता है, तब स्वामी-स्वामिनी के हृदय में सचमुच गंभीर वेदना उत्पन्न होती है, स्मृति तो वर्षों तक बनी रहती है। देश-विदेश में ऐसे शोक को थोड़ा-बहुत स्थायित्व प्रदान करने वाले स्मारक भी मिलते हैं। कब्रें तो अनेक मिल जायेंगी। पर नये-नये विषयों पर कविता लिखने वाले कवियों ने भी इधर ध्यान नहीं दिया। जब मानवेतर चेतन वस्तुओं पर ही हिन्दी-कवि का ध्यान नहीं गया, तो जड़ वस्तुओं की चर्चा ही व्यर्थ है।

अँग्रेज के महाकवि कीट्स के पास एक फाख्ता पक्षी था। सच्चे भावुक तथा कवि कीट्स के हृदय में उस पक्षी के प्रति प्रेम-भाव था। फाख्ता उड़े नहीं, इसलिये बड़े प्रेम से कीट्स ने एक रेशमी तुकड़े से उसका पैर बांध दिया। इससे फाख्ता तो न उड़ सकी, पर उसका जीवन-पंछी सदा के लिए उड़ गया। कवि के कोमल हृदय पर इस घटना से गहरा आघात लगा, जो उसकी "माई डॉव" शीर्षक कविता में प्रकट हुआ है। पैर बांधने पर पश्चाताप प्रकट करने के साथ ही उसने मर्मस्पर्शी शब्दों में [illegible]नत पंछी के प्रति भाव प्रकट किया, मोहक छोटे से पैर? तुम निर्जीव क्यों हो गये? तुमने इस प्रिय पंछी को निर्जीव क्यों कर दिया? मेरे प्रिय पंछी, तुमने मुझे छोड़कर चिरप्रयाण क्यों कर दिया? क्यों कर दिया? तुम वन-तरु में एकाकी निवास करते थे; हे सुरम्य पंछी, तुम मेरे पास क्यों नहीं रहे, मुझे क्यों छोड़ गये? मैं प्रायः तुम्हें चूमता रहता था, तुम्हें सफेद मटर के दाने खिलाया करता था, फिर तुम वैसी ही प्रसन्नता से मेरे साथ क्यों नहीं रहे, जैसी प्रसन्नता से हरे-भरे वृक्ष में रहा करते थे? अँग्रेजी में ऐसी अनेक मर्मस्पर्शी कविताएँ मिल जायेंगी।

मनुष्य जीवन का विराट् तथा महान प्रेम-तत्व दांपत्य, वात्सल्य तथा भगवद्प्रेम में ही सीमित नहीं है। वह अन्य वस्तुओं-छोटी से छोटी तथा बड़ी से बड़ी वस्तुओं तक व्याप्त है। यही मानवानुभूतियों की विशदता उसकी करुणा को

उद्बुद्ध करती हैं, उसे भावुक बनाती हैं। प्रत्येक मनुष्य को जीवन में ऐसी भावुकता के अनुभव होते रहते हैं। हमारी कविता का ध्यान ऐसी दिशाओं में कम गया है, यह स्वीकार करना ही पड़ता है। हमारा काव्य अभी तक कुछ विषयों में ही बंधा हुआ है। कुल मिलाकर हमारे काव्य की महानता संस्कृति तथा इंग्लिश के काव्य (गद्य नहीं) से भले ही कम न हो, पर विषय-विस्तार की दृष्टि से कुछ सीमित है। यह हम इसलिये नहीं लिख रहे हैं कि हिन्दी में घोड़ों, गाय-बैलों, भैंसों या कुत्तों बिल्लियों से संबंधित विरह-वेदना को व्यक्त करने वाली कविताएँ नहीं हैं, व्यापक क्षेत्र को दृष्टि में रखकर कह रहे हैं।

प्रिय वस्तु के नष्ट होने, खो जाने अथवा समाप्त हो जाने की वेदना का थोड़ा-सा आभास हिन्दी में नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित्र' में तब मिलता है, जब द्वारिका से लौटने पर सुदामा अपने ग्राम को वैभवशाली नगर के रूप में देखते हैं। झोंपड़ी अपनी, बेचारी पंड़ाइन तथा अपनी "लामी लूमवारी दुखदारिद को दरनहारी गैया बनवारी" इत्यादि को न देख कर वे इन सबका स्मरण करते हुये अपार दुःख प्रकट करते हैं। कवि यदि ऐसे स्थल पर सहजानुभूति को ही प्रकट करता, तो स्थल बहुत मर्मस्पर्शी तथा उच्च कोटि का हो जाता, पर वह इस दृष्टि से असमर्थ रह गया है और ऐसे अवसर पर भी हास्य का पुट दे दिया है। भले ही ऐसा इस कारण से किया गया हो--"सुदामा पर कृष्ण की कृपा हो चुकी है, अब दुःख की क्या आवश्यकता ?---पर कृष्ण-कृपा से अपरिचित सुदामा के हृदय पर यह भाव न लादा जाता तो अच्छा होता। एक छन्द देखिये—

फूटी एक थारी बिन टोटनी की झारी हुती,
बांस की पिटारी औ कंथारी हुती टाट की ।
बेंटे बिन छूरी औ कमंडलु सौ टूक वही,
फटो हुतो पावौ पाटी टूटी एक खाट की ।
पथरोटा, काठ को कठौता कहूँ दीसैं नाहिं,
पीतर को लोटो हो कटोरी हो न बाटकी ।
कामरी फटी सी हुती, डोंडन की माला ताक,
गोमती की माटी की न सुधि कहूँ माटकी ।। १

सेवकादि-विरह :—

प्रत्येक जीवन में कुछ व्यक्ति ऐसे आते हैं जिनकी स्मृति सदा चित्त को रहती है। सम्पन्नों के जीवन में ऐसे कुछ सेवक अवश्य आते हैं, जिनकी सेवाओं तथा व्यक्तित्व की स्मृति उनके अन्यत्र चले जाने या दिवंगत हो जाने पर भी जाती रहती

१—सुदामा-चरित्र (६१)।

है। सामान्य सेवाएँ करने वाले मनुष्यों के हृदय में भी सहज तथा उच्च मानवीय गुण विद्यमान रहते हैं। निरक्षर तथा साधारण स्तर के मनुष्य विद्वानों तथा असाधारण स्तर के मनुष्यों से कहीं अधिक भावुक होते हैं। इसका कारण उनका अति-बौद्धिक न होना है। भावनामय तथा निष्ठावान सेवक को मनुष्य कभी नहीं भुलाता। हमने अनेक व्यक्तियों को अपने सेवकों की स्मृति में हृदयग्राही वेदना प्रकट करते हुए देखा है। पर हमारी कविता में ऐसे उद्‌गार को स्थान नहीं मिला। तुलसी के राम हनुमान तथा अन्य बानर-सेवकों की बारंबार प्रशंसा करते हैं, पर अयोध्या पहुँचने पर राज-काज में ऐसा फँस जाते हैं कि उनका स्मरण तक कभी नहीं करते, विभिन्न देवताओं, ऋषियों तथा वेदों तथा इत्यादि की स्तुतियां ही सुनते रहते हैं। मुक्तक कविताएँ लिखने वाले किसी कवि ने अपने किसी सेवक की स्मृति में आँसू बहाना तो दूर, चार शब्द भी नहीं कहे। अँगरेजी कविता में ऐसे कुछ उद्‌गार मर्मस्पर्शी रूप में प्रकट किए गए हैं। जब तक ईश्वर के न्याय-सिंहासन के निकट धरती और आकाश स्थिर हैं, जब तक पूर्व और पश्चिम मिल नहीं सकते, समान नहीं हो सकते, क्योंकि पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम है। ये दोनों कभी नहीं मिलेंगे।[१] यह प्रसद्धि साम्राज्यवादी गर्व-गीत गाने वाले कवि रडयार्ड किपलिंग ने उच्चरित्र भिस्ती गंगा-दीन का स्मरण बड़े हृदय-ग्राही तथा रोचक ढंग से किया है। किपलिंग ने पूर्व पश्चिम की विषमता के गीत भले ही गाये हों, पर भारत में जन्म लेने तथा अनेक वर्ष यहाँ रहने के कारण यहाँ से संबंधित अनेक सुन्दर कविताएँ भी लिख गए हैं। गंगादीन' शीर्षक कविता में कवि ने गंगादीन की कार्यक्षमता, लगन सिधाई तथा सरलता का बहुत सुन्दर वर्णन किया है और अन्त में उसके भावुक अन्तःकरण ने स्वीकार किया है, "गंगादीन तुम मुझसे अधिक अच्छे मनुष्य थे"।[२] हिन्दी कवियों ने ऐसी कवितायें नहीं लिखीं।

सेवकादि-विरह का विलोम स्वामी-विरह है। मनुष्य अपने अच्छे स्वभाव वाले स्वामियों का स्मरण भी बहुत सम्मान-पूर्वक करता है। पर स्वामी सज्जन होने के लिए विवश नहीं होते, अतः सचमुच सज्जन कहे जाने की स्थिति बहुत कम ही आने देते हैं। सेवा-काल की प्रशंसा भले ही हो जाये प्रेम-प्रसूत स्मृति की विभूति, बहुत कम स्वामी प्राप्त कर पाते हैं। हिन्दी में स्वामी-स्वामिनी के प्रति विरह की भावना पर भी रचनाएँ नहीं हुईं।

१—The Barrack-Room Ballads and other Verses ग्रंथ की प्रसिद्ध कविता।

२—You're a better man then I am, Gunga Din !

बन्धु-विरह—

जीवन में भाई और भाई का प्रेम एक अमूल्य तथा अद्वितीय तत्त्व है। हिंदी में बंधु-विरह का वर्णन सीमित होने पर भी कई रूपों में तथा उत्कृष्ट कोटि का मिलता है। राम के प्रवास के कारण भरत की व्यथा का भाव तुलसीकृत 'मानस' में बहुत प्रभावशाली हुआ है। तुलसी तथा केशवदास ने लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का विलाप लिखा है। उसमें भावी तथा संभावित चिर-विरह की करुणा का बहुत ही हृदयग्राही स्पर्श है। आधुनिक कवियों में मैथिलीशरण के 'साकेत' में बंधु-विरह का सुन्दर वर्णन हुआ है। यद्यपि व्यापकता तथा विशदता से युक्त विस्तृत बंधु-विरह-वर्णन हिन्दी में अधिक नहीं हुए, तथापि उक्त स्थलों की ऊपर मर्मस्पर्शिता असाधारण रूप से प्रभावशालिनी है। हिन्दी के बंधु-विरह-वर्णन राम-काव्य में ही हुए हैं। लक्ष्मण-शक्ति-प्रसंग में कौनसा रस है, यह निर्णय करना सरल नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि इस विलाप में करुणा का परिमाण बहुत अधिक है। भरत के बंधु-विरह-वर्णन के अतिरिक्त बंधु-प्रवास पर विरह के वर्णन हिन्दी में नहीं मिलते। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपने काव्य 'ट्रेवेलर' के प्रारम्भ में अपने भ्राता हेनरी से वियुक्त होने के कारण वेदना प्रकट करते हुए बहुत भावपूर्वक उसका स्मरण किया है। प्रवास-स्थित बंधु की विरह-वेदना की दृष्टि से गोल्डस्मिथ का उक्त वर्णन संक्षिप्त होने पर भी उत्तम है। हिन्दी-काव्य में भरत के राम-विरह से संबन्धित वर्णन अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। उनकी पवित्रता, सौम्यता तथा गंभीरता अतुलनीय है।

ईश्वर-विरह—

आत्मा तथा परमात्मा एवं विराट् जगत में प्रकृति तथा पुरुष के व्यापक, उदात्त, शाश्वत तथा पवित्र संबधों का भावमय गान काव्य में रहस्यवाद कहलाता यह शब्द नया है, पर रहस्य-भावना एक चिरन्तन मानवीय भावना है। हिन्दी का रहस्यवादी काव्य संसार के किसी भी साहित्य के रहस्यवादी काव्य से समता कर सकता है। यों तो कुछ विद्वानों ने विद्यापति की पदावली में भी रहस्य दर्शन किए हैं और ऐसा करना असंभव भी नहीं है, क्योंकि तब विद्वानों के तर्कतथा विवेचन की कृपा से 'गीत-गोविन्द', 'अभिज्ञान शाकुंतल एवं 'मेघदूत' प्रभृति अनेकानेक रचनाओं में रहस्य-दर्शन होने लगा है, पर रहस्यवादी कविता का विवाद-हीन रूप सर्वस्वीकृत सृजन हिन्दी में कबीरदास से माना जाता है। कबीर हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। आधुनिक भारत की रहस्यवादी कविता पर पाश्चात्य प्रभाव के साथ ही कबीर का प्रभाव भी पड़ा है। रवीन्द्र आधुनिक भारतीय रहस्य-वाद के प्रमुख तथा प्रेरक स्रष्टा थे और रवीन्द्र के रहस्यवाद का प्रेरक तत्व कबीर तथा हिन्दी के अन्य संत कवियों का महान् काव्य रहा है। यह अवश्य सत्य है कि

रवीन्द्र ने गीतों के तत्व-प्रधान रहस्यवाद में अनूठी कल्पना तथा काव्य-लालित्य का पुट देकर उसे नवीन रूप प्रदान कर दिया है । यह ठीक है कि सत्यानुभूति की रहस्यात्मक गहनता का जो तलस्पर्शी दर्शन कबीर में होता है, वह रवीन्द्र में नहीं होता, पर इसमें संदेह नहीं है कि काव्य-गुणों अथवा काल्पनिक विशदता एवं कोमलता रवीन्द्र में जैसी है, वैसी कबीर में नहीं है । इसका कारण स्पष्ट है, कबीर पहले महान रहस्यदर्शी संत थे, कवि बाद में, रवीन्द्र पहले महान प्रतिभा सम्पन्न कवि थे, रहस्यदर्शी द्रष्टा बाद में ।

कबीर के अतिरिक्त अन्य निर्गुणमार्गी संतों, विशेषतः दादू, प्रेममार्गी कवियों विशेषतः जायसी और "गिरधर-प्रेम-दिवानी" मीरा की रचनाओं में रहस्यवादी काव्य उत्कृष्ट रूप में प्राप्त होता है । आधुनिक, युग में प्रसाद निराला, पंत, महादेवी रामकुमार वर्मा तथा अन्य कवियों की रहस्यवादी रचनाएं भी हमारे काव्य की संपत्ति बन चुकी हैं । रहस्यवादी कविताओं को छाँट कर संकलित रूप में प्रस्तुत किये जाने पर स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दी रहस्यवाद शैली-शिल्प एवं अनुभूति-तत्व, दोनों दृष्टियों से बहुत ऊँचे स्तर का है ।

रहस्यवादी रचनाएँ संयोगात्मक भी हो सकती हैं, वियोगात्मक भी । जिन प्रेम-साधना या योग-साधना करने वाले भावुक हृदयों ने प्रत्यक्ष या कल्पना की आँखों से शाश्वत प्रियतम के दर्शन किए हैं, उन्होंने संयोगात्मक रहस्य-गान गाये भी हैं । कबीर तथा मीरा के काव्य में ऐसे अनेक गान गाये गये हैं । पर रहस्यवादी रचनाएँ अधिकांश रूप में बियोगात्मक ही हैं । ऐसा स्वाभाविक भी है, क्योंकि रहस्यमय का संयोग प्राप्त करना केवल कल्पना की बात नहीं है । उसके लिये बहुत उच्च तथा 'स्व'- रहित साधना अनिवार्य है । वियोगात्मक रहस्य-गान करने वाले स्रष्टाओं में दादू, जायसी, प्रसाद तथा महादेवी प्रमुख हैं । कबीर तथा मीरा ने भी ऐसे वियोग-गान गाये हैं, पर उनके वियोग को संयोग के दर्शन भी हुये थे, ऐसा स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । यों संयोग की चर्चा अन्यत्र भी हुई है, पर वह बहुत दबी हुई है या फिर मन उसकी वास्तविकता को स्वीकार नहीं करता ।

रहस्यवादी गीत दो रूपों में प्राप्त होते हैं । प्रथम में रहस्यमय का वर्णन स्पष्ट रूप में होता है, द्वितीय में प्रतीकों के द्वारा । कबीर तथा दादू में दोनों रूप दृष्टिगोचर होते हैं । मीरा ने रहस्यमय का स्पष्ट रूप ही चित्रित किया है । प्रसाद, निराला तथा महादेवी इत्यादि ने प्रतीक योजना का आधार ग्रहण किया है ।

संयोगात्मक तथा वियोगात्मक दोनों प्रकार का रहस्यवादी काव्य रचनाएं तीन प्रकार की मिलती हैं । प्रथम में अनुभव-साधना की प्रमुखता रहती है । यह अनुभव

साधना से संपुष्ट रहता है । कबीर,दादू तथा मीरा की रहस्यवेदना इसी प्रकार की है । ऐसी रचनाएँ अनुभव-व्यंजक रहस्यवादी रचनाएं कही जा सकती हैं । द्वितीय में त्याग, अध्ययन, तथा अध्यात्म-चिन्तन से पूर्ण जीवन की स्थिति में रहस्याभिव्यक्ति का रूप अनुभूति के एक सीमित तल तक प्रवेश पाने के कारण यथार्थ-वत् प्रतीत होने लगता है । रवीन्द्र तथा निराला की अर्चना, आराधना गीत-गुन्ज के रहस्यवादी गीत इसी प्रकार की रचनाएं हैं । ऐसी रचनाएँ सत्याभास-व्यंजक रहस्यवादी रचनाएं कही जा सकती हैं । तृतीय में रहस्यचिन्तन का आधार बुद्धि केन्द्रित रहता है । ऐसी रचनाओं में अनुभव को नहीं, कल्पना की प्रधानता रहती है । प्रसाद, पंत, महादेवी, रामकुमार इत्यादि के रहस्यवादी गान इसी प्रकार के हैं । निराला की अर्चना के पूर्व तक की रहस्यवादी रचनाएँ भी इसी प्रकार की हैं । ऐसी रचनाओं में भी कहीं-कहीं उच्च कोटि का रहस्याभास प्राप्त होता है । इन रचनाओं को कल्पनात्मक रहस्यवादी रचनाएं कहा जा सकता है ।

ईश्वर-विरह-संबंधी हिंदी-कविता में सच्ची विरहानुभूति तथा सहज वेदना के दर्शन कबीर, दादू, मीरा तथा यत्र-तत्र जायसी की कविताओं में प्राप्त होते हैं । आधुनिक कवियों के विशाल अध्ययन तथा महान कल्पना-शक्ति ने भी बड़े ही मनोहर रहस्य गीतों की सृष्टि की है । महादेवी के अधिकांश गीत रहस्ववादी गीत कहे जाते हैं । इनमें वेदना का बहुत ही व्यापक तथा मर्मस्पर्शी रूप दृष्टिगोचर होता है ।

संभाव्य-विरह—

चाहे जितना उल्लास एवं आशा से परिपूर्ण जीवन हो, विचारशील मस्तिष्क उसकी क्षणभंगुरता पर विचार करने लिये विवश हो ही जाता है, क्योंकि क्षणभंगुरता जीवन का एक सत्य है, और सत्य के प्रति उदासनी नहीं रहा जा सकता । कवि का द्रवणशील तथा चिन्तनशील मानस जीवन की क्षणभंगुरता पर अपेक्षाकृत अधिक विचार करता है । मिलन के समय भी वह यत्र-तत्र विरह का चिन्तन कर लेता है, क्योंकि जहाँ मिलन है वहाँ विरह का होना अनिवार्य है । कवियों ने ऐसे संभाव्य विरह के वर्णन भी किये हैं । मानव-हृदय विरोधाभासों का पुंज है । मिलन के अवसर पर भी भावी-विरहाशंका में वह तीव्र वेदना का अनुभव करता है, तथा कल्पना की आखों से भविष्य को देखकर अपनी व्यथा और वेदना के चित्र खींचने लगता है । हृदय की शुद्ध विरह-दशा की स्थित में न होने पर भी यह वर्णन प्रभावशाली होते हैं । ऐसे वर्णन दो रूपों में प्राप्त होते हैं । प्रथम में दार्शनिक चिन्नन के आधार पर विश्व की क्षण-भंगुरता के प्रकाश में मिलन का अस्थायित्व वर्णित रहता है । ऐसे वर्णन भी दो प्रकार के मिलते हैं । एक में मिलन के प्रति अनावस्था-सी व्यक्त की जाती है, क्योंकि विरह अवश्यंभावी है । मिलन के बाद का विरह अत्यंत

दुख:दायी होता है, इसलिए प्रेम एवं मिलन के प्रति भय प्रकट किया जाता है। पाश्चात्य साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकवि तथा नाट्यकार शैक्सपियर ने 'समय तथा प्रेम' शीर्षक अपनी विख्यात चतुर्दशपदियों (सानेट्स) में ऐसे उद्गार बहुत गम्भीर रूप में प्रकट किये हैं। शैक्सपियर के सानेट्स यों ही अपनी गंभीर अनुभूति, प्रशस्त दर्शन तथा महान अभिव्यक्ति के लिये प्रसिद्ध हैं, उनमें भी उक्त सानेट्स एक विशेष महत्व रखते हैं। दूसरे प्रकार के वर्णनों में भावी-विरह का उल्लेख या संक्षिप्त वर्णन करके मिलन-सुख को अधिक प्राप्त करने का आग्रह रहता है। जब एक दिन वियोग होता ही है, तो आओ मिल लें हंस लें, मस्त हो लें, फारसी के अमर कवि उमर ख्य्याम की अनेक रुबाइयों में ऐसे वर्णन हुए हैं। हिंदी में भगवतीचरण वर्मा की कुछ कविताओं में ऐसे वर्णन प्राप्त होते हैं। वास्तव में ऐसे वर्णन शुद्ध विरह-वर्णन के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। उनमें केवल विरहाभाम रहता है।

संभाव्य-विरह-वर्णन का दूसरा रूप परिस्थितिजन्य भावी-विरह से संबंधित रहता है। संयोग-दशा में यदि यह ज्ञात हो जाता है कि एक निश्चित अवधि के बाद वियोग होने को है तो हृदय की दशा विचित्र रहती है। लोकगीतों में ऐसे अनेक उत्कृष्ट एवं अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन हुये हैं। हिन्दी के कवि नरेन्द्र शर्मा के प्रवासी के गीत, नामक कविता संग्रह में इस प्रकार की कुछ अत्यन्त सुन्दर रचनाएँ प्राप्त होती हैं। हालांकि अधिकतर 'आज' शब्द का बाहुल्य उन्हें आसन्न-विरह के अन्तर्गत कर देता है। लोकगीतो में कुछ समय बाद परदेश जाने वाले प्रियतम से किये गये हृदयग्राही निवेदन इस क्षेत्र में अपना विशेष महत्व रखते हैं।

सभी प्रकार के संभाव्य-विरह-वर्णनों में हृदयग्राही व्यथा-वेदना का गहरा स्पर्श रहता है। मर्मस्पर्शिता की दृष्टि से ऐसे वर्णन प्राय: उच्चतर कोटि के हैं।

आसन्न-विरह:—

प्रिय का गमन जब बहुत निकट आ जाता है, तब जो वेदना होती है, वह प्रिय के प्रवास में स्थित होने वाली वेदना से भी अधिक तीव्र होती है। प्रवास की स्थित में स्थूल प्रिय-दर्शन संभव नहीं होते, एक विवशता रहती है। आसन्न विरह की वेदना में 'प्रिय अभी दृष्टिगोचर हो रहा है, पर आज ही अथवा कल, परसों, नरसों या निकट-भविष्य में अमुक दिन प्रस्थान कर देगा' की परिस्थिति रहती है, जो बहुत तीव्र व्यथा प्रदान करती है। ऋग्वेद के दशम मंडल के अष्टम में पुरुखा और ऊर्वशी के संवाद में पुरुखा के उद्गार आसन्न-विरह से ही संवद्ध हैं। आसन्न-विरह का सबसे विगलित पक्ष है। विरह आसन्न-विरह का पुत्र है। ऋग्वेद का वर्णन इसका प्रतीक है। इस व्यथा के अनेक स्वाभाविक एवं अस्वाभाविक, मार्मिक

एवं आलंकारिक, हृदयग्राही एवं हास्य हास्यास्पद सभी प्रकार के वर्णन संस्कृत तथा हिंदी में प्राप्त होते हैं। आलंकारिक शैली के उपासक तथा चमत्कार प्रेमी ऐसे हृदय-द्रावक प्रकरणों में भी अपने अनुकूल कल्पना कर ही लेते हैं। संस्कृत के अनेक श्लोकों में ऐसा ही हुआ है। एक उदाहरण लीजिये। पति परदेश जा रहा है, पत्नी आसन्न-विरह से दग्ध, किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ी है। इतने में ही सास जाते हुए पुत्र के भाल पर रोचना लगाने के लिए अक्षत माँगती है। बेचारी पत्नी पर कैसा अत्याचार है ? उसी के द्वारा दिए गये अक्षत उसके प्रिय को तुरंत ही प्रस्थित करायेंगे। पर क्या करे ? भाण्डार में जाकर थोड़े से चावल लेती है। शरीर में विरहोष्मा पहले से ही विद्यमान थी, प्रस्थान-क्षण की समीपता तथा श्वश्रा के हृदय-हीन आदेश ने स्वेद-संचार भी कर दिया। इस स्थिति में चावल के कण हथेली पर धरते ही पक गये। कहना होगा कि ऐसी रचनाओं का अंत हास्याभास में होता है, अतः शुद्ध विरह की दृष्टि से इनका कोई मूल्य नहीं है। हिन्दी में ऐसी कविताएँ बहुत कम हुई हैं। पर इससे मिलती-जुलती कुछ रचनाएं रीतिकाल के काव्य में मिल जायेंगी।

आसन्न-विरह का बहुत ही उच्चकोटि का वर्णन हमारे काव्य में हुआ है। राम बन-गमन की सूचना पाने के समय से लेकर राम के वन चले जाने तक की अयोध्या-वासियों, विशेषकर दशरथ, कौशल्या एवं सुमित्रा की तलस्पर्शी वेदना का बड़ा ही व्यापक चित्र बाल्मीकि, तुलसीदास तथा मैथिलीशरण गुप्त ने खींचा है। इस वेदना में वात्सल्य तथा कर्तव्य का समन्वय होने के कारण अद्वितीय विशदता आ गई है। कण्वाश्रम से प्रस्थान करते समय शकुंतला के आसन्न-वियोग की वेदना का बहुत ही भव्य तथा हृदय-द्रावक चित्र महाकवि कालिदास के द्वारा चित्रित हुआ है, जिसका क्षेत्र शकुन्तला द्वारा पालित पशु-पक्षियों तक व्याप्त होने के कारण बहुत ही अधिक प्रभावशाली हो गया है। राम से वियुक्त होते समम सुमंत्र तथा रथ के अश्वों की व्यथा तथा चेष्टाओं का संक्षिप्त पर आत्मस्पर्शी वर्णन महाकवि तुलसीदास ने बड़ी स्वाभाविकता के साथ किया है। 'किरातार्जुनीय में महाकवि भारवि ने अर्जुन के हिमालय-प्रस्थान के अवसर पर द्रोपदी की दशा का बहुत ही प्रभावशाली तथा स्वाभाविक वर्णन किया है। पर आसन्न-विरह का सर्वोत्तम वर्णन करने वाले महाकवि सूरदास तथा हरिऔध हैं। 'सूरसागर' तथा प्रिय-प्रवासों में कृष्ण के मथुरा बुलाये जाने का समाचार सुनने के अवसर से लेकर उनके मथुरा जाने के अवसर तक समस्त ब्रजवासी नर-नारियों, वृद्धों- वृद्धाओं, युवकों-युवतियों, बालक-बालिकाओं तथा विशेषकर यशोधा और नंद की विकलता विभिन्न वेदनाओं का जैसा मर्मस्पर्शी, हृदय-द्रावक, स्वाभाविक एवं विशद वर्णन हुआ है, वैसा अन्यत्र कहीं कहीं हो सका।

निकट भविष्य में ही प्रस्थान करने वाले पुत्र, सखा, मित्र, प्रिय तथा सम्मानित व्यक्तित्व के प्रति संबंधित हृदयों में जो जो भाव उठते हैं या उठ सकते हैं, प्रायः उन सबको सूर तथा हरिऔध ने कृष्ण के मथुरा-गमन-वर्णन में चित्रित कर दिया है। सूर तथा हरिऔध के उक्त वर्णन हिन्दी-साहित्य की महान् संपत्ति हैं। अभी हाल में प्रकाशित अपने षष्ठसर्गीय वृहदाकार प्रबंध काव्य 'ऊर्मिला' में हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने वन-प्रस्थान के पूर्व लक्ष्मण तथा ऊर्मिला की आसन्न-वियोग-वेदना का बड़ा ही विशद, चित्रमय तथा भावपूर्ण वर्णन किया है। आसन्न दांपत्य-वियोग के वर्णन की दृष्टि से नवीन जी का यह वर्णन हिन्दी में अद्वितीय है। इस वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता चित्रमयता है, जो लक्ष्मण का अनूठा भाव-चित्र प्रस्तुत करने में बहुत ही अधिक सफल हुई है। मनोभावों की द्वंद्वमयता का हृदय हारी वर्णन भी अप्रतिम है। लक्ष्मण-ऊर्मिला के आसन्न-विरह का जो भावचित्र नवीन जी ने खींचा है, वह हिन्दी में अमर रहेगा।

आसन्न-विरह का सुन्दर तथा स्वाभाविक वर्णन लोकगीतों में बहुत प्रभावशाली होता है, क्योंकि लोक कवि कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता पर अधिक ध्यान देते हैं। सहज वेदना के अतिरिक्त प्रिय को एकाध दिन रोकने के लिये देवी-देवताओं तथा प्रकृति से की जाने वाली प्रार्थनाएं बहुत ही मर्मस्पर्शी होती हैं। आल्हा की इन दो विख्यात पंक्तियों में कितना रस भरा हुआ है,—

कारी बदरिया बहिनी मोरी कौंधा वीरन लगौ हमार।

आजु बरसि जाओ मोरे कनउज मां कंता एक रैन रिहजायं ।।

कविबर बिहारी ने अपने एक दोहे में प्रिय-प्रस्थान रोकने के लिये बहुत दूर की सूझ दिखलाई है। पूस का महीना है। नायिका के प्रिय सवेरे ही परदेश जाने वाले हैं। ऐसे जाड़े में यदि पानी गिर जाये, तो प्रस्थान दो-चार दिन के लिये रूक सकता है। अतः चतुर सखियों ने वर्षा को आमंत्रण देने की सोची। उनमें से कुछ प्रवीण स्त्रियों ने मल्हार राग छेड़ दिया। पति-प्रस्थान रोकने की इस दूर की सूझ में लोक-गीतों की सरलता नहीं है, फिर भी लोकानुभूति-व्यंजक तत्व अत्यंत मनोहारी रूप में विद्यमान है।

राजस्थान की भूमि वीर-भूमि रही है। वहाँ की सौभाग्यवती प्रिया को यह निश्चित नहीं रहता रहा कि प्रिय कब समर-भूमि के लिये प्रस्थान करेगा। कभी-कभी तो आज सुना और कल प्रिय चला गया। ऐसी स्थिति में यदि कुछ राजस्थानी लोकगीतों में आसन्न-विरह की तीव्रता बहुत उत्कृष्ट कोटि की दृष्टिगोचर होती है जो स्वाभाविक है। समर-भूमि के लिये प्रस्थान करने वाले प्रिय-वियोग

तथा अन्य प्रकार के प्रिय-वियोगों में बहुत अन्तर होता है, क्योंकि समर भूमि के लिये प्रयाण करने वाले प्रिय का लौटकर आना निश्चित नहीं रहता। ऐसी स्थिति के विरह में करुणा का स्पर्श भी रहता है, तथा मंगल की कामना भी। विरह-वेदना, करुणा के स्पर्श तथा मंगल-कामना की त्रिवेणी की प्राणस्पर्शिता गम्भीर तो होती ही है, पवित्र भी होती है। इस क्षेत्र में कवियों का जैसा ध्यान जाना चाहिये था, वैसा नहीं गया। मैथिलीशरण गुप्त के जयद्रथ-वध में अभिमन्यु चक्रव्यूह-भेदन के लिये जाते समय उतरा की व्यथा तथा वीर-नारी-सुलभ महानता का जैसा सुन्दर चित्र हमारे काव्य में एकाध ही मिलता है। जायसी जैसे भावुक-रत्न भी बादल के रण प्रस्थान का वर्णन करने में असफल हो गये हैं। राजस्थानी काव्य में भी ऐसे स्थलों को उचित महत्ता नहीं प्राप्त हो सकी।

प्रिया-हृदय में पति के रण-भूमि-प्रस्थान से पहले की व्यथा के चित्रण का एक बड़ा ही करुणाजनक तथा प्राण-द्रावक प्रसंग तब आता है, जब संयोग की सामयिक अन्तिम रात्री में देर तक जागने के कारण प्रिय सबेरे समय पर नहीं उठ पाता और कर्त्तव्य-पूर्ति में बाधा पड़ते देख प्रिया को ही उसे जगाना पड़ता है। प्रिय को रण-भूमि में प्रस्थान करने के लिये प्रिया का जगाना मानव की भावुकतम दशाओं में भी सबसे अधिक मर्मभेदक दशा है। चीन के एक लोकगीत में प्रिया प्रिय को जगाती हुई कहती है—प्रियतम, जागो, रात व्यतीत हो चुकी है, तारे डूब चुके हैं'।[१] रात के न रहने तथा तारों के डूबने के उल्लेख में मानस व्यथा छिपी है, गूढ़ व्यंजना छिपी है, अन्यथा यह भी कहा जा सकता था कि सूर्योदय होने को है, पंछी चहचहाने लगे हैं प्रातः समीरण चलने लगा है। थोड़े से शब्दों में ज्ञात या अज्ञात रूप से आत्मा का तल तरंगित हो रहा है। ऐसी कविताएं व्याख्या की नहीं, अनुभूति की सहायता से ही समझी जा सकती हैं। हृदय का हाहाकार कर्तव्य-पूर्ति के जल से कितना अधिक महान तथा मर्म-भेदक रूप लेकर ऐसे स्थलों पर प्रकट हो सकता है, उतना अन्यत्र सम्भवतः कहीं नहीं है। हमारे देश में अनेक पौराणिक युद्धों से सम्बन्धित काव्य रचा गया है, राजस्थान की वीरभूमि में ऐसे अनेक उद्गारों को काव्य में स्थान प्राप्त होना चाहिए था, पर अभी ऐसे मर्मस्पर्शी प्रसंग ही पड़े हैं। उसका एक कारण हमारा मानसिक बंधन है। पहले

१—स्वर्गीय डाक्टर भगवानदास जैसे महान दार्शनिक के सच्चे रस-सिक्त अन्तःकरण ने इस गीत की भूरि-भूरि प्रसंशा की है तथा इसे अनूदित किया है। हमने उनके पुरुषार्थ में यह प्रसंग देखा था। डाक्टर साहब ने पद्यानुवाद किया है—'जागु पिया अब निसा सिरानी तारा अस्त भये।

हम संस्कृत में बंधे थे और हर चीज को संस्कृत के चश्मे से देखते थे, जब नवीनता का ढोल बेहद पीटने पर भी हम अँग्रेजी में बँधे हैं और हर चीज को अँग्रेजी चश्मे से देखते हैं। अँग्रेजी की भी अनुकूल तथा ग्रहणीय वस्तुओं पर हमारा ध्यान कम जाता है उत्तेजक तथा बाजारू वस्तुओं पर अधिक । फिर अँग्रेजी-साहित्य में ऐसे वर्णनों की गुंजाइश उतनी अधिक नहीं हो सकती, जितनी एशिया या भारतीय साहित्य में, क्योंकि पश्चात्य समाज में पुनर्विवाह का जोर बहुतों तक फैला है । पर हम तो बँधे ही हैं और इस प्रेमबंधन में सुख भी बंधता रहता है।[१] रूसी साहित्य भी अँग्रेजी भाषा गाड़ी में ही चढ़कर भारत में आता है । इस स्थिति में एशिया की महान कला, या अपनी आत्मा, को देखने का अवसर कम मिल पाता है ।

पशु पंक्षी-संबद्ध विरह :—

पशुओं में प्रेम की आर्द्रता तथा विरह की बिकलता बहुत गंभीर रूप में देखी गई है । सारस की जोड़ी का प्रेम प्रसिद्ध है, जिसमें एक के मरने पर दूसरा रो-रो कर प्राण-त्याग देता है । बन्दरी का बात्सल्य प्रसिद्ध है, जो अपने मृत शावक को भी तब तक हृदय से लगाये रहती है, जब तक वह उसके अनजाने कहीं गिर नहीं जाता । और तो और, हिंसा की मूर्ति सिंहनी का शावक-प्रेम भी बहुत गंभीर होता है । हमने स्वयं जब पहली बार **सद्यःजात** शाबक के प्रति सिंहिनी का भाव भरा प्रेम देखा था, तब आश्चर्य किया था कि ऐसा हिंस्र पशु भी इतना भावना मय कैसे हो जाता है । गाय का बत्सप्रेम कुछ क्षणों के लिये भी अपने पुत्र या पुत्री को न देखकर बड़े-बड़े आँसुओं से रोता देखा गया है । साथ रहने वाले दो बैल बिछुड़ते हैं तब तीन-तीन दिन तक चारा नहीं खाते और रोते रहते हैं । ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलते हैं और मिल भी सकते हैं । संस्कृत में कालिदास का ध्यान पशु-पक्षियों के वियोग की ओर भी गया था । विक्रमोर्वशीयम् में पशु-पक्षी-विरह से संबंधित वर्णन बहुत अच्छा है । मैथिलीशरण का ध्यान चक्रबाक प्रभृत विरही पक्षियों की ओर गया है । सियारामशरण गुप्त ने कई बरस पहले छज्जे पर आकर बैठते तथा उनके कानों में सुधारस छिड़कने वाले एक विहंग की "स्मृति' में एक बहुत ही सुन्दर कविता लिखी है । सूर तथा तुलसी ने भी ऐसे वर्णन किये हैं । पर ऐसे अधिकांश वर्णन नायक-नायिकाओं के रति-भाव के उद्दीपनार्थ रचे गये हैं । स्वतन्त्र रूप से पशु-पक्षियों के विरह पर रची गई कोई महत्वपूर्ण तथा मौलिक कविता हमारे काव्य

१—प्रसाद ने ही लिखा है,—

> ज्यों-ज्यों उलझन बढ़ती थी, बस शांति बिहँसती बैठी ।
> उस बंधन में सुख बंधता, करुणा रहती थी ऐंठी । ।
>
> (आंसू)

में कम ही मिलेगी। जिस "क्रौंच" बध के कारण विगलित-हृदय आदिकवि की वाणी का उत्स फूट चला था, उस पर भी कोई मौलिक या उत्कृष्ट रचना हिन्दी में नहीं लिखी गयी।

व्यतीत-विरह :— यतीत विरह स्मृति की एक स्थायी सम्पत्ति बन जाता है। उससे सम्बन्धित जड़ स्थान चेतन भावना के प्रतीक बन जाते हैं। महाकवि कालिदास ने व्यतीत विरह के मर्मस्पर्शी वर्णन किये हैं। रघुवंशम् में लंका-विजय के पश्चात् बनवास की अवधि समाप्त करके अयोध्या को लौटते हुये राम पुष्पक-यान पर बैठे हुये नीचे के प्रदेशों के संस्मरण सीता से बतलाते हैं। सीत से वियुक्त होने पर अपनी दशा तथा उस व्यथा से अनेक स्थानों के सम्बन्ध का बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन उक्त स्थल पर हुआ है। "कुमारसम्भवम्" के पंचम सर्ग में ब्रह्मचारी के वेश में आने वाले शिव जब पार्वती से तप का कारण पूछते हैं, तब पार्वती के संकेत से उनकी सखी ने कारण के साथ ही पार्वती की शिव-वियोग-दशा का भी हृदयहारी वर्णन कर दिया है। कालिदास शुद्ध कवित्व की दृष्टि से भारत ही नहीं, संसार के अद्वितीय कवियों में किसी से भी पीछे नहीं हैं। इसका कारण उनकी व्यापक जीवन दृष्टि है, जिसने अपने प्रमुख वर्ण्य विषय प्रेम से सम्बन्धित किसी भी दशा का वर्णन शायद ही छोड़ा हो। विरह के क्षेत्र में भी संसार साहित्य में शायद ही कोई कवि उनकी समता कर सकेगा।

"उत्तररामचरितम्" में सीता के निर्वासित किये जाने बाद परिस्थितिवश उन स्थानों में राम जाते हैं, जहाँ बनवास-काल में सीता के साथ रह चुके थे, तब उनकी वेदना तथा मूक हाहाकार का जो अनूठा तथा प्राण-ग्राही वर्णन अत्यन्त गम्भीर शैली में भावुकों के मुकुट तथा करुण रस की मूर्ति महाकवि भवभूति ने किया है, वह विश्व-साहित्य की उच्चतम निधियों में है। इस वर्णन में राम की सामयिक करुण दशा का स्पर्श है, पर उसके स्वरों में व्यतीत विरह भी समाहित है। हिन्दी-काव्य में कोई ऐसा वर्णन हमारे पढ़ने में नहीं आया।

पर-मिलन-दर्शनोत्पन्न विरह :—कभी-कभी मानव की विरह-वेदना पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों के मिलन के कारण विशेष रूप से उद्दीप्त हो उठती है। वह दूसरे जीवों के मिलन-सुख को देखकर अपनी विरह-दशा पर हाहाकार कर उठता है। तुलसी के विरही राम मृग-मृगी-संयोग को देखकर विकल हो उठते हैं तथा मृगी के कण्ठ से अपनी दयनीय दशा पर करुण व्यंग्य करते हैं ··· हे मृग-पुत्र ! तुम आनन्द करो, यह तो कंचन-मृग खोजने आये हैं ! 'ये' का प्रयोग राम स्वयं अपने लिये करते हैं :—

हमहिं देखि मृग-निकर पराहीं।
मृगी कहहिं तुम्ह कहं भय नाहीं ॥

तुम्ह आनन्द करहु मृग जाये ।
कंचन मृग खोजन ये आये ।।

'कंचन-मृग खोजन ये आये' इन चार शब्दों में हृदय की व्यथा का अतीत की कथा से जो संगम होता है उसमें स्नात हो कौन रस-लीन न हो उठेगा ? इसी प्रसग में करि-करिणी का संयोग देख कर भी राम की विकलता का वर्णन किया गया है । महाकवि कालिदास ने ऐसे वर्णन कई स्थलों पर किये हैं । इस प्रकार के वर्णन नायक या नायिका की विरह को उद्दीप्त करने का उद्देश्य रखते हैं । अनेक समर्थ कवियों ने ऐसे सुन्दर वर्णन किये हैं । आधुनिक कवियों में मैथिलीशरण, प्रसाद, पन्त तथा बच्चन प्रभृति कवियों में इस प्रकार के उत्कृष्ट वर्णन होते हैं ।

जड़-जगत के पदार्थों पर आरोपित काल्पनिक विरह-भावना :—मनुष्य सारी सृष्टि को अपने भाव की दृष्टि से देखता है । समग्र सृष्टि उसे अपने सुख में सुखी तथा अपने दु:ख में दु:खी दृष्टिगोचर होती है । विरही अपनी करुण-दशा में सारी प्रकृति में विरह का हाहाकार देखता है । सरिता उसे अपने प्रियतम समुद्र मे मिलने के लिये हा-हाकार मचाती हुई प्रतीत होती है, सागर की लहरों में उसे प्रिय-तट से मिलने की इच्छा की विकलता दृष्टिगोचर होती है, झरनों तथा स्रोतों के प्रवाह एवं 'झर झर' में वह विरह-व्यथा का गान सुनता है, ग्रीष्म में तालाब के तल की दरारें उसे विरह की ज्वाला के कारण भग्न-हृदय ने रूप में दृष्टिगोचर होने लगती हैं । जड़-जगत के पदार्थों पर आरोपित काल्पनिक विरह-वर्णन कतिपय भारतीय महाकवियों ने बड़े समारोह के साथ किया है । इस क्षेत्र में कालिदास का स्थान अद्वितीय है । हिन्दी के कवियों में प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी तथा बच्चन ने कहीं कहीं ऐसे संक्षिप्त और सुन्दर वर्णन किये हैं ।

ऊपर हमने विरह के व्यापकत्व पर कवियों के वर्णनों की अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । इसका यह अर्थ नहीं कि हम इस विषय की सीमा में बाँध रहे हैं । प्रेम का क्षेत्र निस्सीम है, स्वभावत: विरह का क्षेत्र भी निस्सीम है । इस निस्सीम क्षेत्र के कुछ रूपों का उल्लेख हमने कर दिया है ।

कल्पित प्रिय तथा विरह भावना:—देश विदेश की लोक-रचनाओं में कुछ ऐसे स्वर भी मिलते हैं जिनमें भावी प्रिय की रूप-कल्पना की जाती है, यत्र-तत्र उसके प्रति विरह का स्पष्ट अस्पष्ट भाव भी व्यक्त किया जाता है । साहित्य में चित्र-दर्शन या गुण-श्रवण इत्यादि के आधार पर उत्पन्न प्रेम एवं

तज्जन्य विरह इस भाव से भिन्न है, क्योंकि उसका कुछ आधार रहता है। यह भाव साहित्य के स्वप्न-दर्शन से उत्पन्न प्रेम एवं तज्जन्य विरह के निकट है। सुकुमार भावनाओं के कोमल स्वप्न-द्रष्टा कवि पंत की 'भावी पत्नी के प्रति' शीर्षक कविता हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से पूर्णतः नये ढंग की रचना है। इस सुन्दर तथा भावमय कविता में कवि ने भावी पत्नी की कल्पना की है। उसके सौन्दर्य का बहुत विशद वर्णन किया है, जिसमें सारी प्रकृति का स्पृहणीय मार्दव तथा सुषमा का समाहार दिखलाई देता है। प्रिया की छवि तथा उसकी मधुर मूर्ति कवि के हृदय में झूलती है।

झूलती उर में आज, किशोरि।
तुम्हारी मधुर मूर्ति छविमान
लाज में लिपटी उषा समान,
प्रिये प्राणों की प्राण। [१]

इसका यह अर्थ नहीं कि कवि ने प्रिया के दर्शन किये हैं अथवा वह कहीं है और उसके विषय में उसने कुछ सुना है। यदि ऐसा होता तो छवि हृदय में स्थिर रहती। पर यहाँ तो छवि झूलती है। जिस प्रकार झूलने में स्थिरता संभव नहीं है- उसी प्रकार छवि भी स्थिर—नहीं है, अनेक अस्थिर रूपों में आती रहती है। कवि स्पष्ट कर देता है—

तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये प्राणों की प्राण।

इस कविता में कवि ने प्रथम मिलन की कल्पना भी की है। एक स्थल पर अभाव की वेदना का बहुत हल्का-सा आभास भी व्यक्त किया है—

शलभ-चंचल मेरे मन प्राण,
प्रिये प्राणों की प्राण।

ऐसी रचनाओं को पढ़ने से यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या कल्पित प्रिय के प्रति भी विरह की सम्भावना है। भारतीय लोक-कथाओं तथा काव्य में स्वप्न के आधार पर यत्र-तत्र प्रेम-वेदना का वर्णन हुआ भी है। ऐसे प्रेम की कल्पना कवियों ने या तो वातावरण तथा परिस्थिति को अनुकूल बनाने के लिये की है या पौराणिक आधार के कारण। आज मनोविज्ञान के द्वारा यह स्पष्ट हो

१—गुंजन (भावी-पत्नी के प्रति)

चुका है कि स्वप्न कोई निराधार वस्तु नहीं है। अचेतन मानस में पड़ी अज्ञात आहत कामनाएं ही चेतन मानस की सुप्तावस्था में अपने स्पष्ट-अस्पष्ट अस्तित्व एवं शक्ति का प्रदर्शन स्वप्न के रूप में करती रहती हैं। किसी पर मोहित होने की स्थिति स्वप्न में तब तक आ ही नहीं सकती जब तक स्वप्न-द्रष्टा को उसका शारीरिक या थोड़ा-बहुत मानसिक परिचय प्राप्त न होगा। अधिकांश, प्रायः सभी, स्वप्नों से सम्बन्धित व्यक्ति परिचित होते हैं, भले ही उनका परिचय उनके व्यक्तित्व के माध्यम से हुआ हो या चित्र अथवा श्रवण-जन्य रूप-चिन्तन के माध्यम से। अतः उन लोककथाओं का यथार्थ की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है जो निरे अपरिचित व्यक्ति के प्रति स्वप्न-दर्शन के आधार पर प्रेम -वेदना की योजना करती हैं। अभाव-ग्रन्थि के कारण काव्य के रूप की कल्पना की जा सकती है, पर उसके प्रति विरह की व्यथा का हो सकना सम्भव नहीं, क्योंकि विरह निरी कल्पना की पहुंच के बाहर की चीज है। वियोग-वेदना निराधार नहीं हो सकती। संयोग-कल्पना निराधार भी हो सकती है, क्योंकि संयोग कल्पना की पहुँच की वस्तु है। यही कारण है कि पंत की उक्त कविता में विरह-व्यथा का केवल उल्लेखाभास है, उल्लेख नहीं। वर्णन का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वियोग अनिवार्यत. परिचय अथवा मिलन सापेक्ष वस्तु है। किन्तु संयोग वियोग-सापेक्ष वस्तु नहीं है संयोग के लिये मानव का अणु-अणु सतत प्रस्तुत रहता है, वियोग के लिये ऐसा कभी नहीं रहता। अतः यह स्पष्ट है कि शुद्ध कल्पित प्रिय के प्रति विरह-भावना संभव नहीं है, मिलन-कल्पना संभव है। पंत की कविता में विरह-भावना तनिक भी नहीं है, मिलन-कल्पना पूर्णरूप से है।

अंग्रेजी तथा पाश्चात्य देशों के अन्य काव्यों में अनेक कवि स्वर्ण-देश (एलडोरेडो) की कल्पना कर चुके हैं और करते रहते हैं। पर स्वर्ण-देश तक पहुँचने का भाव तो वे व्यक्त करते हैं, उसकी अप्राप्ति के कारण व्यथा व्यक्त नहीं करते। यथार्थ रूप में ऐसा कर सकना संभव नहीं ह, क्योंकि अप्राप्ति के कारण व्यथा तभी हो सकती है जब प्राप्य का परिचय हो, सच तो यह है कि उसके प्रति प्रेम भी हो।

नितान्त अपरिचित को स्वप्न में देखना कठिन है। उस पर मोहित होना और उससे मिलने के लिये आकुल होना और भी मुश्किल है। अतः ऐसे वर्णन साहित्यिक सत्य से रूप में ही अपना महत्व रखते हैं और रखेंगे: यथार्थ की दृष्टि से उन पर विचार की आवश्यकता या विवाद की गुंजाइश नहीं है।

अतीत और विरह-वेदना—राष्ट्रीयता तथा देश-प्रेम की प्रज्ज्वलित भावनाओं के युग में सजग राष्ट्र अपने अतीत से प्रेरणा लेकर वर्तमान को जागरूक तथा भविष्य को प्रशस्त बनाते हैं। जिन राष्ट्रों का अतीत सचमुच महान रहा है, वे राष्ट्र अपने

महान भूत की स्मृति में रोते है, एवं दयनीय वर्तमान पर ग्लानि प्रकट करते इस रोदन एवं ग्लानि में ही दयनीय राष्ट्र के उत्थान का मूल छिपा रहता है। हिन्दी में राष्ट्रीय जागरण के काल में भारतेन्दु से लेकर दिनकर तक अनेक ओजस्वी कवियों ने हमारे महान अतीत की स्मृति में आँसू बहाए हैं, परतन्त्रतामय वर्तमान पर ग्लानि प्रकट की है। भारतेन्दु ने 'हाय पचंनद हा पानीपत, अजहुं रहे तुम धरनि विराजत' और बूढ़हु किन भट मथुरा कासी प्रभृति शोकोद्गार भी प्रकट किये हैं। राष्ट्रीय गौरव के प्रमुख गायक राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त ने भारत के अतीत का व्यापक चित्र खींचते तथा वर्तमान पर ग्लानि प्रकट करते हुये 'भारत-भारती' को एक अमर रचना बना दिया है। प्रसाद, निराला, नवीन माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी और सोहनलाल इत्यादि कवियों ने भी ऐसे गान गाये हैं। दिनकर की ख्याति का प्रमुख कारण उनका राष्ट्र-प्रेम ही है।

राष्ट्र की सम्पन्नता की स्मृति तथा उससे रहित होने का व्यथा का गान विशेष-अविशेष परिस्थितियों में अन्य साहित्यों में भी हुआ है। अतीत के चमत्कार-पूर्ण सृजनों में जो ध्वस्त हो जाते हैं, उनके प्रति रोदन या वेदना की अभिव्यक्ति भी कवि-गण करते हैं। इस स्थिति में यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या अतीतय या अतीत-सम्बद्ध वस्तु (जिससे हमारा स्थूल परिचय नहीं है) के प्रति वेदना की भावना भी विरह के अन्तर्गत आ सकती है ?

देश के अतीत अथवा उससे सम्बन्धित वैभव की स्मृति में वेदना का मूल कारण देश-प्रेम होता है। हम ऐसी वेदना किसी की वैयक्तिक संपति के नष्ट होने पर नहीं प्रकट करते। ऐसी वेदना समग्र राष्ट्र से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति ही व्यक्त की जाती है। देश-प्रेम ही इस भावना का मूल है। जो वस्तुएं नहीं रहीं, जो गौरव नहीं रहा, उसके प्रति रोना वास्तव में राष्ट्र के लिये रोना है। परतंत्र राष्ट्र अतीत से प्रेरणा लेते हैं, उसके गौरव की स्मृति में रोकर अथवा रुलाकर वर्तमान को उज्ज्वल बनाते हैं। स्वतंत्र राष्ट्र भी अतीत से प्रेरणा लेते हैं, पर उस पर रोते नहीं, हैं; ध्वस्त नगरों, प्रासादों या नष्ट-गौरव की स्मृति में आंसू न बहा कर पुनः उसी गौरव को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। स्पष्ट है, उक्त प्रकार की वेदना विशेष परिस्थितियों में विशेष रूप लेकर उत्पन्न होती है।

विरह का अर्थ है किसी वस्तु से रहित होने का वेदना-भाव। यदि कोई राष्ट्र अपने वैभव से रहित होकर उसके वियोग में रोता है, तो वह रोदन तलस्पर्शी दृष्टि-कोण से विरह ही होगा, भले ही वह वैयक्तिक तथा सीमित न होकर सामूहिक तथा विराट रूप में प्रकट होता हो। जिस प्रकार मिलन विरह-व्यथा का अन्त कर देता है,

उसी प्रकार राष्ट्रीय गौरव की प्राप्ति पर उक्त व्यथा भी समाप्त या समाप्त प्राय: हो जाती है। इतना स्पष्ट है कि अतीत की महानता के वियोग में वेदना का गान व्यापक अर्थों में ही विरह के अन्तर्गत आता है, सीमित अर्थों में नहीं।

अतीत—सम्बद्ध विरह का एक आत्म-ग्राही रूप हुतात्माओं के वियोग का रोदन होता है। लियोनिडास और होरेशस के बलिदान अनेक शताब्दियों पूर्व हुये थे; हसन और हुसैन को शहीद हुये सैकड़ों वर्ष बीत गये; जोन आफ आर्क, दुर्गावती, चांद बीबी, तथा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का आत्मोत्सर्ग युगों-पूर्व हुआ था; खुदीराम, यतीन्द्रनाथ दास भगतसिंह, अशफाकुल्ला, रामप्रसाद बिस्मिल तथा चन्द्र शेखर आजाद इत्यादि ये राष्ट्र-प्रेम की बलिवेदी पर प्राणों की आहुतियां अनेक दशाब्दियों पूर्व चढ़ाई थीं; पर उनका तथा ऐसे ही अनेक वीरों का स्मरण करते ही आंखों में पानी भर आता है, आत्मा गर्व एवं गौरव से भर जाती है। इस विरह का मूल भी राष्ट्र-प्रेम है। चेतन आलम्बनों के कारण इसकी वेदना जड़ आलम्बनों के प्रति वेदना की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है। यह वियोग करुण होने पर भी करुण नहीं होता, क्योंकि इसका मूलभाव शोक नहीं। वह आत्मा के तल को छूता है तथा व्यक्ति को पावन कर देता है, महान बना देता है। बलिदान के पारस का स्पर्श प्राप्त कर नर स्वर्ण बन जाता है। विरह की सीमित दृष्टि से नहीं, अत्यन्त व्यापक दृष्टि से ही ऐसी वेदना के उद्‌गार-उसके अन्तर्गत आ सकते हैं।

ऊपर की चर्चा में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि विरह प्रेममूलक तत्व है, अतः जहां प्रेम है वहाँ किसी न किसी रूप में विरह विद्यमान होता है, या हो सकता है।

हमने शृंङ्गार, वात्सल्य और करुण रसों की दृष्टि से नहीं, प्रेम रस की दृष्टि से विरह का व्यापक दर्शन करने की चेष्टा की है। रससिद्धान्त में हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से कुछ परिवर्तन तथा विशदीकरण की आवश्यकता है। करुण रसाँतर्गत विरह-वर्णनों को हमने अपने प्रबन्ध में स्थान दिया है। यह ठीक भी है, क्योंकि वास्तव में करुण रस तलस्पर्शी दृष्टि से देखने पर प्रेममहारस का एक वैसा ही रूप या रस है जैसे शृंङ्गार, वात्सल्य, ईश्वर-प्रेम या अन्य प्रेम-भाव। किसी के प्रति शोक तब तक कैसे हो सकता है, जब तक किसी न किसी रूप में प्रेम विद्यमान न हो। किन्तु प्रेम-पात्र का निधन हो जाने पर प्रेम शोक का रूप ग्रहण कर लेता है।

क्योंकि तब रति की कामना हो ही नहीं सकती। किसी भी स्थिति में हो, जीवित प्रिय के प्रति विरह का स्थायीभाव 'रति' ही रहता है, पर प्रिय के मृत हो जाने पर स्थायी-भाव शोक हो जाता है।

इस अध्याय में अनेक प्रकार के विरह-वर्णनों का जो विवेचन हुआ है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-विरह-वर्णन प्रमुख रूप से शृंङ्गार तथा वात्सल्य से सम्बद्ध रहा है और अब भी है। जीवन की दृष्टि से ऐसा स्वाभाविक है। ईश्वर के प्रति विरह के उद्गार हमारे काव्य में अच्छे हुये हैं। पर इतना स्पष्ट है कि जिस व्यापक विरह-क्षेत्र तक अंग्रेजी तथा संस्कृत का काव्य फैला है, जैसा हिन्दी का नहीं, भले ही शृंङ्गार, वात्सल्य तथा हरिरस के क्षेत्रों में उसका सृजन बहुत उच्च कोटि का हो। यह भी स्पष्ट तथा सत्य है कि वात्सल्य विरह के क्षेत्र में हिन्दी-कविता संसार में अद्वितीय है। इस क्षेत्र में संस्कृत और अंग्रेजी जैसे महान काव्य भी उसकी समता नहीं कर सकते।

द्वितीय अध्याय

श्रृंगार-विरह-वर्णन 1

हिन्दी-साहित्य का अधिकाँश विरह-काव्य श्रृंगार और वात्सल्य रसों में ही प्राप्त होता है। अन्य प्रकार की विरह-वेदनाओं को व्यक्त करने में कवियों की रुचि अधिक नहीं रही। अन्य भारतीय भाषाओं में भी विरह का क्षेत्र प्रधानतः श्रृँगार में बंधा हुआ है। गुरु, मित्र, बंधु, पिता, पुत्र देवादि विषयक रति-भावों की संस्कृत के आचार्यों ने केवल भाव-दशा तक पहुँचने वाला माना है। यही कारण है कि अन्य प्रेम-वेदनाओं के प्रति कवियों का उत्साह कम, या नहीं, दीखता है। अब हम भारतीय साहित्य-शास्त्र में विप्रलंभ श्रृंगार के विवेचन का आलोचनात्मक अध्ययन तथा हिन्दी काव्य के महान एवं अद्वितीय वियोग-वात्सल्य पर व्यक्त किये गये विचारों की समीक्षा करेंगे।

प्रकृष्ट कोटि का रति-भाव होने पर भी जब अभीष्ट प्रिय की प्राप्ति नहीं होती, तब जो वेदना उत्पन्न होती है, उसे विरह कहते हैं। महान आचार्य विश्वनाथ ने विप्रलंभ श्रृंगार के चार प्रकार माने हैं,—पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण।[1]

पूर्वराग—प्रिय के दर्शन और कभी-कभी साक्षात्कार से पूर्व चित्रादि के माध्यम से ही स्थापित हुए प्रेम के कारण जो विरह-वेदना होती है, उसे पूर्वराग कहते हैं। कभी-कभी किसी के गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन तथा सामान्य साक्षात्कार के द्वारा हृदय में प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है, प्रिय की प्राप्ति के लिए वेदना उत्पन्न हो जाती है। संस्कृत के काव्यों तथा नाटकों में दर्शन, दूत-बंदीजन एवं सखी से गुण-श्रवण, इन्द्रजाल, चित्र, स्वप्न तथा प्रत्यक्ष दर्शन इत्यादि अनेक कारणों से प्रेमोत्पत्ति दिखलाई गई है। आचार्यों ने इस प्रकार उत्पन्न प्रेम को पूर्वराग कहा है,—

> श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढ़रागयोः।
> दशाविशेषो या प्राप्तौ पूर्वरागः सउच्यतै ॥

१—'साहित्य-दर्पण' (३।५३)।

श्रवणं तु भवैत्तत्र दूतवन्दिसखीमुखात् ।
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥[२]

'नैषध' काव्य का पूर्वराग दूत एवं बन्दीजन के द्वारा, 'मालतीमाधव' नाटक का पूर्वराग सखी द्वारा, 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का पूर्वराग चित्र द्वारा, 'शाकुन्तल' नाटक का पूर्वराग साक्षात् दर्शन द्वारा तथा श्रीमद्भागवत में उषा का अनिरुद्ध के प्रति पूर्वराग स्वप्न द्वारा होते चित्रित किया गया है।

प्रेम का उदय गुण-श्रवण तथा चित्र-दर्शन द्वारा संभव है, पर जो विरह-वेदना बिना प्रिय को देखे-समझे होगी, वह गंभीर नहीं हो सकती। यदि बहुत काल तक किसी की प्रशंसा, रूप-वर्णन, गुण-कथन श्रुतिगोचर होता रहे तो उसके प्रति प्रेम का भाव क्रमशः गंभीर होता जायेगा। पर वह रहेगा 'अभिलाषा' या उसके आस पास ही, गंभीर विरह-वेदना में वह तभी परिणत होगा, जब पूर्ण रति या प्रेम का रूप ग्रहण कर ले। अतः जो कवि केवल चार प्रशंसात्मक शब्द सुना कर ही नायिका या नायक के हृदय में तीव्र विरह-वेदना उत्पन्न कर देते हैं, वे स्वाभाविकता की उपेक्षा करते हैं। रूप-प्रशंसा सुनकर जो तीव्र प्राप्ति-कामना उत्पन्न होती है, उसे लोभ कहा जायगा, प्रेम नहीं। प्रेम अपनी आँखों से देखता है, दूसरों की आंखों से नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है,—जब तक पूर्वराग आगे चल कर पूर्ण रति या प्रेम के रूप में परिणत नहीं होता, तब तक उसे हम चित्र की कोई उदात्त या गंभीर वृत्ति नहीं कह सकते। हमारी समझ में तो दूसरे के द्वारा—चाहे वह चिड़िया हो या आदमी किसी पुरूष या स्त्री के रूप-गुण आदि को सुन कर चट उसकी प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न करने वाला भाव लोभ मात्र कहला सकता है, परिपुष्ट प्रेम नहीं। लोभ और प्रेम के लक्ष्य में सामान्य और विशेष का ही अंतर समझा जाता है। कहीं कोई अच्छी चीज सुन कर दौड़ पड़ना यह लोभ है। विशेष वस्तु चाहे दूसरों के निकट वह अच्छी हो या बुरी देख उसमें इस प्रकार रम जाना कि उससे कितनी ही बढ़कर अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उनकी ओर ध्यान न जाय, प्रेम है।[१] यही कारण है कि पूर्वराग में साक्षात् दर्शन का कवियों ने अधिक चित्रण किया है।

इन्द्रजाल के द्वारा प्रिया की प्राप्ति 'कर्पूर-मंजरी' जैसी रचनाओं के अध्ययन की दृष्टि से भले ही महत्व रखती हो, वास्तविकता की दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है। स्वप्न में प्रिया या प्रियका दर्शन कर प्रेम से द्रवीभूत हो उठना तब तक

१ —सा० द० (३।५४—५५)।
२—जायसी-ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ ३१।

संभव ही नहीं है, जब तक किसी न किसी रूप में उससे शारीरिक या मानसिक परिचय न हो चुका हो। आकस्मिक चित्र-दर्शन, गुण-श्रवण, सौन्दर्य-चर्चा एवं महानता से भी हृदय प्रभावित हो सकता है, प्राप्ति की आकुल कामना कर सकता है, पर विवश नहीं हो सकता, सहज एवं गंभीर विरह की व्यथा में दग्ध नहीं हो सकता। सच्ची विरहानुभूति बिना शारीरिक या मानसिक परिचय के नहीं होती। "बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यह परिचय पूर्ण तो साक्षात्कार से होता है, पर बहुत दिनों तक किसी के रूप, गुण, कर्म आदि का व्योरा सुनते-सुनते भी उसका ध्यान मन में जगह कर लेता है। किसी से रूप-गुण की प्रशंसा सुनते ही एकबारगी प्रेम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक नहीं जान पड़ता। प्रेम दूसरे की आँखें नहीं देखता है।[1]

आजकल **चल-चित्र**-जगत में काम करने वाले अभिनेता-अभिनेत्रियों के पास अनेकानेक प्रेम-पत्र आया करते है, जिनमें विरह की तीव्र व्यथा का भी संकेत रहता है। पर ऐसे पत्र उत्तर न पाकर दूसरा रास्ता ढूँढ़ लेते हैं। स्पष्ट है कि जो विरहाभास उनमें व्यक्त होता है, वह कामनामूलक अथवा अभिलाषामूलक रहता है, प्रेम-मूलक या शुद्धविरह-मूलक नहीं। वस्तुतः यह लोभ है, प्रेम नहीं। कभी-कभी किसी व्यक्ति की कामना से प्रभावित होकर कोई-कोई उससे प्रेम करने लगते हैं। यह प्रेम धीरे-धीरे विकसित होता रहता है। ऐसा प्रेम केवल 'अभिलाषा' या 'कामना' से कुछ ऊपर भी उठ सकता है। पर यह **एक बारगी** नहीं होता, नहीं हो सकता। भारतीय आचार्यों ने काम-दशा एवं वियोग-दशा को एक ही मान लिया है, पर वास्तव में दोनों में स्पष्ट अंतर है। काम-दशा स्थूल वस्तु है, वियोग-दशा सूक्ष्म वस्तु है। काम-दशा का संबंध शरीर से अधिक होता है, आत्मा से कम; वियोग दशा का संबंध आत्मा से अधिक होता है, शरीर से कम। जिस तथाकथित विरह में प्रिय के अभाव का दुःख समागम के अभाव तक ही सीमित रहता है, वह प्रेमोद्भूत वस्तु न होकर वासनोद्भूत वस्तु है। हम उसे विरह न मानकर सेक्स की पिपासाकुलता मानते हैं। ऐसी आकुलता स्थायी नहीं होती।

आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वराग का विवेचन करते हुये काम-दशाओं[2] (अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मृत्यु) का उल्लेख किया है। पूर्वराग में अभिलाषा, चिन्ता, गुण-कथन तथा उन्माद का थोड़ा-बहुत होना तो संभव है, पर स्मृति, उद्वेग, व्याधि तथा जड़ता इत्यादि दशाएं

१—जायसी-ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ ३२।

२—सा० द० (३।५६-५७)।

संयोग-पुष्ट प्रेम के बिना होनी संभव नहीं है। प्रायः उक्त दशाओं की स्थिति संयोग-पुष्ट वियोग में ही आती हैं। अधिकांश कवियों ने ऐसा किया भी है। दशाओं को केवल पूर्वराग के अन्तर्गत रखना स्वाभाविकता एवं वास्तविकता की दृष्टि से अनुपयुक्त है।

आचार्यों ने पूर्वराग तीन प्रकार का माना है,...नीलीराग, कुसुम्भराग तथा मंजिष्ठाराग,—

नीली कुसुंमंजिष्ठा पूर्वरागोऽपि च त्रिधा।[1]

नीली राग उत्तेजना-विहीन प्रेम-दशा को कहते हैं, उसमें प्रिय की प्राप्ति के लिये व्यक्त हाहाकार या सखी इत्यादि से व्यथा-कथन नहीं होता। मनोगत प्रेम ही नीलीराग है। जैसे नीली-द्रुम के द्रव से रंजित वस्त्र नील के रंग को प्रगट नहीं करता, वैसे ही नीलीराग में प्रेम शांत रहता है। कुसुंभराग वह सामान्य प्रेम-भाव है जो परिस्थिति-वश उत्पन्न होता है तथा परिस्थितिवश सामाप्त भी हो जाता है। जैसे कुसुंभ (कुसुभ-फल) के द्रव से रंजित वस्त्र रंग की सत्ता काल में शोभित होकर कालान्तर में जलादि के स्पर्श से समाप्त हो जाता है, वैसे ही कुसुंभराग भी। मंजिष्ठा राग वह प्रेम है जो समाप्त न हो कर सतत शोभित रहता है। जैसे मंजिष्ठा (मजीठ) के द्रव से रंचित वस्त्र सदैव रंजित ही रहता है, उसका रंग छूटता नहीं, वैसे ही मंजिष्ठा राग अटल रहता है, परिस्थितियों के कारण समाप्त नहीं होता। यह मंजिष्ठा राग क्रमशः दांपत्य रति में परिणत हो जाता है, चित्र, गुण-श्रवण या साक्षात् दर्शन से उत्पन्न होकर धीरे-धीरे अमिट प्रेम का रूप ग्रहण कर दांपत्य रूप में परिणित हो जाता है।

पूर्वराग में जो विरह-वेदना होती है, उसमें प्रायः आवेश की प्रधानता रहती है। संतुलित, सहज एवं गंभीर व्यथा के दर्शन दांपत्य या समर्पणमय एकनिष्ठ प्रेम से संबंधित प्रवास विरह में ही होते हैं। पूर्वराग में घनत्व कम, व्यापकत्व अधिक होता है। पर भारतीय कवियों ने पूर्वराग को क्रमशः दांपत्य प्रेम में मिलते दिखलाया है। इसलिये हमारे साहित्य में पूर्वराग का गंभीर चित्रण मिलता है। कालिदास, श्री-हर्ष तथा तुलसीदास प्रभृति महाकवियों ने पूर्वराग के मनोहारी वर्णन किये हैं। इन महाकवियों ने मंजिष्ठा राग को ही चित्रिण किया है। कहीं-कहीं पूर्वराग के वर्णन असंतुलित तथा हास्यास्पद भी हो गये हैं। ऐसे वर्णन रीति-कालीन हिंदी काव्य में अधिक हुये हैं।

१—सा० द० (३।७८)।

ऊपर लिखा जा चुका है कि काव्य में स्वप्नादि के आधार पर पूर्वपरिचय के बिना भी पूर्वराग की वेदना का वर्णन हुआ है। पर ऐसा एकाध स्थलों पर ही हुआ है। वहाँ भी ऐसे वर्णन परिस्थिति को अनुकूल बनाने के लिये हुये हैं। उषा पाताल में निवास करती थी, अनिरुद्ध पृथ्वी पर रहते थे। शुद्ध स्वप्नजन्य पूर्वराग का चित्रण इस स्थिति के कारण होना कला की दृष्टि से समीचीन ही है। स्वाभाविकता की बात काव्य में एक ही महत्व रखती है। फिर भी, अधिकतर पूर्वराग का वर्णन साक्षात् दर्शन के पश्चात् ही किया गया है।

मान—क्रोधवश संयोग-व्यवधान की दशा का मूल-भाव मान कहलाता है। प्रेम रूठने पर बहुत मनोहारी हो जाता है। यह रूठना अपने क्षेत्र में किसी दूसरे को देखकर क्रोध में परिणत हो जाता है। यों तो कुटिल-गामी प्रेम प्रमोदावसरों पर भी कोपाभास से युक्त होता रहता है, पर प्रिय को अन्य के प्रति आसक्त देख कर, सुन कर या आधार अनुमान कर वह सचमुच कोप का रूप ग्रहण कर लेता है। आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है,—

> मानो कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः।
> द्वयोःप्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि ।।
> प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्कोपो यः कारणं बिना।
> पत्युरन्यप्रियासंगे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ।।
> ईर्ष्या मानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा।
> उत्स्वप्नायितभोगां कगोत्रस्खलन संभवा ः।[1]

उक्त विवेचन में मान के दो प्रकार माने गये है,—प्रणय-मान जो संयोग-दशा में सामान्य कारणों से रूठने के रूप में प्रकट होता है तथा ईर्ष्यामान जो अन्य के प्रति प्रिय की आसक्ति देखकर या अन्य के साथ संभोग-चिह्न देख कर या ऐसा सुनकर कोप के रूप में प्रकट होता है। ईर्ष्याजन्य मान तभी होता है जब प्रिय की अन्य के प्रति आसक्ति प्रकट हो जाती है। यह आसक्ति उक्त विवेचन के अनुसार तीन रूपों में प्रकट होती है जब स्वप्न-दशा में प्रिय अन्य प्रिया से प्रणय-निवेदन करता है या उसके वियोग की विकलता में कुछ कहता है, जब प्रिय के शरीर में अन्य प्रिया के साथ हुये संभोग के नखक्षत प्रभृति चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं और जब अन्य प्रिया की स्मृति में डूबा प्रिय भूल से उसका नाम ले लेता है, वर्तमान प्रिया को उसका नाम लेकर पुकारता है। हमारी समझ में ईर्ष्याजन्य मानकारणों में नहीं बाँधा जा सकता। गुप्त रूप से लिखे गये पत्र देखकर, कहीं कलाकृति पर पड़े हुये स्पष्ट प्रभाव को देखकर नेत्रों के निगूढ़ रस को देखकर तथा अन्य स्थिति-

---

१— सा ०द० (३।८२-८३-६२)।

यों में भी अन्य व्यक्ति के प्रति प्रिय की आसक्ति प्रकट हो सकती है तथा मान का भाव उत्पन्न हो सकता है । जो तीन कारण बताये गये हैं वे काव्य में रूढ़ भले ही हों, सामान्यतः के प्रति रति-भाव को नहीं प्रकट करते रहते । सामान्य जीवन में स्वप्न में अन्य प्रिया का नाम रहते या नखक्षत इत्यादि से युक्त अथवा गोत्र-स्खलन करते कितने व्यक्ति देखे जाते हैं ? अन्य के प्रति गुप्त रति का भाव उक्त कारणों से बहुत कम प्रकट होता है । वास्तव में प्रेम छिपाने से छिप नहीं सकता । वह किसी न किसी रूप में प्रकट हो ही जाता है । प्रकट करने वाले रूप गिनती में नहीं बांधे जा सकते ।

मान की दशा के वर्णन हिंदी में विद्यापति, सूरदास, बिहारी, देव, मतिराम भिखारीदास तथा रीतिकाल के अनकानेक कवियों ने बड़े उत्साह से किए हैं । संस्कृत में कालिदास जगह-जगह आवश्यक या अनावश्यक स्थलों पर मान का वर्णन बड़ी लगन से करते दृष्टिगोचर होते है तथा परवर्ती कवियों ने भी इस क्षेत्र में बड़ी रुचि दिखलाई है ।

प्रवास— कार्य-वश, शाप-वश या राजनैतिक परिस्थितियों के कारण स्वेच्छापूर्वक या निर्वासन-वश प्रिय के सुदूर देशों-प्रदेशों में रहने की दशा में जो निस्सीम व्यथा तथा वेदना होती है वह प्रवास विरह के अंतर्गत आती है,—

प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात् ।[1]

हमारी समझ में प्रवास को कारणों में नहीं बाँधा जा सकता । अपने कारणों से व्यक्ति को प्रवासी बनना पड़ता है । केवल 'कार्य ही प्रवास का कारण स्पष्ट कर देता है । कभी-कभी राजनैतिक कारणों से प्रवास अनिवार्य हो जाता है । शाप-मूलक विरह कालिदास के 'मेघदूत', अभिज्ञान शांकुतल तथा एक सीमा तक 'विक्रमोर्वशीयम्' में दृष्टिगोचर होता है । संस्कृत में शाप के कारण विरह का वर्णन अनेक स्थलों पर हुआ है । हिन्दी में ऐसा नहीं हुआ । यथार्थ की दृष्टि से शाप-मूलक विरह का अस्तित्व संभव नहीं है । हिंदी-काव्य का जन्म तथा विकास कठोर संघर्ष' की परिस्थिति में हुआ है, अतः कल्पना के भिन्न रुचिमय चित्रों एवं-प्रकरण वक्रता को उसमें अधिक स्थान नहीं मिल पाया, जो स्वभाविक ही हैं । अधिकांश महाकवि यथार्थ के प्रति किसी न किसी रूप में सजग रहे । कल्पनाएं हुई अवश्य, पर वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में यथार्थ से बहुत अधिक दूर न जा सकीं, क्योंकि समाज का वातावरण उस शान्ति तथा विलास-हास की शोभा से दूर रहा जो कल्पना के ऊंचे ऊंचे तथा अस्वाभाविक उड़ान भरती हैं । रीति-कालीन कविता में संस्कृत के अनुकरण पर काल्पनिकता आई अवश्य, पर सभी क्षेत्रों में उसका प्रवेश नहीं हो सका । शापमूल विरह के

१—सा ०द० (३। १०० ।

लिये कथानक उपेक्षित है । रीतिकाल मुक्तक-काव्य के सृजन का युग था, प्रबंध-काव्य पके सृजन का युग नहीं । अतः रीतिकालीन काव्य में भी शापमूलक विरह-वर्णन नहीं हो सके ।

प्रिय के प्रवास-काल में उत्पन्न विरह-वेदना बहुत गंभीर तथा व्यापक होती है । उसमें न तो पूर्वराग का अर्द्ध-परिचय या मिलन का अनिश्चय ही रहता है, न मान का अस्थायित्व, कोप या आवेश, और न करुण-विप्रलंभ का एकांत रोदन-विलाप । यहां हम शुद्ध प्रेम से उत्पन्न विरह-वेदना की चर्चा कर रहे हैं, जो प्रणय-व्यापार नहीं करता और प्रिय पर विश्वास तथा आस्था रखता है; उस प्रेम की चर्चा नहीं कर रहे जो शंका करता है कि प्रिय गैरों के साथ रंगरेलियां मचा रहा होगा, दूसरी 'डार्लिंग' पाकर हमारे लिये तलाक का चिट्ठा तैयार कर रहा होगा या 'नूतनता' के चक्कर में पढ़ा होगा । ऐसे पवित्र तथा गंभीर प्रेम में जो विरह-वेदना होती है, उसकी महिमा को कोई भी कष्ट प्रभावित नहीं कर सकता । वह अटूट विश्वास के पवित्र रस से संपन्न रहती है । ऐसी वेदना का शुद्ध रूप प्रवास-विरह में ही प्राप्त हो सकता है । हिंदी के महाकवियों ने प्रवास-विरह के अनूठे वर्णन किये हैं । जायसी, सूर, घनानंद, हरिऔध और मैथिलीशरण के अमर विरह-वर्णन प्रवास से ही संबद्ध हैं । अन्य प्रकार के विरह प्रवास-विरह की समता नहीं कर सकते । यही कारण है कि अन्य प्रकार के विरह-वर्णन प्रवास-विरह के वर्णनों की तुलना में साधारण या अस्वाभाविक लगते हैं ।

करुण———कतिपय भारतीय काव्यों में मृत्यु के पश्चात् किसी देवता के वरदान से मृत जीवित हो गये हैं । नायक या नायिका में से किसी की प्रिय-निधन एवं उसके पुनर्जीवन के बीच की विरह-व्यथा करुण-विप्रलंभ मानी गई है । किसी एक के लोकान्तर-गमन करने पर दूसरे का हृदय-द्रावक विलाप करुण-विप्रलंभ कहा गया है,————

यूनो रेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलंभाख्यः ।।१

करुण—विप्रलंभ में लोकन्तरगत प्रिय की पुनरुपलब्धि हो जाती है । उसका स्थायीभाव रति ही रहता है, शोक नहीं । इसी कारण करुण रस से करुण-विप्रलंभ भिन्न है ।

लोकान्तरगमन के पश्चात् देवता या ऋषि के वरदान से प्रिय या प्रिया के पुनरुज्जीवित होने या उससे पुनः समागम होने की कल्पनाएं कुछ प्राचीन काव्यों में

१—सा०द० (करुण-विप्रलंभः) ।

हुई हैं। ऐसी कल्पनाओं से संबद्ध विरह करुणविप्रलंभ के अन्तर्गत आता है। हिंदी में इस प्रकार की एक एक भी घटना का वर्णन किसी भी महाकवि ने नहीं किया। ऐसे वर्णनों की गुंजाइश के काल्पनिक कथाओं के अतिरिक्त सावित्री-सत्यवान तथा रतिकाम की कथाओं में थी, फिर भी यथार्थ-प्रधान हिंदी-काव्य में वे नहीं हुये। हिंदी के कुछ विद्वानों ने दीर्घ-कालीन विरह-वेदना के वर्णनों की करुण-विप्रलंभ के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न किया है। ऐसे विद्वानों ने साकेत में लक्ष्मण के प्रति उर्मिला की विरह-वेदना को करुण-विप्रलंभ के अन्तर्गत माना है। पर उपर्युक्त श्लोक की दृष्टि से ऐसा ठीक प्रतीत नहीं होता। वास्तव में हिंदी-कविता में करुण-विप्रलंभ का वर्णन उक्त श्लोक की परिभाषा की दृष्टि से हुआ ही नहीं। 'साहित्य दर्पण'[1] तथा संस्कृत के अन्य काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों का विषय-प्रतिपादन संस्कृत-काव्यों पर जैसा लागू होता है और हो सकता है, वैसा हिंदी पर नहीं लागू हो सकता।

मान और विरह

२
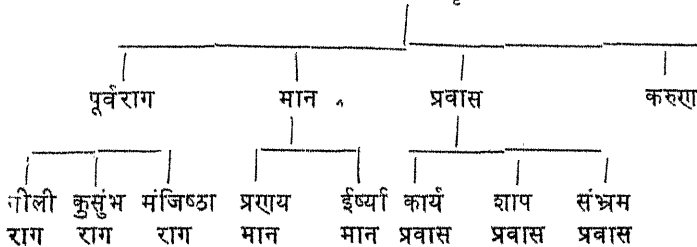
प्रिया के प्रति एकनिष्ठ रति-क्षेत्र में किये गये स्वच्छन्द आचरण ही मान के विधायक बनते हैं। पुरुष की भ्रमर-वृत्ति प्रसिद्ध है। नारियाँ भी उससे परिचित रहती हैं। सामान्यतः नारी में भ्रमरी-वृत्ति नहीं होती। पुरुष-हृदय एवं नारी-शरीर वाली कुछ नारियों की असाधारणता को छोड़ कर प्रायः नारी की प्रकृति भ्रमरी-वृत्ति से मुक्त, अथवा मुक्त-प्रायः रहती है। इसका स्थूल कारण नारी को विशेष-शारीरिक स्थिति कही जा सकती है, पर सूक्ष्म कारण नारी का प्रेममयता है। पुरुष प्रेम को उतनी गहराई से नहीं समझ सकता, जितनी गहराई से नारी समझती है। प्रायः पुरुष के जीवन में प्रेम की एकनिष्ठा उतनी सशक्त नहीं होती, जितनी नारी के जीवन में। इसका कारण नारी का पूर्ण समर्पण-भाव है, जो पुरुष के लिये अलभ्य-प्राय है। यही कारण है कि आचार्यों ने प्रेम को नारी में पहले चित्रित किया जाना समीचीन बतलाया है पुरुष में बाद में।[1] प्रायः पुरुष के प्रेम में आवेश अधिक रहता है, गहराई कम। इसका कारण उसके जीवन की कर्मठ व्यस्तता है, जो उसे 'केवल प्रेममय' नहीं बनने देती। नारी का जीवन प्रकृति ने भी प्रेममय बनाया है, और समाज ने भी अपने भावमय तत्व के रक्षणार्थ उसकी प्रेममयता को अक्षुण्य बनाये रखा है। हमारे काव्य में प्रेम स्त्रियों के द्वारा ही अधिक व्यक्त कराया गया है, जो एक सीमा तक उचित है।

मान का भाव तब उत्पन्न होता है, जब प्रिय पर दूसरे का प्रभाव दृष्टिगोचर या प्रतीत होता है। प्रेम एकाधिकार चाहता है। वह 'केवल दो' की स्थिति में ही संतुष्ट रहता है, दो से अधिक की स्थिति में दुःखी, और कभी-कभी भयंकर भी, हो जाता है। प्रसाद की प्रणय-वंचिता स्त्रियाँ ज्वालामुखी के बिस्फोट से भी वीभत्स

१—आदौ बाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चातदिगितैः।
(सा० द० ३।१४)।

और प्रलय की अनल-शिला से भी लहरदार तथा पर्वतीय नदियों से समान वेगवती दृष्टिगोचर होती हैं । सामान्य जीवन में भी कभी-कभी प्रणय-वंचिता स्त्रियों के भयानक रूप तथा कृत्य दृष्टिगोचर और श्रुतिगोचर होते रहते हैं । पर ऐसी स्थिति बहुत ही असाधारण अवसरों पर आती है । इसका कारण नारी का समर्पणमय तथा कोमल हृदय है, जो प्रिय की अनुचित स्वच्छन्दता को भी केवल रूठ कर ही टाल देता है । ज्वालामुखी या प्रलयाग्नि-शिखा के समान लहरदार या भयानक प्रणय-वंचिताएं कम ही देखी या सुनी जाती हैं । भयानक और रौद्र रसों को शृंङ्गार के अनुकूल मानने के कारण हमारे साहित्याचार्यों ने प्रणय-वंचिताओं के भयानक एवं रुद्र रूपों पर कोई विवेचन नहीं किया । हमारी समझ में रस-दृष्टि से ऐसा उचित भी है । जिस समय प्रणय-वंचिता ज्वालामुखी या पर्वतीय नदी के समान भयानक एवं रुद्र रूप धारण करती है, उस समय उसके हृदय में आलम्बन के प्रति रति का नहीं, क्रोध का भाव रहता है जो शृंङ्गार रस के बाहर की वस्तु है । फिर सामान्यत: पुरुष के पर-स्त्री-प्रेम की दशा में स्त्रियां मान ही करती है, भयंकर नहीं हो जातीं । अत: आचार्यों ने यदि नारी के उक्त रूप की चर्चा रस के प्रकरण में नहीं की, तो उचित ही किया है ।

मान की स्थिति में भी नारी अपने प्रिय का संयोग चाहती है । वास्तव में अपने संयोग में पड़ने वाले प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यवधान के कारण ही वह मान करती है । स्पष्ट है कि मान संयोग-रक्षा का प्रयास है, शुद्ध संयोगात्मक तत्व है । थोड़ी देर के लिये रूठ जाना अपने संयोग को एकात्मक तथा स्थायी बनाने के लिये होता है । अत: यह प्रश्न उठाना नितान्त स्वाभाविक है । क्या मान का भाव विरह की कोटि में आ सकता है ।

मान का भूत संयोगमय होता है, वर्तमान संयोगमय रहता है और भविष्य को संयोगमय बनाये रखने के लिये ही मान किया जाता है । इस स्थिति में मान को विरह के अन्तर्गत रखना उचित या स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता ।

आचार्यों ने मान के दो भेद किये हैं,......प्रणय-मान तथा ईर्ष्यामान । प्रणय-मान करने के लिये नारी-हृदय सदा उत्सुक रहता है ।[१] "मैं मनाई जाऊँ... यह भाव प्रत्येक नारी के हृदय में रहता है । पुरुष भी मनाये जाने के अवसर पर ढूँढते हैं । पर नारी ऐसे अवसर निकाले बिना नहीं रहती । प्रिय को काम से लौटने पर जरा-सी देर हो गई या उसने अपने प्रेमालाप में कुछ भूल कर दी...बस नारी अपनी भ्रकुटि को प्रयत्नपूर्वक तिरछी करके, नेत्रों को बंकिम बना के मनाये जाने की प्रतीक्षा करने लगती है । प्रेम के प्रारम्भिक अवसरों पर ऐसा और भी अधिक

होता है। वास्तव में मनाये जाने पर मानस-स्थित प्रेम को उत्साह मिलता है। प्रेम सोचता है,..."मेरे कोपाभास का भी इतना मूल्य मानने वाला हृदय सचमुच मुझ में आबद्ध है।" इसलिये, प्रणय-मान को विरह कहना संयोग को वियोग कहना है। जिन आचार्यों ने मान को विरह के अन्तर्गत रखा है, वे भी प्रणय-मान की वस्तु-स्थिति को देख कर उसे संयोग का संचारी मानते हैं।[1]

ईर्ष्यामान भी साधारणतः संयोगभावानुप्राणित देखा गया है। प्रिय की स्वच्छन्दता यद्यपि मनोवैज्ञानिक विरह की सृष्टि कर सकती है, किन्तु काव्य में ईर्ष्या-जन्य मान का भी जो वर्णन मिलता है, वह उसे वियोग-दशा के अन्तर्गत नहीं आने देता। कभी-कभी मानिनी की कोप-जन्य शोभा बड़ी मनोहर प्रतीत की गई है,......

अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि।
वर्धयसि विलसितं त्वं दासजनायाद्य कुप्यसि च ॥ १

मानिनी के वंकिम नेत्रों तथा कुटिल भ्रकुटियों से जो कोप प्रकट होता है, उसके तल में अधरों का अव्यक्त या अर्द्धव्यक्त हास और प्रभाव-संतोष मनाने वाले प्रिय को एक सीमा तक आश्वस्त रखता है। यही आश्वासन मानजन्य सौंदर्य में नव्यता का उल्लेख कर देता है। प्रिया कभी-कभी मान का अवसर ढूँढती भी दृष्टिगोचर होती है और मान करने की साध के अपूर्ण रह जाने पर वेदना तक व्यक्त करती है,....

सपने हूँ मनभावतो करत नहीं अपराध।
मेरे मन ही में रही सखी मान की साध ॥[2]

प्रायः मानिनी मनाये जाने पर मान जाती है। वास्तव में वह मान करते समय दो कामनाएं रखती है। प्रथम यह कि मैं मनाई जाऊँ, मैं रूठती जाऊँ और प्रिय मनाता जाये। द्वितीय यह कि प्रिय ने मेरे एकाधिकार पर जो आक्रमण किया है, वह दुहराया न जाये। सखी प्रिय से निवेदन करती है, हे लाल, प्रिया का भ्रू-धनुष' अनेक यत्न किये जाने पर भी झुक नहीं रहा, अतः आप जाकर 'हृदय आंच की सेंक' से उसे 'सरल' कर दीजिये,...

१—अनुनयपर्यन्तासहत्वे त्वस्य न विप्रलम्भभेदता, किन्तु संभोगसंचार्याख्य भावत्वम्
(सा० द० ३।८८)।

२—मालविकाग्निमित्रम् (३।२२)।

३—मतिराम-ग्रंथावली, भूमिका पृष्ठ ३५।

गई ऐंठि तियभ्रू श्र धनुष नवत न जतन अनेक ।
लाल जाय कीजै सरल हृदय आंच की सेंक ॥ [१]

लाल जब आकर मनाते हैं तब मान अंततोगत्वा 'हिलकी' की हिलोरनि' में बड़ी शीघ्रता से लुप्त हो जाता है। महाकवि देव ने अपने एक अतीव उत्कृष्ट छंद में इस 'उड़ने' का बहुत ही चित्रमय वर्णन किया है,...

ओंठन ते उठि पीठि पै बैठि कंधान पै एंठि मुरयौ मुख मोरनि ।
देव कटाच्छन ते कढ़ि कोप लिलार चढ़्यो बढ़ि भौंह मरोरनि ।
अंक में आय मयंकमुखी लई लाल को वंक चितै द्दग कोरनि ।
आंसुन बुड़्यो उसास उड़्यौ किधौं मान गयो हिलकी की हिलोरनि ॥२

कभी हृदय में मान जाने की इच्छा होने पर भी मान नहीं रुकता। पर प्रिय मना कर, निराश होकर जब चला जाता है, तब पछतावा भी होता है,...

अवधूतप्रणिपाता: पश्चतत्संतप्यमान मनसो हि ।
विविधैरनुतप्यन्ते दयितानुनयैर्मनस्विन्य; ॥ ३

अनेक अवसरों पर तो प्रिया की मान-जन्य नाहीं को प्रिय का प्रेमा-वेग हां से भी भली बना देता है....

धरी जब वाहीं तब करी तुम नाहीं ।
पायं दियौ पलकाहीं नाहीं नाहीं के सुहाई हौ ।
बोलत में नाहीं पट खोलत में नाहीं,
कबि दूलह उछाही लाल भाँतिन लहाई हो ॥
चुंबन में नाहीं परिरंभन में नाहीं,
सब आसन विलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ ।
मेलि गलबाहीं केलि कीन्हीं चितचाही यह
हां तें भली नाहीं सो कहाँ से सीखि आयी हो ॥ ४

उक्त उद्धरण यह स्पष्ट करते हैं कि इस प्रकार के मान का भाव वास्तव में विरह-दशा के अन्तर्गत नहीं जा सकता । कवियों ने मान का जो वर्णन किया है, उसमें व्यथा-वेदना नहीं, प्रत्यक्ष या परोक्ष संभोगोल्लास व्यक्त हुआ है। मान-जन्य भाव

१—भिखारीदास (ग्रंथावली), प्रथम खण्ड, रस सारांश, पृष्ठ १८ ।
२—देव-सुधा, पृष्ठ १४४ ।
३—विक्रमोर्बशीय (३।५) ।
४—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २६८ ।

विरह का रूप तभी ग्रहण कर सकता है, जब कोई प्रिया अपने प्रिय की अ क्ष
स्वच्छन्दता से खिन्न होकर मायके या अन्यत्र चली जाये । जब तक प्रिय सामने है,
केवल उसकी स्वच्छन्दता के कारण विरह का भाव नहीं उत्पन्न हो सकता । मानसिक समस्याओं की दशा में ऐसा भले ही संभव हो । पर मानसिक समस्याओं की स्थिति में संबंधित वर्णन का रस-क्षेत्र भी बदल जायेगा । अतः यह स्पष्ट है कि मान का भाव विरह के अन्तर्गत नहीं आता । काव्य में मान के जो वर्णन हुये हैं, वे इस तथ्य के प्रमाण हैं ।

संस्कृत तथा रीतिकाल के हिन्दी-कवियों ने मान-वर्णन को कहीं-कहीं मनोरंजक रूप में भी प्रस्तुत किया है । विरह-वेदना कभी मनोरंजन की वस्तु नहीं बन सकती । मानिनी तथा उसकी सखी के बीच होने वाले वार्तालाप से महाकवि भारवि के कामी आनन्द या धैर्य की प्राप्ति करते हैं ...

किं गतैन न हि युक्तमुपैतुं कः प्रिये सुभगमानिनिमानः ।
योषितामिति कथासु समैतैः कामिभिर्बहुसा धृतिरुहै ।। [1]

स्पष्ट है कि मान-वेदना को कवियों ने विरह-वेदना मान कर चित्रित नहीं किया । ऐसा उचित ही है, क्योंकि सामान्यतः मान का भाव विरह के भाव से भिन्न होता है । विशेष रूप ग्रहण करने पर उसका भाव श्रृंगार रस से भिन्न हो जाता है । श्रृङ्गार के अन्तर्गत मान विरह का रूप तभी ग्रहण कर सकता है जब मान के ही कारण प्रिया या प्रिय में से एक प्रवासी बन जाये । पर उस स्थिति में विरह प्रवास के अन्तर्गत आ जायेगा । यों भी मान के कारण बहुत कम लोग दूर जाते देखे जाते हैं । मान का भाव विरह की कोटि में नहीं आ सकता । मान की वेदना विरह वेदना से भिन्न होती है ।

१—किरात (९१४०) ।

करुण-विप्रलम्भ और करुण रस ३

प्रेम किसी न किसी रूप में मानव-अन्तस्तल से अन्य सभी भावों का स्पर्श करता रहता है। यही कारण है कि प्रेम महाभाव है, अन्य भाव भाव। वियोग-भावना को करुणा का विशेष स्पर्श प्राप्त होता रहता है। पर करुण रस प्रेमरस के अन्तर्गत नहीं आता। करुण विप्रलम्भ और करुण रस में सापेक्षता और निरपेक्षता का अन्तर है। करुण रस में वेदना निरपेक्ष रहती है, श्रृंगार रस में वेदना सापेक्ष रहती है। करुण रस में आशा के लिये स्थान न रहने के कारण रति या प्रेम शोक में परिणत हो जाता है, विप्रलंभ में आशा की स्फूर्ति बराबर बनी रहती है। फिर भी यह स्पष्ट है कि करुणा का स्पर्श श्रृंगार रस को प्राप्त होता रहता है। प्रिय के विशेष प्रवास में भी विरह-वेदना शोकाभासों से युक्त हो उठती है। यही कारण है कि भारतीय अरस्तू आद्याचार्य भरत ने श्रृंगार को 'सर्वभाव संयुक्त' बतलाया है।[1]

करुण-विप्रलम्भ तथा करुण रस में अन्तर का मूल आलम्बन के प्रति क्रमशः उनकी सापेक्षता तथा निरपेक्षता ही है। भरत मुनि का यह अन्तर निरूपण नितान्त वैज्ञानिक तथा ठोस है। युवक नायक और युवती नायिका में से एक के लोकांतर में चले जाने पर जब दूसरा शोक से व्याकुल होकर विलाप करता है, उस हालत में करुण विप्रलंभ होता है, किन्तु यह तभी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इसी देह से फिर मिलने की आशा हो,——

१—अत्राह—यद्ययं रतिप्रभवः श्रृंगारा कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति।
अत्रोच्यते पूर्वमेवाभिहितं संभोग विप्रलम्भकृत श्रृंगार इति।...... करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजन विप्रयोगऽभिवनाश बधबन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति। एवमेष सर्वभाव संयुक्तः श्रृंगारो भवति।

(नाट्यशास्त्र, श्रृंगाररस प्रकरणम्)

यूनो रेकतरस्मिन्गतवति लाकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुण विप्रलम्भाख्यः ।।[1]

करुण-विप्रलंभ का उक्त भेद-निरूपण करने वाले आचार्य विश्वनाथ के समक्ष संस्कृत-काव्यों के काम-दहन के पश्चात् रति का विलाप एवं उसे प्राप्त बरदान और वासवदत्ता के (तथाकथित) निधन का समाचार सुन कर शोक-मग्न उदयन की पत्नी की पुनप्राप्ति का वरद आश्वासन इत्यादि उदाहरण रहे होंगे। आचार्यों ने कहा है,—"जहाँ पर मिलन की आशा नहीं रहती वहाँ पर विरह करुण में परिणत हो जाता है किन्तु जहाँ पर करुण के साथ मिलन की असम्भव आशा रखते हुये भी रति का भाव वर्तमान रहता है वहाँ करुणात्मक वियोग शृङ्गार होता है।"[2]

आचार्य विश्वनाथ ने संस्कृत के कुछ ऐसे वर्णनों के आधार पर करुण-विप्रलम्भ की परिभाषा खड़ी की है, जो शुद्ध पौराणिक है। सामान्य ही नहीं, स्वाभाविक जीवन की दृष्टि से उनका कोई अस्तित्व नहीं रहता। यही कारण है कि 'लौकान्तरं पुनर्लभ्ये' जैसी स्थापनाये एवं उनकी विभिन्न व्याख्यायें——उदाहरणवत् 'करुण के साथ मिलन की असंभव आशा रखते हुए भी रति का भाव'——हुईं। सावित्री-सत्यवान, रति-काम तथा वासवदत्ता-उदयन के सरीखे कुछ पौराणिक आख्यानों के आधार पर कहीं-कहीं ऐसे 'लोकान्तरं पुर्लभ्ये' के उद्धरण काव्यों में मिलते हैं। इन्हीं के आधार पर करुण-विप्रलम्भ की उक्त परिभाषा एवं व्याख्या हुई है। यह स्पष्ट है कि उक्त स्थापनायें जीवन की वास्तविकता की दृष्टि से अस्वाभाविक हैं। किंतु उनका साहित्यिक महत्व असंदिग्ध है। काव्य में 'लोकान्तरं पुनर्लभ्ये की स्थिति में करुण-विप्रलम्भ शृंगार ही होगा, इसमें सन्देह नहीं।

हिन्दी-साहित्य के विद्वानों ने हिंदी के आपेक्षाकृत अधिक यथार्थ-परक काव्य को ध्यान में रखते हुए करुण-विप्रलम्भ की स्वतंत्र परिभाषाएं की हैं। हिंदी में प्रायः सुदीर्घ काल तक व्याप्त तथा शोक-समन्वित वियोग को करुण-विप्रलम्भ माना जाता है। वास्तव में व्यथा के अतिरेक की स्थिति में प्रेम को करुणा का स्पर्श, शोक का स्पर्श भी प्राप्त होता रहता है। अन्तर इतना ही है कि करुण रस में भावना निरपेक्ष रहती है, करुण-विप्रलम्भ में सापेक्ष। भरत मुनि ने इसी यथार्थ दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर करुण और विप्रलंभ-शृंगार का संबंध स्थापित किया है और शृंगार को 'सर्वभाव संयुक्त' कहा है। संस्कृत-साहित्य के कुन्तक प्रभृति आचार्यों के

१—साहित्य-दर्पण, करुणविप्रलम्भ-निरूपण।
२—प्रो० कन्हैयालाल सहल, एम० ए०, पी-एच० डी० का ग्रन्थ 'आलोचना के पथ पर', पृष्ठ २३३।

भी करुण रस तथा करुण-विप्रलंभ में यही अन्तर माना है। कुन्तक ने 'तापसवत्सराज' के विरह-विलाप को करुण रस के अन्तर्गत माना है, क्योंकि उदयन को वासवदत्ता के निधन का जो समाचार मिला, उससे वासवदत्ता उसके लिए दिवंगता हो गई और उसके विलाप में स्वभावतः शोक स्थायी-भाव ही रह गया, रति नहीं। इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशीयम्' में पुरूखा के वियोग एवं विलाप को उन्होंने करुण-विप्रलंभ के अन्तर्गत माना है, क्योंकि रूठ कर बन चली गई प्रिया के न मिलने पर उसके विनाश की अशंका के कारण जो रति या प्रेम का भाव राजा के हृदय में उठा उसमें शोक का स्पर्श होना स्वाभाविक है। परिस्थिति के अतिरिक्त 'विक्रमोर्वशीयम्' का लम्बा करुणा-कलित वियोग साधारण वियोग से भिन्न भी है। आचार्य कुन्तक का उक्त दृष्टिकोण पूर्णतः स्वाभाविक एवं प्रगतिशील विचारों से संपन्न है।

संक्षेप में करुण रस तथा करुण-विप्रलंभ का अन्तर उनके स्थायी भावों के कारण स्पष्ट रहता है। करुण रस में स्थायी भाव शोक रहता है तथा प्रिय-मिलन की आशा किसी भी रूप में नहीं रहती। करुण-विप्रलंभ में शोक का स्पर्श होने पर भी स्थायीभाव रति ही रहता है तथा प्रिय-मिलन की आशा बराबर बनी रहती है। आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है,—

शोक स्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः ।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः संभोग हेतुकः ॥[१]

आचार्य विश्वनाथ ने 'लोकान्तरं पुर्लभ्ये' की स्थापना करके संस्कृत के काव्यों के विशद तथा करुणा-कलित विरह-वर्णनों को शास्त्रीयता में आबद्ध करते हुये एक महान कार्य किया है। इससे आगे चलकर उन्होंने उक्त श्लोक में करुण रस तथा करुण विप्रलंभ का जो अन्तर स्पष्ट किया है, वह स्वाभाविक है तथा प्रकारान्तर से उन्होंने यहाँ पर आचार्य भरत के निरपेक्ष एवं सापेक्ष (क्रमशः करुण रस एवं करुणा-स्पर्श-युक्त विप्रलंभ के लिये) भाव के गंभीर निरूपण को ही स्पष्ट किया है।

जिन विरह-वर्णनों का स्थायी तथा मूलभाव शोक रहता है और जिनमें प्रिय-मिलन की कोई भी आशा व्यक्त नहीं की जाती, वे करुण रस के अन्तर्गत आते हैं। रघुवंशम् में अज की इन्दुमती के चिर-वियोग पर व्यक्त की गई विरह वेदना, मेघनाद-बध में सुलोचना का विलाप, यादगारे-गालिब' में हाली की गुरु-वियोग-व्यथा, 'इन मेमोरियम' में टेनीसन की मित्र-वियोग-वेदना, बच्चन के 'निशा निमन्त्रण' तथा 'आकुल अन्तर' की पत्नी-वियोग-व्यथा तथा 'मानस' में रावण के मरण पर मन्दो-

---

१—सा०द०, करुणरस-निरूपण के अन्त में करुण रस तथा करुण-विप्रलम्भ का भेद-निरूपण ।

दरी का विलाप जैसे वर्णन करुण रस के अन्तर्गत आते हैं। सत्यवान के निधन पर सावित्री की वेदना, काम-दहन के पश्चात् रति का विलाप तथा कादम्बरी में पुण्डरीक-महाश्वेता- वृत्ताँत इत्यादि आचार्य विश्वनाथ के विवेचनानुसार करुण-विप्रलंभ के अन्तर्गत आ सकते हैं। वैसे रति-विलाप को लोग करुण रस के अन्तर्गत मानते हैं। इसके अतिरिक्त जिन विशद तथा करुणा-स्पर्श-युक्त या शोक-संपृक्त स्थलों पर प्रिय-वियोग का मिलनाशामूलक वर्णन हो वहां भी करुण-विप्रलम्भ रस होगा, क्योंकि वहां स्थायीभाव रति ही है। आचार्य कुन्तक ने इसी दृष्टि से 'विक्रमोर्वशीयम्' के विरह-वर्णन को करुण-विप्रलंभ के अन्तर्गत रखा है। करुण-विप्रलंभ के क्षेत्र में आत्म-स्पर्शी तथा सर्वोच्च कोटि का गंभीर वर्णन भवभूति के 'उत्तररामचिरतम्' में हुआ है। 'यशोधरा' का विरह-वर्णन-करुण-विप्रलंभ के अन्तर्गत आयेगा। 'साकेत' का विरह सुदीर्घकाल-सम्बद्ध होने पर भी निर्दिष्ट अवधि से आशान्वित है। साकेत में कवि का दृष्टिकोण भी शोक-स्पर्श-मुक्त तथा स्फूर्ति एवं कर्तव्य-भाव-संपृक्त है। अतः साकेत का विरह करुण-विप्रलम्भ के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। वह प्रवास विरह ही है। यशोधरा में प्रिय का कोई पता नहीं है, वे आयेंगे या न आयेंगे, यह भी निश्चित नहीं है। (भले ही नारी का पवित्र तथा आस्थामय हृदय उनके आगमन पर विश्वास करता हो), प्रिय विरक्त होकर गये हैं, और सच्चे विरक्त अनुरक्त होते कम ही देखे गये हैं। अतः यशोधरा का विरह करुण विप्रलम्भ के अन्तरर्गत रखा जा सकता है। प्रिय-प्रवास में जरासंघ के लगातार आक्रमणों के कारण कृष्ण के मथुरा से भी चले जाने पर उनके प्रति जो विरह-वेदना व्यक्त की गई है, उसे भी करुण-विप्रलंभ के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

काव्य प्रकाश में विप्रलम्भ श्रृंगार ४

आचार्य मम्मट ने विप्रलंभ-श्रृंगार पांच प्रकार[1] का माना है,---

(१) अभिलाषानिमित्तक या अभिलाषामूलक ।
(२) विरह निमित्तक या विरहमूलक ।
(३) ईर्ष्याहेतुक या ईर्ष्यामूलक ।
(४) प्रवासहेतुक या प्रवासमूलक ।
(५) शापहेतुक या शापमूलक ।

मम्मट ने पूर्व भी उक्त पांच विप्रलम्भ-प्रकारों पर विवेचन हो चुका था । आचार्य अभिनवगुप्त विप्रलंभ-श्रृंगार के इन भेदों का उल्लेख कर चुके थे ।[2] परवर्ती आचार्य जगन्नाथ ने भी विप्रलंभ श्रृंगार के यही भेद माने हैं ।[3] किन्तु काव्य-प्रकाश की सर्वोपरि लोकप्रियता के कारण उक्त भेदों का सम्बन्ध मम्मट के साथ विशेष रूप से जुड़ गया है । आचार्य विश्वनाथ मम्मट के परवर्ती आचार्यों के विशेष महत्व रखते हैं । उन्होंने उक्त भेदों के स्थान पर पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण, ये चार विप्रलंभ-भेद लिखे हैं । रीतिकालीन आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ के भेदों को समन्वित अथवा समान महत्व देते हुये पृथक्-पृथक् अध्ययन प्रस्तुत करते रहे हैं । पर आधुनिक विद्वानों में आचार्य विश्वनाथ के विप्रलंभ-भेदों का प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर होता है । वस्तुतः इन दोनों प्रकार के विप्रलंभ-श्रृंगार-भेदों में कोई विशेष अन्तर नहीं है ।

१—अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पंचविधः । (काव्य-प्रकाश, चतुर्थ उल्लास, विप्रलंभ-श्रृंगार रस) ।

२—इयच्छृंगारस्य वपुः अभिलाषैर्ष्याप्रवासादिदशास्त्वत्रैवान्तर्भूताः । (अभिनव-भारती, श्रृंगार रस-प्रकरण) ।

३—ते च प्रवासाभिलाषविरहेर्ष्याशापानां विशेषनुपलम्भान्नास्माभिः प्रपंचिताः । (रस-गंगाधर, प्रथमानन,रस-भेद-प्रकरण) ।

मम्मट ने अभिलाषा, विरह, ईर्ष्या, प्रवास तथा शापमूलक विरह-भेदों का उल्लेख मात्र करके उदाहरण दे दिये हैं, उनकी परिभाषाएँ तक नहीं लिखीं। आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण-विप्रलंभ की परिभाषाएँ दी हैं, शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की हैं और उदाहरण भी दिये हैं। हिंदी के विद्वानों तथा साहित्य-प्रेमियों में विश्वनाथ के द्वारा प्रतिपादित विप्रलंभ-भेदों की लोकप्रियता का यही प्रमुख कारण है।

अभिलाषामूलक विरह---प्रिय से मिलन की उत्सुकता में होने वाली वेदना अभिलाषामूलक विरह के अन्तर्गत आती है। प्रायः विरह की दशा में वेदना संयोगानुभव-पुष्ट न होने के कारण गंभीर नहीं होती, पर उसमें कामना का तीव्र आवेग एवं आवेश अधिक परिमाण में रहता है। इस प्रकार के विरह-वर्णन कालिदास के काव्यों तथा नाटकों, भवभूति के मालती-माधव, नैषध,प्रसन्न-राघव, मानस तथा संस्कृत एवं हिंदी के मुक्तक काव्य में बहुत अधिक परिमाण में प्राप्त होते हैं। अभिलाषामूलक विरह को ही आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वराग कहा है। पर उन्होंने विस्तृत विवेचन एवं भेद-निरूपण करके अपने पूर्वराग को बहुत व्यापक कर दिया है।

अभिलाषामूलक विरह की स्थिति में प्रिय या प्रिया से मिलने की तीव्र उत्सुकता रहती है। सामान्य दशा से भिन्न दशा के कारण अनुराग छिपाये नहीं छिपता। रीति काल के कवियों ने इसे छिपाने और प्रगट होने के बहुत ही ललित वर्णन किये हैं।

विरहमूलक विरह—विरहोत्कंठिता नायिका की स्थिति तथा भावों का वर्णन विरहमूलक विप्रलंभ के अन्तर्गत माना जाता है। ऐसे वर्णनों में नायिका के हृदय में आशंका रहती है कि प्रिय किसी अन्य प्रिय के कारण तो उसकी उपेक्षा नहीं कर रहा, पर यह आशंका ईर्ष्या का रूप नहीं ग्रहण करती। "वे कहीं और हैं? उनको कोई स्नेही रोक ले, इसकी तो संभावना भी नहीं। उनका कोई स्नेही ऐसा नहीं जिसे मेरा ध्यान न हो। ओह, अभी तक न लौट आये। क्या होने वाला है। —इस प्रकार न जाने कितनी मन में उठती बातों से विह्वल व्याकुल बनी कोई मुग्धा अपने शयनागार में पड़ी, केवल करवटें बदलती, जागते-जागते रात बिता रही है,—

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्,
यं मां नेच्छति नागतश्च हहहा कोऽयं विधे प्रक्रमः।
इत्यल्पंतरकल्पनाक्वलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
वाला वृत्तविवर्त्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि॥[1]

१—उक्त उदाहरण एवं अर्थ हमने श्री सत्यव्रतसिंह के 'हिन्दी काव्य-प्रकाश' पृष्ठ ८६ से उद्धृत किया है।

विरहमूलक विप्रलंभ आचार्य विश्वनाथ के प्रणयमान से भिन्न प्रतीत होता है। इसमें प्रिय-मिलन के लिये आकुलता तथा कामना ही रहती है, कोप नहीं। प्रणय-मान में बनावटी कोप या रूठना भी रहता है। विरहमूलक विप्रलंभ का नामकरण बहुत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। विप्रलंभ सामान्यतः विरह का पर्यायवाची माना जाता है। इस स्थिति में विरह-मूलक विरह शास्त्रीय शब्दार्थ की खींच-तान में भले ही फिट किया जा सके, सामान्य एवं स्वाभाविक दृष्टि से अनुपयुक्त प्रतीत होता है। वस्तुतः यह अभावमूलक विरह है, जिसमें प्रिय के सुदूर न होने पर भी मिलन नहीं हो पाता।

विरहमूलक विरह अभिलाषामूलक विरह का एक सोपान ऊपर चढ़ा हुआ रूप मात्र है। इसमें नायक का परिचय प्राप्त हो चुका होता है। मान से यह कुछ सोपान नीचे रहता है, क्योंकि इसमें कोप के स्थान पर नम्रतापूर्ण मिलन कामना व्यक्त रहती है,—

नैंननि को तरसैये कहां लौं कहाँ हियो विरहागिमें तैये।
एक घरी न कहूँ कल पैये कहां लगि प्राननि को कलपैये।
आवै यही अब जी में बिचार सखी चलि सौतिहू के गृह जैये।
मान घटे तें कहा घटि है जू पै प्रान पियारे कों देखन पैये।।[1]

विरहमूलक विप्रलंभ आचार्य शुक्ल का 'करवटें बदलने वाला' वियोग है, जिसमें कामना-मूलकता बहुत उभरी हुई दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि यह विरह 'विरह के लिये विरह है, पर इसमें संदेह नहीं कि प्रेममय हृदय की सामान्य एवं सहज वेदना व्यक्त करने के कारण बहुत मर्मस्पर्शी होता है। संस्कृत के मुक्तक काव्यों तथा रीतिकाल की हिन्दी कविता में इस प्रकार के वर्णन बहुत हुये हैं। ईर्ष्यामूलक विरह—नायक के परप्रिया-प्रेम से उत्पन्न ईर्ष्या के कारण जिस वेदना का जन्म होता है, वह ईर्ष्यामूलक विरह के अन्तर्गत आती है। आचार्य विश्वनाथ ने इसे ईर्ष्यामान कहा है। इस प्रकार वर्णनों में 'तनी हुई भौंयें', ,तिरछी आखें', आँसुओं की झड़ी और झुक-झुक कर मनाने के बंधे-बंधाये चित्र संस्कृत के अमरु-शतक प्रभृति ग्रंथों तथा रीतिकालीन कविताओं में भरे पड़े हैं। हम पहले कह आये हैं कि सामान्यतः ईर्ष्यामूलक वेदना शुद्ध विरह के

१—भिखारीदास (ग्रंथावली), द्वितीयखण्ड, काव्य-निर्णय, पृष्ठ ३० ।
भिखारीदास ने विरहहेतुक विप्रलंभ का उक्त उदाहरण दिया है, पर परिभाषा नहीं दी। मान शब्द का उल्लेख यहाँ शास्त्रीय अर्थ में न होकर सामान्य अर्थ में ही हुआ है। भिखारीदास ने अभिलाषाहेतुक तथा प्रवासहेतुक विप्रलंभ की परि-भाषाएं दी हैं, पर विरह, असूया तथा शापहेतुक की नहीं। इनके केवल उदाह-रण दिये हैं। अतः विषय स्पष्ट नहीं हो पाया।

अन्तर्गत नहीं आ सकती। अतः यदि ऐसे वर्णनों में अधिकतर नोंक-झोंक ही दिखायी देती है,---हृदय की गंभीर वेदना नहीं तो कोई आश्चर्य नहीं। भारत के सर्वश्रेष्ठ महाकवियों में कालिदास को छोड़कर अन्य किसी ने ऐसे वर्णनों में कोई विशेष उत्साह नहीं दिखलाया। हमारी समझ में ईर्ष्यामूलक विरह-वर्णन नायक-पक्ष की काम-लोलुपता से आपूर्ण होने के कारण शुद्ध प्रेम या शृंगार रस का तलस्पर्शी-आनन्द दे सकने में असमर्थ रहता है। नायिका के पक्ष की दृष्टि से भी जो कोप और व्यथा कवि दिखलाते हैं, वह गंभीरता की दृष्टि से बहुत साधारण होती है, क्योंकि तलस्पर्शी प्रेम प्रिय के अनुचित कार्यों पर भी उतावला या क्रुद्ध न होकर शांत और गंभीर ही रहता है। सच्चा प्रेम जो अपने अनुराग पर विश्वस्त रहता है, प्रिय के प्रेम से व्यापार नहीं करता। वह चण्डीदास के स्वरों में बोलता है,—

आमि निज सुख दुःख किछु न जानि।
तोमार कुशले कुशल मानि॥ १

कालीदास इत्यादि की मानिनियों की तरह प्रिय से पैर नहीं पकड़वाता, झूठ नहीं बुलवाता।

प्रवासमूलक विरह—विरह की गंभीर अनुभूतियों के दर्शन प्रवासमूलक विरह की दशा में ही होते हैं। प्रिय या प्रिया से वियुक्त प्रेममय हृदय मानवता का सबसे कोमल तथा मर्मस्पर्शी तत्व है। प्रिय से दूर होने पर उसके गुण स्पष्ट होते हैं, उसके प्रेम की गरिमा प्रकट होती है अपना अनुराग साकार रूप धारण करता है। 'जब तक और अकेले' की साकार भावना आत्मा को सतत् झकझोरती रहती है। मानव-सागर के जितने रत्नों को विरह-रूपी मुक्तान्वेशी निकाल सकता है, उतने अन्य कोई नहीं। संसार के सभी साहित्यों में प्रवास-विरह के वर्णन हुये हैं। हिंदी में तुलसी, सूर, जायसी, घनानन्द, हरिऔध और मैथिलीशरण का अमर विरह-काव्य-प्रवास-विरह से ही संबंधित है। लोकगीतों में भी प्रवास-विरह के हृदय-द्रावक वर्णन प्रचुर परिमाण में हुये हैं।

शापमूलक विरह—देवता, ऋषि या ब्रह्मादि के शाप के कारण होने वाला विरह शापमूलक विरह कहलाता है। कालिदास का 'मेघदूत' शापमूलक विरह का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। 'शाकुन्तला' में भी शापमूलक विरह विद्यमान है। आचार्य विश्वनाथ ने शापमूलक विरह को प्रवास-विरह का एक भेद माना है। 'मेघदूत' का विरह आचार्य विश्वनाथ के प्रवास-विरह के शाप-भेद के अन्तर्गत आ सकता है। पर साहित्य में शुद्ध शापमूलक विरह के वर्णन भी हुये हैं। ऐसे

१—आलोचना के पथ पर, पृष्ट १६०।

वर्णनों का आधार पौराणिक है, और हो सकता है। उदाहरणार्थ पाण्डु और माद्री साथ रहते थे, पर पाण्डु को शाप था कि ज्यों ही वह संभोग करेंगे, त्योंही मर जायेंगे। इस स्थिति में साथ रहते हुये भी 'सेक्स' की दृष्टि से वियोग-व्यथा विद्यमान रहती थी। मम्मट ने अपने 'काव्य प्रकाश' में शापहेतुक विप्रलंभ का उदाहरण 'मेघदूत' से दिया है। भिखारीदास से शापमूलक विरह का दूसरा ही उदाहरण दिया है, जो बहुत ही उपयुक्त है,—

जबतें माद्री पांडु को स्राप भयो दुखदानि।
बसिवो एकहि मौन को, मिलत प्रान की हानि ॥[1]

हिन्दी-साहित्य में शापमूलक विरह के वर्णन नहीं हुये। रीति-ग्रंथकारों ने जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे शास्त्रीय निरूपण के रूप में ही मिलते है, पृथक वर्णन के रूप में नहीं।

हम ऊपर कह आये हैं कि विप्रलंभ-शृंगार के भेद दो रूपों में मिलते हैं। प्रथम अभिलाषा, विरह, ईर्ष्या, प्रवास, शाप मूलक विरह; द्वितीय पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण विरह। इन दोनों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। अभिलाषामूलक विरह को ही आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वराग कहा है। भिखारीदास ने स्पष्ट कर दिया है,—

अभिलाषै कोऊ कहै, कोउ पूरवानुराग।[2]

आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वराग के नील, कुसुम्भ, मंजिष्ठा तीन भेद करके अभिलाषामूलक विरह के विस्तार का निरूपण भी कर दिया है। मम्मट ने ऐसा नहीं किया।

आचार्य विश्वनाथ ने मान के प्रणय तथा ईर्ष्या दो भेद करके मम्मट के विरहमूलक तथा ईर्ष्यामूलक विरह को उसी में अन्तर्निहित कर लिया है। इसी प्रकार प्रवास के कार्य, शाप, संभ्रम तीन भेद करके उन्होंने मम्मट के शापमूलक विरह को प्रवास के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयास किया है। पर, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, काव्य में शुद्ध शापमूलक वर्णन भी हुए हैं। प्रवास से मुक्त शापमूलक विरह का वर्णन भी हो सकता है और हुआ है। आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के पाँचों विप्रलंभ भेदों को अपने पूर्वराग, मान तथा प्रवास में सम्मिलित करते हुये करुण-विप्रलंभ का उल्लेख भी किया है, जिसका मूल भरत के नाट्शास्त्र में है। खींच-तान

१—भिखारीदास (ग्रन्थावली) द्वितीय खण्ड, काव्य-निर्णय, पृष्ठ ३१।
२—भिखारीदास द्वितीय खण्ड, काव्य-निर्णय, पृष्ठ २६।

करके करुण-विप्रलंभ को किसी अन्य भेद में डालना ठीक नहीं है। काव्य में ऐसे अनेक वर्णन हैं, जिन्हें करुण-विप्रलंभ के अन्तर्गत ही रखना उचित प्रतीत होता है। यद्यपि विप्रलंभ में करुण रस के स्पर्श का स्पष्ट विवेचन आद्याचार्य भरत के द्वारा हो चुका था तथा कुन्तक प्रभृति अन्य आचार्य करुण-विप्रलंभ पर कुछ प्रकाश भी डाल चुके थे, पर उसकी सम्यक् प्रतिष्ठा आचार्य विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण में ही हुई है।

विरह के सात्विक भाव तथा काम-दशाएं ५

मनुष्य अपने हृद्गत भावों को छिपाने का प्रयास करने पर भी नहीं छिपा पाता । कुछ भाव वह प्रयत्नपूर्वक छिपा भी सकता है, पर प्रेम छिपाये नहीं छिपता । प्रेमी के नेत्र स्पष्ट कहते रहते हैं कि वह प्रेमी है । आलम्बन के प्रति आश्रय के हृदय के भाव उसके शरीरावयवों पर छाए रहते हैं, उसके नेत्र, उसकी वाणी तथा उसकी क्रियाएँ भावानुशासित होकर चलने लगती हैं । आश्रय की आलम्बन के प्रति भाव-जन्य चेष्टाओं और बचनों इत्यादि को आचार्यों ने अनुभाव कहा है । भाव-विशेष के पीछे चलने के कारण इन्हें अनुभाव कहा गया है । अनुभाव दो प्रकार के होते हैं, सात्विक और कायिक । शरीर की स्वाभाविक क्रिया के रूप में होने वाले व्यापार सात्विक अनुभव कहलाते हैं । भाव-विशेष की प्रभाव-दशा में आश्रय चेष्टा करने पर भी इन्हें रोक नहीं सकता । सात्विक अनुभाव शरीर के ऐसे व्यापार हैं जो स्वतः प्रकट होते हैं । कटाक्ष-पात, इंगित, तथा अंगड़ाई इत्यादि कायिक अनुभाव के अन्तर्गत आते हैं प्रयत्न करने पर कायिक अनुभावों की गति नियंत्रित हो जाती है ।

सात्विक की संख्या आचार्यों ने आठ मानी हैं, स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, वेपथु या कंप, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलभ या चेतना-शून्यता,—

स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरभंगोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विका स्मृताः ।।[1]

शृंगार रस में इन आठों सात्विकों का सहज प्रवेश होता रहता है । वियोग शृंगार की ऐसी दशा है, जिसमें अतीत का संयोग-सुख वर्तमान दुःख के साथ समाहित रहता है । सच्चे प्रेम के कारण उत्पन्न विरह केवल दुःख ही नहीं है, उसमें मिलन-स्मृति तथा पुष्ट अनुराग का सुख-भी मिला रहता है । हमारी समझ में उक्त आठों अनुभाव किसी न किसी रूप में वियोग के अन्तर्गत आ सकते है । उदाहरणार्थ,—

१—नाट्य-शास्त्र (६।२३) ।

(१) स्तम्भ (कारणवश अंगों की रति का रुकना) विरही-हृदय प्रिय की स्मृति में इस प्रकार खो जाता है कि अंगों की गति रुक-रुक सी जाती है ।

(२) स्वेद (पसीने से तर हो जाना)—स्मृति में मिलन-कल्पना करते समय शरीर स्वेद-पूर्ण हो उठता है । व्यथा उत्ताप से भी स्वेद-संचार होता रहता है ।

(३) रोमांच (रोंगटों का खड़ा होना)-स्वप्न में प्रिय-संस्पर्श पाकर रोमांच हो सकता है । एकाकीपन के कारण भय की स्थिति में भी रोमांच होना संभव है ।

(४) स्वर भंग (मुख से स्वाभाविक रीति से वचनों का न निकलना) स्मृति लीन दशा में किसी के कुछ पूछने पर शब्द क्रम से नहीं निकल पाते ।

(५) वेपथु या कम्प (शरीर का थर-थर कांपना)-शीत या ज्वर इत्यादि (जो वियोग के कारण हो जाते हैं) में कम्प सहज संभव है ।

(६) वैवर्ण्य (चेहरे का रंग बिगड़ जाना, पीला पड़ जाना) विरह में चेहरे की कान्ति जाती रहती है ।

(७) अश्रु (रोना) विरह और अश्रु की मैत्री सबसे अधिक गंभीर होती है, यह एक सर्वसम्मत तथ्य है ।

(८)प्रलय (सुध-बुध खोजाना) विरह-व्यथा के अतिरेक में व्यक्ति अपनी सुध-बुध खो बैठता है ।

बाल्मीकि, कालिदास और जायसी प्रभृति महाकवियों के विरह-वर्णन पढ़ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सारे सात्विक भाव विरह के अन्तर्गत आ सकते हैं । कालिदास का सारा विरह-साहित्य एकत्र रख कर पढ़ने पर उसमें उक्त सभी अनुभाव दृष्टिगोचर हो जाते हैं । कुछ कवियों ने तो एक ही छंद में सभी सात्विकों को एकत्र रखने का प्रयत्न किया है, जो स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । हिंदी के रीतिकालीन कवियों, विशेषतः देव, ने ऐसे प्रयास किये हैं । आधुनिक काल के कवियों में सात्विकों का सुन्दर समाहार रत्नाकर के 'उद्धव-शतक' के एकाध छंदों में बहुत मनोहारी हुआ है ।

कायिक अनुभावों का विरह के क्षेत्र में कोई प्रवेश नहीं है । विरह शुद्ध रूप से हृदय का व्यापार है, शरीर पर उसका जो प्रभाव पड़ता है, वह हृदय के माध्यम से पड़ता है । संयोग-श्रृङ्गार में भ्रू-भंग, कटाक्ष, उंगलियां चिटकाना, पैर के अँगूठे से धरती कुरेदना, हाथ के नाखूनों को एक दूसरे से रगड़ना, ठोढ़ी पर उँगली रखना मुड़-मुड़ कर देखना, किसी बहाने से प्रिय या प्रिया की ओर ताकना, सिर खुजलाना अधखुली आँखों से देखना, मुस्कराना तथा अँगड़ाइयाँ लेना इत्यादि-इत्यादि अनेक

नेक अनुभावों का सहज प्रवेश हो सकता है तथा होता रहता है। किंतु ये निरे कायिक नहीं। विरह के क्षेत्र में कायिकों के लिये स्थान नहीं रहता है। विरही प्रायः आँखें खोले एकटक किसी ओर देखता रहता है। इस निरुद्देश्य-वत् एकटक देखने को भी कायिक अनुभाव नहीं कहा जा सकता। एकटक देखना सात्विक व्यापार है जो चेष्टा करने पर भी नहीं रोका जा सकता। हमारी धारणा है कि विरह के क्षेत्र में कायिक अनुभावों का प्रवश नहीं हो सकता। जिन अनुभावों को हम कायिक कहने का प्रयास करेंगे, मूलतः वे भी सात्विक ही दृष्टिगोचर होंगे।

कुछ भाव ऐसे होते हैं जो रस-निष्पत्ति में स्थायी-भाव की सामयिक सहायता पहुँचाकर अन्ततोगत्वा उसी में संलुप्त हो जाते हैं। 'दशरूपक' के रचयिता ने लिखा है कि ये भाव उसी प्रकार उठकर समाप्त होजाते हैं जैसे समुद्र की लहरें, जो समुद्र में ही उत्पन्न होती हैं और समुद्र में ही लुप्त हो जाती हैं। स्थायी या प्रधान भाव जितने काल तक रहता है, उतने काल तक अनेक प्रकार के उपभाव भी उसमें संचरण करते रहते हैं। मनुष्य के भाव एक दूसरे से गुँथे रहते हैं, एक प्रधान भाव के साथ अनेक छोटे-छोटे भाव संचरण करते रहते हैं। इसलिये ऐसे भावों को संचारी भाव कहा जाता है। संचारी भावों को व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। व्यभिचारी उसे कहते हैं जो किसी एक में दृढ़ता पूर्वक स्थिर न रहे, परिस्थिति के अनुकूल नाना क्षेत्रों में संचरण करता रहे। व्यभिचारी भाव परिस्थिति के अनुकूल अनेक प्रकार से संचरण करते रहते हैं। अतः इन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाना ठीक ही है।

संचारी भावों की संख्या तेंतीस मानी जाती है, निर्वेद (उदासीनता), ग्लानि शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, स्मृति, धृति, (तत्व ज्ञान, सायक् बोध अथवा इष्ट-प्राप्ति इत्यादि कारणों से इच्छाओं का पूर्ण हो जाना भय इत्यादि से उत्पन्न उपद्रवों में विचलित न होना), बीडा, चपलत, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व विषाद, औत्सुक्य, निद्रा अपस्मार (मृगी इत्यादि), सुप्त (स्वप्न), विबोध (जागना), अमर्ष (असहनीयता-जन्यक्रोध), अवहित्थ (छिपाव-दुराव), उग्रता (चण्डता या निर्दयता), मति, व्याधि, उन्माद, मृत्यु, त्रास तथा वितर्क (सन्देहजन्य विचार),

निर्वेदग्लानिशंकाख्यास्तथासूयामदश्रमा।
आलस्यं चैव दैन्यं चचिन्ता मोह स्मृतिर्धृतिः ॥
व्रीडा चपलता हर्षआवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥

सुप्तं विबोधाऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ।।
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञैया व्यभिचारिणः
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समास्थातास्तु नामतः ।।

आचार्यों ने उक्त तेंतीस संचारी भावों में से उग्रता, आलस्य तथा मरण-प्रभृति तीन चार को छोड़कर शेष सभी का स्थान शृंङ्गार-रस में समीचीन माना है। मानव जीवन के मूल-भाव केवल दो हैं,...सुख और दुःख । जिन तत्वों तथा वस्तुओं से उसके शरीर तथा इन्द्रियों को रमणीयता तथा उल्लास की प्रतीति होती है, उन्हें वह सुख-कर कहता है, जिन तत्वों तथा वस्तुओं से उसके शरीर तथा इन्द्रियों को अवांछनीयता क्लेश की प्रतीति होती है, उन्हें वह दुःखकर कहता है । जीवन के अन्य सारे भाव सुख एवं दुःख में ही बद्धमूल रहते हैं और अन्ततोगत्वा इन्हीं दो में उनका अवसान हो जाता है । अन्य भाव भाव हैं, सुख दुःख महाभाव; अन्य भाव तरंगे हैं, सुख-दुःख सागर । प्रेम एक ऐसा भाव है जिसमें सुख और दुःख दोनों का मिलन प्रायः अनिवार्य रूप से होता रहता है, इसीलिये प्रेम के एक प्रमुख तत्व को लेकर चलने वाले रस शृंङ्गार को 'सर्वभाव संयुक्त' तथा 'रसराज' कहा गया है। जीवन के सारे भाव प्रेम के अन्तर्गत आ सकते हैं। सीता-हरण के उपरान्त राम में जो उग्रता आई थी उसका मूल प्रेम था । परप्रिया के साथ अपने प्रियतम अथवा पर प्रिय के साथ अपनी प्रियतमा की प्रणय-लीला देखकर मनुष्य उग्र हो उठता हैं । संयोग-दशा में रति-अन्य तथा वियोग-दशा में दुर्बलता-जन्य आलस्य नितान्त स्वाभाविक वस्तु है । प्रिय या प्रिया के विरह तथा चिर-विरह में अनेक प्राणी मरते हुए देखे जाते रहते हैं। इस स्थिति में मांगलिक शृंङ्गार-भावना के कारण आचार्यों के कुछ भावों को शृंङ्गार से वहिष्कृत किए जाने के आदेश का पूर्ण संमान करते हुए भी यह कहना उचित है कि प्रेम-रस के प्रधान अंग शृंङ्गार में सभी संचारी-भावों का समावेश हो सकता है । यही नहीं, प्रेम-रस के अन्तर्गत अन्य अनेक संचारी भी आ सकते हैं। विरह-दशा प्रत्यक्षतः दुःखात्मक होते हुए भी मिलन-स्मृति से पुष्ट होने के कारण परोक्षतः सुखात्मक भी रहती है। स्वप्न तथा स्मृति-तल्लीनता की दशा में सच्चा विरही-हृदय-प्रिय-सम्पर्क-सुख का अनुभव भी करता रहता है । इसलिये विरह के अन्तर्गत सभी संचारी जा सकते हैं। अनेक कारणों से होने वाले विरह की प्रकट दशाओं में निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, आवेग, जड़ता, विषाद, औत्सुक्य, अपस्मार, विबोध अमर्ष',

---

१—नाट्य शास्त्र (६।१६-२२) ।

उग्रता मति, एवं व्याधि संचारियों को साहित्य, विशेष कर जीवन में स्थान मिलता रहता है । सुप्त (स्वपन) संचारी की स्थिति में मद, श्रम, धृति, ब्रीडा, चपलता हर्ष, गर्व, निद्रा तथा अवहित्थ का भी सरलतापूर्वक वर्णन हो सकता है । एक सीमा तक हुआ भी है । यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक स्थिति के विरह में सभी संचारी प्रवेश पा सकते हैं या पायें । हमारे कथन का तात्पर्य केवल इतना है कि विरह के विराट् भाव-क्षेत्र में सभी संचारी प्रवेश पा सकते हैं और एक दूरी तक काव्य में वे ऐसा प्रवेश पा भी चुके हैं ।

आचार्यों ने विरह के विशेष निकट संचारियों के आधार पर विरही की दस काम-दशाओं का उल्लेख किया है, अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मृत्यु...

अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ।।

भिखारीदास ने इस श्लोक का अनुवाद किया है,...

लालस चिंता गुनकथन स्मृति उद्वेग प्रलाप ।
उन्मादहि व्याधिहि गनौजड़ता मरन संताप ।। २

साहित्य-दर्पण में काम-दशाओं के नाम-कथन के बाद आचार्य विश्वनाथ ने उनकी संक्षिप्त व्याख्या की है । आचार्य भिखारीदास ने उसे इन शब्दों में स्वतंत्रता-पूर्वक अनूदित किया है,...

अभिलाषमिलिबे की चाह गुनबर्नन सराह
स्मृति ध्यान चिंता मिलन विचारु है ।
कछू न सहाइ उद्वेग व्याधि ताप
कृसता प्रलाप बकिबो सहित दुखभारु है ।
बावरी लों रोइ हंसे गायें उनमाद भूलें
खानपान जड़ता दशा नब प्रकारु है ।

१—सा ०द०, विप्रलंभ-भेद-निरूपण (३।५६) । कहीं-कहीं इस रूप में अनंगदशाओं का उल्लेख हुआ है,...

दृामनः संगसंकल्पा जागरः कृशताऽरति ।
ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनंगदशादश ।।

२—भिखारीदास (ग्रंथावली), प्रथम खण्ड शृङ्गार-निर्णय, पृष्ठ १५५

परवानुराग हूं में प्रगट प्रवासहू में
मरन समेत दस करत सुमारु हैं ।[1]

हमारे काव्य में कामदशाओं का बहुत ही हृदय-द्रावक तथा सुन्दर वर्णन हुआ है । इस क्षेत्र में भी भारत के सर्वश्रेष्ठ महाकवि कालिदास का स्थान सर्वोपरि है । 'मेघदूत' विक्रमोर्वशीयम् तथा कुमारसंभवम् के विरह-वर्णनों में काम-दशाओं के मनोहारी चित्र दृष्टिगोचर होते हैं । हिंदी-कवियों में मैथिलीशरण के 'साकेत' में कामदशाओं का सुन्दर तथा व्यापक वर्णन हुआ है । सभी विरह वर्णन करने वाले कवियों में जाने-अनजाने इन दशाओं में से कुछ या सब का वर्णन हो जाना स्वाभाविक ही है । कामदशाओं पर शास्त्रीय विवेचन भी हिन्दी में बहुत हुआ है । रीतिकालीन आचार्य-कवियों, विशेषतः भिखारीदास ने इन पर विवेचन भी किया है तथा स्वविरचित उदाहरण भी दिए हैं ।

आजकल कहीं-कहीं फैशन के रूप में यह भी कहने का रिवाज चल पड़ा है कि आचार्यों ने अनुभावों, संचारीभावों तथा कामदशाओं आदि का निरूपण करके भावनाओं को सीमा में बांधा है जो अनुचित तथा उपहासास्पद है । निवेदन है कि यदि निस्सीम तत्वों को निस्सीम कहकर ही छोड़ दिया जायगा, तो ज्ञान-विज्ञान की परिधि निस्सीमता का ढोल पीटते हुए भी शून्य-वत् हो जायगी । पाश्चात्य मनीषी निस्सीम अन्तरिक्ष को ससीम बना चुके हैं एक ग्रह से दूसरे ग्रह की दूरी पर विचार कर चुके हैं और इन विषयो पर सतत अनुसन्धानरत हैं । ज्ञान के क्षेत्र में अन्तिम निर्णय कभी नहीं होता । हमारे आचार्यो ने भी यह कहीं नहीं कहा कि बस यहां आकर भाव समाप्त हो जाते हैं । उन्होंने दृढ़ता तथा शक्ति-पूर्वक अपने अनुसंधान प्रस्तुत किए हैं तथा महान कार्य किया है । इस विषय पर डा० नगेन्द्र ने लिखा है,—'संस्कृत के आचार्यों ने विरह की दस आवस्थाएं कामदशाएं कहीं हैं । आधुनिक समीक्षक उनको देख कर चौंकते हैं—कहते हैं भावनाओं की सीमा बांधना । उपहास है । वास्तव में यह ठीक भी है, परन्तु फिर भी विरह में अभिलाषा अर्थात् प्रिय से मिलने की उत्कण्ठा, चिन्ता अथवा प्रिय के इष्ट-अनिष्ट की चिन्ता, स्मृति या अपने प्रेम-पात्र के सत्संग में उपयुक्त सुखों का स्मरण, गुण-कथन आदि सभी स्वाभावतः होता है । इनमें तीव्रता आ जाने से उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, कभी-कभी जड़ता और मरण तक

१—भिखारीदास (ग्रन्थावली), प्रथम खण्ड, रस-सारांश. पृष्ठ ५७ ।
उक्त छंद में विचाराभिव्यक्ति भले ही बहुत स्पष्ट न हो पाई हो, पर कामदशाओं को पूर्वराग के अतिरिक्त प्रवास से भी संबद्ध कर दिया गया है, जो पूर्णतः उचित है । साहित्य-दर्पण में कामदशाओं का वर्णन पूर्वराग के अन्तर्गत हुआ है ।

हो जाता है। ये भावनाएं चिरन्तन और सर्व-साधारण हैं, देश-काल के व्यवधान से परे हैं।[1] इसके बाद उन्होंने आचार्यों द्वारा भावनाओं को जकड़ देने की चर्चा की है। हमारी समझ में आचार्यों ने जकड़ा कुछ भी नहीं है, केवल विश्वासपूर्वक अपना सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत किया है। आश्चर्य तो यह है कि आचार्यों की जकड़ का बार-बार उल्लेख करने पर भी हममें से अधिकाँश भावनाओं के विशद क्षेत्र में कोई नूतन स्थापनाएं नहीं कर पाये।

१—साकेत: एक अध्ययन, साकेत में विरह, पृष्ठ ५३।

हिन्दी के विरह वर्णन करने वाले कवियों की श्रेणियां. ६

हिंदी के विरह-वर्णन करने वाले कवियों का श्रेणी-विभाजन करते हुए प्रसिद्ध आलोचक डाक्टर नगेन्द्र ने लिखा है,—[हिंदी के प्राचीन काल में विरह के कवि प्रधानतः जायसी, सूर, मीरा हुए हैं]। इनके अतिरिक्त देव, घनानंद और ठाकुर भी वेदना के कुशल गायक थे। बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों में विरह-निवेदन इतना नहीं है जितना उक्ति-चमत्कार। इस युग में हरिऔध, मैथिलीशरण, प्रसाद, महादेवी और बच्चन के विरह गीत आंसुओं से गीले हैं। इन कवियों में हमें तीन श्रेणियां स्पष्ट लक्षित हो जाती हैं—१—प्रबन्ध-काव्यकार जिन्होंने अपना हृदय नायिका के कण्ठ में उढ़ेल कर उसके आश्रय से विरह-गान किया है। २—वे कवि जिनका आलम्बन दिव्य है और जिन्होंने अपनी आत्मा की वियोग-पीड़ा को मुखरित किया है। ३—वे कवि जिनका विरह-लौकिक आलम्बन पर आश्रित व्यक्तिगत विरह है। पहिली श्रेणी में जायसी, सूर, हरिऔध और मैथिलीबाबू का नाम है। दूसरी में मीरा, प्रसाद और महादेवी है और तीसरी श्रेणी में घनानंद व ठाकुर आदि का नाम हैं।[1]

उक्त स्थापना में पहली श्रेणी में लेखक को प्रबन्धकार के साथ मुक्तककार या गीतिकाव्यकार का उल्लेख भी कर देना था जो अपनी नायिका के द्वारा विरह-निवेदन प्रकट करता है, जैसे सूर। सूरदास प्रबन्ध-काव्यकार न होकर गीतिकाव्यकार हैं। ये विषय भी विवादास्पद ही हैं कि प्रसाद के विरह-काव्य का आलम्बन दिव्य है और घनानंद का समग्र विरह-काव्य निरालौकिक आलम्बन पर आश्रित व्यक्तिगत विरह है। हमें यहाँ उक्त स्थापना की व्यापक आलोचना न करके श्रेणी-विभाजन का अध्ययन करना है। अतः हम नगेन्द्र जी के श्रेणी-विभाजन पर ही विचार करेंगे।

इस प्रकार डाक्टर नगेन्द्र हिंदी के विरह-वर्णन करने वाले कवियों का उक्त श्रेणी-विभाजन करके तीन प्रकार का विरह-काव्य होना स्वीकार करते हैं,—

१—साकेतः एक अध्यन, साकेत में विरह, पृष्ठ ४१-४२।

(१) नायिका के माध्यम से विरह-वर्णन
(२) रहस्यात्मक आत्मविरह-निवेदन ।
(३) व्यक्तिगत विरह के बर्णन ।

किंतु संस्कृत एवं अन्य भारतीय भाषाओं तथा हिंदी के काव्य में दूत-दूती या सखी के द्वारा भी प्रचुर परिमाण में विरह-निवेदन कराया गया है। ऐसा केवल परम्परा-पालनार्थ ही नहीं हुआ, विशेष कारण से हुआ है। विरहिणी नारियां या विरही पुरुष विरह-व्यथा को अपने प्रिय तथा अन्तरंग सखी या सखा से तो व्यक्त कर सकते हैं, किसी अन्य से नहीं कर सकते। किसी दूसरे से अपनी विरह की व्यथा का लंबा-चौड़ा वर्णन करना अच्छा नहीं लग सकता। दूसरे, कवियों को यत्र-तत्र अपने आराध्य देव की प्रिया के विरह का वर्णन भी करना पड़ा है। ऐसे वर्णनों में कभी कभी वे स्वयं विरह का वर्णन नहीं कर सके, किसी के द्वारा करा दिया है। कालिदास ने 'कुमारसंभवम्' के पंचम सर्ग में ब्रह्मचारी-वेश में आकर पार्वती से तप का कारण पूछने वाले शिव को पार्वती के द्वारा नहीं, सखी के द्वारा उत्तर दिलाया है जिसमें पार्वती के शिव-विरह का भी मर्मस्पर्शी वर्णन हो गया है। वहां यदि पार्वती स्वयं ही अपनी व्यथा का वर्णन करने लगतीं तो वह भाव-सौंदर्य न रह जाता। तुलसीदास ने 'मानस' तथा गीतावली में सीता की विरह-व्यथा का वर्णन हनुमान के द्वारा कराया है, स्वयं जगदम्बा की विरह-वेदना का वर्णन करना समीचीन नहीं समझा। सामान्य जीवन में भी प्रेम-संबद्ध प्रकरणों में दूत-दूती के संदेश देने एवं प्रभाव-स्थापन के कार्य चलते रहते हैं। संस्कृत-काव्य में दूत तथा दूती को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। हिंदी के काव्य में भी विद्यापति से लेकर रीतिकाल के कवियों तक दूती के द्वारा विरह-वर्णन बहुत उत्साह से कराए गए हैं। कालिदास ने तो यहां तक कहा है कि प्रेमियों के प्राण दूतियों की मुट्ठी में रहते हैं,—

> भावज्ञानान्तरं प्रस्तुतेन प्रत्यास्थाने दत्तयुक्तोत्तरेण ।
> वाक्येनेयं स्थापिता स्वे निदेशे प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः ।।[1]

'प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः' हों या न हों, पर इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत और हिंदी में दूत-दूती के द्वारा कवियों ने अपने नायक-नायिकाओं की विरह का वर्णन बहुत उत्साह से कराया है। विद्यापति, जायसी, तुलसी, बिहारी, देव तथा रीतिकाल के अनेकानेक कवियों की रचनाओं में ऐसे वर्णन प्रचुर परिमाण में मिलते है। अतः हिंदी में विरह-वर्णन चार श्रेणियों में विभक्त दृष्टिगोचर होता है। कवियों

१—मालविकाग्निमित्रम् (३।१४)।

को किसी श्रेणी में बांधना समीचीन नहीं, क्यों कि कुछ कवि ऐसे हैं जिनके वर्णन एक से अधिक रूप लेकर प्रकट हुए हैं, तथापि विरह-वर्णनों की चार श्रेणियों में हैं,——

(१) नायिका या नायक के माध्यम से हुये विरह-वर्णन
(२) रहस्यात्मक आत्मविरह-निवेदन ।
(३) व्यक्तिगत विरह के वर्णन
(४) दूत या दूती के माध्यम से हुए विरह-वर्णन ।

———

विरह वर्णन की शैलियां ७

प्रायः सभी काव्यों में विरह-वर्णन तीन शैलियों में प्राप्त होता है। प्रथम शैली में विरह की वेदना बिना किसी विशेष आडम्बर के व्यक्त की जाती है, सरल भाव, सरल शैली, जो हृदय को सीधे जाकर छूती है, मस्तिष्क के माध्यम से नहीं। द्वितीय शैली में ऊहा का आश्रय लिया जाता है। ऊहा का शाब्दिक अर्थ है क्लेश या दुःखसूचक शब्दावली से युक्त उक्ति। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ऊहात्मक का भाव वस्तु-व्यंजनात्मक माना है।[1] स्पष्ट है कि ऊहात्मक शैली में व्यंजकता अधिक दूर तक जाती है, भले ही वह सीधी और अकृत्रिम ही क्यों न हो। तृतीय शैली में अलंकारों की दौड़-धूप विरह पर छाई रहती है, ऐसे वर्णन पहले बुद्धि से सम्यक् व्यायाम कराके अलंकारों की पहचान कराते हैं, फिर हृदय में प्रवेश करते हैं या बाहर से ही लौट आते हैं। यहाँ हम इन तीनों शैलियों की समीक्षा करेंगे।

सहज शैली—

कवि अपने या अपने नायक-नायिका के हृदय की वेदना जब सरलता पूर्वक ज्यों की त्यों प्रकट कर देता है तब उसकी यह वर्णन पद्धति सहज शैली कही जा सकती है। इसका यह अर्थ नहीं कि सहज रूप से अभिव्यक्त होने वाला विरह निरा कल्पना तथा कला से शून्य एवं सामान्य ही रहता है। उसमें अलंकारों का प्रयोग हो सकता है, पर इसी रूप में कि अलंकार हृद्गत भाव की अभिव्यक्ति में सहायक हों। उसमें कल्पना की जा सकती है, पर उसे यथार्थ के तल पर पहुँचा कर खड़ा करना पड़ता है। यथार्थ से दूर कल्पना की अधिक ऊंची उड़ान इस शैली में नहीं हो सकती। विरह के साथ ही उत्पन्न होने वाले भावों की अभिव्यक्ति ही ऐसी शैली में होती है। यथार्थ या कल्पना के माध्यम से मानव-मानस से तलस्पर्शी अध्येता महाकवि तथा भुक्त-भोगी ही इस शैली के सुन्दर वर्णन कर सकते हैं। शृंगार के क्षेत्र में अनेक स्थलों पर मीरा, घनानंद कालिदास, तुलसीदास, हरिऔध तथा मैथिलीशरण ने विरह-वेदना

१—जायसी-ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ ३९।

की सहज अभिव्यक्ति देने वाली कविताएँ लिखी हैं। करुण के क्षेत्र में कालिदास, टेनिसन तथा बच्चन की ऐसी रचनाएँ उत्कृष्ट कोटि की हैं। वात्सल्य के क्षेत्र में सूर तथा हरिऔध के वर्णन इसी शैली में लिखे जाने के कारण साहित्य की अद्वितीय निधि बन गए हैं। लोकगीतों में भी कहीं-कहीं इस शैली में विरह-वेदना व्यक्त की गई है।

मानव-हृदय से निःसृत भाव को प्रदान की जाने वाली अकृत्रिम अभिव्यक्ति अपने में स्वयं सबसे बड़ा अलंकार है। यह सहज अभिव्यक्ति वह हृदयालंकार है जिस में रस भी समाहित हो जाता है। भाव को सरलतापूर्वक वही कह सकता है, जिसके पास भाव का सच्चा अनुभव करने वाला हृदय है। ऐसा हृदय लाखों मनुष्यों में से किसी एक के पास ही होता है, जो आवेश-मुक्त होकर भाव को समझ और परख सके तथा उसे अभिव्यक्ति प्रदान कर सके। नमक-मिर्च लगा कर या लंबी-चौड़ी हांक कर कुछ कहने से भी सीधी सादी तरह कुछ कहना ज्यादा कठिन, ज्यादा अनुभव-सापेक्ष, ज्यादा गंभीर तथा ज्यादा **प्रभावशाली** होता है।

सहज शैली में प्राप्त विरह-वर्णन हृदय पर तुरंत प्रभाव डालते हैं। मनुष्य उन्हें पढ़कर आश्चर्य नहीं करता, दाद नहीं देता, भाव में खो जाता है। तमिल भाषा की एक अत्यन्त प्राचीन कविता में विरह का सहज अनुभव सरलता से व्यक्त किया गया है, कोई कल्पना नहीं की गई। फिर भी उसका प्रभाव प्रथम कोटि का पड़ता है। भाव है,—'हे उज्जवल कंकणवाली, सुनो, में जब सखियों के साथ घरौंदे बनाकर खेलती थी, तब वह (प्रेमी) उन्हें नष्ट करता था। कस कर बंधी वेणी को प्रेम से खोल देता था तथा गेंद को उठा कर ले जाता था। इस प्रकार हमें दिक करने वाला उस दिन जब मैं माता के साथ बैठी थी, उस समय जल पीने बहाने हमारे घर आया था। माता ने मुझ से कहा—'सोने के लोटे में उसको पानी दो।' (उसकी उपस्थिति से मुग्ध होकर) मैं भी अपने को भूली हुई भीतर गई। वह तो जल पीने आया ही। परन्तु मुझे एकांत में पाकर उसने मेरा प्रकोष्ठ ग्रहण किया। मैं सिर से पैर तक सिहर उठी और उच्च स्वर में बोली—'माताजी, इसको देखो तो।' माताजी दौड़ी हुई भीतर आई। मैंने उसकी रक्षा करने के विचार से वास्तविक बात को छिपाकर कहा—'कुछ नहीं माताजी, पानी पीते समय इसको हिचकी आ गई।' माताजी ने उसकी पीठ सहलाई। तब वह मनचोर अपने नेत्रों की कोर से मुझे देखता हुआ मुस्कराया और चला गया। सखी, उसका स्मरण करते ही मेरे मन में वेदना होती है।''

उक्त वर्णन में 'स्मृति' का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र खींचा गया है। तरुणाई की मुग्धावस्था में प्रिय की स्पृहणीयता, पर उसकी शरीर-संबद्ध चेष्टाओं के प्रति

अज्ञात भय इन दोनों भावनाओं का बहुत ही गंभीर वर्णन अत्यन्त सरल रूप लेकर इन पंक्तियों में हुआ है । 'प्रिय का एकांत सान्निध्य रस भी मिले और वह सान्निध्य शुद्ध मानसिक उल्लास तक ही सीमित रहे'—तरुणावस्था के प्रारम्भिक प्रेम में नायिका का यही भाव प्रधान रहता है । इस स्थिति में प्रिय की शरीर-संबद्ध चेष्टाओं को, स्पृहणीयता की एक सीमा तक मूल्यवान समझने पर भी, प्रिया रोक देती है, पर प्रायः इस प्रकार नहीं कि वह डांटा-फटकारा जाये । इन सब भावों का मनोहारी संगम उक्त कविता[1] में होता है । 'स्मृति' का ऊँचा से ऊँचा या अलंकारपूर्वता की सीमा को छूने वाला वर्णन भी इस सीधी-सादी भावाभिव्यक्ति के सामने मात खा जायेगा ।

आयु तथा ज्ञान में बढ़ी प्रिया प्रिय के गुण-कथन के द्वारा अपने बढ़े हुए व्यथा-भार को हल्का करती है । अपनी अंतरंग सखियों से जब वह हृदय-द्रावक विरह-वर्णन करती है, तब उसके अश्रुओं के माध्यम से हृदय झांकता रहता है । उसके स्खलित-कण्ठ से निकलने वाले शब्द सखियों को रुला-रुला देते हैं भारतीय साहित्य के सर्वश्रेष्ठ गौरव महाकवि कालिदास ने इस स्थिति का स्वाभाविक वर्णन किया है ?—

उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः
सवाष्यकण्ठस्खलितैः पदैरियम् ।
अनेकशः किन्नरराज कन्यका
बनान्तसंगीतसखीररोदयत् ।। [2]

चित्रकला विरह को सहायता देती है । एकान्त में प्रिय का चित्र बना कर उससे प्रश्न किए जाते हैं, उलाहना दिया जाता है । सहज कल्पना-शक्ति के द्वारा नायिका के हृदय में प्रवेश करने वाले महाकवि कालिदास की संसार-साहित्य में बेजोड़ भावुकता इस सहज भाव का सफल स्पर्श करती है,—

यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे
न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम् ।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया
रहस्युपालम्यत चन्द्र शेखरः ।। [3]

१—चतुर्दश भाषा- निबंधावली (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा प्रकाशित) में श्रीयुत् एम० सब्रह्मण्यम् का निबंध 'तमिल भाषा और उसका साहित्य' पृष्ठ २१ ।
२—कुमारसंभवम् (५।५६) ।
३—कुमारसंभवम् (५।५८) ।

सहज के लिए यह आवश्यक नहीं कि कल्पना तथा अलंकारों का ही न किया जाये। पर सहज भावाभिव्यक्ति तभी संभव हो सकती है जब अपनी आत्मा या पात्र-पात्रा की परिस्थिति तथा उसकी आत्मा के दर्शन ठीक-ठीक किए जाएँ, तल पर पहुँच कर किए जायें ऊपर रह कर न किए जायें। इस स्तर पर पहुंची दृष्टि जब जब कल्पना करती है, तब कल्पना यथार्थ से भी अधिक प्रभावशालिनी बन जाती है, अलंकार अलंकार न लग कर अनुभूति के अवयव प्रतीत होते हैं।। ऐसी दृष्टि महान महान से महान कवियों में भी सर्वत्र नहीं मिलती और साधारण श्रेणी के कवियों में भी कभी-कभी मिल जाती है।

महाकवि तुलसीदास की दृष्टि विरह की सहज दशा से परिचित थी। कौशिक के साथ राम-लक्ष्मण के चले जाने पर माता की आत्मा का पुत्र-वियोग-भाव उन्होंने बड़ी स्वाभाविकता से प्रकट किया है, जो सूर से प्रभावित लगने पर भी मनोहारी है,—

> मेरे बालक कैसे धों मग निबहहिंगे ?
> भूख पियसा, सीत, स्रम सकुचनि क्यों कौसिकहिं कहहिंगे ?
> को भारही उबटि अन्हवै हैं काढ़ि कलेऊ दैहे ?
> को भूषन पहिराइ निछावरि करि लोचन सुख हौ है ? [१]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि के आराध्यदेव के प्रति प्रेमातिरेक ने उनके राज-कुमारत्व की उपेक्षा नहीं की, अपितु उसका ध्यान रखा है। साधारण स्थिति की माता अपने पुत्र के विरह में इस कोटि के जो भाव प्रकट करेगी, उनका रूप कुछ भिन्न अवश्य होगा। अस्तु।

रस-सिद्ध महाकवि सूरदास का अमर तथा अद्वितीय वात्सल्य-विरह सहज भावों की अमर अभिव्यक्तियों से भरा पड़ा है। 'नंद ब्रज लीजे ठोंकि बाजइ' की भावशवलता से भी बढ़कर किसी वस्तु पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल [२] यों ही मुग्ध न थे, उनकी रस-बिह्वल प्रशंसा का मूल उक्त अमर पद की स्वाभाविक भावाकुलता ही ही है, जो पांच शब्दों में ही आत्मा को झकझोर देती है। इसका कारण उसका आत्मा के तल से निकलना ही है। आत्मा ही आत्मा को छूती है, हृदय ही हृदय को छूता है। केवल कल्पना या केवल अलंकार बुद्धि को छूते हैं, आत्मा या हृदय को नहीं, यदि कभी आत्मा या हृदय को छूने में सफलता भी पाते हैं तो बुद्धि के माध्यम से ही आत्मा या हृदय तक उनका सीधा प्रवेश नहीं हो पाता।

१—गीतावली (९७)।

२—भ्रमरगीतसार, भूमिका, पृष्ठ २३।

कृष्ण के वियोग में नंद और यशोदा दोनों ही व्याकुल हैं । नंद कृष्ण के मथुरा से न लौटने के कारण से परिचित हैं । पर विरह हृदय का शुद्ध व्यापार है, तर्क और बुद्धि से उसका थोड़ा ही संबंध है । अतः वात्सल्य मुर्ति सूर ने उनसे कहलाया है, - यशोदा, अब तो तू कृष्ण के वियोग में यों ही रो रही है, पर जब वह यहाँ था, तब बराबर मारती-पीटती रहती थी । इसीलिए वह नहीं आया । तेरी मार से डरता था न ! और बाँध ले ओखली में ।' ये भावनाएँ ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक हृदय से निकलने वाली भावनाएँ हैं और ऐसी भावनाओं की सफल एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति के कारण सूर संसार के महान से महान कवियों की श्रेणी में बैठ कर अपने वात्सल्यरस की अद्वितीयता को सरलता पूर्वक सिद्ध कर सकते हैं । नंद के कुछ शब्दों में कितने भावों का संगम होता है, यह देखने की चीज है,—

तब तू मारिबोई करति ।
रिसनि आगे कहि जो आवत अबलै भाडै भरति ।।
रोस के कर दांवरी लै फिरति घर-घर धरति ।
कठिन हिय करि तव जों बाँध्यो अब वृथा करि मरति ।।

अरबों मनुष्य तथा असंख्य प्राणी धरती पर रहते हैं । पर हमारा हृदय प्रेम करने वाले हृदय में ऐसा बँध जाता है कि वह व्यक्ति समष्टि का प्रतीक बन जाता है, हमारे लिए वह समग्र जगत् बन जाता है । उसके न रहने पर हमें लगता है सारा संसार जन शून्य है, हम बिल्कुल अकेले तड़प रहे हैं, हमें सान्त्वना देने वाला कोई नहीं है । स्वानुभूत वियोग-वेदना को सफल अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले कवि बच्चन अपनी प्रिया के चिर वियोग की व्यथा को प्रकट करते हुए कहते हैं, —

मैं अपने से पूछा करता ।
निर्मल तन, निर्मल मन वाली,
सीधी सादी, भोली भाली,
वह एक अकेली मेरी थी,
दुनियाँ क्यों अपनी लगती थी ?
मैं अपने से पूछा करता ।
तन था जगती का सत्य सघन,
मन था जगती का स्वप्न गहन,
सुख दुख, जगती का हास रुदन,
मैंने था व्यक्ति जिसे समझा,

क्या उसमें सारी जगती थी ?
मैं अपने से पूछा करता ।[1]

ऊहात्मक शैली—

सहज शैली में हृदय के अकृत्रिम उद्गारों की प्रधानता रहती है। ऊहात्मक शैली में विरह की अभिव्यक्ति कल्पना समन्वित भी रहती है, शुद्ध यथार्थत्मक भी। यही कारण है कि सभी प्रकार के विरह-वर्णनों की हमने ऊहात्मक शैली-के अन्तर्गत नहीं रखा, यद्यपि ऊहा शब्द की दृष्टि से ऐसा हो सकता है और शैली एवं अलंकारिक शैली को भी इसमें समाहित किया जा सकता है। पर तलस्पर्शी दृष्टि से हमने ऐसा करना समीचीन नहीं समझा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है,—विरह-वेदना का आधिक्य या न्यूनता सूचित करने के लिये ऊहात्मक वा वस्तु व्यंजनात्मक शैली का विधान कवियों में तीन प्रकार का देखा जाता है—

(१) ऊहा की आधारभूत वस्तु असत्य अर्थात् कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध है।

(२) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य या स्वतःसंभवी है और किसी प्रकार की कल्पना नहीं की गई है।

(३) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य है पर उसके हेतु की कल्पना की गई है।[2]

उपर्युक्त स्थापना में आचार्य शुक्ल का ऊहा शब्द कवियों के द्वारा भाव को सफल अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले कल्पना-विधान या यथार्थवस्तु-निरूपण का पर्याय सा बन गया है।

इन तीन ऊहात्मक शैलियों में प्रथम शुद्ध कल्पनात्मक है, जिसमें केवल चमत्कार के दर्शन हो सकते हैं, विरहानुभूति के नहीं। इसमें विरह पर जो ऊहा (वेदना-सूचक उक्ति या वस्तु-व्यंजना) प्रस्तुत की जाती है, वह कविप्रोढ़ोक्ति सिद्ध होती है, यथार्थ या सत्य को उसमें कोई स्थान नहीं मिलता। संस्कृत के परवर्ती काव्य, उर्दू तथा रीतिकालीन हिंदी-कविता में ऐसे वर्णन पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। बिहारी और मतिराम ऐसे वर्णन करने वालों में प्रमुख हैं। कुछ उदाहरण दे देना अनुचित न होगा,—

सीरे जतननि सिसिर ऋतु सहि बिरहिनि तन ताप।
बसिबे कौं ग्रीषम दिनन परयो परोसिनि पाप ॥

१—आकुल अंतर (पृष्ठ २५)।

२—जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ २८।

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति ।
साहस के के नेहबस सखी सबै ढिंग जाति ।।
सुनत पथिक मुँह मांहनिसि लुवैं चलैं वहि ग्राम ।
बिन बूझे बिन ही सुने जियत बिचारी बाम ।।

(बिहारी)

सखिन करत उपचार अति परत विपति उत रोज ।
झुरसत ओज मनोज के परस उरोज सरोज ।।
जागत ओज मनोज के परसि तिया के गात ।
पापर होत पुरैनि के चंदन पंकिल पात ।।
विरह तचे तिय कुचनि लों अंसुवा सात न आय ।।
गिरि उडुगन ज्यों गगन तें बीचहिं जात बिलाय ।।

(मतिराम)

जब ऊहा की आधारभूत वस्तु सत्य या स्वतः संभवी होती है—तब वियोग का वर्णन बहुत मर्मस्पर्शी हो जाता है। ऐसे वर्णन सहज शैली के बहुत निकट होते हैं, अन्तर केवल इतना रहता है कि इनमें अधिकतर बाह्य प्रतीकों के द्वारा वेदना व्यक्त की जाती है और सहज शैली में मानसिक व्यथा अधिक व्यक्त की जाती है। इस शैली के विरह वर्णनों की प्रसंसा करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं,—'सच पूछिए तो वस्तु-व्यंजनात्मक या ऊहात्मक पद्धति का उसी रूप में अवलंबन सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।—इसी प्रकार एक गीत में एक वियोगिनी नायिका कहती है कि 'मेरा प्रिय दरवाजे पर जो नीम का पेड़ लगा गया था वह बढ़ कर अब फूल रहा है, पर प्रिय न लौटा।' आधार के सत्य और प्राकृतिक स्वरूप के कारण इस उक्ति में कितना भोलापन बरस रहा है।'[१]

इस प्रकार के सुन्दर विरह-वर्णन प्रायः लोकगीतों में ही हुए हैं, कवियों का ध्यान इधर बहुत कम गया है। पहाड़ी लोकगीतों को एक विरहिणी कहती है—जो मधेश की ओर जाने-वाले, यदि तुम कभी लखनऊ शहर जाओ तो वहाँ के गारद में रहता है जो भला आदमी, उससे कहना—तुम्हारा बेटा दौड़ना सीख गया काली बाछी को तीसरा बाछा हुआ है।'[२] उत्तर प्रदेश, विशेषकर कानपुर जिले, में गाए जाने वाले एक अत्यंत मर्मस्पर्शी लोकगीत में विरहिणी कहती है—जब मेरी उमर बारी थी, तभी से राजा छतरपुर में छा

१—जायसी-ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ ३९।
२—श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु'-कृत उपन्यास 'परती:परिकथा', पृष्ठ ७६।

रहे हैं । अपना बाग पुराना हो गया है, उसकी डालें टूटने लगी हैं, अपना कुंआ पुराना हो गया है, उसके मरुवे हिलने लगे हैं, अपना घर पुराना हो गया है, उसकी ईंटें सरकने लगी हैं, और तो और, मैं भी पुरानी हो चली हूँ, उधर उमर ढलने लगी है, पर अभी तक प्रिय नहीं लौटे, छतरपुर में ही छाए हुए हैं,—

बारी मोरी बैस राजा छतरपुर छाय रहे ।
अरे, बागा पुराने ह्वै गये, पुराने ह्वै गये,
टूटन लागी डार, राजा छतरपुर छाय रहे । बारी.......
अरे, कुवनां पुराने ह्वै गये, पुराने ह्वै गये,
हालत लागे मरुवा, राजा छतरपुर छाय रहे । बारी... ।
अरे, महला पुराने ह्वै गये, पुराने ह्वै गये,
सरकन लागी ईंटें, राजा छतरपुर छाय रहे । बारी... ।
अरे रनियां पुरानी ह्वै गई, पुरानी ह्वै गई ।
लचकन लागी बैस, राजा छतरपुर छाय रहे । बारी... ।।

तृतीय प्रकार की ऊहात्मक शैली में ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य और स्वतःसंभवी होता है पर उसके हेतु का कुछ और ही कल्पना की जाती है । आचार्य शुक्ल लिखते हैं,—"इस प्रकार का विधान भी प्रथम प्रकार के विधान से अधिक उपयुक्त होता है । इसमें हेतूत्प्रेक्षा का सहारा लिया जाता है जिसमें 'अप्रस्तुत' वस्तुओं का गृहीत दृश्य वास्तविक होता है, केवल उसका हेतु कल्पित होता है । हेतु परोक्ष हुआ करता है इससे उसकी अतथ्यता सामने आकर प्रतीति में बाधा डालती नहीं जान पड़ती । इस युक्ति से कवि विरह-ताप के प्रभाव की व्यापकता को बढ़ाता-बढ़ाता सृष्टि भर में दिखा देता है । एक उदाहरण काफी होगा...

अस परजरा बिरह कर गठा । मेघ साम भये धूम जो उठा ।:
दाढ़ा राहू, केतु गा दाधा । सूरज जरा, चांद जरि आधा ।।
औ सब नखत तराई जरहीं । टूटहिं लूक, धरति महं परहीं ।।
जरै सौ धरती ठावहिं ठाऊँ । दहकि पलास लरै तेहि दऊँ ।।[1]

ऐसे वर्णन जायसी ने बहुत उत्कृष्ट किये हैं । जायसी के विरह-वर्णन की एक महान विशेषता उनकी सृष्टि-व्यापी विरह-दृष्टि है, जो उन्हें अपने क्षेत्र में

१—जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ ३१ ।

संसार-साहित्य की विभूति बना देती है। "लखियत कालिन्दी अतिकारी। कहिवों पथिक जाय हरि सों ज्यों भई विरह जुर जारी ।।—

प्रभृति कुछ पदों में महा कवि सूरदास ने भी ऐसे पद किये हैं।

आलंकारिक शैली—जब विरह व्यथा अलंकारों की सहायता से व्यक्त की जाती है तब वर्णन आलंकारिक शैली के अन्तर्गत आ जाता है। सहज शैली एवं ऊहात्मक पद्धति में प्राप्त होने वाले विरह-वर्णन में भी अलंकार रहते हैं या रह सकते हैं, पर वहाँ पर अलंकार भावाश्रित रहते हैं, भाव अलंकाराश्रित नहीं रहता। आलंकारिक शैली में अलंकार के हटा देने पर भाव-सौन्दर्य नष्ट नहीं, तो कम अवश्य हो जाता है। इस शैली के विरह-वर्णन का तलस्पर्शी रस-बोध वर्णन-संबद्ध अलंकारों के सम्यक् ज्ञान के बिना नहीं होता।

आलंकारिक शैली में सृजित विरह-वर्णन भी तीन प्रकार का प्राप्त होता है,—

(१) वे वर्णन जिनमें अलंकार भाव या रस के बोध में सहायक का कार्य करते हैं। वे भाव में अन्तर्निहित रहते हैं, साधारणतः दृष्टिगोचर नहीं होते। ऐसे वर्णन में अलंकार के कारण विरह-भाव और भी अधिक सुशोभित हो उठता है। विरह-भाव के सोने में अलंकार की सुगंध मिल जाती है। कालिदास, सूर, तुलसी, घनानंद, हरिऔध, रत्नाकर और मैथिलीशरण इत्यादि कवियों द्वारा अलंकृत शैली में रचे गये अनेक वर्णन इसी प्रकार के है। कहीं-कहीं जायसी, केशव, बिहारी, देव और मतिराम प्रभृति कवियों की रचनाओं में भी ऐसे वर्णन दृष्टिगोचर हो जाते हैं। अलंकार की सहायता से विरहानुभूति को पुष्ट करने का अत्यन्त विशद प्रयोग घनानंद की रचनाओं में दिखाई देता है, जिनके विरोधाभास हिन्दी-साहित्य में अपना अनूठा स्थान रखते हैं। इस शैली का रत्नाकार-विरचित उद्धरण हम नीचे दे रहे हैं जिसमें श्लेष ने विरह-वेदना को व्यक्त करने में अच्छी सहायता पहुंचाई है। पर यहाँ श्लेष-भावना से मुक्त रह कर भी अर्थ-ग्रहण किया जाये, तो भी भाव अच्छा प्रतीत होगा,—

रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के,
जैते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावे कौन,
देत ना सुदरसन हूं यों सुधि विसराई हैं ।।
करत उपया न सुभाय लखि नारिन कौ,
भाव क्यों अनारिन को भरत कन्हाई हैं।

ह्यां तो विषम ज्वर वियोग की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं ॥[1]

(२) वे वर्णन जिनमें अलंकार भाव को सौन्दर्य तथा कला की दृष्टि से गौरव तो प्रदान करता है, पर अपना पृथक् अस्तित्व प्रदर्शन भी करता रहता है। ऐसे वर्णनों में अलंकार को हटा देने पर अर्थ को क्षति पहुंचती या पहुंच सकती है। केशव, रीतिकालीन कवियों तथा मैथिलीशरण की रचनाएँ में ऐसे वर्णन सुन्दर हुए हैं। नीचे हम साकेत से इस प्रकार का एक उत्कृष्ट उदारहण देते हैं, जिसमें व्याप्त 'असंगति' का सौंदर्य हटा देने पर सम्यक् प्रकार से भाव-बोध नहीं हो पायेगा। 'असंगति' में पक्षियों की जो मुन्दर चर्चा हुई है, वह भारतीय काव्य की सुन्दर थाती है,—

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये।
फैला उनके तन का आतप मन से सर सरसाये,
घूमें वे इस ओर कहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये।
करके ध्यान आज इस जनका निश्चय ये मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बन्धूक सुहाये।
स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये॥[2]

(३) वे वर्णन जिनमें अलंकार के लिये भाव-प्रयोग किया जाता है, भाव के लिये अलंकार का प्रयोग नहीं किया जाता है। चमत्कार प्रिय ऐसे वर्णनों पर बेतरह रीझे हैं। उर्दू के कुछ शायर और हिंदी के रीतिकालीन कवि अत्युक्ति पर फिदा थे। महाकवि केशवदास विरह-वेदना का प्रयोग अधिकतर उपमा, यमक, उत्प्रेक्षा, सन्देह तथा उल्लेख इत्यादि अलंकारों के सुंदर उदाहरण देने के लिए करते हैं। ऐसे वर्णनों का भाव की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं होता। उनका महत्व चमत्कार की दृष्टि से ही प्रतिपादित किया जा सकता है। केशवदास के दो उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

(सीता की वियोगिनी मूर्ति)
धरे एक वेणी मिली मेल सारी।
मृणाली मनो पंक तें काढ़ि डारी॥

१—उद्धव-शतक (३५)।
२—साकेत, पृष्ठ २१६-१७।

सदा राम नामै ररै दीन बानी ।
चहूँ ओर हैं राकसी दु:खदानी ।।
असी बुद्धि सी चित चितानि मानों ।
किधों जीभ दंतावली में बखानों ।।
किथों घेरि के राहु नारीन लीनी ।
कला चन्द्र की चारु पीयूष भीनी ।।
किधों जीव की जोति मायान लीनी ।
अविद्यान के मध्य विद्या प्रवीनी ।।
मनो संवर स्त्रीन में कामवामा ।
हनूमान ऐसी लखी रामरामा ।। [१]

(रामजी की विरहावस्था)

दीरघ दरीन बसैं केशोदास केसरी ज्यों,
केसरी को देखि वन करी ज्यों कंपत हैं ।
वासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत,
चकवा ज्यों चंद चितै चौगनी चंपत हैं ।।
केका सुन व्याल ज्यों विलात जात घनस्याम,
घनन की घोरन जवासो ज्यों तपत हैं ।
भौंर ज्यों भंवत वन जोगी ज्यों जगत रैनि,
साकत ज्यौं नाम राम तेरोई जपत हैं ।। [२]

उक्त शैलियों में सभी का अपनी-अपनी सीमा में अपना अपना महत्व है, इसमें संदेह नहीं। प्रथम प्रकार की आलंकारिक शैली में अनुभूति की गंगा का कला की यमुना से जो संगम होता है, उसके द्वारा निर्मित काव्य-तीर्थराज की उपेक्षा करना अनुचित होगा। द्वितीय प्रकार की आलंकारिक शैली भी मर्म का स्पर्श करती है, उसका भी मूल्य बहुत साधारण नहीं कहा जा सकाता। तृतीय प्रकार की आलंकारिक शैली में अनुभूति-गौरव नहीं होता, पर उसके कला-चमत्कार को निरा उपेक्षित विषय नहीं माना जा सकता। तुलसी, सूर तथा कालिदास प्रभृति सर्वोच्च कोटि के कवियों ने भी इस क्षेत्र में अपनी थोड़ी-सी रुचि दिखला कर यह स्पष्ट कर दिया है कि अलंकार-प्रेम कवियों का एक सहज धर्म है,

---

१—रामचन्द्रिका (१३।५३-५४-५५) ।
२—रामचन्द्रिका (१३।८८) ।

भले ही वह अवांछनीय सीमा पर पहुँच कर अरुचिकर प्रतीत होने लगे। आचार्य शुक्ल ने ऊहात्मक शैली के उन वर्णनों का अवमूल्यन कर दिया है जो आधारभूत असत्य पर आश्रित रहते हैं। वस्तुतः चमत्कार-प्रेम मध्यकालीन भारतीय काव्य-रचना की एक विशेष प्रवृति रही है, जिसका मूल संस्कृत के किरात, शिशुपालवध तथा नैषध प्रभृति प्रबन्ध-काव्यों में हैं। संस्कृत की परवर्ती मुक्तक रचनाओं में भी चमत्कार के प्रति विशेष आग्रह दिखलाई देता है। इतना स्पष्ट है कि काव्य-गौरव की दृष्टि से प्रथम स्थान अनुभूति प्रवरण काव्य को ही सदा प्रदान किया गया है तथा प्रदान किया जाता रहेगा।

आचार्य शुक्ल ने उन विरह-वर्णनों की बड़ी प्रशंसा की है, जिनमें ऊहा की आधारभूत वस्तु सत्य या स्वतः संभव रहती है। ऐसे वर्णनों में अद्वितीय सादगी रहती है, भोलापन बरसता रहता है, पर उनका क्षेत्र इतना सीमित है कि कविगण उधर नहीं बढ़ सकते। लोकगीतकारों ने उस क्षेत्र को पहले से ही भर रखा है। आत्मानुभूति की दृष्टि से ऐसे वर्णनों को उतना महत्व नहीं दिया जा सकता। बाह्य वातावरण से संबंधित सत्य या स्वतःसंभवी वस्तुएं विरह जैसे विराट भाव को कहां तक व्यक्त कर सकती हैं? यही कारण है कि कवियों ने ऐसे वर्णन शायद ही किए हों। लोकगीतों की भावना के सबसे अधिक निकट रहने वाले महाकवि जायसी ने भी शायद ऐसा कोई वर्णन नहीं किया। शुक्ल जी ने उन वर्णनों की भी प्रसंशा की है, जिनमें ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य रहता है पर उसका हेतु काल्पनिक रहता है। ऐसे वर्णन जायसी ने बहुत किए हैं। कहीं-कहीं अन्य कवियों के भी ऐसे वर्णन प्राप्त होते हैं। पर वास्तव में इस प्रकार के वर्णन केवल प्रभाव-निरूपण एवं प्रभाव-कल्पना करते हैं, आत्म-वेदना को व्यक्त नहीं करते। उन कवियों की 'त्रलैलोक्य-व्यापिनी भावुकता धन्य है, जो अपने भाव को सारी सृष्टि पर छाया हुआ दिखलाने में सफलता प्राप्त करते हैं। पर केवल व्यापक प्रभाव दिखलाने से ही विरहानुभूति प्रकट नहीं होती। व्यापक प्रभाव साधन की है, चाहे वह कितना भी व्यापक, महान तथा गम्भीर हो, साध्य तो विरही अन्तस्तल की वेदना ही है। जायसी ने नागमती के विरह का प्रभाव सारी सृष्टि में दिखलाया है। पर किसलिए? नागमती के अन्तःकरण की वेदना को स्पष्ट करने के लिए, जिसके सहज भाव का मर्मस्पर्शी वर्णन उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से किया है। अतः यह स्पष्ट है कि विरह-वर्णन की यही शैली सर्वश्रेष्ठ है जिसमें विरही या विरहिणी की मर्मस्पर्शी वेदना को व्यक्त करने का प्रयास सर्वोपरि महत्व रखता हो, उहा अथवा अलंकारादि का प्रयोग इसी साध्य के साधनों के रूपों में हुआ हो। प्रायः सभी प्रथम श्रेणी के विरह-वर्णन करने वाले कवियों ने ऐसा ही

किया भी है । कालिदास, जायसी, सूर, तुलसी, हरिऔध मैथिलीशरण इत्यादि महान कवियों के विरह-वर्णन इसके स्पष्ट उदाहरण हैं । आधुनिक कवियों में विरह की सहज आकुलता को ही व्यक्त करने की प्रवृत्ति अधिक दृष्टिगोचर होती है । यह ठीक भी है । पर विरह निरा 'स्व' परक होने पर विशद नहीं हो सकता । उसके विशदीकरण के लिए 'स्व' के साथ जगत पर पड़ने वाली व्यापक दृष्टि तथा भाव को सजाकर रखने वाली कला भी बहुत दूर तक आवश्यक है ।

वात्सल्य विरह वर्णन ८

हम पहले कह आए हैं कि संस्कृत के आचार्यों में मुनीन्द्र, भोज तथा विश्वनाथ को छोड़कर संभवतः किसी ने वात्सल्य को दसवें रस के रूप में स्वीकृत नहीं किया, केवल भाव माना है। आचार्य विश्वनाथ ने अपने अमर ग्रंथ 'साहित्य-दर्पण' में वात्सल्य को रस का स्थान प्रदान किया है, उसके स्थायीभाव, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभावादि का निरूपण किया है और संयोग वात्सल्य का एक उदाहरण ('रघुवंशम् के तृतीय सर्ग से') भी दिया है।[1]

कुछ आचार्यों ने 'यदाह धात्र्यां' इत्यादि में स्थायीभाव रति ही माना है, वात्सल्य को भाव मात्र स्वीकृत किया है। रति यदि प्रेम का पर्याय हो, तो ऐसा ठीक भी है। पर हम 'रति' की अनेक परिभाषाएँ देकर स्पष्ट कर चुके हैं कि शब्द की दृष्टि से 'रति' प्रेम का सूचक होने पर भी भाव एवं विकार की दृष्टि से दाम्पत्य प्रेम

१—साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद, मतान्तरेण वत्सल.रस-निरूपण,—

(७८) अथ मुनीन्द्र सम्मतोवत्सलः—

(७९) स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः ।
आलिंगनांगसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम् ॥
पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तितः ।
संचारिणोऽनिष्टशंकाहर्षगर्वादयो मताः ॥
पद्मगर्भच्छविर्वर्णो देवतं लोकमातरः ।

यथा—

(८०) यदाह धात्र्यां प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपात शिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥

के साथ बंध चुका है। ऐसे आचार्यों ने कहा है कि यदि वात्सल्य रस है तो ईश्वर प्रेम या देव विषयारति भी पृथक रस क्यों न होगी ? हिंदी के विद्वानों ने मधुररस और भक्ति रस इत्यादि की स्थापनाएं यत्र-तत्र की भी हैं। इस संबंध में हम कह आए हैं कि दाम्पत्य रति, संतानानुराग तथा भगवद्-भक्ति इत्यादि सभी का मूल प्रेम है, जिसमें आलंबन के अन्तर के साथ प्रवृत्ति का भी अंतर होता रहता है। श्रृंगार, वात्सल्य, हरिरस या भक्तिरस या मधुररस सब प्रेमोद्भूत तत्व हैं। प्रेमरस कह देने से नये-नये नामों की स्थापना करने का कारण नहीं रह जाता। वात्सल्य को श्रृंगार में समाहित करना उचित नहीं है, वह श्रृंगार से भिन्न प्रेम-मूलक प्रवृत्ति है।

'साहित्य-दर्पण' में 'मुनीन्द्रसम्मत वत्सल' का प्रतिपादन यह सूचित करता है कि विश्वनाथ से पूर्व वात्सल्य के रस-रूप-निरूपण पर प्रयास हो चुका था, यद्यपि अनेक आचार्य उसे 'भव' ही मानते थे। हमारी समझ में आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य रस पर जो विचार प्रगट किए हैं, वे एक-पक्षीय हैं। उन्होंने वात्सल्य के संयोग पक्ष का ही उदाहरण दिया है। परन्तु प्रत्येक प्रेममूलक प्रवृत्ति या भाव के दो पक्ष—संयोग और वियोग—होने अनिवार्य हैं। संस्कृत में वाल्मीकि की 'रामायण' में वियोग-वात्सल्य का जो उत्कृष्ट, हृदय-ग्राही तथा विशद वर्णन हुआ है, वह 'रघुवंशम्' के संयोग-वात्सल्य के दो श्लोकों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। आचार्य विश्वनाथ चाहते तो वियोग-वात्सल्य के उदाहरण सरलतापूर्वक दे सकते थे। संयोग-वात्सल्य से वियोग-वात्सल्य कम महत्व रखता हो, ऐसा कोई नहीं कहेगा। इतना स्पष्ट है वात्सल्य के क्षेत्र में संस्कृत में सूरदास या हरिऔध के स्तर का कोई कवि नहीं है, क्योंकि संस्कृत के कवि इधर अधिक उत्साह में गए ही नहीं हैं। तमिल के विष्णुचित या बंगला के रवीन्द्र वात्सल्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पर संयोग तथा वियोग दोनों प्रकार के जैसे व्यापक सहजानुभूतिव्यंजक तथा गंभीर वात्सल्य-वर्णन हिंदी में प्राप्त होते हैं, वैसे अन्यत्र नहीं। इस क्षेत्र में हिंदी की अद्वितीयता असंदिग्ध है।

वात्सल्य के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों के विशद तथा उत्कृष्ट वर्णन सूर तुलसी तथा हरिऔध ने किए हैं। हिंदी में वात्सल्य के रसत्व पर कोई विवाद नहीं है। पर इस संबंध में शास्त्रीय ऊहापोह अभी अधिक नहीं हुआ है। पं० मुंशीराम शर्मा ने अपने 'सूर सौरभ' में इस रस से संबंधित विवेचन करके एक स्तुत्य कार्य किया है।

वात्सल्य रस पर विचार करते हुए सूर साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर मुंशीराम शर्मा, डी० लिट्०, लिखते हैं,—'वात्सल्य रस के वियोग तथा संयोग दो पक्ष

हैं। संयोग-वात्सल्य के तो नहीं, पर वियोग-वात्सल्य के तीन भेद किए जा सकते हैं—प्रवास को जाते हुए, प्रवास में स्थित तथा प्रवास से आते हुए। वियोग में करुण-विप्रलंभ एक चौथा भेद भी हो सकता है।[1] इस प्रकार पं० मुंशीराम शर्मा द्वारा किए गए वियोग-वात्सल्य के भेद ये हैं,—

(१) प्रवास को जाते हुए।
(२) प्रवास में स्थित।
(३) प्रवास से आते हुए।
(४) करुण-विप्रलंभ (वात्सल्य रसान्तर्गत)।

'प्रवास को जाते हुए, भेद का वर्णन 'सूर-सागर', मानस, गीतावली तथा प्रिय-प्रवास में हुआ है। सूर-सागर और प्रिय-प्रवास के कृष्ण का मथुरा-गमन बहुत ही प्रभावशाली,सरस पथा हृदय-द्रावक हैं। मातृ-हृदय का अत्यंत भावनामय चित्र महाकवि सूर तथा खड़ीबोली के वात्सल्य रस-क्षेत्र में सूर के ही अवतार महाकवि हरिऔध ने खींचे हैं। विकलता, चिन्ता, आशंका तथा मंगल-कामना की जो मंदाकिनी इन दोनों महाकवियों ने वहाई है, उसकी स्वाभाविकता आत्मा को विगलित करती हुई सरलतापूर्वक सर्वोच्च कोटि की रसात्मकता सिद्ध करती है। सूर के वर्णन की मर्मस्पर्शिता प्रख्यात है। पं० मुंशीराम शर्मा के 'सूर-सौरभ' में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश भी पड़ चुका है। पर हमारी समझ में कृष्ण के मथुरा-गमन से पूर्व यशोदा (केवल यशोदा) का जैसा मनोवैज्ञानिक तथा बेदना-प्लावित चित्र हरिऔध ने खींचा है, वैसा इस क्षेत्र में सूर भी नहीं खींच सके। हरिऔध के विस्तृत वर्णन का कुछ अंश हम उद्धृत करते हैं, जिसमें कल सबेरे मथुरा-गमन करने वाले और आज रात में सोते हुए कृष्ण के निकट बैठी यशोदा का प्रभावशाली एवं मर्मस्पर्शी चित्र खींचा गया है और उनके मनोभावों का हृदयहारी वर्णन किया गया,—

निकट कोमल तुल्य मुकुन्द के।
कलपती जननी उपविष्ट थी।
अति असंयत अश्रु प्रवाह से।
वदन मंडल प्लावित था हुआ॥...
पट हटा सुत के मुख कंज की।
विकचकता जब थी अवलोकती।

१—सूर-सौरभ, पृष्ठ २११-१२।

विवश सी तब थी फिर देखतीं ।
सरलता, मृदुता, सुकुमारता ।।
तदुपरान्त नृपाधाम नीति की ।
अतिभयंकरता जब सोचतीं ।
निपतिता तब होकर भूमि में ।
करुण क्रंदन वे करती रहीं ।।
हरि न जाग उठें इस शोच से ।
सिसकतीं तक भी वह थीं नहीं ।
इसलिए उनका दुख वेग से ।
हृदय था शतधा अब हो रहा ।।[1]

कल प्रातः पुत्र प्रस्थान करने वाला है । प्रस्थान के गर्भ में आशंकाएँ भरीं हैं । सब लोग सो रहे हैं, क्योंकि रात अधिक बीत चुकी है । माता कैसे सो सकती है ? वह पुत्र के निकट बैठी रो रही है, उसकी शोभा देखकर विकल हो रही है, सोच रही है कि बिना इस शोभा को देखे वह कैसे जीवित रहेगी, पर अपनी आन्तरिक विकलता और रोदन को वाह्य अभिव्यक्ति नहीं दे पा रही, क्योंकि प्रकट रूप से रोने और हाहाकर करने से पुत्र जाग पड़ेगा और उसकी नींद टूट जायेगी । इससे बढ़कर मानवात्मा के मर्मस्पर्शी चित्र कहाँ मिलेगें ? हरिऔध ने यशोदा से जो मान-मनौतियाँ कराई हैं, वे माता के हृदय का सच्चा रूप प्रकट करती हैं । यही नहीं वे मानव के मुट्ठी भर के कोमल हृदय का प्रत्तीकत्व भी करती हैं, जो भविष्य की चिन्तना बहुत विगलित होकर करता आया है । सूर एक बड़े भक्त होने के कारण अपने आराध्यदेव भगवान कृष्ण के जीवन से संबंधित कोई आशंका यशोदा के अन्तःकरण में नहीं आने देते, मानव पर हरिऔध एक बड़े कवि मात्र के रूप में अपने चरित-नायक महा-मानव कृष्ण के जीवन से संबंधित आशंकाएँ यशोदा के अन्तःकरण में आने देते हैं । आशंकाएँ विशेष परिस्थितियों में मानव-हृदय का व्यापक स्पर्श करती रहती हैं । अतः हरिऔध का वर्णन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अधिक प्रभाव-शाली है ।

प्रवास में स्थित भेद के वर्णन महाकवि सूर, हरिऔध, तथा तुलसीदास ने बहुत अच्छे किए हैं । तुलसी के वात्सल्य-वियोग में कहीं-कहीं राम के प्रति उनकी स्वानुभूति कौशल्या तक फैल जाती है, और वे 'प्रभुजू की ललित पनहियां' अपने उर तथा नयनों से लगाने लगती हैं । इसे तिरा अस्वाभाविक तो नहीं कहा जा सकता,

---

१—प्रिय-प्रवास (३।२८, ३१,३२,३३) ।

पर घर में पनहियों के अतिरिक्त भी बहुत सी वस्तुओं को तुलसीदास कौशल्या के उर तथा नयनों से लगवा सकते थे। हिंदी में प्रवास को जाते हुए और प्रवास से आते हुए वात्सल्य-भेदों की तुलना में प्रवास में स्थित भेद के वर्णन कम प्रभावशाली हुए हैं। वास्तव में प्रवास में स्थित दशा के वर्णन ज्यादा प्रभावशाली होने चाहिए थे। सामान्य जीवन में ऐसा ही होता है।

हमारे साहित्य में प्रवास से आते हुए भेद के वर्णन सर्वोच्च कोटि की भावा-कुलता एवं वेदना को प्रकट करने वाले हुए हैं। सूर-सागर और प्रियप्रवास के ऐसे वर्णन हिंदी या भारतीय ही नहीं संसार-साहित्य में बेजोड़ हैं क्योंकि उनमें माता-पिता के हृदयों का भाववद्धतल छू लिया गया है, जिससे अधिक गहराई है अन्यत्र ही नहीं। सूर और हरिऔध की कृष्ण की प्रतीक्ष करती हुई यशोदा साहित्य-जगत की अनूठी निधि है। उक्त स्थलों पर तुलसीदास ने भी इस प्रकार के संक्षिप्त पर सुन्दर वर्णन किए हैं। प्रवास से आते हुए भेद में पुत्रागमन तथा उसके स्वागत सत्कार की कल्पनाएं नहीं हुई हैं। यह खटकने वाली बात है। वात्सल्य रसान्तर्गत करुण-विरह तब माना जाता है जब प्रवासी पुत्र के लौटने की कोई विशेष आशा निकट न हो। सूर-सागर और प्रिय-प्रवास में ऐसे वर्णन भी हुए हैं।

संतान का अभाव और पर संतान के प्रति वात्सल्य भावना ९

जीवन की अपेक्षा जीवन की अनुभूति अधिक महत्वपूर्ण है। स्वकीय स्थिति की अपेक्षा स्वकीयता की प्रतीति अधिक गम्भीर है। वात्सल्यभाव को केवल अपने रक्त से सम्बन्धित सन्तान तक ही नहीं बाँधा जा सकता। अन्य भावों के सदृश का वात्सल्य भी हृदय का व्यापार है। वह वाह्य परिस्थितियों में सर्वत्र बँधा ही रहे, यह अनिवार्य नहीं। पर स्वकीयता की प्रतीति आवश्यक है। कभी-कभी सेवकों का अपने स्वामी-स्वामिनी की सन्तान पर अटूट, गम्भीर तथा व्यापक प्रेम देखकर ऐसा लगता है जैसे 'स्वकीयता' की सीमा में भी वात्सल्य को बाँधना बहुत उचित नहीं है। रवीन्द्रनाथ का 'काबुली वाला' इस कथन का मर्मस्पर्शी प्रमाण है। श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी की **'मिठाई वाला'** शीर्षक उच्च कोटि की मर्मस्पर्शी कहानी का नायक पर-संतान पर जो प्रेम रखता है, वह करुणामूलक होने पर भी उच्च कोटि के वात्सल्य-भाव से संयुक्त है। पर तलस्पर्शी दृष्टि से देखने पर ऐसे प्रेम में भी स्वकीयता की अनुभूति दृष्टिगोचर होती है, भले ही वह अज्ञात या परोक्ष हो। ससार के सभी व्यक्तियों को आत्मवत् देखने का सिद्धान्त अत्यन्त महान् है और हम संसार में सबसे प्रेम रखने की भावना रख भी सकते हैं, पर प्रेम एक हद तक ही कर सकते हैं, क्योंकि हमारा 'स्व' संसार को समष्टिव्यापी भाव ही प्रदान कर सकता है, प्रत्येक व्यक्ति तक नही पहुंच सकता। उसकी 'स्वकीयता' सदैव वैयक्तिकता में आवद्ध रहती है। बड़े से बड़ा साम्यवादी भी अपने पुत्र को पुत्र ही कहेगा, भले ही वह सबके पुत्रों को पुत्रवत् मानें। इस 'वत्' का रहस्य मानव के हृदय मे है। अतः वात्सल्य की रस-दशा के लिए रक्त-सम्बन्ध के या उसकी प्रतीति अनिवार्य है। हम किसी भी वालक या बालिका की सरलता, सहज सौंदर्य, अकृत्रिम व्यवहार एवं मनोमोहक क्रीड़ाओं-वर्ताओं से पुलकित हो उठते हैं, विह्वल हो उठते हैं। पर यह विह्वलता स्थायी, गंभीर तथा तलस्पर्शिनी तभी होती है,

जब उस बालक या बालिका के प्रति स्वकीयता की अनुभूति करने लगें। प्रेम का उदार-हृदय व्यक्ति में सबके प्रति हो सकता है, पर वह स्थायी तभी बनता है, जब उसमें स्वकीयता की अनुभूति का प्रवेश हो।

हम पहले कह आए हैं कि स्वकीयता की अनुभूति स्वकीयता की स्थिति से भी अधिक महत्वपूर्ण होती है। वात्सल्य रस को रक्त-संबद्ध संतान में नहीं बाँधा जा सकता। यदि बाँधा जाये तो सूर और हरिऔध के वर्णन उससे पृथक् प्रतीत होंगे। पर ऐसा बाँधना ही ठीक नहीं है। मनुष्य का प्रेम स्वकीयता की स्थिति पर नहीं उसकी अनुभूति पर टिका है। लोग अपनी संतानों के प्रति विरक्त होकर भी दूसरों से प्रेम करते देखे गए हैं। रक्त-सम्बन्ध न होने पर भी लोग गोद लिए पुत्रों पर गंभीर प्रेम करते हैं। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई अपने गोद लिए पुत्र दामोदरराव को युद्ध के अवसरों पर भी पीठ से बाँधे रहती थीं। वात्सल्य का वह कितना आत्मस्पर्शी दृश्य होता होगा जब अपने छोटे-से शिशु दामोदरराव को पीठ से बाँधे वे युद्ध करती होंगी, उसे चोटों से बचाती होंगी, मुड़-मुड़ कर उसे देखती जाती होंगी।

यदि वात्सल्य रक्त-संबद्ध माना जाये तो पुत्र-वधुओं इत्यादि के प्रति जो विरह-व्यथा होती है, वह भी इस रस के क्षेत्र से पृथक् हो जायेगी। हमारी समझ में वात्सल्य का भाव अपनी संतान तक ही सीमित नहीं है, और उसके मूल में रक्त-संबंध न होकर स्वकीयता की अनुभूति है। स्वकीयता की यही अनुभूति यशोदा के आंसुओं तथा नंद की किंकर्तव्यविमूढ़ता में छायी दृष्टिगोचर होती है, स्वकीयता की यही अनुभूति दशरथ को राम-लक्ष्मण के साथ साथ सीता का नाम भी लेकर रुलाती है, स्वकीयता की यही अनुभूति झांसी की प्रातःस्मरणीय रानी लक्ष्मीबाई को दामोदरराव को युद्ध के अवसरों पर भी पीठ से बांधने के लिए विवश करती है। रक्त-संबंध न होने पर भी उच्चतम कोटि का वात्सल्य अनेकानेक अवसरों पर दृष्टिगोचर होता रहता है, पर स्वकीयता की अनुभूति से वह मुक्त नहीं होता। यदि होता है तो भाव ही रहता है, स्थायी-भाव नहीं।

एक प्रश्न यह भी उठता है,—संतान के अभाव अथवा दूसरे की संतान को देख कर निस्सन्तान व्यक्ति के हृदय में जो भाव उठते हैं या उठ सकते हैं, वे क्या वात्सल्य रस के अन्तर्गत जा सकते हैं? इस प्रश्न का एक बड़ी सीमा तक उत्तर हम ऊपर दे आए हैं। निस्संतान व्यक्ति के हृदय में दूसरे की संतान के प्रति यदि शुद्ध प्रेम-भाव है, तो वह वात्सल्य ही है, अन्य कोई भाव नहीं। संसार की दृष्टि से वह मेरा नहीं है, हो सकता है कि वह स्वयं भी अपने को मेरा न समझता हो, पर हम उसे अपना समझते हैं, इसलिए वह मेरा है।' यदि प्रेम इस सीमा तक पहुँचा हुआ है, तो उसे वात्सल्य ही कहना उचित होगा। यदि पर-संतान की ओर से माता या

पिता के प्रति होने वाला प्रेम मिल गया, तब तो वह प्रेम नंद और यशोदा के कृष्ण-प्रेम जैसा भी हो सकता है।

निस्संतान व्यक्ति जब अपने परिवार या बाहर के किसी बच्चे को प्रेम करने लगता है, तब उसके हृदय में कभी-कभी यह भवना उठती है,--'काश, यह हमारा अपना बच्चा होता।' यह भावना सूक्ष्म हुई तो प्रेम कमजोर ही रहता है और अपनी संतान होने पर समाप्त हो जाती है। इस स्थिति के प्रेम को वात्सल्य की रस-दशा नहीं प्राप्त हो सकती। वात्सल्य-भावना रस-दशा तक तभी पहुँचती है जब पर का भाव बिल्कुल हट जाता है। हरिऔध और सूर के वात्सल्य में कहीं 'काश, यह मेरा अपना पुत्र होता!' का भाव नहीं है। 'हौं तौ धाय तिहारे सुत की'—जैसा संदेश दीनता का प्रतीक है, पर-भावना का नहीं। रानी लक्ष्मीबाई के हृदय में यदि लेश-मात्र भी परत्व होता तो वे दामोदरराव को पीठ में क्यों बांधतीं? सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण पर मैथिलीशरण की महाप्रजावती का रोदन 'पर' नहीं 'स्व' पर आश्रित है।

वात्सल्य मानव-हृदय का एक सहज व्यापार है। छोटे-छोटे बच्चों में भी यह व्यापार दृष्टिगोचर होता रहता है, विशेषकर तब, जब वे अल्पतर आयु के बच्चों को खिलाते या प्यार करते हैं। स्वानुभूति-हीनता की दशा में यह भाव साधारण रहता है, पर स्वानुभूतिमयता की दशा में वह रस-दशा तक पहुँच जाता है, भले ही आलंबन से रक्त-संबंध हो या न हो

निस्संतान व्यक्ति के हृदय में दूसरे की संतान देखकर दो प्रकार के भाव उठते हैं। पहला ईर्ष्या-भाव जिसका वात्सल्य से कोई संबंध नहीं है दूसरा प्रेम-भाव जो वात्सल्य से संबद्ध है और स्वकीयता की अनुभूति पर रस-दशा तक पहुँच जाता है।

———

क्या वात्सल्य भाव संतान के प्रति ही संभव है ? १०

मानव के भाव बाह्य स्थिति की सापेक्षता में ही नहीं बंधे रहते। अपने शुद्ध रूप में वे अनुभूति-सापेक्ष होते हैं। अन्य भावों के सदृश ही वात्सल्य भी स्वकीय स्थिति की अपेक्षा स्वकीयता की प्रतीति पर अधिक गहराई से आश्रित रहता है। मनुष्य कभी-कभी अपनी संतान के सदृश या उससे भी अधिक प्रेम पर-संतानों से करता देखा गया है। मनुष्येतर जीवों में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है। अहमदाबाद की जन्तुशाला में दो सिंह-शावकों के कक्ष में एक कुतिया को देखकर हमें आश्चर्य हुआ, पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ कि इन शावकों को कुतिया ने ही दूध पिला कर पाला है, और उसके साथ उनका, तथा उनके साथ उसका व्यवहार बड़ा प्रेम-पूर्ण है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुभूति जैसी होती हैं, बाह्य संबंध भी वैसे हो जाते हैं। पशुओं में ऐसा हो सकता है, मनुष्य में ऐसा होता है। पशुओं से ऐसा कराया भी जा सकता है. पर मनुष्य से ऐसा कराया नहीं जा सकता, क्योंकि उसकी बौद्धिक चेतना अधिक सशक्त एवं स्थायी होती है।

इस स्थिति में यह प्रश्न भी उठ सकता है कि क्या वात्सल्य-भाव केवल संतान के प्रति ही संभव है ? हम कह आए हैं कि अपनी संतान न होने पर भी जब प्रेम दृढ़ हो जाता है तब वात्सल्य का भाव विकसित होना संभव है। पर इस स्थिति में वात्सल्य भाव संतान के प्रति ही कहा जायेगा, हॉलाकि संतान रक्त-संबंध की दृष्टि से अपनी नहीं है। यहाँ हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं कि क्या रक्त-संबद्ध अथवा भाव-संबद्ध संतानों के अतिरिक्त अन्य आलम्बनों पर भी वात्सल्य भाव होना संभव है।

समाज में अनेक ऐसे मनुष्य मिलते हैं, जिनका स्वपालित पशुओं, पक्षियों तथा वृक्षों इत्यादि के प्रति प्रेम पुत्र-प्रेम से भी बढ़ा-चढ़ा होता है, जिनकी अनेक

कामनाएं-आशाएं स्वपालित पशु या पक्षी या वृक्ष से बंधी रहती हैं। इसके मूल में मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं : पर इतना स्पष्ट है कि अपने पाले हुए पशु, पक्षी या लता-वृक्षादि पर मानव का सहज प्रेम होता है । यह प्रेम वात्सल्य-प्रेम ही कहा जा सकता है, क्योंकि पशु या वृक्ष मनुष्य द्वारा पाला-पोषा जाता है, या जा सकता है ।

संसार-साहित्य के महाकवियों में भारत के प्रतिनिधि कवि कुल-गुरु कालिदास का विशाल हृदय पशु-पक्षियों तथा वृक्षों तक के प्रति वात्सल्य भाव रखता था। इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । अपने पाले हुए शुक या सारिका को मनुष्य कभी-कभी पुत्र के समान प्रेम प्रदान करते देखा जाता है, ग्राम के सरल वातावरण में अनेक व्यक्ति अपने बछड़ों तथा बैलों आदि को पुत्र से भी अधिक प्यार करते हुए मिलते हैं, अपने लगाए वृक्षों तथा लताओं के प्रति अनेक पुरुषों तथा स्त्रियों का गम्भीर वात्सल्य हमने स्वयं अनेकानेक अवसरों पर देखा है। शत्रुतावश जब गांवों में कोई किसी का लगाया पेड़ तोड़ देता है तो लगाने वाला घंटों रोता है, कभी-कभी कई-कई दिनों तक खाना भी छोड़ देता है । इसे वात्सल्य न मानना उपयुक्त न होगा ।

हिंदी-काव्य में ऐसी कोई रचना हमें दृष्टिगोचर नहीं हुई, जिसमें पशु, पक्षी या जड़-जगत के किसी पदार्थ के प्रति वात्सल्य का भाव प्रकट किया गया हो । गद्य में ऐसी रचनाएं मिलती हैं । हमारे महान कथाकार प्रेमचन्द मानव-भावों की विराटता के गम्भीर द्रष्टा थे । उनकी 'आत्मा राम' शीर्षक श्रेष्ठ कहानी में नायक महादेव का अपने तोते के प्रति वात्सल्य-भाव दिखलाया गया हो । तोते के उड़ जाने पर महादेव की विकलता, चिंता तथा उसकी प्राप्ति के लिये किया गया परिश्रम बहुत स्वाभाविक रूप से चित्रित किया गया है । उसके निधन पर महादेव ने समाधि भी बनवाई है । पर इस क्षेत्र में कालिदास की समता संसार-साहित्य में शायद ही कोई कर सके । कालिदास के लिए प्रकृति एक जीवन तत्व थी, जिसके प्रत्येक अवयव के प्रति सम्यक् भाव-राशि उनके विराट अन्तःकरण में भरी पड़ी थी । राम के द्वारा निर्वासित की गई सीता देवी जब महर्षि बाल्मीकि के पवित्र आश्रम में पहुँचती हैं, तब वे उन्हें प्रेरणा देते हैं,—जिन जल कलशों को तुम उठा सको, उन्हें लेकर आश्रम के पौधों को प्रेम से सींचो । इससे बड़ा लाभ यह होगा कि तुम पुत्र-प्रसव के पूर्व ही वात्सल्य की विभूति से परिचित हो जाओगी,....

पयो घटैराश्रमबालवृक्षान्
संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः ।

असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः
स्वनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ।।[1]

धन्य है वह महान आत्मा जिसने वात्सल्य-भाव के पवित्र पोषण के लिये यह सात्विक उपाय बतलाया । इस वात्सल्य-दृष्टि के समक्ष अपत्य-प्रेम भी साधारण प्रतीत होता है, क्योंकि अपत्य-प्रेम का सम्बध आत्मा के साथ-साथ शरीर से भी होता है, पर इस प्रेम का सम्बन्ध केवल आत्मा से ही है। हम इसे आत्म-वात्सल्य कहते हैं ।

कालिदास की पार्वती ने आलस छोड़कर जिन छोटे-छोटे पौधों को अपने स्तनों जैसे छोटे-छोटे घड़ों के जल से सींच-सींच कर पाला था, उन्हें वे पुत्रों के सदृश इतना अधिक प्रेम करती थीं कि कालान्तर में जब कार्तिकेय का जन्म होगा तब भी उनका वात्सल्य-प्रेम इन पौधों पर कम नहीं होगा,...

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्
घटस्तनप्रस्त्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां
न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ।।[2]

पार्वती का मन उन हरिणों में बहला रहता था, जो उनके हाथों से प्रेम-पूर्वक कुशाएँ छीन-छीन कर खाते थे, और जिनकी आखें उनकी आखों के समान ही चंचल थीं, यह कालिदास के ब्रह्चारी को प्रश्न का विषय है, पर हमारे लिये पार्वती के पशुओं के प्रति वात्सल्य का पवित्र विषय,—

अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः
करस्थदर्भ प्रणयापहारिषु ।
य उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनै-
स्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुंजते ।।[3]

कालिदास की यक्षिणी ने जिस 'बालमन्दार' वृक्ष को पाला था, उस पालन-पोषण का मातृ-वत् वात्सल्य चिरकाल तक मानवात्मा को शीतल करता रहेगा, चिर-काल से शीतल करता आ रहा है,...

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।

१—रघुवंशम् (१४।७८) ।
२—कुमारसंभवम् (५।१४) ।
३—कुमारंभवम् (५।३५) ।

यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवक्नमितो बालमन्दारवृक्ष; ॥[1]

भारत के सर्वश्रेष्ठ नाटक 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में महर्षि कण्व के कर्तव्य-भार को शुकन्तला की दुष्यन्त-प्राप्ति के साथ ही वन-ज्योत्स्ना-लता की आम्राश्रय-प्राप्ति से भी चिंता-मुक्ति प्राप्त होती है;—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
मर्तारमात्मसदृशं सुकृतेर्गता त्वम् ।
चूतेन संश्रितबती नवमालिकेय-
मस्यामहं त्वयि न संप्रति वीतचिन्तः ॥ [2]

जिस पुत्र-वत् प्रिय हरिण के कुश-कण्टक-विद्ध मुँह में उसे पीड़ा-मुक्त करने के लिए नारीत्व तथा वात्सल्य की मूर्ति शकुन्तला हिंगोट का तेल लगाया करती थी, वह उसके जाते समय मार्ग रोक कर खड़ा हो जाता है । महाकवियों के भी महाकवि तथा भावुकों के भी भावुक कालिदास यहां यह स्पष्ट कर देते हैं कि संतान के अतिरिक्त ही नहीं, पशुओं के प्रति भी वात्सल्य-भाव हो सकता है, यही नहीं, होता है; और संयोग का ही नहीं, वियोग का अनुभव भी करता-कराता है,—

यत्य त्वया व्रणविरोपणमिंगदीनां
तैलंन्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टि परिवर्धितको जहाति
सौऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥ [3]

ऐसी महान भावना संसार में शायद ही अन्यत्र मिले । जीवन में ऐसी घटनाएं स्वाभाविक रूप से होती रहती हैं, पर इन तक दृष्टि किसी-किसी भावुकता की सीमा का स्पर्श करने वाले कवि की ही जाती है ।

इसके बाद का वर्णन पाषाण को भी विगलित करने वाला है, काव्येषु, नाटकं श्रेष्ठ, तत्र रम्या शकुन्तला । तत्रापि च चतुर्थोऽअंकस्तत्र-स्लोकतुष्टयम् ॥ के कथन का एक कारण है, महाकवि गेटे को स्वर्ग एवं धरित्री को एकत्र दिखलाने वाली झाँकियों में एक झांकी है, कालिदास को वस्तुतः संसार का अद्वितीय कवि प्रमाणित करने वाले स्थलों में प्रमुख स्थल हैं, संक्षेप में अद्वितीय हैं,—

१—मेघदूतम् (उत्तर मेघ) ।
२—अभिज्ञान शाकुन्तलम् (४।१३) ।
३—अभिज्ञान शाकुन्तलम् (४।१४) ।

शकुन्तला-'बच्छ' किं सहवासपरिच्चइरिंग मं अगुसरसि। अचिरप्पसूदाये जणणीये विणा बढ्ढिदो एव्व। दाणि पि मये विरहिद तुमं तादो चिन्तइस्सदि। णिवत्तेहि दाव।

शकुन्तला कहती है—वत्स (हरिण) मुझ सत्थ छोड़ कर जानेवाली के पीछे-पीछे तू कहाँ जा रहा है ? तेरी मां जब तुझे जन्म देकर मर गई थी उस समय मैंने तुझे पाल-पोष कर बड़ा किया था। अब मेरे पीछे पिता जी तेरी देख भाल करेंगे। जा, लौट जा।[3]

इसके बाद शकुन्तला रोती हुई महर्षि कण्व के साथ चल देती है। हम समझते हैं कि इस उदाहरण के बाद इस विषय पर निवेदन करना व्यर्थ होगा कि पक्षियों तथा पशुओं जैसे संतानेतर आलम्बनों के प्रति भी वात्सल्य भावना हो सकती है, बहुत उच्च कोटि की भी हो सकती है और उसका क्षेत्र संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों तक व्याप्त है।

३—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, चौथा अंक।

हिंदी काव्य में वात्सल्य-विरह-वर्णन ११

वात्सल्य रस की दृष्टि से हिंदी-साहित्य बहुत ही संपन्न साहित्य है । सूर, तुलसी, हरिऔध इत्यादि कवि किसी भी साहित्य में वात्सल्य-काव्य की दृष्टि से भी बहुत ही ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकते हैं । सूर का वात्सल्य-वर्णन हिंदी-वात्सल्य रस का मेरु-दण्ड है, जिसका स्थान संसार-साहित्य में अनूठा है, ऐसा सभी के द्वारा स्वीकृत हो चुका है ।

संयोग-वात्सल्य के बड़े ही हृदयहारी वर्णन सूर तथा तुलसी ने किए हैं । हरिऔध और मैथिलीशरण ने भी इस क्षेत्र में अच्छी सफलता पाई है । सूर और, विशेषकर, तुलसी के संयोग-वात्सल्य के वर्णनों में आभूषणों की बड़ी चर्चा हुई है, जो कहीं-कहीं अरुचिकर प्रतीत होती है । वात्सल्य का भाव हृदय से संबंधित है, हृदय आभूषणों पर नहीं, पुत्र पर रीझता है । थोड़े-से आभूषणों की शोभा उद्दीपन-कार्य कर सकती है, पर आभूषणों की भरमार भद्दी लगती है । यही कारण है कि युग-प्रेरणा के साथ-साथ स्वाभाविकता को भी ध्यान में रखते हुए हरिऔध तथा मैथिलीशरण आदि ने अपने चरितनायकों को आभूषणों से नहीं लादा, हालांकि उनके आलम्बन कृष्ण और राहुल राजकुमार ही हैं । राम और कृष्ण की आभूषणों से लदी जिस छवि का वर्णन तुलसी और सूर ने किया है, उसका कारण हिन्दू जाति की मध्य-कालीन दरिद्रता है, जो तत्कालीन वैभवशाली शासक जाति की तुलना में अनलंकृतप्राय: हो रही थी । कवियों ने अज्ञात रूप से अपने आलम्बनों को आभूषणों से लाद कर तथा प्रत्येक वर्णनों में सम्पन्नता की अति दिखला कर वस्तुत: जन-मन की एक ग्रन्थि को ही अभिव्यक्ति प्रदान की है । पर कवियों ने केवल इसी ग्रन्थि के कारण ही ऐसा नहीं किया । मध्यकाल में सभी जातियों में जो आवश्यकता से अधिक आभूषण-प्रेम फैल गया था, वह भी ऐसे वर्णनों का एक कारण था । मन्दिरों में आभूषणों से लदे देवताओं को देख-सुन कर भी कवि अपने आराध्य देवताओं को

आभूषणों से लादने के लिए प्रेरित हो जाते थे। तुलसी के संयोग-वात्सल्य में राम के ब्रह्मत्व का उल्लेख भी बारम्बार होकर वात्सल्य रस के आस्वाद में बाधा डालता है। तुलसी का मूल उद्देश्य भक्ति में निहित है। पर सूर के समान आलम्बन के ब्रह्मत्व का कहीं-कहीं उल्लेख करके वे अपने उद्देश्य की सफलता के साथ ही वात्सल्य रस-संबद्ध सफलता भी प्रथम कोटि की प्राप्त कर सकते थे। जहाँ-कहीं वे राम के ब्रह्मत्व-निरूपण से विरत हुए हैं, वहां के वात्सल्य-वर्णन उच्च कोटि के हैं।

सूर के संयोग-वात्सल्य-वर्णनों में स्वाभाविकता तथा चित्रमयता के गुण सर्वोच्च कोटि के दृष्टिगोचर होते हैं। इस युग में हरिऔध और मैथिलीशरण में काफी दूर तक ये गुण प्राप्त होते हैं। संयोग-वात्सल्य की दृष्टि से सूर की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा हमारे साहित्य की एक अमर सम्पति है। इसके साथ ही तुसली, हरिऔध और मैथिलीशरण आदि कवि भी संयोग वात्सल्य के श्रेष्ठ कवि हैं।

वियोग-वात्सल्य पर हिंदी में जैसा और जितना काव्य मिलता है, उतना शायद ही किसी अन्य साहित्य में मिले। संस्कृत में रामायण और भागवत में वियोग-वात्सल्य से सम्बन्धित थोड़ा-सा काव्य मिलता है। अन्य भारतीय भाषाओं के अधिकांश महाकाव्यों एवं अन्य प्रकार के प्रमुख काव्यों का मूलाधार रामायण, महाभारत और भागवत ही है। पर सूर ने भागवत तथा तुलसी ने रामायण को आधार मानते हुए भी जैसी व्यापक नवीन उद्भावनाएं की हैं, वैसी शायद ही किसी अन्य भारतीय भाषा के कवि में मिल सकें। हिंदी के समृद्ध वियोग-वात्सल्य काव्य का कारण मौलिक उद्भावना-शक्ति है। कृष्ण के वियोग में यसोदा तथा नंद और राम के वियोग में दशरथ तथा कौशल्या-सुमित्रा का व्यथा-वर्णन सूर और तुलसी ने बहुत अच्छा किया है। विस्तार से किया है। हरिऔध ने सूर का उत्तराधिकार ग्रहण करते हुए भी वियोग-वात्सल्य के क्षेत्र में मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है; मैथिलीशरण के यशोधरा काव्य में बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के बाद शुद्धोधन तथा महाप्रजावती की वियोग-व्यथा को सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। श्री अनूप शर्मा के दो प्रबन्ध-काव्य सिद्धार्थ और वर्द्धमान ऐसे काव्य हैं, जिनमें वात्सल्य-वियोग के वर्णन की बहुत दूर तक सुविधा थी। पर उन्होंने उस दूरी तक जाकर वियोग को स्पर्श नहीं किया। हमारे मुक्तक काव्य के क्षेत्र में वात्सल्य वियोग का वर्णन नहीं के बराबर ही मिलता है।

हिंदी में वियोग वात्सल्य के प्रमुख महाकवि सूर और हरिऔध हैं। सूर के सम्बन्ध में उनके साहित्य के प्रमुख तथा गंभीर विद्वान पं० मुंशीराम शर्मा ने अक्षरशः सत्य लिखा है,—'स्वर्गीय शुक्लजी के शब्दों में बाल-हृदय का तो वे कौना कौना झांक आए हैं, पर हमारी सम्मति में मातृ-हृदय का भी कोई कोना

उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रहा है।' [१] हरिऔध जी के सम्बन्ध में पं० मुंशीराम शर्मा का उक्त कथन लागू हो सकता है, विशेषकर वियोग-वात्सल्य के क्षेत्र में; पुत्र के प्रवासार्थ प्रस्थान करने के पूर्व माता के हृदय की वेदना का आत्म-द्रावक वर्णन हरिऔध और सूर दोनों महाकवियों ने किया है। सूर का वर्णन हरिऔध का आधार है, पर हरिऔध ने मौलिक प्रतिभा का जो परिचय दिया है, उसका महत्व अपने में असाधारण है पुत्र को न देख सकने पर वेदना की कल्पना, पुत्र के प्रवास-कष्टों का अनुमान, उसके संकोच तथा शील के कारण हो सकने वाले व्यवधान विपत्ति की आशंकाएं, कल्याण-कामना, मनोतियाँ, जिनके साथ जा रहा है उनको हिदायतें देना तथा उसे पुत्र की आदतों से परिचित कराना इत्यादि-इत्यादि जितनी भी स्वाभाविक प्रवृतियाँ मातृ-हृदय में होतीं या हो सकती हैं, उन सबका वर्णन मातृ-हृदय-अभिज्ञ इन दोनों महाकवियों ने बहुत मर्मस्पर्शी रूप में किया है।

महाकवि सूरदास के उच्चतम कोटि के वियोग-वात्सल्य-काव्य की सम्यक् समीक्षा मिश्रबंधु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा पं० मुंशीराम शर्मा प्रभृति प्रसिद्ध विद्वान कर चुके हैं। पं० मुंशीराम शर्मा ने वात्सल्य-वियोग के भेद बतलाते हुए शास्त्रीय निरुपण की दृष्टि से सूर के काव्य की बहुत अच्छी समीक्षा की है। वियोग की दस अवस्थाओं में अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा, उद्वेग तथा प्रलाप का जो उत्कृष्ट तथा स्वाभाविक वर्णन सूरदास ने किया है, उसका सोदाहरण उल्लेख भी उन्होंने किया है। तुलसी के वात्सल्य-वियोग पर अभी ऐसा प्रयास नहीं हो सका। सूर और हरिऔध की तुलना में तुलसी का वियोग-वात्सल्य-वर्णन भले ही न खड़ा किया जा सके पर इन दो महाकवियों के बाद हिंदी में इस क्षेत्र में उनका स्थान सर्वोपरि है। उनके वर्णन में भी हृदय की स्वाभाविक वेदना तथा वियोग-दशाएं अच्छे रूप में प्रकट हुई हैं।

हिंदी साहित्य में वात्सल्य रस एक स्वतंत्र प्रबन्ध का विषय है। संयोग-वात्सल्य एवं वियोग-वात्सल्य, दोनों, दृष्टियों से हमारा काव्य अत्यन्त महान एवं उच्च कोटि का है।

१—सूर-सौरभ, पृष्ठ २२२-२३।

तृतीय अध्याय

खड़ी बोली कविता में विरह-वर्णन १

(प्राप्त परंपरा तथा विकास)

हिंदी का काव्य कुल मिला कर एक अत्यन्त महान काव्य है । चन्द, विद्यापति, कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, मीरां, केशव बिहारी, देव, भूषण, मतिराम, पद्माकर, रत्नाकर, हरिऔध, मैथिलीशरण, प्रसाद निराला, पंत, महादेवी—इतने महाकवि किसी भी साहित्य को गौरवान्वित कर सकते है । गद्यांग के अपेक्षाकृत अल्पविकसित होने पर भी काव्यांग की पूर्णता एवं श्रेष्ठता की दृष्टि से हिंदी-काव्य संसार के किसी काव्य से पीछे नहीं है । यह कितने गौरव की बात है कि हमारे बंगला-साहित्य के सर्वश्रेठ कलाकार तथा आधुनिक भारत के सर्वतोमहान कवि रवीन्द्र, कबीर की आत्मा को विद्यापति के शरीर में व्यक्त कर संसार-साहित्य में एक स्थायी ज्योति-पुंज बन सके । यह कितने गौरव की बात है कि हिंदी का सीमांत तथा सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व तुलसीदास संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकवियों में प्रतिष्ठा पा रहा है तथा आलोचना में न्याय-वृति के सम्यक् प्रयोग की वृद्धि के साथ ही साथ अधिकाधिक संमान पाता जायेगा । अनेक उत्कृष्ट कवियों से भरे-पूरे हिंदी-काव्य में मानव के सहजभावों में प्रमुख प्रेम का उत्साहपूर्ण वर्णन अत्यधिक परिमाण में हुआ है । मिलन और विरह प्रेम रथ के दो चक्र हैं, प्रेमानन के दो नेत्र हैं । फलस्वरूप संसार के अन्यान्य कवियों के समान हमारे काव्य के ज्योतिपुंजों ने भी विरह के मर्मस्पर्शी वर्णन किए हैं । हिंदी-साहित्य का महान विरह-काव्य एक नहीं, अनेक प्रबन्धों का विषय है । हम अब प्राचीन हिंदी के विरह-वर्णनों की परम्पराओं एवं शैलियों का संक्षिप्त विवेचन करके खड़ी-बोली-कविता में हुए विरह-वर्णनों की समीक्षा करेंगे, साथ ही यह भी देखेंगे कि प्राप्त परंपराओं से कहां तक खड़ीबोली के विरह-वर्णन प्रभावित हुए है एवं कहां तक उन्होंने नवीन निष्पत्तियां की हैं ।

इससे पूर्व हम एक प्रश्न पर विचार करना आवश्यक समझते हैं। हिंदी के महान काव्य में लोकगीत भी सम्मिलित हैं। शायद संसार के साहित्य में हिंदी ही एक ऐसा साहित्य है जिसके महानतम कवि विद्यापति, कबीर, दादू सूर, तुलसी, मीरा लोकगीतकार के रूप में भी दृष्टिगोचर होते हैं। यदि हम हिंदी भाषाभाषी जगत का भ्रमण करें तो देखेंगे कि भागलपुर से लेकर अम्बाला तक, तथा अल्मोड़ा से लेकर जबलपुर के आगे तक इन कवियों की वाणी जन-जीवन की गंगा में तरंगित होती रहती है। इसका कारण यह है कि संसार के साहित्य में केवल हिंदी को ही यह गौरव प्राप्त है कि उसके महाकवि जनता के महाकवि थे, जिनका काव्य जनता का काव्य था, जनता के लिए था। यही कारण है कि वाल्मीकि, व्यास, होमर, वर्जिल कालिदास, दांते, फिरदौसी, सादी, शेक्सपियर, मिल्टन, गेटे, गालिब और रवीन्द्रनाथ विशेषज्ञों के कवि हैं, तथा विद्यापति, कबीर, सूर, मीरां और तुलसी विशेषज्ञों के साथ-साथ, या इससे भी बढ़कर, जनता के कवि हैं। हमारे महानतम कवियों ने साक्षरता की सीमाओं को तोड़ दिया है, यह संसार-साहित्य का एक बड़ा चमत्कार है। जिस दिन श्रेष्ठता तथा हीनता की ग्रन्थियों से मुक्त होकर संसार तथा हिंदी के आलोचक इस ओर दृष्टि डालेंगे, उस दिन उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि सच्चे लोक-मंगल तथा सच्ची संवेदनशीलता की प्रगतिशील दृष्टि से हिंदी के सीमान्त कवि संसार में सबसे आगे रहे हैं, और आश्चर्य तो यह है कि महान कलात्मक दार्शनिक, सामाजिक एवं रस-संबद्ध निष्पत्तियों के साथ ही उन्होंने अपनी वाणी की रसस्विनी को जन-जीवन के लिए गंगा का रूप प्रदान किया है। इस स्थिति में अपने लोकगीतों पर हमारा जितना ध्यान जाना चाहिए उतना नहीं गया। हमें केवल लोकगीत संकलित-सम्पादित करके ही चुप होकर नहीं बैठ जाना, उनमें व्याप्त मानवात्मा तथा मानसिक प्रवृतियों का अनुशीलन भी करना है, उनमें प्रेम, क्रोध, करुणा इत्यादि के उद्‌गारों का सम्यक् मूल्यांकन करना है। खेद है कि हिंदी के कुछ आलोचक पाश्चात्य चकचौंध के आभास के कारण साहित्य एवं लोक-साहित्य में सीमा-रेखाएं खींचने का प्रयास कर रहे हैं। अन्य साहित्यों में साहित्य एवं लोक-साहित्य में सीमा-रेखा भले ही खींची जा सके, हिंदी में नहीं खींची जा सकती, क्योंकि हिंदी के प्रायः सभी महानतम प्रकाश-स्तम्भ लोक-कवि भी हैं, चाहे वे बिहार के विद्यापति हों या राजस्थान के दादू और मीरां का समग्र हिंदी-भाषा भारत के कबीर, तुलसी और सूर। फिर पाश्चात्य जगत में लोकगीतों पर जो कार्य हुआ है, उसे देखते हुए भी हम बहुत पीछे हैं। रूस जैसे साम्यवादी एवं क्रान्तिकारी राष्ट्रों में लोकगीतों एवं लोककथाओं का समारोहपूर्ण संकलन-संपादन इस बात का प्रमाण है कि लोक-

साहित्य का मानव के चिरन्तन सांस्कृतिक जीवन में बहुत महत्व है। प्रगतिवादी लेखकों के सिरमौर मैक्सिम गोर्की ने जनता को आदि-कवि कहा है। इसके अतिरिक्त अनेक लोक-गीतों का कलात्मक एवं भावात्मक पक्ष भी असाधारण रूप से उत्कृष्ट देखा गया है। लोकगीतों में मानव की सहजानुभूतियां सहजाभिव्यक्ति की विभूति के सम्पन्न रहती हैं, स्वभावतः वे हृदय का सीधा स्पर्श करती हैं, मस्तिष्क के माध्यम से नहीं। उनका काव्यगत मूल्य भी असाधारण है। हिंदी-साहित्य के रस-सिद्ध विद्वान स्वर्गीय पण्डित केशवप्रसाद मिश्र ने एक सीमा तक ठीक ही लिखा है,—लोकगीतों में चाहे उत्कृष्ट कल्पना और परिष्कृत शैली का अभाव रहे पर गंभीर और तीव्र अनुभूति का जैसा यथातथ्य तथा मार्मिक चित्रण इनमें रहता है वैसा केवल ध्यानगम्य प्रसंगों की अवतारणा करने वाले आधुनिक प्रगीतों में प्रायः नहीं पाया जाता। ऐसे प्रगीत चित्त नदी की जमी हुई धारा में कदाचित् अल्पकालिक क्षोभ उत्पन्न कर देने की क्षमता भले ही रखें, पर उसको इस प्रकार द्रुत और तरल नहीं कर पाते कि वह सहसा उमड़ कर आंखों से बहने लगे। यह शक्ति तो केवल निर्व्याजसुन्दर कारुणिक लोक-गीतों में ही देखी जाती है।

स्वभावतः सुकुमार कला आयासकरी कठोर कृत्रिमता से त्रस्त हो उठती है। इने-गिने कलाकार ही ऐसे होते हैं जो कला को कृत्रिमता की आँच से बचा सकें। अब के अधिकतर कर्तृप्रधान प्रगीत प्रायः कला और कृत्रिमता का कलह-क्षेत्र बन गये हैं, क्योंकि कला की नवीनता के लोभ में पड़कर बहुतों ने उनमें बहुत कुछ ऐसे विजातीय और अनमिल तत्व मिला दिये हैं जो यहाँ की प्रतिभा और प्रकृति दोनों के विरुद्ध पड़ते हैं। सन्तोष की बात है कि हमारे लोकगीत अभी तक इन अनिष्ट संक्रामकों से अछूते हैं। कारण, वे कर्तव्य के होम-कुण्ड में जीवन की आहुति के मंत्र जो हैं।

पर यह स्थिति चिर काल तक निर्बाध बनी रहेगी, यह संभावना दुर्बल होती जाती है, क्योंकि आये दिन सिनेमा के चलते ओछे गाने गाँव के ढोलताल पर भी खनकने लगे हैं। क्या अच्छा हो जो हमारे वर्तमान कविगण लोक-हृदय पर भी अपनी छाप बैठाने की चिंता करें। स्वर्गीय 'प्रसाद' की दृष्टि इधर गई थी। उन्होंने भारतीय जीवन के रस में सराबोर कुछ लोकगीत लिखे भी थे, पर वे प्रकाश में न आए।[१]

इस विषय में यहां पर हम अधिक नहीं बढ़ सकते। फिर भी इतना कह

१—हिंदी-लोकगीत, आमुख।

देना आवश्यक है कि लोकगीतों में अत्यन्त उच्च कोटि का विरह-वर्णन अनेकानेक शैलियों में उपलब्ध होता है और उसमें प्रवेश-गत विशेष जीवनानुभूतियां मानव की चिरन्तन अनुभूतियों में मिल कर जो मिश्रण प्रस्तुत करती हैं वह सर्वोच्च कोटि के संवेदन से संपुष्ट रहता है। उस संवेदन की सृष्टि आकाशवाणी और कवि-सम्मेलन मात्र में रमने वाले कवि नहीं कर सकते, उसका सम्यक् मूल्यांकन पाश्चात्य ज्ञानभास से भ्रामक रूप में ग्रस्त आलोचकों की बुद्धि भी नहीं करती, उसकी सृष्टि या मूल्यांकन इस राष्ट्र की संस्कृत को संवेदन-पूर्वक समझने वाला हृदय या मस्तिष्क ही कर सकता है। इस क्षेत्र में आगे बढ़ने की बड़ी आवश्यकता है। राजस्थान के तीन विद्वानों (स्व० रामसिंह, स्व० सूर्यकरण पारीक एवं श्रीयुत नरोत्तम दास स्वामी) ने लोकगीत से ग्रंथ का रूप देकर 'ढोला मारू रादूहा' को हिंदी साहित्य की एक स्थाई सम्पत्ति बना दिया है। ऐसे अनेक कार्य हिंदी में होने आवश्यक हैं। यही नहीं हमारा, विश्वास है कि लोकगीतों का अध्ययन-अनुशीलन हमारे कवियों तथा आलोचकों को एक मधुर तथा तलस्पर्शी जीवन-दृष्टि प्रदान कर सकता है, जो पाश्चात्य ज्ञानभास की अपेक्षा अधिक स्थाई तथा गंभीर होगी। ग्राम्यवातावरण के प्रति उस तलस्पर्शी सहानुभूति का होना हमारे कलाकारों के लिये श्रेयष्कर है, जिसका स्पर्श पाकर जायसी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में प्रतिष्ठित हो सके हैं, जिसके प्रति सम्मान रखने के कारण रामचन्द्र शुक्ल का आलोचक स्वरूप सरस होकर सर्वोत्तम बन सका है, जिसका सम्यक् चित्रण करके प्रेमचन्द भारत के प्रतिनिधि कथाकार बनने का गौरव प्राप्त कर सके हैं।

हिंदी साहित्य में विद्यापति से लेकर घनानन्द के पूर्व तक विरह का वर्णन प्रायः परम्परागत परिपाटी पर हुआ है। कवियों ने अपनी विरहानुभूतियों को भी स्वच्छंद तथा वैयक्तिक स्तर पर प्रकट न करके नायक-नायिकाओं के माध्यम से प्रकट किया है। संस्कृत में ऐसा ही हुआ है और हिंदी घनानन्द के पूर्ण तक संस्कृत से बहुत अधिक प्रभावित रही है। किसी के माध्यम से विरहानुभूतियों का प्रकटीकरण दो रूपों में हुआ है,—

(१) नायक या नायिका के द्वारा।

(२) विशेष स्थितियों पर या मर्यादा-रक्षणार्थ दूत या दूती के द्वारा।

हम यह नहीं मानते कि रीतिकाल के कवियों का ध्यान काव्य की सीमाबद्धता एवं प्रचलित परिपाटी की अन्धानुकृति की ओर गया ही नहीं था। ठाकुर एवं बोधा इत्यादि ने तत्कालीन काव्य एवं कवियों की आलोचना प्रारम्भ कर दी

थी और घनानंद ने साफ घोषणा कर दी थी,—"लोग हैं लागि कवित बनावत मोहिं तौ मेरे कवित्त बनाबत" । मुगल साम्राज्य की अव्यवस्था एवं देश की दयनीयता पर भी कुछ कविताएँ मिलती हैं । भारतेन्दु ने इन कविताओं को व्यापक रूप प्रदान कर नव-युग का सूत्रपात किया । हरिऔध ने नवीन नायकाओं एवं नवीन उद्भावनाओं से ब्रज भाषा-काव्य को व्यापक एवं जीवनोपयोगी बनाने का प्रयास किया ही था कि हिंदी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ निर्माता आचार्य द्विवेदी की दूर-दृष्टि ने खड़ीबोली-काव्य-रचना के शुभ आन्दोलन को अपना शक्तिशाली नेतृत्व प्रदान किया । यह अच्छा ही था, क्योंकि हिंदी की विभाषाओं में खड़ी बोली ही राष्ट्र-भाषा बन सकती है ।

आधुनिक काल की अनेक काव्य-प्रवृतियों का मूल रीतिकाल में है, कुछ का तो भक्ति-काल में भी है । यह भी ठीक है कि आधुनिक काल की अनेक प्रवृतियाँ नवीन भी हैं । विरह के क्षेत्र में जो वैयक्तिक वेदनाभिव्यक्ति आधुनिक कविता में परिव्याप्त हो रही है, उसके मूल में घनानंद का व्यक्तित्व है, जो वैयक्तिक विरह का वर्णन करने वाले हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से है । आधुनिक काल के प्रबन्ध काव्यकारों ने नायक नायिकाओं के द्वारा विरह-वर्णन कराये हैं मुक्तक एवं गीति-काव्यकारों ने स्वयं किए हैं । प्रथम वर्ग के कवियों को जायसी, तुलसी और एक सीमा तक सूर का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ है, द्वितीय वर्ग के कवियों को घनानंद और बोधा का । दूत एवं दूतियों इत्यादि के द्वारा विरह-वर्णन जब प्रायः नहीं होते और यह ठीक भी है, क्योंकि मुक्तक कविताओं एवं प्रगीतों के इस युग में जब प्रबन्ध स्वयं मुक्तक होता जा रहा है, तब दूत-दूतियों को कहाँ स्थान मिल सकता है ?

खड़ीबोली कविता के पूर्व हिंदी में विरह-वर्णन करने वाले प्रमुख कवि जायसी, सूर, मीरां एवं घनानंद हैं । यों तुलसी और देव के विरह-वर्णन भी अत्यन्त उत्कृष्ट हैं, पर उनका प्रधान क्षेत्र विरह नहीं है । इस युग में विरह-वर्णन करने वाले प्रमुख कवि हरिऔध और मैथिलीशरण हैं । दोनों द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि महाकवि हैं एवं काव्य-क्षेत्र में सूर और तुलसी के उत्तराधिकारी हैं । दोनों ने विस्तृत विरह-वर्णन किए हैं । परम्पराओं से दोनों महाकवियों ने प्रभाव ग्रहण किया है । उपाध्याय ने पवन-दूत एवं उद्धव का आयोजन किया है और मैथिली-शरण ने षड्ऋतु के क्रम पर विरह-व्यथा का वर्णन किया है । पर दोनों में नवीन निष्पत्तियाँ भी हैं । विरह-व्यथा से लोकसेवा की प्रेरणा हरिऔध की हिंदी के लिए नई देन हैं, जो अमनोवैज्ञानिक नहीं कही जा सकती, भले ही 'प्रिय-प्रवास' की राधा में उसकी 'अति' के कारण कुछ कहा जा सके । मैथिलीशरण की विरहिणी

में प्रोषितपतिकाओं, कोक, मकड़ी, शलभ इत्यादि के प्रति संवेदना का भाव हिंदी-विरह-काव्य में नवीन तत्व है, भले ही अन्वेषक उसका मूल कालिदास तथा हिंदी के कवियों की एकाध पंक्तियों में दिखलाने का प्रयास करें। हरिऔध के पूर्व तक विरह अधिकतर प्रिय-प्रिया में आबद्ध रहा है, खास कर रीतिकाल में। पर हरिऔध एवं मैथिलीशरण ने विरह की भावना को सगे-सम्बन्धियों, स्थान, जन्म-भूमि, मित्रों इत्यादि तक फैला कर उसे पर्याप्त व्यापकत्व प्रदान किया है।

मुक्तक तथा प्रगीत के इस युग में स्वाभाविक भी है कि व्यक्तिगत विरह का स्वतंत्र रूप से वर्णन किया जाए। ऐसे कवियों में प्रसाद, महादेवी, निराला, पंत, बच्चन, अंचल तथा नीरज के नाम महत्वपूर्ण हैं, नरेन्द्र शर्मा, सुमित्रा कुमारी सिनहा, विद्यावती मिश्र, बलबीर सिंह 'रंग', सुमन, अज्ञेय, तथा नई धारा के अन्य अनेक कवियों ने भी विरह वर्णन किए हैं। इन सब कवियों और कवयित्रियों में विरह-वर्णन की दृष्टि से प्रसाद, महादेवी एवं बच्चन का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। महादेवी और बच्चन तो विशेष रूप से विरह-काव्यकार ही हैं।

वैयक्तिक विरह-वर्णन के क्षेत्र में रहस्यवाद का प्रवेश खड़ीबोली-कविता की एक नूतन विशेषता है, जिसका मूल कबीर, दादू और मीरां में ढूंढ़ा भले ही जाए, पर वस्तुतः वह नवीन है। भक्तिकालीन रहस्यवाद साधनात्मक एवं भावात्मक था, खड़ीबोली-कविता का काल्पनिक रहस्यवाद वास्तव में हिंदी को एक नई देन है, जिसका काव्यगत मूल्य अत्यन्त महान है।

हिंदी के वैयक्तिक विरहानुभूतियों को वैयक्तिक रूप से व्यक्त करने की काव्य-धारा का मूल फारसी काव्य में है। घनानंद व्यक्तिगत विरह-वर्णन करने वाले हिंदी के प्रथम प्रमुख कवि हैं। घनानंद मुगल बादशाह मुहम्मद शाह रंगीले के समकालीन थे। कायस्थ होने के ही कारण फारसी-काव्य में उनका प्रवेश रहा हो, ऐसा नहीं है, वे बादशाह के दरबार में उच्च पद पर भी प्रतिष्ठित थे, कहते हैं मीर मुंशी थे। यह पद बिना फारसी के ज्ञान से मिलना कठिन था। घनानंद के काव्य, विशेषकर 'इश्क-लता', उनके फारसीकाव्य के अध्ययन के ही नहीं, उससे प्रभावित होने के भी प्रमाण हैं। फारसी में विरह का वर्णन प्रायः वैयक्तिक रूप से ही हुआ है. जिस का सीधा अनुकरण उर्दू के शायरों ने किया है। घनानंद के समय में उर्दू शायरी अपनी नितांत प्रारम्भिक अवस्था में थी। उर्दू के आदि-कवि कहे जाने वाले वली घनानंद के समकालीन थे। अतः स्पष्ट है कि घनानंद पर उर्दू का नहीं, फारसी का प्रभाव था। फारसी का यह प्रभाव उर्दू से होता हुआ प्रसाद के 'छिल छिल कर छाले फोड़े, मल मल कर मृदुल चरण से' जैसे उद्गारों एवं कहीं-कहीं सूफियों की तरह अपने और अपने प्रिय दोनों को पुरुष के रूप में प्रस्तुत

करने में दृष्टिगोचर होता है। प्रारंभ के हालावादी बच्चन अपने विरह-काव्य में फ़ारसी-उर्दू के प्रभाव से बहुत दूर तक बच गए हैं। पर जाने-अनजाने अंचल और, विशेषकर, नीरज उसमें बह गए हैं। अंचल तो यहीं तक बहे हैं कि उनकी मिलन की प्यास बुझती नहीं है, पर नीरज प्रमुखत: कवि-सम्मेलनों के कवि होने के कारण मृत्युवाद फारसी-उर्दू-कविता की एक रूढ़ि है, जिसके दर्शन •उमर खय्याम या उनसे भी पूर्व से लेकर जिगर मुरादाबादी तक में किसी न किसी रूप में होते रहते हैं।

खड़ीबोली का विरह-काव्य अत्यंत संपन्न हो चुका है। हरिऔध, मैथिलीशरण, प्रसाद, महादेवी और बच्चन हिंदी के विरह-वर्णन करने वाले कवियों में बहुत ऊंचा स्थान रखते हैं।

हिन्दी-विरह-काव्य चार रूपों में व्यक्त हुआ है,......

(१) प्रकृति को भावानुरूप देख कर, विराट् क्षेत्र में विरह की अभिव्यक्ति-अपनी विरह वेदना को सारी सृष्टि में व्याप्त देखने की सफल क्षमता हिंदी में केवल जायसी में दृष्टिगोचर होती है, जिनका विरह-वर्णन हिंदी की अमर संपत्ति है। ऐसी दृष्टि बहुत बड़ी आत्मा तथा बहुत बड़ी भावुकता की अपेक्षा रखती है, और इनके अभाव में हास्यास्पद भी हो जाती है। कहीं-कहीं इस प्रकार के सफल वर्णन सूर, महादेवी और बच्चन ने भी किए हैं।

(२) अत्युक्तिपूर्ण विरह-वर्णन :—[यों तो कहीं-कहीं विद्यापति, जायसी, सूर, मीरां एवं तुलसी में भी ऐसे वर्णनों की झलकियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, पर ऐसे वर्णन देव, बिहारी, मतिराम तथा पद्माकर इत्यादि रीतिकाल के कवियों ने अधिक किए हैं]। ऐसे वर्णनों का अक्षय भण्डार फारसी एवं उर्दू की कविता में मिलता है। उर्दू में तो अब तक ऐसे वर्णन होते चले आ रहे हैं। खड़ीबोली-कविता में ऐसे वर्णन नहीं हुए हैं।

(३) आलंकारिक पद्धति पर विरह-वर्णन :—संस्कृत के परवर्ती काव्य में ऐसे मनोरंजक वर्णन बहुत हुए हैं। हिंदी में केशवदास इस प्रकार के वर्णन करने वालों के शिर-मौर हैं। खड़ीबोली-कविता में ऐसे वर्णनों का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि खड़ीबोली नूतन अनुभूतियों को नूतन अभिव्यक्ति देने का निश्चय करके ही काव्य-भाषा बनी है और इस निश्चय का अलंकार-चमत्कार से कोई विशेष संबंध नहीं हो सकता।

(४) सहज विरहानुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति-यथार्थप्रधान आधुनिक युग में ऐसे वर्णनों की ही ज्यादा गुंजाइश है। घनानंद ने ऐसे ही वर्णन किए हैं। बच्चन प्रभृति खड़ीबोली के कवियों ने भी यही प्रकृत एवं सुन्दर पथ पकड़ा है।

खड़ीबोली के विरह-काव्य ने अपना पथ निश्चित कर लिया है। हरिऔध के विराट् व्यक्तित्व ने खड़ीबोली में विरह-वर्णनों का शक्तिशाली पग प्रारम्भ किया, मैथिलीशरण ने उसे भावना एवं कर्त्तव्य की शत-शत अनुभूतियों से व्यापक किया, प्रसाद की सरस और समरसता-अन्वेषिणी वेदना ने उसे रंगीन बनाया, महादेवी के महान नारी हृदय ने उसे उदात्त स्वरूप प्रदान किया और बच्चन ने उसे सहज मानवीय विकलता के विस्तृत लक्ष्य के निकट पहुँचा दिया है। पचास वर्षों के भीतर शायद ही किसी साहित्य का विरह-काव्य इतना संवद्धित एवं संपुष्ट हुआ हो।

द्विवेदी युगीन काव्य में विरह वर्णन २

आधुनिक काल की खड़ीबोली-काव्य-रचना पर दृष्टि डालने की सबसे पहले जिस सर्वतोमहान व्यक्ति पर दृष्टि जाती है, वह है आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी, जिसके हिमालय-जैसे व्यक्तित्व में हिन्दी-कविता की शत-शत जीवन-धाराओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष उद्‌गम छिपा है।

आचार्य पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के श्रद्धेय नाम का स्मरण करते ही, जिन्होंने उन्हें प्रत्यक्ष या चित्र के माध्यम से देखा है, उनके नेत्रों के समक्ष, बड़ी-बड़ी भ्रकुटियों वाला तथा पैनी निगाह से किसी के भी अन्तर तक को देख लेने वाला वह युग-निर्माता साकार उपस्थित हो जाता है, जिसे पं० वेंकटेशनारायण तिवारी 'हिंदी का जाँनसन' कहा है, आचार्य श्यामसुन्दरदास ने "इस युग की हिंदी का सबसे बड़ा उन्नायक' बतलाया है, और भी पद्‌मलाल पुन्नलाल बख्शी ने जिसके प्रति अपने उद्‌गार इस प्रकार प्रकट किए हैं, 'यदि कोई मुझसे पूछे, कि द्विवेदी जी ने क्या किया ? तो मैं उसके समक्ष समग्र आधुनिक हिंदी-साहित्य रख कर कह दूंगा, कि यह सब उन्हीं की साधना का फल है।"[1] द्विवेदी जी युग गुरू थे, भले ही अत्यन्त उच्च कोटि के मौलिक साहित्यसृष्टा वे न रहे हों। उनके सैकड़ों की संख्या वाले शिष्य-वर्ग में मैथिलीशरण गुप्त, गणेश शंकर विद्यार्थी गोपाल शरण सिंह, लोचन प्रसाद पाण्डेय, रामचरित उपाध्याय, कामता प्रसाद गुरु एवं गया-प्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि अनेक ऐसे साहित्यकारों के नाम हैं, जो साहित्यकार द्विवेदीजी को भुला देने पर भी, युग-गुरू के नाते, उनके नाम को तब तक अजर-अमर रखने का सहज सामर्थ्य रखते हैं, जब तक हिंदी-भाषा और साहित्य इस वसुंधरा पर जीवित रहेगा।

आचार्य द्विवेदी का महान उदय सन् १६०१ में हुआ, जब हिंदी कविता की

दयनीय दशा पर उन्होंने शोक प्रकट किया था व्रजभाषा भाव से उसे मुक्त होने की प्ररणा दी,—

सुरम्यरूपे रस राशि रंजिते ?
विचित्र वर्णाभरणे कहां गई ?
अलोकिकानंदविधायिनी महा ?
कवीन्द्रकान्ते कविते अहो कहां ?
....
अभी मिलेगा व्रजमण्डलान्त का,
सुमुक्त भाषामय वस्त्र एक ही ।
शरीर संगी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही ।
इसीलिए ही भवभूति भाविते
अभी यहां हे कविते न आ, न आ । १

सन् १६०३ में 'सरस्वती' का सम्पादन-भार अपने विशाल स्कंधों पर लेने से पहले ही आचार्य द्विवेदी राष्ट्रभाषा हिंदी की कविता का घोषणा-पत्र 'कवि-कर्तव्य' के रूप में प्रस्तुत कर चुके थे । हिंदी कविता में क्रान्ति करने वाला यह घोषणा-पत्र जुलाई १६०१ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था । 'सरस्वती' के संपादक बनने पर आचार्य ने इस घोषणा-पत्र को चरितार्थ भी कर दिया । ऐतिहासिक महत्व के लेख में आचार्य ने कवियों का मार्ग-दर्शन बहुत ही विराट् दृष्टि-गोचर से किया, जिसके प्रमुख संकेत निम्नलिखित हैं,—

शब्द

(१) कवियों को विषय के अनुकूल छन्दोयोजना करनी चाहिए । अनुकूल वृत-प्रयोग कविता का आस्वादन करने वालों को अधिक आनन्द देता है ।

१—सरस्वती, जून १६०१ ।

उक्त पंक्तियों में आचार्य का कविता-संबंधी विराट् दृष्टिकोण जो रस, अलंकार, अलौकिक आनन्द तथा अनेक-रूप-प्रियता तक व्याप्त है, स्पष्ट हो जाता है । व्रजभाषा के प्रति आचार्य का कोई पूर्वाग्रह नहीं है, वह तो केवल नवीनता और व्यापकता के लिए खड़ीबोली चाहता है । आचार्य ने रत्नाकर की कविता का सदैव आदर किया था ।

(२) छन्द-विधान में नवीनता लानी चाहिए । हिंदी के प्रचलित तथा लोकप्रिय छंद दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग बहुत हो चुका, इनके अतिरिक्त अन्यान्य छंदों का भी प्रयोग हो । संस्कृत-काव्यों में प्रयुक्त द्रुतविलम्बित, वंशस्थ और वसंततिलका इत्यादि ललित वृत्तों का भी प्रयोग होना चाहिए । इससे भाषा काव्य की शोभा बढ़ेगी ।[1] यही नहीं, आजकल की बोलचाल की हिंदी की कविता उर्दू के से एक विशेष प्रकार के छन्दों[2] में अधिक खुलती है । अतः ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छंद प्रयुक्त होने चाहिए ।

(३) पादान्त में अनुप्रासहीन छंद भी भाषा में लिखे जाने चाहिए । अतु-कान्त छंद जब संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला इत्यादि में विद्यमान हैं, तब कोई कारण नहीं कि हमारी भाषा में न लिखे जायें । अनुप्रासों को सुनने का जो रूढ़ अध्याय हमारे कानों को हो गया है, उसके बंधन में पड़ा रहना ठीक नहीं । अनुप्रासों के ढूंढ़ने का प्रयास उठाने में समर्थ शब्द न मिलने से अर्थांश की हानि हो जाया करती है, जिससे कविता की चारुता नष्ट हो जाती है ।

आचार्य के इस क्रान्तिकारी निर्देश का प्रभाव-युग की महान प्रतिभाओं पर तो पड़ा ही, जिसके फलस्वरूप विकट भट, प्रेम-पथिक, प्रिय-प्रवास प्रभृति उत्कृष्ट कलाकृतियां प्रकाश में आईं, भावी प्रतिभाओं का पथ भी प्रशस्त हुआ । निराला एवं पंत भी आचार्य के इस निर्देश से प्रभावित हुए और 'जूही की कली' (सन् १९१६) एवं 'ग्रंथि' (सन् १९२०) प्रभृति ऐतिहासिक महत्व की सृष्टियां हुईं ।

१—आचार्य के युग में ही हिंदी-कविता का अमर ग्रन्थ 'प्रिय-प्रवास' हमारे काव्य की शोभा बढ़ा चुका था, इधर भी अनूप शर्मा ने सिद्धार्थ और वर्द्धमान लिख कर उस शोभा में और भी वृद्धि की है । परंपरा अभी जीवित है ।

२—आचार्य का संकेत उन सरल छंदों से है जिनका प्रयोग हरिऔध कर रहे थे । बोलचाल, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे का प्रेरणादायक सारल्य भी आचार्य को अभीष्ट था । अनेक प्रकार के साहित्यिक एवं सामान्यजनोपयोगी काव्य-सृजन की जो प्रेरणा आचार्य ने दी, वह बाद में कोई और न दे सका । बाद में हमारा ध्यान कविता की ओर तो गया, पर जनता की ओर न गया । अभी तक नहीं गया । यही कारण है कि जनता के हृदयों पर आचार्य के प्रमुख शिष्य मैथिलीशरण गुप्त की छाप अब तक पड़ती चली आ रही है ।

भाषा

(१) भाषा सरल-सुबोध होनी चाहिए। कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ सके।... कालिदास, भवभूति और तुलसीदास के काव्य सरलता के आकर है, परम विद्वान होकर भी इन्होंने सरलता की ओर ध्यान दिया है। इसीलिए इनके काव्यों का इतना आदर है। जो काव्य सर्वसाधारण की समझ के बाहर होता है, वह बहुत कम लोकप्रिय होता है। कवियों को इसका सदैव ध्यान रखना चाहिए।

तुलसी के बाद हिंदी-साहित्य में आचार्य द्विवेदी ने पहली बार 'काव्य जनता के लिये' का प्रभावशाली उद्घोष किया, जिसके फलस्वरूप खड़ीबोली-कविता लोकमान्यता पा सकी और मैथिलीशरण राष्ट्रकवि बन सके। कालान्तर में सीधी-सादी बातों को भी आचार्यत्व की लपेट में लेने की जो प्रवृत्ति चली, उसने आलोचना के भाव को कालेज की कक्षाओं में बन्द कर दिया। आश्चर्य है कि डाक्टर रामविलास शर्मा ने आचार्य द्विवेदी पर लिखते हुए उन्होंने (पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने) उनके भाषा-संस्कार-संबंधी कार्य की प्रशंसा की है और उन्हें अवतारी पुरुष कहा है। लेकिन अगर द्विवेदीजी की हिंदी और उनके आदेशों के अनुसार लिखी हुई हिंदी-कविता की तुलना भारतेन्दु-युग की हिंदी से करें तो यह जाहिर हो जायगा कि जिस अस्वाभाविक उच्चारण की बुनियाद पर नये हिंदी के छंदों में कविता रची गई है, उसका बहुत बड़ा श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को है।[१]

भारतेन्दु-युग की कविता में खड़ीबोली का प्रयोग नहीं के बराबर ही हुआ है। फिर संसार के किसी भी देश की काव्य-भाषा शत-प्रतिशत जन-भाषा के रूप में नहीं प्राप्त होती। तीसरे आचार्य द्विवेदी ने सदा भाषा की सरलता पर जोर दिया है। अतः डाक्टर रामविलास शर्मा की उक्त आलोचना साधार नहीं कही जा सकती है। उनका यह कथन अवश्य सत्य है कि नई कविता के छंद-विधान का बहुत बड़ा श्रेय आचार्य द्विवेदी को है।

(२) भाषा व्याकरण-सम्मत अर्थात् शुद्ध होनी चाहिए। आचार्य ने यह स्पष्ट आदेश दिया कि ब्रजभाषा के समान शब्दों की तोड़-मरोड़ नई कविता में न होनी चाहिए। लोकोक्तियाँ मुहावरे भी शुद्ध रूप में प्रयुक्त होने चाहिए। मुहाविरे ही भाषा का जोर है। इसके अतिरिक्त कालांतर में आचार्य ने भाषा की

---

१ —प्रगति और परंपरा, पृष्ठ १७८-७९।

शुद्धता के लिए जो आंदोलन छोड़ा था, वह तो विख्यात है ही। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है: हमारा हिंदी-साहित्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदीजी ही थे।... ... भाषा पर द्विवेदीजी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जायेगी, तब तक बना रहेगा।'[1]

(३) शब्द-प्रयोग रसानुरूप होना चाहिए तथा गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् होनी चाहिए। आचार्य ने पद्य की भाषा को गद्य की भाषा से बहुत भिन्न रखना असमीचीन घोषित किया। इस सम्बन्ध में उनकी तथा विशेष कर उनके युग की प्रत्यालोचना करते हुए पं० नन्द दुलारे वाजपेयी लिखते हैं, द्विवेदी जी ने काव्य की भाषा पर अपना वक्तव्य देते हुए यह कहा है कि गद्य और पद्य में एक ही भाषा, एक ही सी शब्दावली होनी चाहिए। इस वक्तव्य से लक्षित होता है कि काव्य का स्वरूप उस समय इतना अविकसित था कि कविता और गद्य के भाषा-प्रयोग-संबन्धी अन्तर की ओर भी दृष्टि नहीं जा सकी।[2] इस सम्बन्ध में एक ही सी शब्दावली' श्री वाजपेयी जी की मौलिक सूझ का परिणाम है। उस समय काव्य का स्वरूप अविकसित था—यह कहना निरर्थक है, क्योंकि सन् १९०१ में जिस समय पहले-पहल आचार्य द्विवेदी ने उक्त निर्देश किया था, खड़ीबोली-काव्य-रचना का प्रारम्भ मात्र हुआ था। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने की है कि आचार्य द्विवेदी युग-द्रष्टा महापुरुष थे और जानते थे कि विज्ञान और बुद्धि के आधुनिक युग में गद्य और पद्य की भाषा में जमीन-आसमान का अन्तर रखना पद्य के अस्तित्व के लिये हानिकारक होगा। द्विवेदी जी ने कई शताब्दियों के पूर्व अंग्रेजी-साहित्य के युगप्रवर्तक कवि वर्ड्स्वर्थ गद्य एवं पद्य के वाक्यविन्यास की एकता का प्रतिपादन कर अँगरेजी कविता का बाह्याडम्बर दूर करने में बहुत कुछ सफल हो चुके थे। क्या वर्ड्स्वर्थ के समय अँगरेजी भाषा अविकसित थी? क्या गद्य-पद्य के वाक्य-विन्यास में समानता की समर्थक मराठी भाषा अविकसित है? कविता आकाश कुसुमों का गुलदस्ता कभी भले ही रही हो, बौद्धिक और वैज्ञानिक वर्तमान एवं भविष्य में उसे अब ऋजु एवं सरल बनना ही पड़ेगा, अन्यथा वह सभ्यता के तूफान में अपनी सारी कृत्रिमता के साथ फूस की तरह उड़ जायगी। प्लेटो से लेकर टामस लवपीकाक तथा अनेक आधुनिक चिन्तकों ने कविता की उपयोगिता पर जो गंभीर संदेह प्रकट

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४५०

२—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ५८।

किये हैं, उसका कारण कुछ कवियों एवं आलोचकों का आकाश-कुसुम प्रेम ही है। आज सारे संसार में कविता गद्य के काफी निकट आती दृष्टिगोचर हो रही है। हमें गर्व है कि हमारा युग-निर्माता आचार्य द्विवेदी भविष्य-द्रष्टा भी था, जिसने गद्य और पद्य की भाषा में आडंबर-जन्य अन्तर का विरोध किया था। स्वाभाविक अन्तर वर्डस्वर्थ की तरह स्वयं उसमें भी विद्यमान है। स्वर्णधूलि, बावरा अहेरी या दूसरा सप्तक की भाषा आचार्य द्विवेदी के निर्देश के कितनी निकट है! स्पष्ट है कि आचार्य के द्रष्टा मानस के निर्णय अब तक अपना रूप ग्रहण करने में लगे हैं और सुन्दर भविष्य तक करते रहेंगे।

अर्थ

आचार्य ने ऐतिहासिक स्थापना की; 'अर्थ-सौरस्य ही कविता का जीव है।' चमत्कार और रस को सम्यक् महत्व प्रदान करने के साथ ही द्विवेदी जी ने कवि के भाव-तादात्म्य पर भी जोर दिया। अलंकारों को बलात् लादने का उन्होंने विरोध किया।

विषय

कविता के विषयों के संबंध में भी आचार्य द्विवेदी ने विराटवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया और यमुना तट के केलि-कौतूहलों से हटकर कवियों को अनन्त सृष्टि पर ध्यान देकर असंख्य विषयों पर कविताएँ लिखने का आदेश दिया: 'चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है।'

कवियों ने आचार्य के युग-स्रष्टा तथा भविष्य-द्रष्टा व्यक्तित्व के निर्देश से भरपूर लाभ उठाया। हिमालय, भारतवर्ष, विधवा, बम्बई का समुद्र-तट, देश-प्रेम, स्वाभिमान, वीरता, पौराणिक आख्यान, वीर-पूजा, प्रकृति-वर्णन इत्यादि-इत्यादि असंख्य विषय कविता के विषय बन गये। आगे चल कर किसानों एवं अनाथों पर सुन्दर काव्य लिखे गये मानव की प्रमुख प्रवृतियाँ प्रेम, वीरता, श्रद्धा, भक्ति इत्यादि भी प्रबन्धों में व्यापक रूप से रामावृति बनी रहीं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आचार्य द्विवेदी जी के निबन्धों को 'बातों का संग्रह' कहा है।[1] पर संयोग ऐसा रहा है कि बातों का संग्रह युग-निर्माण में सफल हुआ। गाँधी और अरविन्द के साहित्य की तुलना करने पर 'लाइफ डिवाइन' के सामने 'आत्म कथा' या 'मंगल-प्रभात' 'बातों

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४६६।

का संग्रह लग सकता है, पर दोनों का महत्व अलग-अलग है। एक योगी को साधना एवं चिंतन की अभिव्यक्ति है, दूसरी नेता तथा युग-निर्माता की प्रेरक शक्ति से सम्पन्न निर्देशिका। 'बातों का संग्रह' जैसे शब्द विशेष स्थितियों में साधारण लेखकों पर लागू हो सकते हैं, युग-निर्माताओं पर नहीं। युग का निर्माण गूढ़ गुंफित विचार-परंपरा के द्वारा कम होता है, सुस्पष्ट निर्देश एवं साधना द्वारा अधिक।

द्विवेदी-युग में हिन्दी-कविता की बहुमुखी प्रगति हुई।[१] इस प्रगति का सबसे बड़ा श्रेय आचार्य द्विवेदी को है। पं० बेंक्टेशनारायण तिवारी से उनको हिन्दी का जांनसन कहा है। पर वास्तव में जाँनसन द्विवेदीजी की तुलना में नहीं खड़े किये जा सकते। जॉनसन को जो भाषा मिली थी, वह परिशिष्टि थी। जाँनसन के समय तक अंग्रेजी में काव्य, नाटक, एवं निबंध इत्यादि बहुत पुष्ट एवं विकसित हो चुके थे। द्विवेदी जी को भाषा का निर्माण भी बहुत दूर तक करना पड़ा और अनेक विषयों—एवं विधाओं के प्रौढ़ सभारंभ की प्रेरणा देनी पड़ी। संसार-साहित्य के इतिहास में ऐसा एक भी व्यक्तित्व शायद कोई नहीं हुआ, जिसने एक ओर तो भाषा का सम्यक् निर्माण किया हो, दूसरी ओर नई विधाओं एवं विषयों से साहित्य को संपन्न बनाने का उत्तरदायित्व भी वहन किया हो। आचार्य द्विवेदी युग-निर्माता, युग-गुरू, भविष्य-द्रष्टा और साहित्य-द्रष्टा सभी रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रसिद्ध विद्वान पं० नन्द दुलारे बाजपेयी ने ठीक लिखा है ;' बिचारों के क्षेत्र में नई और बहुमुखी सामग्री एकत्र करने का श्रेय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को है, जिन्होंने हिन्दी के लिए भाषा का एक नया प्रतिमान भी प्रस्तुत किया है। नये विचार और नई भाषा....नया शरीर और नई पोसाक...दोनों ही नई हिंदी को द्विवेदी जी की देन हैं। इसी कारण वे नई हिंदी के प्रथम युग-प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं।...साहित्य के क्षेत्र में किसी एक व्यक्ति पर इतना कड़ा उत्तर-दायित्व इतिहास की शक्तियों ने कदाचित् पहली बार रखा था और पहली ही बार द्विवेदी जी ने इस उत्तरदायित्व के सफल निर्वाह का अनुपम निदर्शन प्रस्तुत किया है।'[२]

यही कारण है कि चाहे पं० रामचन्द्र शुक्ल हों या डाक्टर श्याम सुन्दर दास, कविवर निराला हों या पंत या महादेवी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी हों या

१—द्विवेदी-युग में हिन्दी की प्रगति का सम्यक्, संतुलित एवं भाव पूर्ण विवेचना स्व० डा० सुधीन्द्र के प्रसिद्ध प्रबन्ध 'हिन्दी-कविता में युगान्तर में किया गया है।

२—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १३।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी या राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन—सभी ने इस महान निर्माता के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की है।

अपने युग के प्रारम्भ में आचार्य द्विवेदी को ब्रजभाषा के सुलझे और प्रकृत काव्य, पथ पर चलने वाले कवियों को उस समय उलझे हुए एवं अप्रकृत लगने वाले खड़ीबोली के काव्य-पथ पर लाने में कितनी कठिनाई हुई होगी, इसका पता इसी से चल सकता है कि आठ-आठ घंटे वे रचनाओं के सुधार में लगाने को विवस होते थे। एक-एक कविता के सुधार में चार-चार घंटे लग जाते थे। खड़ीबोली के प्रमुख तथा प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण तक किसी समय ब्रजभाषा के समर्थक एवं खड़ीबोली में काव्य रचना को कठिन मानने वाले थे। उसे भूल कर हम जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रचारित 'इतिवृत्तात्मक', 'गद्य-प्रबन्ध' या गद्यात्मक जैसे शब्दों के द्वारा द्विवेदी-युग की कविता की चर्चा करते हैं, तब क्या न्याय की दृष्टि से काम लेते हैं? पं० रामचन्द्र शुक्ल से लेकर डाक्टर नगेन्द्र, पं० नन्ददुलारे बाजपेयी और दिनकर तक सभी इतिवृत्तात्मक या भोडीं 'सच्ची कविता है ही नहीं' जैसे शब्दों का प्रयोग करते दृष्टिगोचर होते हैं। पर हम पूछते हैं कि क्या द्विवेदी-युग में रची गई जयद्रथ-वध (१९१०) प्रेम-पथिक (१९१३), अनाथ (१९१७), प्रिय-प्रवास (१९१३); झरना (१९२०), ग्रंथि (१९२०) एवं साकेत (अधिकांश) प्रभृति रचनाएं निरी इतिवृत्तात्मक मात्र हैं? क्या इनकी कविता भोंडी है? द्विवेदी-युग प्रमुखतः प्रबन्ध-काव्य-युग है। संसार के किस प्रबन्ध-काव्य में इतिवृतात्मक नहीं है? 'पेराडाइस लास्ट' शुद्ध इतिव्त्तात्मक काव्य है। पर मिल्टन की प्रत्यालोचना नीचे उतर करकभी नहीं की गई: श्री वाजपेयी जी लिखते हैं "उस युग का काव्य किसी व्यस्थित काव्य-स्वरूप के अन्तर्गत नहीं आता। यह एक प्रकार के विशुद्ध काव्य है भी नहीं।[1] यही पं० नन्द दुलारे अन्यत्र लिखते हैं:' मैं तो उपाध्याय जी को वर्तमान युग का सर्वश्रेष्ठ कवि मानता हूं और उनका स्थान कवित्व की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से भी उत्तम समझता हूँ। मैं उनकी तुलना बंगला के महाकवि मधुसूदन से करता हूं और सब मिलाकर'मेघनाथवध' काव्य से 'प्रिय-प्रवास' को कम नहीं मानता।'[2] प्रश्न यह उठता है कि जब प्रिय-प्रवास का युग विशुद्ध काव्य का युग ही नहीं है तब किस बूते पर उनकी तुलना बंगला के महान काव्य से की

१—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ५८।

२—श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत 'महाकवि हरिऔध', पृष्ठ ९।

जा सकती है ? बंगला में मधुसूदन के युग को विशुद्ध काव्य' सृजन न होने वाला शायद किसी ने नहीं माना। इस स्थिति में उक्त दो में एक कथन दूसरे कथन के कितना अनुकूल है ? और 'विशुद्ध काव्य' है क्या ? सारा हिंदी-जगत् प्रिय-प्रवास, साकेत, पथिक, प्रेम-पथिक, ग्रन्थि इत्यादि को काव्य मानता है और अन्य भाषा-भाषियों ने भी इन ग्रन्थों को 'शुद्ध काव्य' के घेरे से बाहर निकल कर नहीं फेंका।

कोई नई काव्य-भाषा कुछ दिनों में अलादीन के चिराग की सहायता से मसृण, मांसल, सुकोमल, भावमय एवं कवित्वमय नहीं हो जाती, कम से कम जब तक तो नहीं हुई)। चासर की भाव-राशि और उनकी भाषा कैसी है ? वली की भाव-राशि और उनकी भाषा कैसी है ? पर अँगरेजी या उर्दू के किसी भी आलोचक ने उनकी भाषा या उनके भावों के लिये वे शब्द प्रयुक्त नहीं किये जो द्विवेदी-युग की भाषा एवं भावना के लिये हमारे कुछ आलोचकों ने प्रयुक्त किए हैं।

यह भी प्रसिद्ध है कि छायावादी कविता द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई। पर द्विवेदी-युग में विरचित श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद, माखनलाल इत्यादि की अनेक स्वच्छन्द एवं सरस कृतियाँ इस बात का प्रमाण है कि छायावाद संसार, भारत तथा हिंदी की परिस्थितियों के अनुकूल सम्यक् विकास का काव्यगत परिणाम था। प्रतिक्रिया इतनी प्रशान्त तथा गम्भीर नहीं हो सकती जितनी छायावादी रचनाएँ हैं। निराला की अनेक छायावादी रचनाएँ और पंत की वीणा, ग्रंथि तथा 'पल्लव' की अनेक अनूठी कविताएँ द्विवेदी-युग में लिखी गई थीं। प्रसाद तो छायावादी काव्य-रचना के पूर्व ही प्रसिद्ध हो चुके थे। इन कवियों से तब यह नहीं कहा था कि वे द्विवेदी-युग की रचना-प्रणाली के विरोध में उत्पन्न प्रतिक्रिया का नेतृत्व कर रहे हैं। इसके विपरीत प्रायः सभी ने द्विवेदी जी एवं द्विवेदी-युग के सूर्य मैथिली शरण जी के प्रति आभार-भाव ही प्रदर्शित किया है। हाँ, जब नई कविता की कटु कहीं-कहीं अत्युक्तिपूर्ण और अनुचित आलोचना-प्रत्यालोचना होने लगी, तब द्विवेदी-युगीन काव्य-प्रणाली की प्रतिक्रिया का आभास लोगों को होने लगा।। पर यह अभास आभास ही है। पश्चिम में स्वाभाविक विकास को भी प्रतिक्रिया (री-एक्शन) कहने का फैशन है। हमारे प्रतिक्रिया-प्रेम का कारण यही है। सन् १९२० और इससे कुछ बाद काव्य की नई भाषा खड़बोली गम्भीर भावों को कालात्मक शैली में व्यक्त करने योग्य हो गई थी। अतः प्रसाद, निराला एवं पंत, जो क्रमशः प्रेम-पथिक (१९१३), जूह कली (१९१६) एवं वीणा तथा ग्रन्थि (१९२०) प्रभृति छोटी-बड़ी अनेक रचनाएँ लिख कर नई हिंदी-कविता के महान

भविष्य का संकेत कर चुके थे, समय के साथ-साथ आगे बढ़ कर नये काव्य-युग के नेता एवं निर्माता के रूप में प्रकट हुए। प्रसाद, निराला और पंत, आधुनिक युग की तीन महान प्रतिभाएँ अपने-अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व लेकर काव्य-क्षेत्र में उतरी थीं। यदि ये अमर कवि किसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिंदी-काव्य-क्षेत्र में उतरते, तो संगठित रूप में भी उतर सकते थे। पर उन्हें ऐसा करने की आवश्यकता नहीं हुई थी, क्योंकि ये जानते थे कि वे युग के साथ हैं और इसलिये युग भी उनके साथ होगा। ऐसा हुआ भी। इनकी कविता में प्रारम्भिक जटिलता का कारण प्रतिक्रिया नहीं है, जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में कहा है, इनकी प्रारम्भिक अवस्था है, जिसमें भाव के तलस्पर्शी बोध की न्यूनता के कारण भाषा प्रायः दुरूह रहती है। आगे चल कर लहर, तुलसीदास और गुंजन इत्यादि ग्रन्थों में इनकी भाषा बदलती गई और काल ने प्रसाद को यदि असमय ही न उठा लिया होता, तो उनकी भाषा का रूप अपने व्यक्तित्व के अनुरूप 'कुकुरमुत्ता' या 'स्वर्ण-धूलि' की भाषा का निर्माण अवश्य करता।

द्विवेदी-युगीन विरह-वर्णन की एक प्रमुख विशेषता प्राचीन परंपराओं को साथ लेकर नई अनुभूतियों की सृष्टि है। हरिऔध, राम नरेश त्रिपाठी, प्रसाद तथा पंत, द्विवेदी-युग के प्रमुख विरह-वर्णन करने वाले कवि हैं। इनमें विरह-वर्णन की ही दृष्टि से हरिऔध और गुप्त प्रमुख हैं। इनके विरह-वर्णनों में दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं :—

(१) प्राचीन परंपराओं का ग्रहण, जो 'पवन-दूत' और षड्ऋतु-वर्णन इत्यादि में दृष्टिगोचर होता है।

(२) नवीन भाव एवं कार्य-योजनाएं, जो राधा की सेवा-भावना तथा सेवा-कार्य और ऊर्मिला के जन-मंडल-भावों में व्यक्त हुई हैं।

इन दोनों प्रवृत्तियों का विवेचन करना आवश्यक है।

द्विवेदी-युग राष्ट्र की दृष्टि से पुनर्जागरण का युग था। अतीत का महान भारतवर्ष उस समय दयनीय अवस्था में तो था, पर जाग रहा था, और इस जागरण का मूल मंत्र अतीत की प्रेरणा में निहित था। रवीन्द्रनाथ, इकबाल, भारती, बल्लत्तोल, मैथिलीशरण, सभी महान कवि अतीत का गौरव-गान करते हुए वर्तमान को सशक्त बना रहे थे। रामकृष्ण भंडारकर, हरप्रसाद शास्त्री, काशी प्रसाद जायसवाल प्रभृति विद्वान अपने महान इतिहास की विभूतियों से परिचित कराते हुए हमें वर्तमान के निर्माण की प्रेरणा दे रहे थे। तिलक, गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रमेशचन्द दत्त, मदन मोहन मालवीय इत्यादि नेता महान अतीत की नूतन व्याख्याएं

करते हुए जागरण का मंत्र फूक रहे थे। इस स्थिति में द्विवेदी-युगीन कविता का ध्यान यदि अतीत की ओर न जाता, तो हमारा साहित्य युग-निरपेक्ष एवं मुर्दा साहित्य होता। फिर प्राचीन के श्रेष्ठ से प्रेरणा लेना या परंपरा का पालन करना और उसे आगे बढ़ाना कोई गलत या खराब काम भी नहीं है। इंगलैण्ड का महान कवि ईलियट परंपरा-प्रेमी है। पर उसकी कविता उसके परंपरा-प्रेम से शक्तिशालिनी ही बनी है। यदि द्विवेदी-युग के कवि 'अजायबर की नई चीज' के रूप में कविता लिखने आते, तो खड़ीबोली-कविता लोकप्रिय हो ही न पाती। परंपरा जनता के अन्तराल में एक निश्चित स्थान बना लेती है और उसे एक झटके से कवि तो क्या, तानाशाह भी नहीं तोड़ पाते। यदि आचार्य द्विवेदी भारतीय साहित्य के गंभीर पंडित न होते और कविता में परिचित एवं लोकबुद्धि-ग्राह्य तत्वों की रचना पर जोर न देते, तो खड़ीबोली-कविता अपने जन्म के साथ ही लड़खड़ा जाती। जन-शक्ति एवं जन-भावना अप्रत्याशित नवीनता से नहीं, परिचित तत्वों के द्वारा प्रेरित नवीनता से लाभान्वित होती है। सौभाग्य से द्विवेदी-युग के महाकवि हरिऔध एवं गुप्त जी भारतीय संस्कृति के अध्येता एवं उसके प्रति श्रद्धालु थे। साथ ही, युग-निष्ठा होने के कारण अभीप्सित नवीनता के महत्व से भी अभिज्ञ थे। यही कारण है कि उनकी कविताएं शीघ्र ही जनादर प्राप्त कर सकीं, क्योंकि उन्होंने जनता की जानी-पहचानी बातों को ही कहा था, उनकी सृष्टियों में जो नवीनता थी, वह भी बुद्धि-ग्राह्य एवं भारतीय संस्कृति के अनुकूल थी। इसका यह अर्थ नहीं कि हम चाहते हैं कलाकार जन-रुचि पर ही आबद्ध रहे और वही लिखे जो लोग समझ सकें। इसका अर्थ केवल इतना है कि कवि को अपनी संस्कृति का भी ध्यान रखना चाहिए, साथ ही जनता का भी ध्यान रखना चाहिए। नवीनताएं न होने पर कविता की सरिता तालाब बन जायेगी और सूख जायेगी, साथ ही निरी नवीनता से वह अजायबघर की निधि बन जायेगी। द्विवेदी जी, हरिऔध और मैथिलीशरण इत्यादि यह जानते थे। उनमें नवीनता थी, पर सरल एवं ग्रहणीय। अतः उनकी कविताएं सहस्त्रों व्यक्तियों को प्रेरणा, लाखों व्यक्तियों को आनन्द और अनेक युगों को प्रभाव प्रदान करती रही हैं और करेंगी। सम्मेलनों, गोष्ठियों एवं कालेज की कक्षाओं के बाहर खड़ीबोली-कविता के दो कवि ही संमान पा सके हैं, और वे हरिऔध तथा मैथिलीशरण ही हैं। मैथिलीशरण की लोक-प्रियता हिंदी ही नहीं, आधुनिक भारतीय कविता में अद्वितीय कही जा सकती है। श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने स्वीकार किया है ; खड़ीबोली के कवियों में अब तक केवल श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ही हैं जिनके बारे में यह कहा जा सकता है कि

जनता उन्हें पढ़ना चाहती है और यदि पाठ्य-क्रमों से निकाल भी दी जायें तो उनकी कितनी ही पुस्तकें जनता में, फिर भी चलती रहेंगी। [1]

इसके अतिरिक्त हरिऔध और विशेषत: गुप्तजी ने जितनी नवीन सृष्टियां की हैं, उनके देखते हुए उनकी परंपरा-गत सृष्टियां बहुत सकम हैं । यहां नवीन सृष्टियों से हमारा अर्थ पुरानी बोतलों में नवीन आसव भरने से ही है । नवीन आसव के लिये नवीन बोतलों का यह युग ही नहीं था और युग के हट कर चलने में उस समय खड़ीबोली-कविता के जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो सकता था। जाने अनजाने हमारे कवियों ने अपनी सृष्टि को युगानुरूप ढाला और उसका शुभ परिणाम यह हुआ कि पचास वर्षों के अल्प काल में हिंदी ने वह उन्नति की, जो इतने थोड़े समय के भीतर आधुनिक युग में संसार की शायद ही कोई भाषा कर पाई हो।

हमारे कुछ आलोचक नयेपन की झोंक में प्राय: व्यक्तिगत रुचि को जन-रुचि पर लादने का प्रयास करते रहते हैं। वे यह नहीं देखते कि पाश्चात्य देशों में कविता की सृजन-शक्ति का दिन पर दिन ह्रास क्यों होता चला जा रहा है; वे यह नहीं देखते कि पाश्चात्य कवि अब कविता को गद्य के निकटतर लाते हुए क्यों परंपराओं एवं रूढ़ियों का संमान करने लगे हैं और साथ ही काव्य को नवीनतम रूप भी देते जा रहे हैं। वे यह नहीं समझते कि इन सबके मूल में जनता रहती है। हमारी आलोचना का अधिकतर भाग तरुण या नवयुवक छात्रों के लिए लिखा जाता है, जनता के लिए नहीं । अत: उसमें तड़क-भड़क और चकाचोंध पैदा करने वाली नवीनता का समावेश अत्यधिक परिमाण में रहता है। द्विवेदी-युग का प्रेम-काव्य किशोर-रुचि या युवक-रुचि के बहुत अनुकूल नहीं हैं, इसलिये ऐसे आलोचकों की आलोचना छात्रों में थोड़े दिन चर्चा कर विषय बन जाने में कभी-कभी समर्थ हो जाती है।

द्विवेदी-युग का पुरानी परिपाटी के प्रति प्रेम काव्य में ग्रहीत हुआ है, पर वह नवीन रूप में है। 'मेघदूत' के संदेश में वैयक्तिकता की प्रधानता है, पवन-दूत के संदेश में सामाजिकता की प्रधानता है। यह मूल अन्तर पवन-दूत को मेघ-दूत से प्रभावित होने पर भी भिन्न कर देता है। कला की दृष्टि से भी मेघदूत और पवन दूत में अंतर है। प्रथम की विश्व-साहित्य की बेजोड़ कला कुछ के काम की है, द्वितीय की मर्मस्पर्शी कला सबके काम की है। इसी प्रकार मैथिलीशरण के

१—चक्रवाल, भूमिका, पुष्ठ २१-२२ ।

विरह-वर्णन में ऋतुए वेदना की परिवर्तित असह्यता को व्यक्त करने के चमत्कार के उद्देश्य से नहीं लिखी गई; नवीन एवं परिवर्तित संवेदनों को व्यक्त करने के लिये लिखी गई हैं और इस क्षेत्र में नवीन तो हैं ही, सफल भी हैं । पर हमारे कुछ आलोचकों ने राष्ट्रीय धरोहर, जनता की रुचि, कवि के प्रति सहानुभूति एवं तलस्पर्शी विवेचन को ताक पर रखकर नवीनता के एक धक्के में ही इन सर्जनाओं के अवमूल्यन का प्रयास किया है ।

प्रसिद्ध आलोचक पं० नन्ददुलार वाजपेयी लिखते हैं : "पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय जैसे कवि भी अपने प्रिय-प्रवास में पवन-दूत की योजना करते हैं जो मेघदूत की छाया लिये हुए हैं, और मैथिलीशरण जो साकेत के नवम् सर्ग में भी ऋतु-वर्णन की पुरानी परिपाटी और पुराने भाव- संकेतों को नहीं छोड़ सके हैं ।[1]

प्रश्न यह है कि क्या सभी कवियों को नई बातें एवं नए विषय लिखने पर ही महानता या श्रेष्ठता का प्रमाण-पत्र दिया जावेगा ? नवीनता का संबंध रूप की अपेक्षा आत्मा से अधिक होता है, यदि ऐसा न होता तो रूप की बहुत दूरतक समानता होने के कारण बाल्मीकि के सामने तुलसीदास का मूल्यांकन करना कठिन हो जाता । संसार के महानतम कलाकारों ने सदा पुराने पात्रों में नया रस डाला है । शेक्सपियर पाश्चात्य साहित्य का सूर्य है, पर उसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह कभी मौलिक न था और न कभी उसने मौलिक बनने की चेष्टा की थी; कालिदास का 'कुमारसम्भवन्' शिव-पुराण से, 'विक्रमोर्वशीयम्' ऋग्वेद से तथा रघुवंशम् रामायण से अनुप्राणित है; तुलसीदास ने अपने 'मानस' पर बाल्मीकि के अतिरिक्त नानापुराणनिगमागन का प्रभाव स्वयं स्वीकार किया है, सूर ने बारंबार 'भागवत' के कर्ताओं का नाम लिया है; मिल्टन के अमर काव्य 'पेराडाइज लास्ट' का कथानक बाइबिल के आख्यान का काव्य-रूप है । पर ये कवि प्राचीनता के साथ ही नवीन भी हैं और विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों में हैं । यही नहीं, नवीनता के उद्घोषक महान कवि भी प्राचीन काव्यों या उनसे प्रभावित काव्यों के रस के बड़े भारी प्रशंसक रहे हैं । महान कवि कीट्स अँगरेजी-काव्य में प्रमुख स्वच्छन्दतावादी रहा है, पर वह महाकवि होमर के काव्य का अनुवाद पढ़कर परमानन्दित तो हुआ ही था, अपने उद्गारों को कविता [2] में प्रकट करने को विवश भी हुआ था । हिंदी की छायावादी कविता के प्रमुख स्तम्भों में एक कवि पंत 'प्रिय-प्रवास' की यशोदा का विलाप पढ़कर रोने लगते थे ।

१—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ५८ ।

२- –On first looking into Chapman's Homer.

हिंदी-साहित्य के अनेक कलाकार तथा आलोचक अँगरेजी के जानकार रहे हैं तथा हैं, पर उनमें अज्ञेय का स्थान बहुत महत्व का है। पाश्चात्य 'साहित्य के विविध अँगों का जैसा तलस्पर्शी, गंभीर एवं व्यापक अध्ययन अज्ञेय में प्राप्त होता है, वैसा हिंदी के कम आलोचकों में ही मिलेगा। अज्ञेय लिखते है ;' विश्व का महान साहित्य उठा कर देख डालिये...हमारे परिचित भाव ही हमें मिलेंगे, किन्तु नूतन योगों में; और हम यह भी पायेंगे कि इस या उस महान कलाकार की रचना का वैशिष्ट्य उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों की 'नूतनता' में नहीं, उसके उपकरणों के परस्पर अनुपात और योग के प्रकार की विभिन्नता में और सृजन की क्रिया की तीव्रता की भिन्नता में है और यह क्रिया इस क्रिया की तीव्रता— विभिन्न परिचित उपकरणों से नूतन चमत्कारिक वस्तु का निर्माण चेष्टित नहीं है, वह स्वयं चमत्कारिक है।'[1] कालिदास और भवभूति, शेक्सपियर और मिल्टन, तुलसी और सूर से लेकर यह चमत्कार, मौलिक चमत्कार, भारवि, माघ और श्रीहर्ष, केशव, बिहारी और देव, रत्नाकर, हरिऔध और मैथिलीशरण तक व्याप्त दृष्टिगोचर होता है।

नवीनता के आवेश में हमारे कुछ आलोचक बेतरह बहे हैं। पर सौभाग्य है कि हिन्दी-भाषा-भाषी जनता एवं कवि उनसे अधिक प्रभावित नहीं हुए और आज भी पार्वती, भीष्म, कर्ण, वर्द्धमान, मीरां तथा दयमंती पर काव्य लिखे जा रहे हैं। मूल्य के अनुसार उनका आदर भी हो रहा है। साहित्य में नवीनता का समर्थन सभी करेंगे और यदि न करेंगे तो जड़ता का परिचय देंगे, पर-नवीनता-सिद्धान्त की रचना कर प्राचीन काव्यों, पुराणों एवं गाथाओं के वर्णनों के आधार पर या उनसे प्रभावित नवीन रचनाएं करने का विरोध बहुत ही कमजोर नींव पर खड़ा होने वाला विरोध है। अज्ञेय के शब्दों में हम इस प्रसंग को समाप्त करते हैं;' साहित्य में भी, विशेषतया आलोचना के प्रसंग में यह फैसन सा हो गया है कि रूढ़ि का तिरष्कार किया जाय। जब यह तिरष्कार इतना स्पष्ट नहीं भी होता, तब भी हम किसी आधुनिक लेखक की समकालीनता अथवा कि 'आधुनिकता' का मूल्यांकन इसी कसौटी पर करते हैं कि यह किस हद तक रूढ़ियों को मानता अथवा तोड़ता है। उदाहरणतया हम प्रायः कहते हैं कि 'हरिऔध' रूढ़िवादी हैं तथा पंत और निराला आधुनिक हैं यानी रूढ़ियों के प्रति विद्रोही हैं। आलोचना के वर्तमान फैशन की ओर तनिक ध्यान दें तो हम देखेंगे, आजकल हिन्दी में (हिंदी

१—त्रिशंकु, रूढ़ि और मौलिकता, पृष्ठ ३९।

ही क्यों, प्रायः सर्वत्र ही) लेखक या कवि की रचनाओं के मौलिक व्यक्तिगत विशेष गुणों पर' जोर देने की परिपाटी सी चल पड़ी है । आजकल का साहित्यकार अपनी भिन्नता के लिये ही प्रशंसा पाता है, मौलिकता भिन्नता का ही पर्यायवाची बन गया है। कवि को हम उसके पूर्ववर्तियों से उच्छिन्न करके देख सकें तभी हमें संतोष होता है। आलोचकों के आगे यह कहना अपने को हास्यास्पद बना देना होगा कि कभी-कभी साहित्यकार का गौरव, उसकी रचना का महत्व, इस बात में भी हो सकता है कि उसमें साहित्यकार के पूर्ववर्त्तियो की लम्बी परंपरा, उसके साहित्य की रूढ़ि पुनः जी रही और मुखर हो रही है।'[1]

द्विवेदी-युगीन विरह-वर्णनों में दूत-वर्णन की प्राचीन परिपाटी नवीन रूप लेकर आई है। कालिदास का विरही पक्ष विरह में एकदम नहीं डूबता । वह मेघदूत से देश की प्रकृति का सौंदर्य तो स्पष्ट करता ही चलता है, उसे रस-मय करने का परामर्श भी देता रहता है । प्रकृति के सूक्ष्म द्रष्टा महाकवि कालिदास की महान भावुकता और इस भावुकता को महान रूप में प्रकट करने की कला संसार-साहित्य की अद्वितीय निधि है , पर 'मेघदूत' में जो अनावृत्त संभोग हैं के विरह-वेदना से विकल यक्ष के मुख से निकलने पर स्वाभाविक लगने लगते हैं। हरिऔध इस अस्वाभाविकता से बहुत दूर तक बच गये हैं। यद्यपि इसमें एक दूसरे ही रूप में प्रभावित अवश्य हुये हैं । कालिदास की विलासिता ने संयोग-संकेतों के विस्तार से सहज विरहाभिव्यक्ति में बाधा डाली है, हरिऔध की समाज-सेवा-वृत्ति ने । पर साधारणतः देखा गया है कि विरही अपनी बेदना के भाव को संवेदन के जल से धोकर शान्ति पाता है। अतः कालिदास की अस्वाभाविकता से हरिऔध की अस्वाभाविकता कम खटकने वाली है। कालिदास के विरही की शारीरिक दृष्टि अधिक सचेष्ट है, हरिऔध की विरहिणी की मानसिक । इसका कारण स्पष्ट है, कालिदास भारत के स्वर्ण-युग के उल्लास का नायक है, जिसकी वेदना के तल में भी उल्लास का आधार है, हरिऔध भारत के स्वातन्त्र्य-संघर्ष एवं जातीय-उत्थान के क्रान्तिपूर्ण काल का कवि है, जिसके उल्लास के तल में भी वेदना का आधार है। कला के क्षेत्र में कालिदास बहुत आगे हैं, वेदना के क्षेत्र में हरिऔध कालिदास से अधिक करुणोत्पादक । 'मेघ-दूत' पढ़ कर हम भाव-विभोर हो उठते हैं, पवन-दूत' पढ़कर रो पड़ते हैं। स्पष्ट है, दोनों रचनाएं अपना पृथक् महत्व रखती हैं। 'पवन-दूत' का आधार 'मेघ-दूत' है, पर निर्माण स्वतन्त्र है और हरिऔध के महाकवित्व का ज्वलंत प्रमाण है।

१—त्रिशंकु पृष्ठ ३०।

इसी प्रकार द्विवेदी-युगीन विरह-वर्णनों में ऋतु-वर्णन की प्राचीन परिपाटी भी नवीन रूप लेकर आई है। प्राचीन ऋतु-वर्णनों में ऋतु के परिवर्तन के साथ ही नायिका ही बदलने वाली वेदनाओं, विशेषकर शारीरिक कष्टों का ही वर्णन अधिक हुआ है, जिसका मास-गत वर्णन बारहमासों में दृष्टिगोचर होता है। पर गुप्त जी ने शारीरिक कष्टों के स्थान पर प्रकृति के परिवर्तनों में उर्मिला के प्रिय-दर्शन की उत्कट लालसा की सफलता का आभास दिखला कर तथा विभिन्न दुःखी प्राणियों के सुख की कामना को व्यक्त कर विरह में ऋतु-वर्णन की परिपाटी को नया तथा व्यापक क्षेत्र प्रदान किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि के दुःखी व्यक्ति दो प्रकार के देखे जाते हैं। प्रथम वे, जो अपने दुःख में सब को दुःखी देखते हैं, और देखना चाहते हैं। दूसरे वे, जो अपने दुःख की असहनीयता को देखकर यह कामना करते हैं कि ऐसा असहनीय दुःख किसी को न मिले, हम दुखी हैं तो क्या, दूसरे सुखी रहें। ऊर्मिला का व्यक्तित्व दूसरे प्रकार का चित्रित किया गया है। मनुष्य के मनोविकारों का पुस्तकों के माध्यम से अध्ययन करने वाले विद्वान ऐसे वर्णनों पर चाहे जो राह दें, मनुष्य के मनोविकारों को मनुष्य के ही माध्यम से समझने वाले व्यक्ति गुप्त जी के ऋतु-वर्णन से अवश्य प्रसन्न होंगे, क्योंकि संसार का सबसे महान ग्रंथ मनुष्य है।

राधा की सेवा-भावना एवं उर्मिला की जल-मंगल-कामना द्विवेदी-युगीन विरह-वर्णन की उस प्रवृति की प्रतीक है, जो बिरह की वेदना को जन-सेवा या जन-कल्याणेच्छा के सहारे हल्का करती है। इस प्रवृति का थोड़ा बहुत प्रभाव 'प्रेम-पथिक' और 'पथिक के' विरह पर भी पड़ा है। इस प्रवृति पर प्रसिद्ध समीक्षक डाक्टर नगेन्द्र ने अपने विचार इन शब्दों में प्रकट किये हैं :" समाज और साहित्य दोनों में ही यह युग सुधार का प्रतीक था। जीवन और काव्य की तरल रसिकता के विरुद्ध इनमें नैतिकता का आतंक रहा, परन्तु यह नैतिकता अत्यन्त स्थूल थी। तत्कालीन समाज-सुधारकों की भाँति साहित्य के सुधारकों की भी दृष्टि अमनोवैज्ञानिक थी, इसलिए वह जीवन के बाह्य रूपों से उलझी रही। शृंगार का सर्वथा बहिष्कार तो कैसे हो सकता था, परन्तु इसको संयत और मर्यादित करने के सभी स्वाभाविक-अस्वाभाविक प्रयत्न किये गये। फिर से शृंगार और विवाह के अनिवार्य संबंध पर जोर दिया गया।—इस अस्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम स्वस्थ नैतिक संयम न हो कर नैतिक दंभ ही हुआ। समाज में बहिनजियों का एक वर्ग खड़ा हो गया और वृद्ध हरिऔध जी ने बाद में उदारतापूर्वक उन्हें 'देश-सेबिका' और 'समाज सेविका' नायिकाओं के रूप में रीति-बद्ध भी कर दिया।—जीवन और

काव्य के रस में बंचित इस युग ने जो नारी-चित्र दिये, वे उसी के अनुकूल, नैतिक दंभ से पीड़ित, अक्खड़ और नीरस हैं।[1]

डाक्टर नगेन्द्र के उपर्युक्त वाक्यों का निष्कर्ष यह हुआ,.......

(१) जीवन और काव्य की तरल रसिकता के विरुद्ध द्विवेदी-युगीन शृंगारिक कविता में नैतिकता का आतंक रहा।

(२) द्विवेदी-युगीन शृंगारिक वर्णन करने वाले कवियों की दृष्टि अमनोवैज्ञानिक थी, इसीलिये वह जीवन के बाह्य रूपों से ही उलझी रही।

(३) शृंगार और विवाह के अनिवार्य संबंध पर द्विवेदी-युगीन कविता में जो और दिया गया, वह अस्वाभाविक था।

(४) फल स्वरूप द्विवेदी-युगीन नारी-चित्र नैतिक दंभ से पीड़ित, अक्खड़ और नीरस हैं।

अब हम डाक्टर नगेन्द्र के इन निष्कर्षों पर विचार करेंगे।

'जीवन और काव्य की तरल रसिकता' से नगेन्द्र जी का क्या तात्पर्य है, यह विषय अस्पष्ट ही है, क्योंकि इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया। रीतिकाल के 'विवाह'-मुक्त शृंगार का विरोध उन्होंने इसलिये किया है कि वह शारीरिक धरातल पर उतर आया था और सहज आकृष्ट स्त्री-पुरुष का ऐन्द्रिय पर्व है। इसके ठीक विपरीत, नैतिकता से सहम कर अपने में ही कुण्ठित रह जाने वाला छायावादी शृंगार भी उन्हें संतुष्ट नहीं कर पाता, क्योंकि वह 'अतीन्द्रिय' है। इस स्थिति में नगेन्द्र जी किस शृंगार को 'जीवन और काव्य की तरल रसिकता' से युक्त समझते हैं, यह स्पष्ट नहीं हो पाया।

अब द्विवेदी-युगीन नैतिकता के आतंक पर थोड़ा-सा विचार कर लेना समीचीन होगा क्योंकि वह जीवन और काव्य की तरल रसिकता के विरुद्ध थी। डाक्टर नगेन्द्र ने इसका कारण समाज-सुधार की प्रवृत्ति माना है। अब प्रश्न यह उठता है कि समाज-सुधार की जो प्रवृत्ति उस समय थी, क्या वह निरी अमनोवैज्ञानिक और असाहित्यिक थी ?

पहले यह प्रश्न उठता है, क्या नैतिकता अमनोवैज्ञानिक है ? यदि नैतिकता अमनोवैज्ञानिक है तो एक पिता क्यों अपनी किशोरी पुत्री से संभोग नहीं करता, जैसा कि वह आसानी से कर सकता है, क्यों एक भाई अपनी बहन से ऐन्द्रिय संबंध स्थापित नहीं करता या एक बहन भाई पर आसक्त नहीं होती ? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि पिता या भाई अथवा पुत्री या बहन सामाजिक संबंधों के कारण

१—विचार और विवेचन, शृंगार रस, पृष्ठ ४९ ५०।

ऐसा नहीं करते, यदि उन्हें सामाजिक संबंध अज्ञात हों तो ऐसा कर सकते या कर बैठते हैं। पर यह उत्तर स्वयं यह स्पष्ट कर देता है कि हमारी मनोवैज्ञानिक क्रियाएं सामाजिक संबंधों एवं स्थितियों से प्रभावित ही नहीं, निर्मित भी होती हैं। मस्तिष्क कोई पूर्ण निरपेक्ष वस्तु नहीं है, वह वातावरण-सापेक्ष वस्तु है। आज का मनोवैज्ञानिक विकास अपने प्रारम्भिक रूप से बहुत बदल चुका है। नैतिकता का निर्माण समग्र मानव जाति की मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों के सुलझाव के लिये हुआ है, भले ही विषम या विशेष परिस्थिति में वे उसी के द्वारा उलझ जाती हों। कभी-कभी पिता-पुत्री और भाई-बहन में भी ऐन्द्रिय संबंध हो जाता है। पर वह मनोवैज्ञानिक कारण से कम, मानव में व्याप्त सहज पशुत्व के अतिरेक के कारण अधिक होता है। यह सहज पशुत्व मनोवैज्ञानिक कम, जड़त्वपूर्ण अधिक है, अन्यथा वह सबमें होता और फलस्वरूप मनुष्य उसके अनुकूल नियम बना देता। अब यदि कोई यह तर्क दे कि 'सेक्स' के कारण ही मां बेटे को ज्यादा प्यार करती है और पिता बेटी को अधिक चाहता है तो हमें कुछ उत्तर देना नहीं रहता, क्योंकि यह सिद्धान्त स्वयं बहुत दूर तक अधकचरा और गलत साबित हो चुका है।

नैतिकता के एक सीमित बंधन में रहने की प्रवृति मनुष्य की मनो-वैज्ञानिक प्रवृति है, जो विशेष प्रकार के वातावरण में विशेष रूप धारण करती रहती है। व्यैक्तिक सुख:दुख को समाज के सुख-दुख पर निछावर कर देने की प्रवृति मनुष्य की चिरन्तन प्रवृति है' भले ही असमर्थों में वह प्रवृति तर्क का द्वार भोलकर मन ही मन लज्जित हो लेती हो, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कोई नपुंसक नारी को हानिकारक साबित कर बाहर से संतुष्ट और अन्दर से लज्जित हो लेता है। सहज नैतिकता को अमनोवैज्ञानिक हंसना, मनुष्य की यश-प्राप्ति-कामना या अमरत्व-प्राप्ति कामना को ही अमनोवैज्ञानिक कहना है। कृत्रिम नैतिकता का पाखण्ड अवश्य अमनोवैज्ञानिक होता है। पर द्विवेदी-युगीन-प्रेम-काव्य में कृत्रिम नैतिकता का पाखंड नहीं हुआ, आदर्शवाद का अतिरेक अवश्य दृष्टिगोचर होता है। प्रेम की सुदीर्घ विरह-वेदना दूसरों की वेदनाएँ दूर कर संतुष्ट होती हैं, यह सत्य है, और यदि द्विवेदी-युगीन कवि संतुलित एवं गम्भीर हो कर इस सत्य को प्रकट करते तो यह साहित्य को उनकी एक देन हो सकती थी।

द्विवेदी-युग राष्ट्रीय संघर्ष का युग था। उस समय सारा राष्ट्र विश्व की एक अद्वितीय शक्ति की पाशविक कठोरता का सामना कर रहा था। हजारों भगिनेनें आजीवन कौमार्य का निश्चय कर राष्ट्र-सेवा का व्रत ले रहीं थीं, हजारों सुभाष और नवीन अविवाहित रहकर संघर्ष में प्राणाहुति का मन्त्र पढ़ रहे थे। प्रेम पर भी त्याग का रंग चढ़ रहा था। कई रामकृष्ण परमहंस पहले ही अपनी प्रिया को देवी

के रूप में देख चुके थे तथा देख रहे थे, और कई बापू अपनी पत्नी को वा[1] कह कर आनन्दित हो रहे थे। प्रश्न यह उठता है कि क्या यह सब जीवन की सरल रसिकता के विरुद्ध नैतिकता के आतंक के कारण हो रहा था ? यदि हाँ तो गलत है। क्या अन्य देश-प्रेमी वीरांगनाओं के समान मणिबेनें विवाह करके राष्ट्र सेवा न कर सकती थीं ? क्या अन्य देश-भक्तों के समान सुभाष और नवीन जैसे सहस्त्रों देश-प्रेमी वीर विवाह करके देश-सेवा न कर सकते थे ? क्या रामकृष्ण परमहंस अपनी पत्नी को देवी न मान कर पत्नी ही मानते हुए अथवा गांधी जी कस्तूरवा को बा न कहकर प्रिया कहते हुए देश-सेवा न कर सकते थे ? अवश्य कर सकते थे। परन्तु मानव-मन की यह एक सहज विशेषता है कि वह राष्ट्र के लिये त्याग करने में आनन्द का अनुभव करता है। अतः उक्त महामानव बिना किसी दबाव या विशेषता के स्वयं ही यह सब कर रहे थे । यह स्वाभाविक क्रिया-क्लाप था वैसी परिस्थिति में कहीं भी ऐसा हो सकता है।

आगे-पीछे साहित्य पर प्रभाव पड़ा और पड़ता रहा। शरच्चन्द्र की अमर एवं उत्कृष्ट कला-कृति 'पथेर दावी' के अद्वितीय नायक सव्यसाची एवं उसकी प्रिया के चरित्रों में यही काम कर रहा है। प्रसाद के सर्वश्रेष्ठ नाटक 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना स्कन्दगुप्त की प्रिया न बनकर आहत सैनिकों के लिये अर्थ-संचय इसी प्रभाव के कारण करती दृष्टिगोचर होती है। प्रेमचन्द के सर्वोत्कृष्ट उसन्यास 'गोदान' की मालती अन्ततोगत्वा सेवा के रस का पान इसी प्रभाव के कारण करती है, उनकी प्रसिद्ध कहानी सेवा-मार्ग की नायिका तारा इसी प्रभाव से परिपूर्ण है। इसी प्रभाव के कारण प० नाथूराम 'शंकर' प्रत्यक्ष जीवन में और श्री जगदीशचन्द माथुर के 'भोर का तारा' एकांकी के कवि शेखर कला के जीवन में अपनी शृङ्गारिक रचनाएँ जलाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, अन्यथा वे विवश न थे। क्या यह सब जीवन और काव्य की तरल रसिकता के विरुद्ध नैतिकता के आतंक के कारण हो रहा था ? क्या गाँधी, सुभाष, शरच्चन्द, प्रेमचन्द, प्रसाद इत्यादि नैतिकता के आतंक से दब सकते थे ? हम अपने महाकवि हरिऔध पर राधा के चित्रण में 'अति करने के' सही आरोप से बहुत आगे बढ़कर क्यों जाते हैं ?

नगेन्द्रजी का दूसरा निष्कर्ष है कि द्विवेदी-युगीन कवियों की दृष्टि शृंगारिक वर्णन करते समय अमनोवैज्ञानिक होने के कारण बाह्य वर्णनों में ही उलझी रही। यहाँ भी बाह्य और आन्तरिक वर्णनों का कोई निर्देश न कर उन्होंने अपने दृष्टिकोण को अस्पष्ट ही छोड़ दिया है। 'साकेत' की ऊर्मिला-युग की कविता

१—मां।

की ही उपज है, जिसके चरित्र को कुछ पहले नगेन्द्र जी ही 'परिस्थिति के घात-प्रतिघात द्वारा उठता-गिरता' [१] बता चुके हैं और तब उन्हें उसका चरित्र अमनोवज्ञानिक नहीं लगा था। तब तो उन्होंने लिखा था : 'साकेत' का चरित्र चित्रण 'मानस' के चरित्र-चित्रण से कम सफल नहीं है। उसके चरित्रों का मनोवैज्ञानिक आधार तो अधिक पुष्ट है ही। इसलिये पात्रों के व्यक्तित्व की मध्य-वर्तिनी रेखाएं अत्यन्त स्पष्ट हैं। साथ ही 'साकेत' के पात्र अधिक सजीव हैं।' [२] कुछ वर्षों पहले 'साकेत' के चरित्र हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ-रत्न 'मानस' के चरित्रों से भी मनोवैज्ञानिक आधार की दृष्टि से अधिक पुष्ट थे, कुछ ही वर्षों बाद वे तो दूर, उनकी प्रधान पात्रा ही अमनोवैज्ञानिक हो गई। आखिर द्विवेदी-युगीन कविता में नारी-चित्र हैं कौन ? राधा और गुप्त जी की ऊर्मिला, कैकेयी, माण्डवी आदि ही तो। राधा की चर्चा ऊपर हो चुकी है। शेष के विषय में नगेन्द्र जी पहले कह चुके हैं। —'साकेत' की ऊर्मिला में प्रयत्न कलाकार की तूलिका के चिह्न दिखाई देते हैं। कैकेयी के अंकन में कलम उसके हाथ से छिन गई है और माण्डवी की दृष्टि तो मानो अपने-आप ही तो गई है। 'साकेत' की ये तीन ऊपर सृष्टियां हैं जो लोक के स्मृति-पटल पर अन्त काल तक अंकित रहेंगी।' [३] इस स्थिति में नगेन्द्रजी का निष्कर्ष उनके ही द्वारा कट जाता है।

नगेन्द्र जी का तीसरा निष्कर्ष है कि श्रृङ्गार और विवाह के अनिवार्य सम्बन्ध पर जोर दिया जाना ठीक नहीं है, शायद अमनोवैज्ञानिक है। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय जार्ज वर्नार्डशा का नाम याद आ जाता है, जो अपनी कृतियों में विवाह पर हमले कर चुके हैं। पर स्वयं अपने जीवन में वे अपने ही हमले के हमले से परास्त होने को विवश हुए थे, और विवाह का शाब्दिक आडम्बर-युक्त विरोध अब पश्चिम में भी 'बाउट आफ डेट' होता जा रहा है। यही नहीं, तलाक से उत्पन्न समस्याओं पर भी वहाँ के अमेरिका के भूतपर्व राष्ट्रपति हैरी ट्रूमन जैसे लोग खेद-पूर्वक विचार कर रहे हैं। पर पश्चिम का उतरन पहन कर अकड़ कर चलने वाले हम लोग जवानी ही सही, उस पर फिदा हैं। नगेन्द्र जी ने लिखा है।' भावना के स्वास्थ्य का वह युग अभी आने को है, जब हम कह सकें कि—

धिक् रे मनुष्य तुम स्वस्थ शुद्ध निश्छल चुम्बन,
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर।

१—साकेत : एक अध्ययन, पृष्ठ १०४।
२—साकेत : एक अध्ययन, पृष्ठ ११३-११४ (चरित्र चित्रण)।
३—साकेत : एक अध्ययन, चरित्र-चित्रण, पृष्ठ ११४।

क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा, बुद्धिमान
नर नारी का यह सुन्दर स्वर्गिक आकर्षण ?

अभी तो हम कह ही रहे हैं, हमारी भावना इतनी स्वस्थ नहीं हो पाई कि ऐसा कर भी सकें।'[१] पर जिसका यह उद्धरण है वह प्रिया-हीन कलाकार अब "स्वर्ण-धूलि" की सृष्टि कर चुका है और जिस फ्रांस में भावना इतनी स्वस्थ थी कि ऐसा करने का बाजार गर्म रहता था, वह राष्ट्र अधमरा हो गया है, और उसे तथा उसके साथी ब्रिटेन को खा-पीकर फिर से स्वतन्त्र-चुम्बनों की सुविधा के अनुकूल वातावरण बनाने के लिये किये गये हमले के कारण मित्र लतिया चुका है।

नगेन्द्र जी का चौथा निष्कर्ष है कि द्विवेदी-युगीन नारी-चित्र नैतिक दंभ से पीड़ित, अक्खड़ और नीरस हैं। पर जब तक वे 'साकेत : एक अध्ययन' में ऊर्मिला, कैकेयी एवं माण्डवी के चरित्रों की की गई प्रशंसा की शब्दावली वापस नहीं लेंगे, तब तक अपने इस निष्कर्ष का स्वयं ही खण्डन करते रहेंगे। हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि क्या नारी केवल पति-पत्नी या प्रिय-प्रिया के घेरे में ही बन्द है ? क्या उसका माता या सखी के रूप में कोई अस्तित्व ही नहीं है ? यदि है, तो क्या 'प्रिय-प्रवास' की यशोदा का चित्र नैतिक दम्भ से पीड़ित, नीरस और अक्खड़ है ? जो यशोदा लोक-कल्याण, कर्तव्य-भार एवं विराट् कार्य-क्षेत्र को भूल कर अपने वात्सल्य के प्रतीक पर राशि-राशि अश्रु-कण बहाती हुई पाठक या श्रोता को रुला-रुला देती है, उसे क्या नैतिक दम्भ से पीड़ित, नीरस और अक्खड़ कहना उचित हो सकता है ?

हमने अब तक जो लिखा उसका यह अर्थ कभी नहीं है कि द्विवेदी-युगीन विरह-वर्णन या उनसे सम्बन्धित नारी-चरित्र अत्यन्त निर्दोष है। द्विवेदी-युगीन काव्य में नारी-नारी की अपेक्षा देवी अधिक दृष्टिगोचर होती है। पर इसका कारण है; राष्ट्रीय संघर्ष के उस बलिदानों के युग में हमें शकुन्तला और ऊर्वशी की नहीं, दुर्गा और काली की आवश्यकता थी। दुर्गा और काली का शृङ्गारिक कविता में प्रवेश कराना कठिन था। इसलिये-हमारे कवियों ने साहित्य में चिर-काल से प्रचलित चरित्रों तथा स्वतन्त्र कल्पित चरित्रों का कलागत कोमलता के साथ वीरता एवं त्याग का नारी के अनुकूल जितना हो सकता था उतना समन्वय करके चित्रण किया। कहा जा सकता है कि उसी युग में रवीन्द्रनाथ इत्यादि क्यों शुद्ध मंगल कविताएँ भी लिख रहे थे। उत्तर में निवेदन है कि एक तो ऐसी कविताएँ

१—विचार और विवेचन, पृष्ठ ५१।

उनकी अन्य कविताओं की तुलना में बहुत ही कम हैं, दूसरे वे अब तक उन तथा ऐसी कविताओं की रचना का मूल्य अपने ही प्रदेश में चुका रहे हैं। युग का यह प्रभाव प्रसाद तथा राम-नरेश के प्रेम, विरह एवं उनकी नारियों पर भी पड़ा है, जो इस बात का प्रमाण है कि उस समय हम प्रत्यक्ष ही नहीं, कला में भी नारी के दर्शन त्यागमयी के रूप में करना चाहते थे। कुछ आगे-पीछे स्वयं नारियाँ भी शकुन्तला, ऊर्वशी या रम्भा के स्थान पर झांसी की रानी के गीत गा रही थीं। उस युग में हमारा मनोरंजन एवं आत्मानुरंजन पद्मिनी, पन्ना धाय, हाडी रानी, झांसी की रानी इत्यादि के द्वारा ही हो सकता था, रम्भा, मेनका, तिलोत्तमा, ऊर्वशी इत्यादि के द्वारा नहीं। इस स्थिति में सूर या देव की राधा को हरिऔध की राधा के रूप में ही चित्रित किया जा सकता था। उस समय यदि विरहिणी ऊर्मिला सैनिकों का उद्‍बोधन न करती, तो उसका व्यक्तित्व पलंग पर 'करवटें बदलने' वाली विरहिणी का व्यक्तित्व घोषित कर दिया जाता, उस समय 'प्रेम-पथिक' एवं 'पथिक' की प्रियाएं यदि समझाने के स्थान पर रोने लगतीं, तो पुरुष के कर्तव्य की बाधक कही जातीं। इस स्थिति में जो नारी-चित्र हमें हरिऔध, गुप्त, प्रसाद तथा रामनरेश त्रिपाठी ने दिए हैं, वे सचमुच अत्यन्त रमणीय हैं। फिर, आज भी जन-जीवन को प्रभावित करने वाली ऊर्मिला इत्यादि की लोक-प्रियाता इस बात की सूचक है कि द्विवेदी-युग के नारी चित्र निरे सामयिक ही नहीं थे, उनकी सामयिकता के अन्तराल में कुछ चिरन्तन तत्व भी विद्यमान थे। वस्तुतः प्रत्येक सामयिकता चिरन्तनता से संपृक्त रहती है।

द्विवेदी-युगीन विरह-वर्णनों में अति-विस्तार का दोष बहुत खटकता है। जो बात एक सर्ग की है, वह तीन में और जो बात बीस पृष्ठों की है, उसे सत्तर में कहने की प्रवृति अपने सब-कुछ को प्रकट कर देने का मोह ही कही जा सकती है। काव्य में परिमाण की अपेक्षा गुण का ही महत्व सदैव अधिक रहा है और प्रगीतों के वर्तमान युग में तो और भी अधिक रहेगा। 'गीतांजलि' एक छोटी-सी पुस्तिका है, पर उसने रवीन्द्र को विश्व-कवि बनाने में सबसे अधिक योग दिया है, गालिब का कुल एक ही साधारण आकार का दीवान उन्हें उर्दू का सर्वश्रेष्ठ शायर बना चुका है, और बिहारी की १४२४ पंक्तियों ने उन्हें हिन्दी का एक अमर महाकवि घोषित किया है। 'पवन-दूत' का विस्तार भी बोझिल हो गया है, जिसमें राधा का जन-कल्याण का भाषातिरेक कहीं-कहीं विरह को उसी प्रकार दबा बैठता है, जिस प्रकार कालिदास के यक्ष का आवश्यकता से अधिक प्रकृति-प्रेम उसके विरह को दबा बैठता है। हरिऔध ने कालिदास से प्रेरणा तो ली, पर शिक्षा न ली। संदेश का लोक-मंगल-भाव ज्यादा बढ़ कर कहीं-कहीं राधा को विरहिणी की

अपेक्षा नेत्री का रूप दे बैठता है। इसी प्रकार ऊर्मिला का सैनिकों को उद्बोधन परोक्ष रूप से रचना-काल के नेताओं की पत्नियों की तरह यह कहता हुआ सा प्रतीत होने लगता है कि मेरे धैर्य को देखो और प्रेरणा लो। 'पथिक' और 'प्रेम-पथिक' की विरहिणियाँ भी अपने उद्गारों में धैर्य धारण करने वाली देवियां अधिक हैं, भाव-विगलित विरहिणियां कम।

तीसरी खटकने वाली चीज जो द्विवेदी-युगीन विरह-वर्णनों पर ही नहीं, उस युग के सारे काव्य पर छायी हुई है, वर्णन की आवश्यकता से अधिक ऋजुता एवं भावों में द्वन्द्व और संघर्ष की न्यूनता है। 'साकेत' के नवम् सर्ग के कुछ वर्णन एक साधारण सीमा तक इसका अपवाद हैं, पर वे छायावादी युग में रचे गये हैं। अतः यह कहना पूर्णतः संगत होगा कि द्विवेदी-युगीन काव्य और विरह-वर्णन में अभिव्यक्ति की वंकिमता और अनुभूति का इन्द्र या संघर्ष नहीं है, जो उच्चकोटि की कविता का यदि सर्वस्व नहीं तो, एक आवश्यक तत्व अवश्य है। वस्तुतः अनुभूति का द्वन्द्व या संघर्ष ही अभिव्यक्ति में वंकिमता उत्पन्न करता है। अतः केवल इतना कह देना भी पर्याप्त है कि द्विवेदी-युगीन काव्य में अनुभूति का द्वन्द्व नहीं है, फलतः तलस्पर्शी गांभीर्य भी कम है।

इसका कारण न तो प्रारम्भिक भाषा है, न युग का प्रभाव, जैसाकि अनुमान लगाया जा सकता है। प्रतिभा भाषा भी गढ़ लेती है। सूर और पंत ने अपनी भाषा स्वयं गढ़ी है, केवल विकास का पथ नहीं मापते रहे। युग के सारे प्रभाव के साथ रवीन्द्र ने गम्भीर से गंभीर मनोभावों एवं द्वन्द्वों को ललित अभिव्यक्ति प्रदान की है। तो इसका कारण क्या है?

काव्य की महानता का मूल कवि के जीवन का संघर्ष होता है, जो उसकी अनुभूति को द्वन्द एवं इसी के फलस्वरूप अभिव्यक्ति को वंकिमता और शक्ति प्रदान करता है। संसार के प्रायः सभी प्रथम श्रेणी के महाकवियों का जीवन संघर्षों से परिपूर्ण रहा है। बाल्मीक प्रारम्भ में साहसिक थे, पर इतने पर भी परिवार के लोग उनके पाप-पुण्य के भागी न बने और उन्हें भक्त एवं ज्ञानी बनाना पड़ा, अन्त में क्रौंच-बध की घटना ने उनके हृदय की भाव राशि बिखेर ही दी और उनके जीवन के अपार सुख-दुःख, उतार-चढ़ाव, द्वन्द-संघर्ष विश्व के अद्वितीय महाकाव्य का रूप ग्रहण कर सके, व्यास ऋषि पुत्र अवश्य थे, पर मछुये की पुत्री के पुत्र थे, फलतः कुरूप थे। अपने जीवन में उन्हें कितने अपमान एवं व्यंग के गरल घूँट पीने पड़े होंगे, इसका अनुमान लगना कठिन नहीं, और सूतों का सूत पुत्रों' इत्यादि कथनों के तल में उनका व्यक्तित्व भी बोलता मिल जाता है। अंधा होमर भीख माँग माँग जीवन व्यताते हुए भी गाता रहा, उसका जीवन संग्राम ट्राय के संग्रास से कहीं जादा सुदीर्घ एवं विचित्र रहा होगा और यही कारण है कि वह इलियड' लिखकर यूरुप की कविता का

जनक बन सका। कालिदास की प्रारम्भिक मूर्खता एवं प्रतारणा बड़े उतार-चढ़ावों के बाद ही उन्हें महाकवि बना पाई होगी। शेक्सपियर सम्पन्न परिवार में उत्पन्न हुआ था, पर यौवन में दरिद्र हो गया आठ वर्ष अधिक आयु की पत्नी ने जीवन कड़वा बना दिया, निर्धनता ने ग्राम के रईस के यहाँ हिरन चुराने और कोड़े खाने को विवश किया, दण्ड-भय ने लंदन भागने को मजबूर किया, पेट ने थिएटरों के सामनें घोड़े पर चढ़ कर जाने वाले रईसों और सरदारों के घोड़े पकड़ने की क्षुद्र सेवाएँ कराईं, तब कहीं प्रतिभा जगी और उसे संसार-साहित्य में मानव गुण-दोषों का सबसे बड़ा तथा तटस्थ चितेरा बना सकी। अपने महान मित्र तथा आश्रयदाता राजा यशोवर्मन की मर्मबेधक पराजय के बाद शोक, विकलता एवं दयनीयता का जीवन बिताने वाले भवभूत ने 'एको रसः करुण॰ एव' यों ही नहीं कहा था और साधारण स्वरों में ही यह घोषणा न की थी, 'उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधमा' कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।" तुलसी का जीवन तो सबसे ज्यादा कष्टकर रहा; भिक्षा-वृति, अपमान, प्रताड़ना, व्यंग्य—बहुत दिन तक इन्हीं में घिरे रहे; अंत में इन्हीं ने उन्हें विराट् द्रष्टा बना दिया, संसार साहित्य में मानव के नैतिक मूल्यों का सबसे बड़ा व्याख्याता बना दिया। जन्मान्ध सूर, काने-कुरूप-गरीब जायसी, बचपन से ही 'गिरधर प्रेम दिवाणी' तरुण विधवा एवं लोगों तथा देवर के व्यंग्यों से तंग मीरां; विधवा ब्राह्मणी की संतान जुलाहा कबीर, राजनीति में फँसा तथा चौआलीस वर्ष की आयु में ही नेत्र-ज्योति खो देने और तीन बार विवाह करने वाला मिल्टन कुरूप गोल्डस्मिथ, लंगड़ा प्रवासी आयरन, विद्रोही और प्रेम में निराश कीट्स, क्रान्तिकारी और पारिवारिक जीवन में दु-खी शैली, जीवन भर इधर उधर फिर कर हृदय को रोदन करने वाले मीर, सारा जीवन अभावों-व्यथाओं में बिताने वाले गालिब और देश-विदेश में भटक-भटक कर कंगाली से प्रेरणा पाने वाले मधुसूदन इत्यादि सैंकड़ों महान कलाकारों के जीवन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि प्रतिभा का सम्यक विकास तभी होता है, जब जीवन में संघर्ष भरे हों। बिना संघर्षों के जीवन में महानतम कला का विकास नहीं हो सकता। जितना ही महान कलाकार होता है, उतने ही उलझे हुए और भयानक उनके जीवन के संघर्ष भी होते हैं। कालिदास, भवभूति, बाल्मीकि, व्यास, कबीरदास, तुलसीदास, सूरदास, होमर, मिल्टन तथा शेक्स-पियर के जीवन-संघर्ष बहुत ही गंभीर थे, जो उनकी गंभीर कला में छाये हैं। मीरां जायसी, गोल्डस्मिथ, वायरन, कीट्स, शैली, मीर, गालिब, मधुसूदन इत्यादि के जीवन-संघर्ष अपेक्षाकृत सीमित अल्पकालिक या वैयक्तिक थे, इसीलिये उनका आवेश-आवेग का क्षेत्र भी कुछ सीमित है। संक्षेप में संघर्ष कला का प्राण है। संघर्ष काव्यात्मा है; रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति इत्यादि सब संघर्ष के अनुचर हैं। 'महान संघर्ष, महान काव्य' यह एक सिद्धान्त बन सकता है।

प्राय: सभी उत्कृष्ठ द्विवेदी-युगीन कवियों का वैयक्तिक जीवन बहुत दूर तक ऋजु, और आभ्यन्तर एवं वाह्य संघर्षों से मुक्त प्राय: था। श्रीधर पाठक, हरिऔध, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, गुप्त-बंधु, रामनरेश त्रिपाठी, गोपाल शरण सिंह इत्यादि तक सभी काफी दूर तक सुखी, सरल एवं ऋजु जीवन बिता रहे थे; कुछ माता-पिता की छाया के नीचे थे, कुछ प्रतिष्ठित भू-स्वामी थे, कुछ अच्छी सरकारी नौकरी कर रहे थे, कुछ व्यापारी-वर्ग के थे, एकाध को अच्छा आश्रय मिल गया था। सभी का जीवन महान संघर्षो से रहित था। यही कारण है कि इन सबकी अनुभूतियों में संघर्ष या द्वन्द्व एवं अभिव्यक्ति में वक्रता या वंकिमता नहीं आ सकी। सीधे-सादे, सरल, श्रेष्ठ कवि-जीवन के अनुकूल सीधी-सादी, सरस, श्रेष्ठ कविता इन कवियों ने लिखी हैं, ठीक वैसे ही, जैसे सीधा सादा, सरल जीवन बिताने वाले वर्डस्वर्थ, टेनीसन, रत्नाकर इत्यादि ने सीधी-सादी, सरल, श्रेष्ठ कविता लिखी है। छायावादी कवियों में प्रसाद का जीवन वेदना से, निराला का संघर्षों से; पंत का वियोगों से एवं महादेवी का वैयक्तिक निराशाओं से भरा हुआ है। प्रसाद ने अपने जीवन में स्वजनों की मृत्युएं, व्यापार के उतार-चढ़ाव, विरोधियों के दांव-घात, प्रेम की निराशा और अंत में भयानक रोग देखे। सारा संघर्ष उनके काव्यों, नाटकों एवं कहानियों में छाया हुआ है। निराला का जीवन तो पन्द्रह वर्ष की आयु से ही 'एकला चलो रे' का प्रतीक बना रहा है, विरोधों का पुंज रहा है, वे सदा एक साथ ही कर्ण भी रहे हैं, कंगाल भी, विद्रोही भी रहे हैं, श्रद्धालु भी, क्रान्तिकारी भी रहे हैं, समन्वयवादी भी। पिता, पत्नी और सबसे बढ़कर पुत्री सरोज की मृत्युओं ने उन्हें अतिरिक्त विष पिलपिला कर शिव बना दिया। पंत का जीवन अपेक्षाकृत ऋजु रहा है, पर बिल्कुल ऋजु नहीं। जन्म के बाद रो भी न पाये कि मां चल बसी, अकेले पवर्तावलोकन, फिर असफल प्रेम की 'ग्रन्थि' और अविवाहित जीवन, आलोचकों का उनकी निश्छलता एवं सरलता से अनुचित लाभ उठाना। एक सीमातक महादेवी का असाधारण पारिवारिक जीवन, फिर सुदीर्घ एकाकीपन उनकी 'नीरजा'-आंखों के 'नीहार'-कणों में इतना अधिक वेदना-पूर्ण लगता है कि 'रश्मि-जाल भी उसके संघर्षों के स्पष्ट रूप को प्रभावित नहीं कर सकता। यही कारण है कि एक ही स्तर के कवि होने पर भी रत्नाकर, हरि-औध या गुप्त के सृजन की अपेक्षा प्रसाद, निराला और पंत का सृजन अनुभूति की दृष्टि से अधिक संघर्षपूर्ण एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से अधिक बंकिम है। पर यह भी स्पष्ट है कि प्रसाद, निराला और पंत के जीवन-संघर्ष का क्षेत्र या तो व्यक्ति तक सीमित रहा है या उसका रूप बहुत व्यापक और प्रचण्ड नहीं रहा है। फलत: इनकी कला में कीट्स, शैली, आयरन, गालिब इत्यादि के स्तर का ही गाम्भीर्य प्रकट

हो सका, वाल्मीकि, व्यास, होमर, कालिदास, भवभूति, कबीर, सूर, तुलसी, शेकसपियर, मिल्टन इत्यादि के स्तर का नहीं, क्योंकि इन कवियों का जीवन-संघर्ष-क्षेत्र बहुत ही व्यापक एवं उसका रूप बहुत ही प्रचण्ड था।

भाषा की दृष्टि से द्विवेदी-युगीन काव्य और उसका एक प्रमुख अंग विरह-काव्य उच्चतर स्तर का नहीं है। इसका कारण हमारे आलोचक यह मानते हैं कि खड़ीबोली-कविता का वह प्रारम्भिक काल था। पर हमारी समझ में, भाषा का वंकिम प्रयोग भी कवि के जीवन-संघर्ष से उत्पन्न होता है। भाषा की प्रौढ़ता का मूल तीव्र मनोवेग होते हैं और तीव्र मनोवेग तीव्र जीवन-संघर्ष से उत्पन्न होते हैं,...

कलाकार के जीवन में तीव्र संघर्ष
|
(तज्जन्य) तीव्र मनोवेग।
|
(फलतः) सहज प्रभावशाली भाषा।

भाषा का काव्यगत प्रारम्भिक प्रयोग ही द्विवेदी-युगीन कविता की साधारण स्तर की भाषा- विभूति का कारण नहीं हो सकता, यदि ऐसा होता तो 'जूही की कली' तथा 'पल्लव' की मोह, विनय, बसंत श्री आकांक्षा, याचना बालापन, विसर्जन, विश्व व्याप्ति, स्वप्न, स्याही की बूंद, और 'छाया' तथा 'झरना' की कुछ सुन्दर कविताएं बहुत बाद में लिखी गई होतीं, द्विवेदी युग की सीमा के भीतर नहीं। हिंदी में ही सूर का उदाहरण सामने है। सूर के पूर्व का ब्रजभाषा-काव्य नहीं के बराबर ही प्राप्त होता है, स्पष्ट है कि ब्रजभाषा-काव्य में सूर के पूर्व कोई ऐंसी महान प्रतिभा नहीं उत्पन्न हुई थी, जिसकी कविता के जीवन के लिये जनता चिन्तित होती। पर क्या सूर की भाषा का साहित्यिक स्तर उच्च कोटि का नहीं है? क्यों नंददास को छोड़ कर अष्टछाप के अन्य कवियों की भाषा में भी उत्कृष्ट साहित्यिकता दृष्टिगोचर नहीं होती? इसका कारण है सूर का जीवन-संघर्ष और खत्राणी के प्रेम के बाद हृदय का सारा रस कृष्णार्पित करने वाले नंददास के जीवन का द्वन्द्व। यही जीवन-गत द्वन्द्व अपने सीमित रूप में द्विवेदी-युगीन कविता में प्रसाद, निराला और पंत के कुछ गीतों तथा कविताओं के रूप में भाषा की वंकिमता का विधायक बना दृष्टिगोचर होता है। संसार और भारत के अन्य साहित्यों पर दृष्टि डालने से यह सिद्धान्त और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा। पहले भारत के एक महान साहित्य उर्दू को लीजिये। मीर के पूर्व वली, आबरू, आरजू, जानजाना मजहर, ताबां इत्यादि शायरों की भाषा में उनके जीवनगत संघर्षों का क्षेत्र बहुत सीमित होने के कारण ऋजुता तो अवश्य है, पर वंकिमता या उच्चकोटि की

कलात्मक नहीं है। मीर के जीवनगत द्वन्द्वों एवं संघर्षों ने उर्दू भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की जिसका चरम उत्कर्ष, कठिनता के होते हुए भी, गालिब के काव्य में दृष्टिगोचर होता है। शेक्सपियर का उदाहरण इस विषय का सबसे बड़ा स्पष्टीकरण है। शेक्सपियर से पूर्व अंग्रेजी-काव्य की भाषा अपेक्षाकृत साधारण स्तर है। आदि-कवि चासर (१३४०-१४००ई०) तथा शेक्सपियर के प्रायः समकालीन कवि जान स्टिल (१५४३-१६०८ई०) माइकेल ड्रायटन (१५६३-१६३१ ई०), क्रिस्टाफर मार्लो (१५६४-१५९३ई०), जान डोन (१५७३-१६३१), बेन जानसन (१५७३-१६३७), टामस नेश (१५६७-१६०१ई०) तथा महा कवि स्पेंसर (१५५२-१५९९ई०) प्रभृति कवियों की भाषा और शेक्सपियर (१५६४-१६१६ई०) की भाषा में बड़ा अन्तर है। स्पेंसर एक महान कवि था, उसकी भाषा शक्तिशालिनी है, पर उसमें भी शेक्सपियर की सी द्वन्द्वात्मक वंकिमता कम ही मिलती है। फिर स्पेंसर शेक्सपियर का समकालीन था। स्पष्ट है कि महाकवि शेक्सपियर को उत्तराधिकार के रूप में जो भाषा प्राप्त हुई थी, वह कविता की अभिव्यक्ति की दृष्टि से शक्तिमय न थी। पर शेक्सपियर के महान जीवन-संघर्षों में फली-फूली व्यापक प्रतिभा ने परंपरा से प्राप्त साधारण भाषा को हैमलेट, मैकवेथ, ओथेलो, जूलियस सीजर और सबसे बढ़कर अपने सानेटस की गंभीरतम भाषा का रूप प्रदान कर दिया, जिससे बढ़कर भाषा अंग्रेजी में अभी तक नहीं दृष्टिगोचर हो सकी। कब होगी ? जब शेक्सपियर के जीवन से भी बड़े-चढ़े संघर्षो वाले जीवन की विभूति को लेकर कोई प्रतिभा उसमें अवतीर्ण होगी। हिंदी के सर्व श्रेष्ठ महाकवि तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' का उदाहरण सामने हैं। जीवन के अंतिम भाग में अनेक दशाब्दियों के संघर्षों से मुक्त विष-चषकों एवं पीयूष-घटों को पीकर संतुष्ट हुई तुलसीदास की महान प्रतिभा अपने इस अंतिम ग्रंथ में जो गंभीर भाषा लेकर उपस्थित हुई है, वह हिंदी में अद्वितीय एवं सर्वश्रेष्ठ तो है ही, संसार की सर्वोच्च प्रतिभाओं की उत्तम से उत्तम भाषा-शक्ति की भी कसौटी बन सकती है। 'विनय-पत्रिका' के नेकानेक पद शेक्सपियर के सानेटस (जो महाकवि की जीवन-सन्ध्या में तुलसीदास-जैसी प्रौढ़ता के काल में ही लिखे गये हैं) से भाषा, दर्शन एवं गाम्भीर्य में इतना अधिक मिलते-जुलते हैं कि आश्चर्य होता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वश्रेष्ठ कोटि की प्रतिभाओं का विकास भी प्रायः एक ही नियम के अनुसार होता है।

द्विवेदी-युग के बाद अनेक कवियों ने जीवन-द्वन्द्वों एवं संघर्षों से पुष्ट होकर हिंदी को जो गांभीरयः एवं प्रौढ़प्रायः भाषा प्रदान की, वह प्रसाद, निराला, पंत, माखनलाल एवं बच्चन में दृष्टिगोचर होती है। अभी खड़ीबोली की काव्य-भाषा

अपने प्रौढ एवं गंभीर रूप की प्रथम श्रेणी पाने की प्रतीक्षा में ही है और जहाँ-कहीं कोई शेक्सपियर, सूर या तुलसी जैसी प्रथम कोटि के जटिल जीवन-संघर्षो में पुष्ट होकर एकरस जीवन-प्रवाह के संपन्न होने वाली प्रतिभा उसमें आई, वहां हमें एक अवश्य प्राप्त होगी। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि खड़ीबोली की काव्य-भाषा पिछड़ी हुई है। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि उसे अभी वह गंभीर, सच्ची एवं प्रसन्न प्रौढ़ता नहीं प्राप्त हो सकी जो वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर या शेक्सपियर के भावों को उन्हीं के समान उल्लसित प्रभाव में व्यक्त कर सके।

द्विवेदी-युगीन शृंगारिक विरह-काव्य प्रायः अन्तस्तल की उन जटिल अनुभूतियों एवं आकुलताओं को व्यक्त नहीं करता जिन्हें जायसी, सूर या घनानंद जीवन-गत जटिलताओं की संपनता के कारण उत्पन्न हुई सच्ची अनुभूतियों के प्रभाव-स्वरूप सरलतापूर्वक व्यक्त करते है। वात्सल्य-विरह के क्षेत्र में 'प्रिय-प्रवास' की प्रथम श्रेणी की सफलता इसका अपवाद है। शृंगार के क्षेत्र में ऐसा नहीं हो पाया। 'प्रिय-प्रवास' की राधा का वियोग-वर्णन हरिऔध ने अपनी अर्द्धांगिनी के निधन के पश्चात् लिखा था, फलस्वरूप उसमें करुणा का मर्म-भेदक स्पर्श आ सका है, मैथिलीशरण की उर्मिला का वियोग-वर्णन कवि की भयानक रुग्णावस्था के बाद लिखा गया था, फलस्वरूप उसमें भी करुणा का स्पर्श विद्यमान है। पर इन कवियों का व्यापक आदर्श-वाद अनुभूतियों पर छाया हुआ है, जिससे ऐसा लगता है कि इन कवियों का हृदय जो कुछ कहना चाहता है, उस पर बुद्धि कुछ अधिक नियंत्रण कर रही है। इसका कारण इन कवियों की आवश्यकता से अधिक जीवनगत ऋजुता है, जो संघर्षों को भी नियंत्रित कर लेती है। पर इसका एक भारी लाभ भी हुआ है, इन कवियों की जीवनगत ऋजुता ने इनकी अनुभूति, और फलस्वरूप अभिव्यक्ति, को ऋजु बना दिया है, जिसका साधारणीकरण शीघ्र हो जाता है।

द्विवेदी-युगीन विरह-वर्णनों में भी अन्य क्षेत्रों के सदृश ही भाषा धनी रुख इत्यादि शब्दों को लेकर चली है। इसका कारण हमारे आलोचकों ने प्रभावशालिनी ब्रजभाषा के शक्तिशाली संस्कार का होना माना है। पर जब हम ग्राम्या, स्वर्ण-धूलि तथा जय-भारत में भी ऐसे शब्दों को देखते हैं तब ऐसा लगता है कि कारण कुछ और हैं, और आलोचकों ने शिष्ट खड़ीबोली के मोह में द्विवेदी-युगीन कवियों की भाषा पर जो आक्षेप किए हैं, वे बहुत मूल्य नहीं रखते, फलतः विकयों ने इन आलोचनाओं पर ध्यान न देते हुए ऐसे शब्दों का प्रयोग बराबर किया है,

रवीन्द्र के व्यक्तित्व के कारण अन्य भारतीय भाषाओं के ही समान हिन्दी भी अब बंगला से अधिकाधिक प्रभाव ग्रहण करने लगी। यह सब सन् १६२० से पूर्व हो चुका था।

सन् १६२० के बाद हिन्दी-कविता का क्षितिज और अधिक व्यापक होने को लालायित हो उठा। छायावादी कवियों ने इस व्यापकाव के कार्य का नेतृत्व किया। संस्कृत के उपनिषद, अंग्रेजी के शैली, कीट्स, वर्डस्वर्थ, टेनीसन तथा बंगला के रवीन्द्र और विवेकानन्द सभी का थोड़ा-बहुत प्रभाव लेकर नयी कविता का विकास होने लगा। सौभाग्यवश इस नयी कविता का नेतृत्व प्रसाद, निराला एवं पंत प्रभृति समर्थ व्यक्तित्व एवं महान कलाकार कर रहे थे। इसलिए यह प्रभाव हिन्दी पर उसके रूप एवं मूल स्वरों के अनुकूल ही पड़ा, भद्दे और बेडोल रूप में नहीं। प्रसाद का काव्य पूर्णतः मौलिक है, उसकी आत्मा पर किसी दूसरे का प्रभाव नहीं है। निराला के काव्य का शरीर बंगला से कुछ अधिक प्रभावित है पर उसकी आत्मा पर रवीन्द्र की अपेक्षा भारत के चिरन्तन अद्वैत दर्शन का प्रभाव अधिक है, स्पष्टतः उनकी सृष्टि मौलिक है, महान है। पंत पर अंग्रेजी के स्वच्छन्दता-वादी कवियों, टेनीसन एवं रवीन्द्र का प्रभाव कुछ अधिक पड़ा, पर शीघ्र ही उन्होंने अपना मौलिक रूप भी बना लिया। संक्षेप में, अंग्रेजी एवं बंगला का जो प्रभाव छायावादी कविता पर पड़ा, वह नग्न एवं भोंड़े रूप में नहीं, केवल प्रेरक रूप में ही रहा, उसकी आत्मा अपनी ही रही। इसका स्पष्ट प्रमाण कामायनी, पल्लव, परिमल एवं नीरजा की अमर सृष्टि है।

इस स्थिति में तत्कालीन प्रचलित स्वच्छन्द काव्य-धारा एवं छायावादी काव्य-धारा में अन्तर न मानना समीचीन नहीं होगा। अपनी आत्मपरक अन्तर्मुखी साधना, नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण, प्रकृति के प्रति नूतन भावना, प्रतीकात्मक शृंगारिकता, नवीनतम भाषा-रूप एवं अलंकार-योजना के कारण छायावादी कविता हिन्दी की एक नवीन एवं मौलिक काव्यधारा मानी ही जायेगी। इन सभी नवीनताओं के एक-दो निदर्शन पुरानी हिन्दी-कविता से देकर छायावादी कविता को प्रचलित काव्यधारा का विकास मात्र नहीं कहा जा सकता। पर छायावादी कविता द्विवेदी युगीन कविता की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया मात्र भी नहीं है, क्योंकि उसका मूल निरा आकस्मिक नहीं है, साथ ही वह प्रतिक्रिया का आक्रोश न लेकर क्रिया की प्रसन्न शान्ति लेकर हमारे काव्य में प्रविष्ट हुई थी। वर्णनात्मकता के स्थान पर अनुभूत्यात्मकता का अधिकाधिक समावेश जब प्रतीकों के द्वारा लोकप्रिय हुआ तब कविता प्रतीकवादी या छायावादी कही गयी। यदि वह प्रति-क्रियाजन्य होती, तो उसका इतना शान्त एवं गंभीर होना कठिन हो जाता। वह

प्रतिक्रियाजन्य नहीं थी ,भले ही कालान्तर में होने वाली कटु प्रत्यालोचना ने उसमें प्रतिक्रिया का आभास भी प्रविष्ट करादिया हो, पर वह आभास आभास ही है, सत्य नहीं । साथ ही उसका भाव-जगत स्वतन्त्र सत्ता से सम्पन्न था, वह केवल अभिव्यञ्जना का प्रकार न थी । प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर नगेन्द्र के शब्दों में 'प्रत्येक सच्ची काव्य-धारा के लिए अनुभूति की अन्त:प्रेरणा अनिवार्य है और जहाँ अनुभूति की अन्त:प्रेरणा है वहाँ काव्य टेकनीक मात्र का प्रयोग कैसे हो सकता है ? छाया-वाद निश्चय ही शुद्ध कविता है । उसके पीछे अनुभूति की अन्त.प्रेरणा असंदिग्ध है । उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता भाव-पद्धति की विशिष्टता के ही कारण है ।'[1]

प्रारम्भ में छायावाद एवं रहस्यवाद को एक ही मानने का आवेशात्मक आग्रह भी बना रहा । पर क्रमशः छायावाद युग के विराट सृजन का घातक एवं रहस्यवाद मूल संकल्पात्मक अनुभूति या आत्मा-परमात्मा के अटूट सम्बन्ध को लेकर चलने वाले भाग विशेष का द्योतक मान लिया गया । उस युग की हिन्दी-कविता में रहस्यवाद छायावादी कविता का एक प्रमुख अंग है ।

आधुनिक भारत की रहस्यवादी कविता का अधिकांश सृजन-अंग, युग-संघर्ष में लौकिक प्रेम-गान की अनुकूलता के कारण प्रतीकात्मक का आश्रय लेकर चिरन्तन एवं सहज मांसल प्रणय-व्यापार को अभिव्यक्त करने की चेष्टा का ज्ञात या अर्द्ध-ज्ञात या अज्ञातप्राय परिणाम है । हमारे कवि जिस समय लेखनी उठा कर अपने जीवन का प्रणय-व्यापार काव्य-बद्ध करने का प्रयास करते थे, उस समय उनके चेतन या उपचेतन में युग-संघर्ष की अपने व्यक्तित्व से नितान्त विपरीत चेतना उद्बुद्ध हो उठती थी । 'राष्ट्र के सहस्त्र-सहस्त्र युवक तथा युवतियाँ गलबाहों के स्थान पर कृपाणों, कटाक्षों के स्थान पर गोलियाँ और सज्जित शयन-कक्ष के स्थान पर कारागार की तनहाई का स्वागत कर रहे हैं और हम इस भयानक प्रलय-वेला में अपने मिलन या विरह का व्यक्तिगत गान कर रहे हैं । यह विचार उन्हें झकझोर देता था और ज्ञात-अज्ञात दोनों रूपों से वे अपने जीवन के मिलन एवं वियोग को रहस्यवादी प्रतीकों का वस्त्रावरण प्रदान कर प्रकट करने को विवश नहीं, तो विवशमात्र अवश्य हो उठते थे । हिंदी के कवियों में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है, जिन्होंने रवीन्द्र-नाथ के रहस्यवाद को अपने मौलिक रूप में अपनाया और उन्हीं के समान उनका मूल ऋग्वेद, उपनिषद तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में दिखलाया । कवि-जीवन के प्रारम्भ में प्रायः प्रत्येक स्रष्टा प्रेमोद्गारों को व्यक्त करता है । छायावादी कवि ने

१—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, छायावाद, पृष्ठ १५ ।

भी ऐसा किया, पर देश एवं समाज की विशेष परिस्थिति ने उसे प्रतीकों की शरण लेने को विवश कर दिया।

ऐसा करके छायावादी कवियों ने कोई अपराध नहीं किया। जो लोग यह कहते हैं कि छायावादी नारी-भावना या प्रेम-भावना नैतिक आतंक से ग्रस्त हैं, वे सत्य का स्पर्श एक अंश में ही करते हैं, पूर्ण रूप में नहीं। मानव का शील अपने मांसल भावों को प्रतीकों में भी अभिव्यक्त करके संतुष्ट होता है, विशेष करके भारत जैसे मर्यादावादी देश में लौकिक प्रणय-व्यापार को सदा से ही प्रतीकों के द्वारा ही व्यक्त किया जाता रहा है। विद्यापति एक सीमा तक सूर, केशव और रीतिकालीन कवियों, प्रमुखतः बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर इत्यादि ने अपने शृंगार-भावों को कृष्ण-राधा के माध्यम से व्यक्त किया है। इन कवियों ने किसी नैतिक आतंक के ही कारण ऐसा किया है, यह कहना सत्य के एक अंश को ही पकड़ना है। वस्तुतः शृंगारिकता को प्रतीक रूप में अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति मनुष्य की एक मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है, जिसका थोड़ा-बहुत प्रयोग प्रत्येक कवि में दृष्टिगोचर होता है। तुलसीदास जैसा महापुरुष भी अहीरिन, नाइन, बरइन इत्यादि के प्रति सहज पुरुषोत्साह को दशरथ के माध्यम से व्यक्त करता है। कीट्स 'निर्मम सुन्दरी'[1] जैसी कविताओं में अपनी वेदनाओं को स्वप्न के सहारे व्यक्त करता है। शैक्सपीयर ने अपने विषम पारिवारिक जीवन को कुछ नाटकों में अभिव्यक्ति प्रदान की है, ऐसा प्रसिद्ध ही है। फिर छायावादी कवि का युग भीषण संघर्षों का युग था, राष्ट्र जाग उठा था, जूझ रहा था। पर युग कैसा भी हो, मनुष्य विशेषतः कलाकार अपने भावों, विशेषकर प्रेम-भावों को व्यक्त करने के लिये विवश है। वह युगानुकूल अभिव्यक्ति का पथ भी जानता है। रौलट एक्ट और जलियानवाला बाग-कांड के युग में अपनी प्रेमवेदना को प्रतीकों के माध्यम से ही व्यक्त करना अधिक उपयुक्त था, क्योंकि प्रकट रूप से किसी व्यक्ति की रूमानी प्रेम-कथाएँ और मिलन या विरह के अनुभव सुनने को देश तैयार नहीं था। फलस्वरूप कुछ कवियों ने अपने पारिवारिक या परिवार से बाहर के प्रेमानुभवों को प्रबन्धों के पात्रों के माध्यम से व्यक्त किया, कुछने आत्मा-परमात्मा के प्रतीकों के माध्यम से, जिन्होंने उल्लंग शृंगारिकता को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया, वे कोई विशेष सम्मान न पा सके। सन् १९३५ के आस-पास जब नया विधान बना, कांग्रेस सरकारें बनी, राष्ट्र ने अपने संघर्ष में सफलता पायी, तब व्यक्तिगत प्रेमानुभूति को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करने का अवसर आया और कुछ आगे-पीछे ऐसे वर्णन कविता में हुए भी। इतना होने पर भी जनता ने ऐसे वर्णन करने वालों को अपना दुलार भर दिया, श्रद्धा नहीं दी। संक्षेप में,

१—La Belle Dame Sans Merci.

छायावादी कविता के भीतर जिस अध्ययन मूलक एवं काल्पनिक रहस्यवाद की सृष्टि हुई, वह बहुत स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक थी। राधा-कृष्ण पर बहुत-कुछ लिखा जा चुका था, इसलिए प्रतीक अधिक सूक्ष्म एवं नवीन चुने गये। नवीन प्रतीकों ने अभिव्यक्ति को नूतन महत्त्व प्रदान किया।

प्रतीकों की सूक्ष्मता ने अभिव्यक्ति को उस अश्लीलता के निकट जाने से बचा लिया, जिसके कारण रीतिकालीन कवि अनावृत्त हुए हैं।

यह चिरन्तन माध्यम-विधान मनोवैज्ञानिक ही नहीं, तलस्पर्शी भी है। अलौकिक के प्रति प्रेम या साधारण शब्दों में भक्ति की भावना प्रायः लौकिक भावनाओं के अतिरेक-शैथिल्य या निराशा पर ही उत्पन्न होती है। थोड़े-से अलौकिक के प्रेमी या भक्त अपने विशेप सामाजिक या पारिवारिक जीवन के कारण प्रारंभ से ही रहस्यदर्शी या भक्त बन जाते है, किन्तु अधिकतर व्यक्ति लौकिक जीवन की निराशा या लौकिक भावनाओं के अतिरेक-शैथिल्य के फलस्वरूप ही रहस्यदर्शी या, भक्त बनते हैं। लौकिक भावनाओं का अतिरेक-शैथिल्य या निराशा की दशा कई रूपों में शक्ति का संच्चय करती है। कभी-कभी वह देश-भक्ति का रूप ग्रहण करती है, कभी-कभी मानव-सेवा का, कभी-कभी वीर-पूजा का, कभी-कभी ईश्वर के प्रति भक्ति का, कभी-कभी वह विक्षिप्त भी हो जाती है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि संसार के सारे देश-भक्त, मानव-जाति-सेवक, वीर-पूजक या भगवद्भक्त इत्यादि लौकिक जीवन से निराश या लौकिक भावनाओं के अतिरेक-शैथिल्य की दशा में विवश होकर ही देशभक्त, मानव-जातिसेवक, वीरपूजक या भगवद्भक्त बने हैं। कुछ अपनी विशेष सामाजिक तथा पारिवारिक स्थितियों के कारण भी ऐसे बन जाते हैं। पर अधिकतर का निर्माण उक्त नियम ही करता है।

उदाहरणार्थ हिन्दी के ही कुछ भक्त-कवियों का जीवन ले लिया जाए। तुलसी के जीवन में यदि माता की उनका जन्म होते ही मृत्यु, पिता द्वारा त्याग महरी द्वारा पालन, उसके निधन पर भिक्षाटन एवं सबसे बढ़कर रत्नावली-काण्ड न घटता, तो वे क्या होते, इसका निर्णय करना कठिन है। सूर यदि जन्मान्ध न होते अथवा यदि वे जन्मान्ध न थे तो उनके जीवन में प्रसिद्ध प्रेमकाण्ड घटित न होता, तो वे क्या होते इसका निर्णय करना कठिन है। मीरा के पति भोजराज का यदि असमय निधन न हो जाता तो वे क्या होतीं इसका निर्णय करना कठिन है। सामान्य जीवन में भी प्रायः मनुष्य भक्त या रहस्यदर्शी तभी बनता है, जब उसे लौकिक जीवन में असफलता या प्रतारणा, प्रिय-वियोग या प्रिय का चिर-वियोग, विलास

की अतिशयता पर दुर्बलता या ग्लानि नहीं होती । हम पहले ही कह आए हैं कि सभी मनुष्यों पर संसार का कोई भी नियम लागू नहीं होता। इस नियम के लिए भी यही बात है । पर इसमें संदेह नहीं है कि अधिकतर ऐसा ही होता है। भक्ति की भावना मनुष्य की एक चिरन्तन भावना है, पर यह भावना अन्य भावनाओं के अतिरेकजन्य शैथिल्य के द्वारा उत्पन्न होती है। अत्यधिक प्रेम एवं तज्जन्य सुखात्मक या दुःखात्मक शैथिल्य या ग्लानि अत्यधिक हास-परिहास, क्रोध, घृणा इत्यादि एवं इनसे उत्पन्न वेदनात्मक शैथिल्य या ग्लानि ही भक्ति-भावना के विधायक हैं। यही कारण है कि मानव-मन के अंतलस्पर्शी आचार्य हमारे प्राचीन साहित्य-चिंतकों ने शान्तरस के रसत्व पर संदेह प्रकट किया था और जीवन की कर्मठता के दृश्यों से पूर्ण नाटक में उसे रस का महत्त्व नहीं प्रदान किया था। पर उनमें से अनेक को यह विदित था कि भक्ति की भावना भी मानव की एक चिरन्तन भावना है, भले ही वह अन्य भावनाओं की अतिरेकजन्य शिथिलता से उत्पन्न होती हो। फलतः उन्होंने शान्त का रसत्त्व अन्य सभी रसों के बाद भी स्वीकृत किया है। यह भी स्पष्ट है कि भक्ति-भावना अपने प्रगाढ़ रूप में अत्यंत उदात्त, गम्भीर एवं महान होती है। इसलिए यदि एकाध आचार्यों ने शान्त रस की स्तुति की है, तो स्वाभाविक ही है। वह भक्ति-भावना या रहस्य-भावना धन्य है, जो पराशक्ति से प्रेम-सम्बध स्थापित कर ले। पर सामाजिक दृष्टि उसे श्रद्धा प्रदान कर सकती है उसका अनुकरण नहीं कर सकती।

छायावादी कवियों में प्रसाद, निराला और पंत का जीवन पारिवारिक मृत्युओं एवं तज्जन्य वेदनाओं से भरा रहा है, । प्रसाद और पंत प्रेम-वेदनाओं से भी अछूते नहीं रहे, ऐसा अब सभी स्वीकार करते हैं। महादेवी स्वयं-चाहे यह भले ही कहें कि उनका जीवन पीड़ा से मुक्त रहा है, पर वस्तुतः उनका विवाहित जीवन एकांकी होकर पीड़ायुक्त ही नहीं, द्वन्द्व-युक्त भी रहा है, क्योंकि वे मनुष्य हैं, नारी हैं और मनुष्य के जीवन में विवाहित जीवन की एकाकी जीवन में परिणति पीड़ा एवं द्वन्द्व का संगम ही रही है, तथा रहेगी। इस स्थिति में प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी यदि तुलसी, कबीर, सूर और मीरा के समान आन्तरिक तथा वाह्य जीवन में विरक्त लोकसंग्रही हो जाते, तो सचमुच तुलसी कबीर, सूर और मीरा से हो गये होते। पर साधना का जो दुर्गम पथ तुलसी, कबीर, सूर और मीरा ने अपनाया था, वह बहुत ही कठिन एवं संघर्षपूर्ण था । प्रसाद, निराला, पंत एवं महादेवी जिन स्थितियों में उत्पन्न हुए थे, बढ़े थे, रह रहे थे, उनमें इतना कठिन, दुर्गम तथा संघर्षपूर्ण पथ अपनाना संभव न था। फलतः इनकी वेदना उनकी व्यापक और स्वाभाविक न बन सकी जितनी तुलसी, कबीर, सूर और मीरा की, क्योंकि इनके

लिए रहस्य-प्रेम एक विवशता थी, उनके लिए एक सहज उल्लास । अतः यदि निराला और पंत एवं विशेषकर प्रसाद और महादेवी ने अपनी व्यक्तिगत प्रेम-वेदनाओं को प्रतीकों में व्यक्त किया, तो कोई अनुचित कार्य नहीं किया, कोई नया कार्य नहीं किया ।

पर इस आधार पर छायावादी रहस्य-काव्य की तुलना रीतिकालीन कृष्ण-काव्य से करना सर्वथा अनुचित होगा । केशव, बिहारी, देव, मतिराम तथा पद्माकर इत्यादि की अपेक्षा प्रसाद, निराला, पंत तथा महादेवी इत्यादि कलाकार निश्चय ही अधिक संघर्षपूर्ण जीवन बिताने वाले तथा अधिक साहित्यिक व्यक्ति हैं । उनकी वेदना निरी माँमल ही नहीं है, अन्यथा ये अतृप्त ही रहते, यह कोई नहीं मानेगा । व्यक्तित्व के आधार पर कृतित्व का मूल्यांकन जनता ने सदैव किया है अन्यथा वह सूर के सुरति के वर्णनों को केशव, बिहारी और मतिराम की शृंगारिकता से जोड़ सकती थी । अतः रीतिकालीन कविता से छायावादी कविता की तुलना करना छायावादी कविता के साथ अन्याय करना ही नहीं, हिन्दी-साहित्य के साथ भी अन्याय करना है । अपने प्रेम-भावों, नारी-भावों एवं विरह-भावों में छायावादी काव्य के स्वर रीतिकालीन काव्य के स्वरों से बहुत अधिक उदात्त हैं ।

छायावादी विरह-काव्य जिस प्रतीकात्मकता का आश्रय लेकर चला, वह हिन्दी-साहित्य में सबसे अधिक भावपूर्ण है । आजकल 'आलोचना के लिए आलोचना' का जो व्यापार चल रहा है, वह यदि 'देशभक्ति के लिए देशभक्ति' के जैसे पाखंड से युक्त न होता तो छायावादी प्रतीकात्मकता के प्रति इतना असहनशील न होता । भक्तिकालीन आदर्श-प्रधान नारी-सृष्टि, रीतिकालीन विलास-प्रधान नारी-सृष्टि, द्विवेदी-युगीन कर्तव्य-प्रधान नारी-सृष्टि, छायावादी भाव-प्रधान नारी-सृष्टि, सभी की आलोचना करने पर भी आज के उक्त फैशन के प्रेमी आलोचक यह नहीं बता पाए कि वह कौन-सी नारी है या हो सकती है, जिसकी सृष्टि उन्हें सन्तोष देगी । यह स्वयं उनकी आलोचना के फैशन का सबसे बड़ा उपहास है । बात यह है कि प्रत्येक युग अपने अनुरूप मानव-चित्रों की सर्जना करता है । यहाँ तक कि एक ही पात्र अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है । वाल्मीकि के राम, कालिदास के राम, भवभूति के राम, तुलसीदास के राम, मैथिलीशरण के राम और महाभारत के कृष्ण, भागवत के कृष्ण, सूर-सागर के कृष्ण, प्रिय-प्रवास के कृष्ण इस तथ्य के प्रमाण हैं । छायावादी कवि ने जो नारी-चित्र और विरह-चित्र प्रदान किये हैं, वे युगानुरूप हैं, उत्कृष्ट हैं । पर उन चित्रों में एक कमी है, जिसका कारण परिस्थितिजन्य कवि-दशाएँ हैं । प्रसाद को अपने जीवन में नारी का कोई चित्र पूर्ण

रूप से दृष्टिगोचर नहीं हुआ; न माता का, न पत्नी का, न सखी का। फलतः नारी उनके लिए भाव या रहस्य ही बनी रही, वे उनका चित्रण व्यवस्थित रूप से न करके एक या दूसरे किनारे से करने को विवस थे। एक छोर पर श्रद्धा, मल्लिका, देवसेना, मालविका, कोमा इत्यादि हैं, दूसरे छोर पर इड़ा, छलना, विजया, अनन्तदेवी इत्यादि। या तो नारी के चित्रों का छोरों पर जाकर चित्रण करने की प्रवृत्ति-शैक्सपीयर जैसे महानतम कोटि के कलाकारों में भी यत्र-तत्र-दृष्टिगोचर होती है, पर प्रसाद में वह प्रायः सर्वत्र है। इसका कारण उनकी जीवनगत विवशता है, जिसका उत्तरदायित्त्व उन पर नहीं, परिस्थितियों पर अधिक है। यही कारण है कि प्रसाद की नारी 'भाव-नारी' अधिक है, वास्तविक नारी कम। वह चेतना के समर्पण से अधिक समाहत है, 'केवल श्रद्धा' अधिक है; शरीर के समर्पण से प्रभावित कम दीखती है, सहज भावमयी कम प्रतीत होती है। यही कारण है कि कामायनी में विरह-वेदना का समर्थ अवकाश होने पर भी वे रुके रह गए। पहले सोचा कि आँसू को कामायनी के एक सर्ग का रूप देकर[1] काव्य की सहज रूपरेखा को समाशन्तर बनाएँ, पर ऐसा किया नहीं और यह ठीक भी किया, क्योंकि आँसू प्रसाद के हृदय की वेदना है, वह श्रद्धा के हृदय की वेदना न बन सकता था। आँसू के भी विरह का दर्शन प्रसाद की महान आत्मा के स्पर्श के कारण गंभीर चाहे जितना हो, पर स्वाभाविक विरह की वेदनाभिव्यक्ति उसमें घनानन्द की जैसी नहीं हो पायी। इसका कारण स्पष्ट है। प्रसाद का नारी के प्रति दृष्टिकोण उनके नारी के परिचय के ही समान बहुत स्वाभाविक न था, फलस्वरूप जहाँ उन्होंने असत-सम्बद्ध नारी-चित्र खड़ा किया, वहाँ एक छोर पर खड़े होकर, जहाँ सत-सम्बद्ध नारी-चित्र खड़ा किया, वहाँ दूसरे छोर पर खड़े होकर।

नारी के माता, पत्नी, सखी रूपों से परिचय की दृष्टि से पंत का जीवन प्रसाद से भी अधिक अपूर्ण रहा है। माता के दर्शन उन्हें हुए नहीं, पत्नी के दर्शन उन्होंने किए नहीं (और शायद अकारण ही ऐसा नहीं किया[2]) किसी सखी को उन्होंने

१—श्री विनोदशंकर व्यास कृत 'प्रसाद और उनका साहित्य' काव्य शीर्षक प्रकरण, पृष्ठ १९६।

२—यह स्वयं निश्छल एवं पवित्र-हृदय हिन्दी के इस अमर कवि ने अपनी पावन वाणी में स्पष्ट कर दिया है और यह स्पष्टीकरण अपना मूल 'ग्रन्थि' में रखता है :

मिले थे दो मानस अज्ञात, स्नेह शशि बिम्बित था भरपूर।
अनिल सा कर अकरुण आघात, प्रेम प्रतिमा कर दी वह चूर।
(पल्लव, पृष्ठ ६२)

अधिक निकट आने ही नहीं दिया। फलतः उनकी नारी-सृष्टि स्वर्गीय एवं दिव्य तो है (जो अपरिचित है, साथ ही सरस, उसकी स्वर्गीयता या दिव्यता की कल्पना मानव ने सदैव की है) पर स्वाभाविक एवं सहज द्वंद्वात्मक नहीं। प्रसादजी ने नारी को केवल श्रद्धा कहा, पंत का पवित्र किन्तु नारी से अपरिचित हृदय और भी आगे बढ़ा।

तुम्हारे रोम रोम से नारि,
मुझे है स्नेह अपार,
तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि
मुझे है स्वार्गागार।
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल दुर्बलता, ध्यान,
तुम्हारी पावनता, अभिमान,
शक्ति पूजन, सम्मान,
अकेली सुन्दरता कल्याणि,
सकल वैश्वयों की संधान [1]

× × ×

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा स्नान,
तुम्हारी वाणी में कल्याणि,
त्रिवेणी की लहरों का गान।
अपरिचित चितवन में था प्रात
सुधामय सांसों में उपचार,
तुम्हारी छाया में आधार,
सुखद चेष्टाओं में आभार। [2]

जहाँ तक भावात्मक उत्कृष्टता एवं उदारता का प्रश्न है। प्रसाद या पंत के नारी - वर्णन अत्यन्त विशद तथा उच्चकोटि के हैं, पर नारी

१—पल्लव, नारी-रूप, पृष्ठ ११८।
२—पल्लव, आँसू पृष्ठ ७२।

पर नारी के सहज रूप का चित्र प्रस्तुत करने का प्रश्न है, प्रसाद और पंत के ऐसे उद्गार या तो किसी नवयुवक के प्रेम-पत्र के प्रिया से अपरिचित प्रायः आदेश से उत्पन्न भाव प्रतीत होते हैं, यह नारी को बिल्कुल दूसरे छोर से देखने वाले तुलसीदास, कबीरदास या शौपेनहावर प्रभृत्ति कवियों और दार्शनिकों के विचारों की प्रतिक्रिया से उत्पन्न विचार। इस या ऐसी ही प्रतिक्रिया से दूसरे ही (या अनावृत्त) रूप में प्रभावित 'बोल्गा से गंगा' के महापण्डित लेखक राहुल साँकृत्यायन ने भगवान शब्द का नारी से सम्बन्ध जोड़ा है। उनमे पहले भी ऐसा हो चुका है, बहुत बार। निराला प्रारम्भ से ही धरती पर अधिक रहे है। अतः उनके नारी चित्र अधिक मांसल, साथ ही उनकी पवित्र आत्मा के स्पर्श के कारण अधिक प्रसन्न हैं। महादेवी का वियोग जीवन की दृष्टि से अस्थाई रूप में संयोग-पुष्टि होने के कारण, साथ ही संयोगान्त पर सतत संयोगान्त-स्वीकृति के कारण छायावादी कवियों में सबसे अधिक गंभीर एवं स्वाभाविक है। पर संयोगान्त-स्वीकृति के कारण मूलगत कुण्टा की प्रतीति भी हो सकती है, साथ ही विरह में चिर रहने से विरह की स्वाभाविकता मारी जाती है। स्पष्ट है कि महादेवी का विरह अति-वैयक्तिक हो गया है। उसमें मीरा की सी स्वाभाविकता नहीं आ पाई, भले ही वह मीरा की अपेक्षा अधिक कलात्मक हो। उधर प्रसाद और पंत का विरह 'आँसू' और 'ग्रन्थि' में जिस वेदना का स्वागत एवं प्रशंसा करता है, वह विचारात्मक अधिक है भावात्मक कम।

छायावादी विरह की वेदना अभावमूलक होने के कारण करुणा के बहुत निकट चली जाती है। छायावाद का रहस्यवादी विरह-काव्य अध्ययनमूलक अथवा काल्पनिक होने के कारण एकपक्षीय है अर्थात् उसमें अलौकिक प्रिय के प्रति विरह-निवेदन तो है, पर उस प्रिय के मिलन-सुख का वर्णन नहीं। कबीर, मीरा, यहां तककि आधुनिक भारत के कल्पान पुष्ट, अध्ययनमूलक रहस्यवाद के प्रेरक रवीन्द्रनाथ तक में एक ओर यदि अलौकिक प्रियतम के प्रति विरह-वेदना का हाहाकार है, तो दूसरी ओर मिलन-सुख के संकेत भी हैं, उल्लास का वर्णन भी है। रवीन्द्रनाथ में इस उल्लास की कमी यह स्पष्ट कर देती है कि उनकी अलौकिक के प्रति प्रेम-साधना उतनी प्रसन्न एवं गंभीर नहीं है जितनी कबीर या मीरा की। पर रवीन्द्र में अलौकिक प्रिय के मिलन का छायावादी कवियों जैसा पूर्ण अभाव भी नहीं है। कबीर प्रिय के प्रेम-रस से भींग जाते हैं मीरा को उनका प्रिय मिलता है। पर छायावादी रहस्य-काव्य में ऐसा नहीं होता। यह छायावादी रहस्य काव्य की एकपक्षीयता छायावादी कवियों के जीवन के प्रेम-भाव या कुण्ठा से

प्रेरित है। डा० नगेन्द्र [1] की तरह यह कहना भले ही अति हो कि समग्र छायावादी काव्य कुण्ठाजन्य है, पर अज्ञेय के शब्दों में उसका अधिकांश भाग ऐसा माना जा सकता है' आज का हिन्दी साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का, या यह कह लीजिए, लालसा का इच्छित विश्वास.........का साहित्य है।" [2] हम अज्ञेय के हिंदी-साहित्य के स्थान पर छायावादी-साहित्य कहना ज्यादा समीचीन समझते हैं क्योंकि आज के हिंदी-साहित्य में मैथिलीशरण, हरिऔध, रत्नाकर, प्रेमचन्द, एवं आचार्य शुक्ल जैसे अनेक अमर साहित्यकार कुण्ठा से मुक्त या मुक्तप्राय रहे हैं।

छायावादी कविता का रहस्यात्मक विरह एक पक्षीय होने के कारण शुद्ध रहस्य-प्रेरणा से असंपृक्त माना जायेगा। शुद्ध रहस्यात्मक प्रेरणा एकपक्षीय नहीं हो सकती। साधनात्मक न होने पर भी यदि उसमें शुद्ध चिन्तन विद्यमान होगा, तो वह रवीन्द्र के रहस्यात्मक काव्य के समान कुछ अधिक पूर्ण होगी। रवीन्द्र की रहस्य-भावना भी अपने मूल में काल्पनिक ही है, पर उसमें रहस्य चिन्तन (साधना-नहीं) के परमाणु उसे अधिक सशक्त बनाते हैं। छायावादी कवियों की रहस्यात्मक भावना अपनी एकपक्षीयता के द्वारा कुण्ठा की प्रेरणा की सूचना स्वयं दे देती है।

छायावादी कवियों ने स्वयः गाया है कि उन्हें प्रेम नहीं प्राप्त हुआ, कभी प्रिय ने ही नहीं दिया, कभी समाज के कारण प्रेम नहीं मिल पाया।

चिर तृषित कंठ से तृप्त विधुर
वह कौन अकिञ्चन अति आतुर
अत्यन्त तिरष्कृत अर्थ सदृश
ध्वनि कम्पित करता बार बार,
धीरे से वह उठता पुकार
मुझको न मिला रे कभी प्यार। [3]

'मुझको न मिला रे कभी प्यार' प्रसाद की अपनी कहानी है। कभी उन्हें छला गया था और अंततोगत्वा उन्हें उस छलना में भी विश्वास करना पड़ा था :

छलना थी, तब भी मेरा
उसमें विश्वास घना था :
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वयं बना था। [4]

१—आधुनिक हिंदी-कविता की मुख्य प्रवृतियाँ।
२—त्रिशंकु, परिस्थिति और साहित्यकार, पृष्ठ ४७।
३—लहर, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३४।
४—आँसू, अष्टम् संस्करण, पृष्ठ २४।

निराला ने निश्छल होकर प्रश्न किया है ।

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा
स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर खिल न सकेगा । [१]

यहाँ तो वे करुणाकर से पूछते हैं, पर इसके पहले वे स्पष्ट रूप से बतला चुके हैं कि वे छले गए हैं, यही नहीं कह चुके हैं कि वे ही क्यों, सभी छले गए हैं ।

देख चुका जो जो आए थे,
चले गए,
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब,
भले गए ।

क्षण भर की भाषा में,
नव नव अभिलाषा में,
उगते पल्लव से कोमल शाखा में,
आए थे जो निष्ठुर कर से
भले गए ।
चिंताएं, बाधाएं,
आती ही हैं आएं,
अन्ध हृदय है, वन्धन निर्दय लाएं,
मैं ही क्या, सब ही तो ऐसे,
छले गए,
मेरे प्रिय सब बुरे गए, सब
भले गए । [२]

उपर्युक्त पक्तियों में कवि रोमान्टिक होकर नहीं, सहज भावान्दोलित होकर अपनी वेदना प्रकट कर रहा है । पिता, माता, पत्नी, पुत्री खोकर एकाकी जीवन बिताने वाला यह कहता है, तो सत्य कहता है, और उसका सत्य प्रत्येक शब्द में बोल रहा है, प्रथम श्रेणी की करुणा की सृष्टि कर रहा है, जो यदि कुण्ठा भी

१—गीतिका, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ४५ ।

२—परिमल (वृत्ति)

है, तो सत्य होने के कारण महान है, और कवि का बाधाओं को आवें' कहकर झेल लेना उसके अमर पौरुष का ज्वलंत द्योतक है।

पंत ने भी स्पष्ट कह दिया है !

हाय ! मेरा जीवन ,
प्रेम औ आँसू के कन।
आह मेरा अक्षय धन,
अपरिमित सुंदरता औ मन [1]

इससे पहले ही वे स्पष्ट कर चुके थे।

और, भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से ? जहाँ
झूमते गज से बिचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद, उत्ताप है।
पर नहीं, तुम चपल हो, अज्ञात हो,
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं,
बस, बिना सोचे, हृदय को छीनकर,
सौंप देते हो अपरिचित हाथ में।[2]

महादेवी ने भी स्वीकृत किया है :

पथ देख बिता दी रैन
मैं प्रिय पहचानी नहीं।
तम ने धोया नभ पंथ
सुवासित हिम जलसे
सूने आँगन में दीप
जलाए झिलमिल से,
आ प्रात बुझा गया कौन
अपरिचित, जानी नहीं।
मैं प्रिय पहचानी नहीं।[3]

यहाँ पर मीरा एवं महादेवी की प्रेम-भावना का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। मीरा बारम्बार अपने 'जोगी' के घर आने एवं फलस्वरूप अपने उल्लसित होने

१—पल्लव (आँसू)
२—ग्रन्थि, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३८।
३—कवि भारती, पृष्ठ ४५२।

का उल्लेख करती है। महादेवी उससे अपने अपरिचय का सत्य प्रकट कर देती है। स्वर्गीय पं० चन्द्रवली पाण्डेय ने 'जोगी' से चैतन्य महाप्रभु का सम्बन्ध जोड़ा है।[1] पर मीरा तो सदा उसका उल्लेख करती हैं, छोटी थीं, तभी से उसका परिचय प्रकट करती हैं। चैतन्य से वे मिली भी थीं, यह कोई नहीं जानता। यदि मिली भी होगी, तो विरक्त हो जाने पर ही। इस स्थिति में जोगी का सम्बन्ध चतन्य महाप्रभु से जोड़ना वैसी ही मौलिक सूझ है जैसे तुलसीदास का जन्म-स्थान अयोध्या बतलाना और एक चौपाई का अर्थ खींचकर हुलसी को तुलसी की माँ के स्थान पर पत्नी बतलाना।

महादेवी के करुणा-कलित एवं शुद्ध निश्छल हृदय ने स्पष्ट कहा है—

जो तुम आ जाते एक बार।
कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार तार
अनुराग भरा उन्माद राग,
आँसू लेते वे पद पखार।
हंस उठते पल में आर्द्र नयन,
घुल जाता ओठों से विषाद,
छा जाता जीवन में 'बसंत'
लुट जाता चिर संचित विराग,
आँखें देतीं सर्वस्व बार।[2]

'लुट जाता चिर संचित विराग' महादेवी का महान हृदय ही कह सकता था, क्योंकि सत्य को सत्य के, शुद्ध सत्य के, रूप में कहना सबकी शक्ति की बात नहीं है। यदि महादेवी का हृदय इतना सरल न होता, तो वह नारी की विरह-व्याकुलता का संसार-साहित्य में नारी के ही द्वारा खींचा गया विराट शब्द-चित्र (यामा तथा दीपशिखा का एक रस, एकरूप, एकसान चित्र, जिसमें शुद्ध चित्र तो शब्द-चित्रों की हिलोरें मात्र हैं) हिन्दी को न दे पाता।

रामकुमार की अध्ययनशीलता की सभी प्रशंसा करेंगे, पर आलोचक यह कहने को विवश हैं। 'जीवन की प्रथम हार' को कवि जीवन का अभिशाप मानकर दार्शनिक बनने की चेष्टा करने लगता है और दार्शनिक चिंतन उसे रहस्यवादी गीत

१—साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित "विचार-विमर्श" नामक पांडित्य पूर्ण ग्रंथ में "मीराबाई" शीर्षक निबंध।

२—कवि भारती, पृष्ठ ४४८।

लिखने की प्रेरणा देता है ।[1] वर्मा जी ने अपनी वेदना को इन शब्दों में प्रकट किया है:

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ,
आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार में
कैसे देखूँ जीत ?[2]

वे स्वीकार करते हैं, और प्रश्न भी करते है:

प्रिय ! तुम भूले में क्या गाऊँ ?
जिस ध्वनि में तुम बसे उसे,
जग के कण कण में क्या बिखराऊँ ।
प्रिय तुम भूले मैं क्या गाऊँ ।
शब्दों के अधखुले द्वार से अभिलाषायें निकल न पातीं ।
उच्छ्वासों के लघु लघु पथ पर इच्छाएँ चलकर थक जातीं ।
हाय स्वप्न संकेतों से मैं
कैसे तुमको पास बुलाऊँ ।
प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊं ।[3]

'जीवन की प्रथम हार' और 'प्रिय का भूलना' वर्मा जी ने स्वीकार कर लिया है। कविता का प्रारम्भ प्रायः ऐसी हारों और ऐसे भूलने से ही होता है, अतः इस 'प्रथम हार' और 'भूलने' का अपना निश्चित मूल्य है ।

छायावादी कवियों की प्रेम - वेदना एवं विरह-व्यथा की बहुत कटु प्रत्यालोचना आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल स्वयं एक अमर छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पंत इत्यादि ने बड़े उत्साह से की है। पर इतना स्पष्ट है कि छायावादी वेदना जो आँसू, परिमल, पल्लव, नीरजा, दीपशिखा अभिशाप इत्यादि में बिखरी पड़ी है, हिन्दी का एक अमर श्रृङ्गार बन चुकी है। आचार्य-द्वय के विरोध के बावजूद भी वह बढ़ी थी, पंत जी की प्रत्यालोचना के बाद भी वही उनके गौरव का प्रमुख कारण बनी हुई है । स्पष्ट है कि उसमें शक्ति है, जो

१—बाबू गुलाबराय तथा डा० शम्भुनाथ पाण्डेय द्वारा लिखा गया "रहस्यवाद और हिन्दी-कविता" नामक ग्रन्थ (प्रथम संस्करण), पृष्ठ २१५—१६ ।

२—अभिशाप (अशान्त) ।

३—कवि भारती ४६३ पृष्ठ ।

विरोधों में भी पनपी है और आलोचनाओं का विष पीकर भी अमर नीलकंठीय शोभा धारण कर चुकी है। इसका कारण क्या है? वह समर्थ कवियों के हृदय की सच्ची वेदना है और समर्थ कवियों की सच्ची वेदना चाहे वह कितनी ही वैयक्तिक क्यों न हो, सदा से काव्य का श्रृंगार करती आयी है। अतः जब हम श्री प्रभाकर माचवे को छायावाद के लिए हिस्टीरिया शब्द का प्रयोग करते देखते हैं[1] या श्री इलाचन्द्र जोशी को लिखते देखते हैं : 'मधुर कोमल-कान्त पदावली के माध्यम से ये सब आत्मघाती और क्षयरोग के कीटाणुओं की तरह विनाशकारी तरल गरलमय भाव हिन्दी-जगत की जनता के मर्मस्थल 'इन्जेक्ट' किए जाते रहे। फल यह हुआ कि धीरे-धीरे एक क्षयरोगग्रस्त सुवृहत् कवि-समाज उस घातक अफीम के रस से मद विभोर हो उठा और चारों ओर से एक अस्वास्थकर मीठी और झूठी वेदना की बाढ़ ने समस्त साहित्य-संसार को अप्लुत कर लिया।[2] तब दुख होता है इस प्रकार के अवांछनीय परिचय का दूसरा छोर ऐसे रूप लेकर प्रकट होता है 'हिन्दी काव्य जगत को जितना गौरव छायावाद ने प्रदान किया है उतना अब तक की किसी अन्य धारा ने नहीं।[3] ऐसे दोनों छोर गलत हैं। इतना स्पष्ट है कि छायावादी-रहस्यवादी विरह-वेदना कवियों की जीवनगत प्रणय-असफलता में मूलभूत है, एवं उसमें वह सहज गांभीर्य नहीं है जो पूर्ण जीवन-द्रष्टा-सृष्टाओं की वेदना में होता है। पर पूर्ण जीवन-द्रष्टा सृष्टा कलाकार संसार में कितने हुए हैं? वाल्मीकि, व्यास, होमर, वर्जिल, कालिदास, दान्ते, सूरदास, तुलसीदास, शेक्सपीयर, मिल्टन इत्यादि की संख्या को कितना आगे बढ़ाया जा सकता है? यों तो कारणवश आलोचना का पूर्व ग्रह भवभूति को रुला चुका है, कीट्स के प्राण लेने का एक कारण बन चुका है, पंत को अनेक पथों पर लगभग बेकार दौड़ा कर हिन्दी का अपकार कर चुका है, माघ, केशव, गंग, बीरबल, पोप इत्यादि को कुछ समय के लिए आवश्यकता से अधिक सम्मानित कर प्रतिक्रिया रूप में घाटा दिला चुका है।

प्रेम की असफलता के कारण छायावादी कवियों, विशेषकर प्रसाद, पंत, महादेवी ने वेदना की अत्युक्तिपूर्ण स्तुति की, रामकुमार ने "प्रेम करना है पापाचार" कहते हुये जीवन की अनित्यता पर विषाद प्रकट किया, केवल निराला को पौरुष वेदना के अन्धकार को पदाक्रान्त करता रहा। प्रसाद मृत्यु को चिर-निद्रा तथा उसके अंक को हिमानी सा शीतल और प्रेम के आगे मृत्यु का नृत्य देखते रहे, पंत 'मृत्यु ही है निःशेष' कहते रहे, महादेवी अपने को 'नीर भरी दुख की बदली'

१—आधुनिक साहित्य पृष्ठ ७८।

२—विवेचन, पृष्ठ ४१-४२।

३—श्री प्रताप साहित्यालंकार की परीक्षापयोगी पुस्तक "छायावाद" पृष्ठ १६७।

घोषित करती रहीं। उच्छ्वास मूर्च्छना, हृतंत्री, मधुपीड़ा शीतल ज्वाला, नयनों के बाल. मूक वेदना, स्पन्दन, नीरवता इत्यादि की शब्दावली अपने सीमित रूप में सतत गतिशील रही। प्रतिक्रिया में जो हुआ उसकी कुछ झांकियां देखिए :—

(१) उच्छ्वासों की खटोलिया पर सोती है मधुपीड़ा मूक।
आलिगन की दुःखदायिनी घड़ियों में लगती है कूक।
अरी वेदने ! आली, आजा करदे अब दिल के दो टूक।
मैं न रहूंगी कौन लिखेगा, टूटी हृतंत्री की हूक।

\+ + + +

मधुपीड़ा हो या मधुमूर्च्छा स्पंदन हो या अविपाक।
हृत्तन्त्री का 'रप्चर' हो या 'फेन्सी' हो या हो अभिशाप।
हिचकी हो या हों उच्छ्वासें, नीरवता हो, फालिज हो।
क्यों न एक छायाछोरों का अलग मेडीकल कालिज हो।

जगन्नारायण पूर्ण।[1]

(२) इसलिये चलो अब पाठक ! उस नग्न नृत्यशाला में।
जिसमें अनन्त के आशिक हों झूम रहे हाला में।
अपनी अदृश्य माशूका पर मूक वेदना वाले।
नीरव गानों की तानें लेते हों जहाँ निराले।

ज्वालाराम नागर।[2]

छायावादी कविता का प्रेम एवं विरह ही नहीं सौंदर्य-सम्बन्धी काव्य भी नारी में बंध गया। भुजलता-युक्त शैली के सनाथ गले, ऊषा-मधुबाला, प्राची की नटशाला, परी-सी संध्या, शेफालिका एवं जुही की कली, पवन-प्रेमी से नोंक-झोंक, दमयन्ती सी छाया, संध्या-रूपसी, तन्वंगी-गंगा, परी-सी लहरें, मुग्धा-सी दशमी के शशि का तिर्यक मुख इत्यादि-इत्यादि छायावादी कवि को उपचेतन मन में नारी के प्रति तृष्णा के उदाहरण हैं। कारण स्पष्ट है, छायावाद के प्रधान कवि नारी-रूपों से अपरिचितप्राय थे। अभाव ज्ञात-अज्ञात रूप में सारी प्रकृति में नारी के दर्शन कर रहा था। पर इसे कौन देखे ? अपनी विरह-वेदना का आरोप प्रकृति पर सभी कवियों ने किया है, पर छायावादी कवि की तो आलोचना करनी ही थी—

प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आंखें नहीं,
जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं।

---

१. रहस्यवाद और हिन्दी-कविता पृष्ठ २२४

२. रहस्यवाद और हिन्दी-कविता पृष्ठ-२२४-२५

झूठे-झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न उसे
करके पाखंड कला अपनी दिखाते हैं।
अपने कलेवर की मैली औ कुचैली वृत्ति
छोप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं।
अश्रु, श्वास, ज्वर, ज्वाला, नीरव रुदन नित्य
देख अपना ही तंत्री-तार वे बजाते हैं।

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।[1]

आचार्य शुक्ल प्रकृति के शुद्ध रूप का बारंबार उल्लेख करते हैं, प्रकृति के आलम्बनात्मक वर्णनों की प्रशंसा ही नहीं करते, वाल्मीकि एवं कालिदास में ऐसे वर्णनों का होना भी बतलाते हैं, जो स्पष्टतः विवादास्पद विषय है। पर इतना स्पष्ट है कि प्रकृति अपने नग्न रूप में भयंकर भी है, मानव-भावों से संयुक्त होने पर ही उसमें लालित्य आता है। परन्तु बुद्धि इसे कब देखती है? प्लेटो और अरस्तू कला को अनुकृति बताते हैं और शुक्ल जी प्रकृति के शुद्ध रूप पर लिखी गयी कविता की महिमा का गान करते हैं, लेकिन इतना तो सभी मानेंगे कि प्रकृति का बड़ा ही भव्य रूप निराला और पंत ने दिखलाया है। बादल-राग, जुही की कली, बादल, नौका-बिहार, नक्षत्र इत्यादि निस्संदेह श्रेष्ठ कविताएँ हैं। पर यह भी स्पष्ट है कि छायावादी कवि का प्रकृति निरीक्षण बहुत विस्तीर्ण नहीं रहा, प्रकृति के रमणीय कहे जाने वाले रूपों में ही वह अधिक रमा। हर चीज को नारी में बांध देना भी भावावेश है। विश्व में नारी सुन्दरतम प्राणी है, महान है, पर वह सब कुछ नहीं है। छायावादी कवि का सौन्दर्य-क्षेत्र बहुत संकुचित एवं एक पक्षीय था, जिसे श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने इन शब्दों में ललकारा है :

ओ सौन्दर्य उपासक, तुमने
सुन्दर का स्वरूप क्या जाना?
मधुर, मंजु, सकुमार मृदुल ही
को क्या तुमने सुन्दर माना?
क्यों देते हो चिर सुन्दर को
इतने छोटे सीमा बन्धन?
कठिन, कराल ज्वलंत, प्रखर भी
हैं सौन्दर्य - प्रकेत चिरंतन!

१—कवि भारती, पृष्ठ १४२

कल-कल, टल-मल, सर-सर, मर्मर
यही नहीं सुन्दर की वाणी,
इन्द्र वज्र ध्वनि भी है उसकी
गहन गम्भीर गिरा कल्याणी ।[1]

सौन्दर्य, प्रेम, प्रकृति-सभी को नारी से बांध देने का कारण छायावादी कवियों की दृष्टि बहुत-कुछ संकुचित हो गयी । विरह का क्षेत्र प्रिय-प्रिया (पति-पत्नी नहीं) घेरे में बंध गया । वात्सल्य, गुरूजन, मातृभूमि बन्धु, प्रिय व्यक्ति, मित्र पशु, पक्षी इत्यादि से सम्बन्धित विरह की ओर कवियों का ध्यान ही नहीं गया । विराट-विरह-क्षेत्र की दृष्टि से हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त तक कोई भी छायावादी कवि नहीं पहुंच सका । पर इतना स्पष्ट है कि प्रिय के प्रति विरह की जो निगूढ़ वेदना छायावादी कवियों, विशेषकर प्रसाद एवं महादेवी ने प्रकट की वह जायसी, सूर, मीरा एवं घनानन्द की जैसी करुणाकलित है, उसकी अनुभूति की विभूति सीमित होने पर भी आधुनिक काल में अद्वितीय है ।

मिलन का अभाव वेदना का प्रतीक बनकर छायावादी कविता पर छाया हुआ है । एक दूरी तक कहा जा सकता है कि छायावादी कविता का अधिकांश विरहोद्भूत है । मिलन का रस न देने वाले संसार से दूर रहकर छायावादी कवि 'कहीं दूर' या 'उस पार' जाना चाहता है, जहाँ प्रेम की निश्छल कथा सुनने को मिले, नयनों से नयनं मिल सकें, शान्त-सुख मिल सके, जहाँ से, जिस अज्ञात देश से मृदु झंकार आती है, जहाँ जाकर पागल संसार की व्यथा से त्राण मिल सके । 'पलायनवाद' शब्द के आतंक ने छायावादी कविता की इस सहज वेदना का मूल्यांकन तो दूर, तिरष्कार किया है, पर यह स्पष्ट है कि असफल प्रेमी 'कहीं दूर जाने' की कल्पना करने को सदा मजबूर हुआ है, होता है, होगा । शैली, कीट्स, कालरिज, रवीन्द्र कहीं दूर, मनुष्य एवं नगरों से कहीं दूर, अपरिचित स्थानों में घूमने में या विशाल, विशाल समुद्र में एकाकी, एकाकी, पूर्ण-पूर्ण एकांकी जाने को विवश हुए हैं, क्योंकि यह विवशता असफल प्रेम की एक स्वाभाविक माँग है ।[2]

१—कवि भारती, पृष्ठ २८७ ।

२—शैली चाहता है :

Away away from men and towns,
To the wild wood and downs.

कीट्स एकांकी, दुर्बल घूमता है :

यह 'उस पार' मिलन का प्रतीक है, चाहे उसे दूर माना जाये, एकाकी वेदनामय भ्रमण माना जाये, समुद्र-क्षितिज की मिलन-स्थली पर माना जाये या अन्यत्र। कोई कवि ऐसे उद्गार किसी पात्र के माध्यम से व्यक्त करता है, कोई रहस्यमय के माध्यम से, कोई स्पष्ट कह देता है। ऐसे शत-शत उद्धरण विश्व-काव्य में प्राप्त हो जायेंगे। यह पलायन नहीं है, मानव हृदय की भाव-भरी अनुभूति है। इसमें जीवन की वेदना प्रस्फुटित होती है और प्रत्येक हृदय ऐसे उद्गार अनेक बार प्रकट करता है---परिचितों से भी, स्वयं अपने से भी। इस मर्मस्पर्शी प्रवृत्ति को पलायन कहकर हमारे कुछ आलोचकों ने मानव-संवेदनों के प्रति या तो अपना अज्ञान प्रकट किया है या तिरष्कारपूर्ण दृष्टिकोण। हम सबसे बड़ी भूल तब करते हैं, जब मनुष्य को उसके मुट्ठी भरके द्रवणशील हृदय के माध्यम को पूर्णतः उपेक्षित कर उसको व्यापक मनीषा मात्र के माध्यम से देखते हुए काव्य की आलोचना करने लगते हैं। छायावादी कविता के प्रधान स्रष्टाओं का जीवन प्रेम-वेदनाओं एवं वियोग-विकलताओं से परिपूर्ण रहा है। स्वाभाविक है कि वे मिलन से रहित 'इस पार' की अपेक्षा मिलन से पूर्ण 'उस पार' को अधिक प्यार करें :

And this is why I sojourn here,
Alone and palely loitering.
Though the sedge is wither'd from the lake,
And no birds sing.

कालरिज इस क्षेत्र में सबसे आगे है।

Alone, Alone all all alone,
Alone on a wide, wide sea.

रवीन्द्रनाथ गाते हैं :

कथा छिलो एक तरीते केवल तुम आमि
जाव अकारणे मेसे केवल मेसे,
त्रिभुवने जानवेना केउ आमरा तीर्थगामी,
कोथा जेते छि कौन देशे से कौन देशे,
कूलहारा से समुद्र माझ खाने,
शोनाब गान एकला तोमार काने,
देउएर मतन भाषा बांधनहारा
आमार सेइ रागिनी शुन्वे नीरव हेसे।

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे ।
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे ।[१]

कवि के यहाँ जाने की कामना करने का एक इतिहास है :

छलना थी, तब भी मेरा,
उसमें विश्वास घना था ।
उस माया की छाया में,
कुछ सच्चा स्वयं बना था ।[२]

कवि छलना को विश्वास और माया की छाया को सच्चा कब तक मानता ? अतः वह वहाँ जाना चाहता है जहाँ प्रेम की निश्छल कथा सुनने को मिले । इस दर्द को भूलकर हम पलायनवाद-पलायनवाद चिल्लाते हैं । निराला सदा स्पष्ट रहे हैं :

हमें जाना है जग के पार
जहाँ नयनों से नयन मिले,
ज्योति के रूप सहस्र खिले ।
सदा ही बहती नवरस धार—
वहीं जाना, इस जग के पार ।[३]

भोले-भाले पन्त स्वीकार करते हैं :

यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे, जग है जग का कंकाल ।
वृथा रे, वे अरण्य चीत्कार,
शान्ति सुख है उस पार ।।[४]

१—लहर, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १४ ।
२—आंसू, अष्टम संस्करण, पृष्ठ २४ ।
३—परिमल, सप्तमावृत्ति, पृष्ठ १०५ ।
४—पल्लव (परिवर्तन)

महादेवीजी अज्ञात देश से आने वाली मृदु झंकार सुनती हैं, जो करुण स्वरों में संसार के पागलपन का गान गाती हैं :

आकर जब अज्ञात देश से जाने कैसी मृदु झंकार,
गा जाती है करुण स्वरों में कितना पागल है संसार ।[1]

निराश रामकुमारजी जानते हैं कि इस जगत में फूल की आयु कितनी होती है इसलिए वे 'आकाश का सारा विस्तार' चाहते हैं, जो इस नश्वर जगत से हटाकर उन्हें अनश्वर गीत गाने की प्रेरणा दे सके :

जानता हूँ इस जगत में,
फूल की है आयु कितनी ।
और यौवन की उभरती,
सांस में है वायु कितनी ।।
इसलिए आकाश का विस्तार सारा चाहता हूँ ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ ।।[2]

छायावादी कवियों ने अपने असफल प्रेम की वेदना को चाहे स्वतन्त्र रूप से व्यक्त किया हो चाहे प्रतीकों के माध्यम से, वह अत्यन्त स्वाभाविक एवं हृदय-द्रावक है और उसकी स्वाभाविकता तथा हृदय-द्रावकता उसकी सम्पन्न अनुभूति का द्योतन करती है । यदि छायावादी सृष्टा अत्यधिक निराश न होकर जायसी के समान कहता :

यह तन जारों छार के कहौं कि पवन उड़ाव ।
मकु तेहि मारग उड़ि परे कन्त धरें जहं पाव ।।[3]

यां सूर के स्वरों में घोषणा करता :

ऊधौ प्रीति न मरन विचारे ।
प्रीति पतंग जरै पावक परि जरत अंग नहिं टारै ।।
प्रीति परेवा उड़त गगन चढ़ि गिरत न आप सम्हारे ।
प्रीति मधुप केतकी कुसुम बसि कंटक आपु प्रहारै ।।

१—कवि भारती, पृष्ठ ४४६ ।
२—कवि भारती, पृष्ठ ४६५ ।
३—जायसी-ग्रन्थावली, पृष्ठ १५५ ।

प्रीति जानु जैसे पय पानी जानि अपनपौ जारे ।
प्रीति कुरंग नादरस, लुब्धक तानि-तानि सर मारे ।[१]

और आशा या प्रेम की शक्ति का परिचय देता :—

ऊधौं बिरहौ प्रेम करै ।
ज्यों बिनु पट गहै न रंगहि पुट गहे रसहि परै ।
जौ आवौं घट दहत अनल तनु तो पुनि अमिय भरै ।।
जौ धरि बीज देह अंकुर चिरि तौ सत फरनि फरै ।
जो सर सहत सुमट सम्मुख रन तौ रविरथहि सरै ।।
सूर गोपाल प्रेम पथ जल तैं कोउ न दुखहिं डरै ।[२]

या मीरा का सा सम्पूर्ण समर्पण स्वीकृत करता :—

ऊभ्यां ठाढी अरज करूँ छूं करतां करतां भोर ।
मीरां रे प्रभु हरि अबिनासी देस्यूं प्राण अकोर ।।[३]

या घनानन्द के समान विश्वासपूर्वक प्रेम के प्रति पूरी आस्था दिखलाकर कह पाता :—

हीन भयें जल मीन अधीन कहा कछु मो अनुलानि समाने ।
नीर सनेही को लाय कलंक निरास हुवे कायर त्यागत प्रानै ।।
प्रीति की रीति सु क्यों समझे जड़ मीत के पानि परै को प्रमानै ।
या मन की जु दशा घनआनन्द जीव की जीवनि जान ही जानै ।।[४]

तो उसका विरह स्वाभाविकता, गम्भीरता, उदारता एवं पवित्रता का संगम हो जाता; जायसी, सूर, मीरा, घनानन्द के स्तर का हो जाता, क्योंकि उसके पास उच्च स्तर की कला-विभूति विद्यमान थी । तब उसे 'उस पार' जाने की आवश्यकता प्रतीत न होती, उसके प्रतीक भी कृतकृत्य हो जाते । पर ऐसा नहीं हो पाया । कारण स्पष्ट है, छायावादी सृष्टा न तो मिलन से ही पूर्णतः परिचित है, (फलस्वरूप) न विरह से । उसके विरह में व्यापकत्त्व तो है, पर घनत्त्व नहीं । घनत्व विरह के तल पर पहुँचने पर आता है और विरह के तल पर पहुंचने पर प्रेम-पारस सारे व्यथा-लोह को अपने स्पर्श से कांचन बना देता है । छायावादी सृष्टा ने भी वेदना में

१—भ्रमरगीतसार (१२१)
२—भ्रमरगीतसार (१७५)
३—मीराबाई की पदावली (५)
४—घनानन्द ग्रन्थावली (४)

प्रसन्न, सन्तुष्ट चिर होने की बात कही है, एक नहीं अनेक बार, पर इतना स्पष्ट है कि उसका यह कथन निराशाजन्य है, उत्साहजन्य नहीं, फलतः वह एक ओर तो वेदना के प्रति उत्साह प्रकट करता है, दूसरी ओर 'उस पार' या 'वहाँ' या 'अज्ञात देश' की चर्चा भी करता चलता है। [यदि छायावादी सृष्टा घनानन्द के समान पूर्णतः अनुरक्त या जायसी, सूर, मीरा के समान पूर्ण विरक्त (प्रेम के कारण विरक्त !) होता, तो निस्सन्देह उसका विरह-काव्य पूरी शक्ति के साथ जायसी, सूर, मीरा, घनानन्द की परम्परा को आगे बढ़ा सकता। पर छायावादी विरह-सृष्टा न तो पूर्णतः अनुरक्त ही है, न पूर्णतः विरक्त ही है। पर हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि छायावादी विरह-काव्य निरा स्थूल या निरा अप्रसन्न ही है, हमारा कहना तो इतना ही है कि वह जायसी, सूर, मीरा और घनानन्द का सा उत्साहपूर्ण नहीं है।]

जहाँ कहीं छायावादी विरह-काव्य अपनी असफलता से मुक्त हुआ है, वहाँ उच्च कोटि का रस सञ्चार स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कामायनी की श्रद्धा का वियोग-वर्णन कवि को अभीष्ट नहीं है, फिर भी थोड़े-से शब्द हृदय-स्पर्शी हैं, और 'सरोज-स्मृति' तो छायावादी करुण विरह-वेदना का चरमोत्कर्ष है ही। निराला का विरह अन्यत्र भी सन्तुलित एवं स्पष्ट है, फलतः अधिक गम्भीर। परिमल की स्मृति, उसकी स्मृति या स्वप्न स्मृति कवितायें भावावेश में चाहे आँसू, पल्लव की उच्छ्वास एवं 'आँसू' शीर्षक कविताओं और महादेवी के पदों से पीछे हों, पर सरलानुभूति में निस्सन्देह आगे हैं, अधिक स्पष्ट हैं और जब विधवा के मिलन-सुख-संपृक्त अतीत को कवि उसके विरह-विगर्ठणायुक्त वर्तमान से समन्वित कर उपस्थित करता है, तब तो आँखें बरस ही पड़ती हैं :

> हैं करुणा रस से पुलकित इसकी आँखें,
> देखा, तो भींगी मन मधुकर की पांखें।
> मृदु रसावेश में निकला जो गुञ्जार,
> यह और न था कुछ था बस हाहाकार।

यह स्मृति-संपृक्त चिर-विरह अपनी चार पंक्तियों में विश्व की किसी भी सर्वश्रेष्ठ कविता की करुणा के सामने सगर्व खड़ा हो सकता है।

पंत का विरह मिलन की आकस्मिकता एवं अपूर्णता के कारण ग्रन्थि और पल्लव में तो युवकोचित भावावेश से निष्पन्न है, पर कालान्तर में प्राणक्षेत्र का

१—परिमल (विधवा)

विषय बन जाता है। प्रसाद 'आँसू' में ही लगभग सब कुछ कह चुके थे। महादेवीजी एक ही तान कहाँ तक छेड़े रहतीं? अतः उनका मौलिक सृजन एक लम्बे अर्से से बन्द है। रामकुमार के जीवन की 'प्रथम हार' समय, समीक्षा तथा एकांकी-कला के प्रवाह में विस्मृत नहीं, तो विस्मृतप्रायः हो चुकी है।

अपनी कुंठा से छायावादी विरह-काव्य इतना अधिक प्रभावित है कि दो-एक स्थलों को छोड़कर (वह भी केवल निराला में) उसका ध्यान दाम्पत्य-विरह (कामायनी में तो केवल संयोगवश कुछ पंक्तियाँ अपने आप आ गई हैं, कवि का उधर कोई खास उत्साह नहीं है) या विराट जीवन क्षेत्र की अन्य वियोग-स्मृतियों की ओर उसका ध्यान गया ही नहीं, न वैयक्तिक स्तर से, न सामाजिक स्तर से। कुछ आगे-पीछे अन्य कवि ऐसे सुन्दर विरह-चित्रों से साहित्य को सम्पन्न कर रहे थे, जिनका सम्बन्ध शुद्ध दाम्पत्य-प्रेम, पशु-पक्षियों या गुरुजनों से था। कुछ उदाहरण देने उचित होंगे। चार पंक्तियों में गोपालशरणसिंह ने दाम्पत्य-विरह की आसन्न स्थिति का जो मर्मस्पर्शी स्मृति-चित्र खींचा है, वह अपनी सरलता एवं स्वाभाविकता में भी पर्याप्त प्रभावशाली है :

प्रात प्रयाण कथा सुन के, उसके मुख पंकज का मुरझाना।
और जरा हँस के उसका, अपने मन का वह भाव छिपाना॥
किन्तु अचानक ही उसके, वर लोचन में जल का भर आना।
सम्भव है न कभी मुझको, इस जीवन में वह दृश्य भुलाना॥[1]

श्री सियारामशरण गुप्त की एक 'स्मृति' साधारण भाषा-परिधान में होने पर भी अनुभूति की विभूति की हृदयस्पर्शी प्रतीक है :

कई बरस पहले निदाध में दिन-पट उठता ज्यों ही,
एक विहग मेरे कानों में सुधा छिड़कता त्यों ही।
मेरे श्रवण-नयन खुल जाते नयी चेतना पाकर,
शैया पर से उसे देखता, वह बैठा है आकर।
मेरे छज्जे के ऊपर, ऊँचा उसका स्वर है,
अंग-अंग में सुन्दर शोभन वह घन कृष्ण भ्रमर है।
कुछ क्षण यहाँ कूककर फिर वह उस छज्जे पर जाता,
उमंग-उमंग कर उसी कंठ की मधुधारा लहराता।
उड़ जाता फिर कहाँ न जाने किस सुदूर के वन में,

१—कवि भारती, पृष्ठ १५४।

मेरा दिन मह-मह हो उठता उस रव-रस सिंचन में।
नित का एक यही उसका क्रम दीर्घ समय तक चलता,
आई उषा, और कोटर से वह आ गया उछलता।
नहीं जानने पाता, उसका वास कहाँ है किन में,
किस निर्जन तट में किस तरु पर रहता है वह दिन में।
कहाँ गया, कैसा है अब वह, उत्सुक हूँ उसके हित,
काम धाम कुल गोत्र आदि से हूँ मैं अज्ञ अपरिचित।
दिया स्वात्य रस उसने मुझको परभाषी भी होकर,
उसकी स्मृति से आज अचानक मेरा स्वर है सुन्दर।[1]

'सनेही' ने युग-गुरु आचार्य द्विवेदी के चिर-वियोग पर आँसू बहाकर मानो हिन्दी-भाषा-भाषियों के चिन्ता-विमूक स्वरों को अभिव्यक्ति प्रदान की थी :

एक ही भारती-भक्त था भावुक, राष्ट्र की भाषा का सच्चा पयम्बर।
विराता में विधि दूसरा था, तप त्याग विराग में जैसे दिगम्बर॥
बारहबाट किया अड़तीस ने आ गया नन्दन जाने का नम्बर।
तूने दसों किया तू थी उनीस, तो क्यों बनी थी तू इक्कीस दिसम्बर॥[2]
स्वत्व का तत्व महत्व जताकर जीवन युद्ध में जान पै खेले।
सम्पदा की परवाह न की, विपदाएँ सही दुख शान से झेले॥
क्या कहिए गुरुता उनकी, गुरु के गुरु हैं जिनके हुए चेले।
मेले लगे जिन्हें देखने को, सुरलोक गए वही हाय! अकेले॥
सुरलोक में है इस लोक में भी, उनके यश की है पताका गड़ी।
जनता को जगा गए दे गये जोश, जता गये जीवन की हैं जड़ी॥
वचनावली से वे सरस्वती को हैं, पिन्हा गए मोतियों की सी लड़ी।
उनके ही वियोग में रोती पड़ी, जिनके बल से हुई हिन्दी खड़ी॥
जिसकी 'महावीरता' शंकरजी[3] ने सरस्वती के मिस से थी बखानी।

१—कवि भारती, पृष्ठ ३२२।

२—आचार्य द्विवेदी का देहान्त २१ दिसम्बर, १९३८ को हुआ था। प्रयाग में आचार्य द्विवेदी के सम्मानार्थ द्विवेदी-मेला लगा था। हिन्दी के किसी लेखक को अपने जीवन में शायद ही ऐसा सामूहिक अभिनन्दन प्राप्त हुआ हो जैसा उक्त मेले में द्विवेदीजी को प्राप्त हुआ था।

३—स्व० नाथूराम शर्मा 'शंकर' जिन्होंने 'सरस्वती' की स्तुति अपनी एक कविता में की थी।

जिसका वर पाके गणेशजी[1] हुए थे प्रताप-ध्वजा[2] जग में फहरानी ।
जिसने कि पता दिया मैथिली[3] का अब भी जिसका न कहीं कोई सानी ।
जिसके बल से बढ़ा आगे त्रिशूल[4] सनेही वही हा ! विभूति बिलानी ।।
सुध आती है तो फटता उर है, पहरों लगी अश्रु-झड़ी रहती है ।
उनके प्रिय व्यंग्य विनोद को सोच के शोक-घटा उमड़ी रहती है ।।
लिखें भी तो दिखायें सुनायें किसे, बस लेखनी मौन पढ़ी रहती है ।
सुरलोक से प्रेरणा देंगे हमें, यही सामने आशा खड़ी रहती है ।।

('करुणा-कादम्बिनी' में 'हा ! द्विवेदीजी !' शीर्षक कविता)

एक श्रेष्ठ शिष्य की अपने महान् गुरु के वियोग में लिखी गई यह उत्कृष्ट कविता भाषा तथा रस की दृष्टि से 'दीवाने-गालिब' की याद दिलाती है, भले ही इसका आकार एवं प्रभाव का क्षेत्र उससे छोटा है । पर छायावादी कवि की विरह-दृष्टि अपने वैयक्तिक असफल प्रेम के घेरे से बाहर नहीं जा सकी । एकाध स्थलों को छोड़कर उसने समाज तो दूर, पारिवारिक वियोग अथवा चिर-वियोग पर भी कुछ नहीं कहा ।

छायावादी कवियों द्वारा रचे गए प्रबन्धों में भी थोड़ा-बहुत विरह-वर्णन हुआ है । इस विषय पर विचार करने के पूर्व हम यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि छायावादी कवि का भावावेगमय जीवन प्रबन्ध के सृजन से अधिक अनुकूल नहीं रहा । प्रसाद इस युग की हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं । किन्तु कामायनी का सर्वश्रेष्ठत्व केवल इसीलिए है कि उसकी समता का कोई दूसरा प्रबन्ध इस युग में अब तक नहीं लिखा गया है । कवि की दृष्टि से हरिऔध, रत्नाकर, मैथिलीशरण और निराला प्रसाद की समता कर सकते हैं । गुप्तजी को हिन्दी ने अपना युग-प्रतीक माना भी है । पर उनकी कोई एक कृति कामायनी की समता पर नहीं खड़ी हो सकती । बस यही कामायनी के सर्वश्रेष्ठत्व का कारण हैं अन्यथा कामायनी के दोष उसके गुणों से भी ज्यादा प्रभावशाली हैं । हम श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' के समान कामायनी की भाषा को असमर्थ नहीं मानते,[5] क्योंकि आवश्यकता से

१—अमर शहीद स्व० गणेश शंकर विद्यार्थी, जो आचार्य के शिष्यों में थे ।
२—प्रताप (पत्र) श्री गणेश शंकर विद्यार्थी ने कानपुर से निकाला था ।
३—मैथिलीशरण गुप्त 'महावीर' ने त्रेता में भी मैथिली का पता दिया था ।
४—सनेहीजी का एक उपनाम, जो राष्ट्रीय कविताओं में प्रयुक्त होता है ।
५—पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण ।

अधिक मधुमयी होने पर भी उसमें भावानुकुलता, गुरुता एवं सीमित प्रसन्नता विद्यमान है। जहाँ तक भाषा की सरलता का सम्बन्ध है, पैराडाइज लास्ट जैसे अमर महाकाव्य अपनी कठिनता के बावजूद भी विश्व-साहित्य का शृङ्गार कर रहे हैं। पर कामायनी की कमजोरियाँ और भी अधिक गहरी हैं। उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि के विषय में आचार्य शुक्ल तो केवल इतना ही कह गये हैं : 'इसमें उन्होंने (प्रसाद ने) अपने प्रिय आनन्दवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बना दी है।[1] पर कामायनी के दर्शन में जीवन-संघर्षों से परास्त मनु का श्रद्धा के पीछे-पीछे चलकर कैलास के ऊपर अखण्ड आनन्द पाना मानो छायावाद का कुण्ठाओं के सामने घुटने टेककर पलायन का प्रदर्शन करना है। जब प्रसाद 'ले चल वहाँ भुलावा देकर' गाते हैं, तब प्रगीत के छोटे-से घेरे में यह उनकी वैयक्तिक अनुभूति प्रतीत होती है, जो मानव की प्रिय-वस्तु है। पर जब कामायनी जैसे छायावाद के उपनिषत् में वे संघर्षों से हारे मनु को श्रद्धा के पीछे चलाकर इस जगत के कोलाहल से दूर शान्ति-लोक में आनन्द प्रदान करते हैं, तब निस्सन्देह वे पलायन का प्रदर्शन करते हैं। प्रतीक-विधान और कथा-क्रम के कारण मानव-मन एवं आदि-मानव के साथ ऐसा करना उपयुक्त नहीं है। इस निवृत्तिवादी दर्शन के कारण 'कामायनी' संसार-साहित्य के प्रथम श्रेणी के काव्यों में स्थान नहीं पा सकेगी। प्रसाद का यह दर्शन उनकी असफल प्रणयकुण्ठा से प्रेरित हुआ है, जिसमें मनु वस्तुतः उनके मन के रूप में अन्ततोगत्वा प्रकृति के सारे सुख, भोग, कांति, पराग, अप्सराएँ इत्यादि प्राप्त कर पूर्ण सन्तुष्ट हो जाते हैं। कवि नरेन्द्र शर्मा ने मानो कामायनी को ही लक्ष्य करके कहा है—'यह स्वाभाविक है कि जब व्यक्ति को अपनी प्रवृत्तियों के साधन बाहर समाज में नहीं मिलते, तब वह जैसे बाहर ठोकर खाकर अपने लिए अपने ही भीतर कामनाजन्य भावनाओं और कल्पनाओं का एक संसार बना लेता है।[2] प्रसाद का प्रतीक-विधान भी बहुत उदास नहीं है। जो मन चित्त और जड़ की ग्रन्थि माना जाता रहा है, जिसके विषय में कबीर 'मोरा मन रामहि चाहि' तक कहते हैं, उसे दो पक्षों में बाँटकर निकम्मा-सा दिखलाना अपुष्ट दृष्टिकोण है। श्रद्धा को मन का एक छोर और इड़ा को दूसरा छोर दिखाने से ये दोनों चरित्र भी छोरों पर रहकर अधूरे बन गये। आचार्य शुक्ल यहाँ पर कितना गम्भीर सत्य प्रकट करते हैं—'श्रद्धा जब कुमार को लेकर प्रजा-विद्रोह के उपरान्त सारस्वत नगर में पहुँचती है, तब इड़ा से

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६३१।

२—प्रवासी के गीत, वक्तव्य, पृष्ठ ४।

कहती है कि 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय ?' क्या श्रद्धा के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता था कि 'रस पगी रही पायी न बुद्धि !' जब दोनों अलग-अलग सत्ताएँ करके रखी गयी हैं, तब एक को दूसरी से शून्य न कहना, गड़बड़ में डालता है।[1] हमारे विचार से मनु का नायकत्व 'कामायनी' का सबसे कमजोर पहलू है। मनु मनोविज्ञान की आड़ में श्रद्धा एवं इड़ा के हाथों कठपुतली के रूप में चित्रित किये गये हैं, यह तो है ही, सबसे बड़ा कायरतापूर्ण दौर्बल्य मनु तब दिखलाते हैं जब वह अपनी गर्भिणी प्रिया को असहाय छोड़कर वासना पूर्ति के फेर में भाग जाते हैं। जन-रंजनार्थ राम ने सीता को निर्वासित करने का जो अपराध किया था, वह सोद्देश्य था, कायरतापूर्ण न था। फिर भी 'रघुवंशम्' में कालिदास ने वाल्मीकि के माध्यम से उन पर क्रोध प्रकट किया। पर प्रसाद ने मनु की कायरता का कठोर प्रत्याख्यान भी नहीं किया। एक ओर 'पैराडाइज लास्ट' का आदिमानव अपनी प्रिया की महान् भूल (ईश्वर द्वारा वर्जित किये जाने पर भी ज्ञान-तरु का फल खाने) पर स्वयं भी ज्ञान-फल इसलिये खाता है कि जो सुख-दुःख होंगे, वे वह अपने जीवन-साथी के साथ झेलेगा, दूसरी ओर प्रसाद का आदिमानव अपनी गर्भिणी पत्नी को छोड़कर नल से भी अधिक कायरता दिखलाता हुआ भाग खड़ा होता है।[2] एक आदिमानव प्रेम की वेदी पर अमरत्व को भी ठुकरा देता है, एक आदिमानव वासना की क्षुद्रता पर प्रेम को ठुकराता है। यदि कोई कहे कि मनु मन के प्रतीक हैं, तो बात और भी ज्यादा चिंत्य हो जाती है। संसार के किसी श्रेष्ठ कवि ने आज तक मानव-मन को इतने कायर रूप में चित्रित नहीं किया। मनु धीरोद्धत राम, कृष्ण इत्यादि के सामने नगण्य प्रतीत होते हैं, वे धीरललित प्रिया-प्रेमी उदयन या धीरोद्धत मेघनाद, रावण या धीरशान्त बुद्ध, महावीर इत्यादि के समक्ष भी नहीं ठहर पाते। भारतीय प्रबन्धों में मनु का जैसा कायर एवं कामुक नायक नहीं मिलेगा। बुद्धि और हृदय-पक्षों के समन्वय की जो दार्शनिक निष्पत्ति

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६३९।

२—नल का दमयन्ती को वन में अकेली छोड़कर भागने की कायरता संस्कृत, हिन्दी तथा अन्य भारतीय साहित्यों में चित्रित होती आ रही है। फिर भी दमयन्ती गर्भिणी न थी। नल के जोड़ की कायरता विश्व-साहित्य में शायद न थी। धर्मराज कहे जाने वाले युधिष्ठर ने द्रोपदी का अपमान वचन की ओट में या सत्य की आड़ में होने दिया था। किन्तु प्रसाद के मनु ने इस क्षेत्र में नल को भी पछाड़ दिया। नल कारण-विशेष से भगे थे, मनु केवल वासना की तृप्त करने के लिये भागते हैं।

'कामायनी' में प्राप्त होती है, वह यूरोप तथा अन्यत्र एक साधारण विचारधारा के रूप में बहुत समय से प्रचलित वस्तु है, कोई नवीन वस्तु नहीं।

हमारा यह मतलब कदापि नहीं है कि 'कामायनी' कुल मिलाकर कोई साधारण कलाकृति है। अपने उत्कृष्ट मनोवैज्ञानिक ज्ञानाभास, अपने ललिततम काम एवं लज्जा सर्गों, अपने महान् प्रकृति-चित्रणों, अपने विराट भाषा-सामर्थ्य एवं यत्र-तत्र मनोहर प्रतीक विधानों तथा रहस्य-संकेतों से युक्त यह अमर काव्य इस युग की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति है, रीतिकाल या वीरगाथाकाल की भी कोई इतनी सुन्दर कृति नहीं मिलती। निस्सन्देह मानस, सूर-सागर एवं पद्मावत के बाद कामायनी हिन्दी-साहित्य का एक अत्यन्त श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य है।

छायावाद का दूसरा प्रबन्ध-काव्य कहा जाने वाला ग्रन्थ है निराला का 'तुलसीदास'। हिन्दी की दृष्टि से काव्य के निम्नलिखित भेद करने पड़ेंगे :
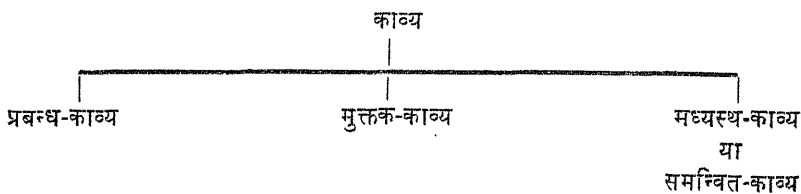
मध्यस्थ-काव्य अथवा समन्वित-काव्य वे कहे जा सकते हैं, जो न तो पूर्णतः मुक्तक ही होते हैं, न पूर्णतः खण्डकाव्य ही। उनमें दोनों के कुछ-कुछ तत्त्व विद्यमान रहते हैं। कवितावली, गीतावली, उद्धवशतक, तुलसीदास इत्यादि ऐसे ही काव्य हैं, जिनमें कवि कथा की स्वीकृति निमित्त मात्र के लिए करता है और अपने प्रियतर भावों को स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्त करता है। वस्तुतः तुलसीदास ऐसा ही काव्य है। पर यदि उसे खण्ड-काव्य भी माना जावे तो अपने तीव्रतम अनुभूति-सामर्थ्य, अपने दुर्दमनीय भाषा-प्रवेग एवं मनोवैज्ञानिक क्षमता के कारण वह आसानी से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ खण्ड-काव्यों में से है।

उक्त दोनों काव्यों में थोड़ा-बहुत विरह-वर्णन भी हुआ है। कामायनी में मनु को श्रद्धा को छोड़कर चले जाने पर श्रद्धा का मनु के प्रति तथा इड़ा सर्ग में मनु का श्रद्धा के प्रति विरह-भाव कवि ने थोड़े-थोड़े शब्दों में व्यक्त कराया है। पहले प्रसाद 'आँसू' को कामायनी का एक सर्ग बनाना चाहते थे। बाद में अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को श्रद्धा की अनुभूतियाँ बनाना उन्हें समीचीन नहीं लगा और 'आँसू' 'कामायनी' से भिन्न बना रहा। पाठक को मनु के चले जाने पर श्रद्धा का

विरह-निवेदन न मिलना खटक सकता है। इड़ा सर्ग में श्रद्धा-विहीन मनु की विरह-दशा का वर्णन कवि ने 'जब गूँजी यह वाणी तीखी कम्पित करती अम्बर अकूल, मनु को जैसे चुभ गया शूल', के स्थान पर यदि मनु के ही माध्यम से किया होता, तो मनु का चरित्र कुछ उज्ज्वल एवं स्वाभाविक हो जाता। पर कवि ने ऐसा नहीं किया। संक्षेप में विरह-वर्णन की अनिवार्य आवश्यकता होने पर भी कामायनी में विरह-वर्णन नहीं के बराबर हुआ है। 'तुलसीदास' के स्रष्टा का मूल प्रयोजन महामानव तुलसीदास के अमर संस्कारों की सुसंस्कृत झाँकी प्रस्तुत करना है। स्पष्ट है कि उसे अपने छोटे से क्षेत्र में विरह-वर्णन के लिए अधिक अवकाश नहीं है। फिर भी रत्नावली के अपने भाई के साथ चुपके-से चले जाने के बाद घर लौटे तुलसीदास के प्रिया-विरह का अत्यन्त संक्षिप्त, पर बड़ा ही प्रभावशाली, वर्णन महाकवि ने किया है।

पंत का 'ग्रन्थि' शीर्षक काव्य खण्ड-काव्य माना जाता है, पर वस्तुतः वह है मध्यस्थ-काव्य ही, जिसमें कथा तो निमित्त मात्र के लिए है, कवि का प्रधान लक्ष्य प्रेम, विरह, वेदना इत्यादि भावों का वर्णन करना है। यह कृति समय की दृष्टि से द्विवेदी-युग की रचना है, पर जिस प्रकार 'पल्लव' के अनेक गीत समयानुसार द्विवेदी-युगीन रचनाएँ होने पर भी छायावादी कविता के अन्तर्गत माने जाते हैं, उसी प्रकार एक अच्छी दूरी तक ग्रन्थि भी छायावाद से सम्बन्धित कृति कही जा सकती है। कम से कम उसकी स्वच्छन्दता तो द्विवेदी-युग की रचना-प्रणाली से उसे भिन्न कर ही देती है। ग्रन्थि एक विरह-काव्य है। काव्य में ऐसे अनेक स्थल हैं जो ग्रन्थ को प्रथम पुरुष में रचे जाने के अतिरिक्त भी कवि की सहानुभूति घोषित कर देते हैं। आचार्य शुक्ल ने इसे 'असफल प्रेम की ग्रन्थि'[१] कहा है। श्री शचीरानी गुर्टू ने इस ग्रन्थि को बिलकुल खोल दिया है "पंत द्वारा रचित ग्रन्थि भी कवि की व्यक्तिगत प्रणय-वेदना की सहज उदभूति है, जिसमें विफल प्रणयोन्माद और प्राणों की अजान तड़पन छिपी है। कवि का हृदय दुःख-दग्ध और चिन्ताओं से जर्जर है, तो भी आन्तरिक पीड़ा ज्वलित आभा बनकर फूट पड़ती है।"[२] इसकी कथा बहुत थोड़ी है "एक दिन नौका-दुर्घटना के बाद कवि होश में आने पर जब आँखें खोलता है, तब देखता है कि शशिकला-सी एक बाला अपनी जाँघों पर उसका सर रखे व्यग्र बैठी है। पहली दृष्टि ही प्रणय-सम्बन्ध को दृढ़ कर देती है। उसी समय कठोर

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६४१।

२—श्री शचीरानी गुर्टू द्वारा सम्पादित 'सुमित्रानन्दन पंत : काव्यकला और जीवन-दर्शन' शीर्षक ग्रन्थ में उन्हीं का निबन्ध 'पंत और शैली', पृष्ठ ३५३।

हृदये, प्रिये, नाथ इत्यादि तक मामला बढ़ जाता है, यानी प्रेम हो जाता है। पर अन्ततोगत्वा प्रिया का ग्रन्थि-बन्धन दूसरे के साथ हो जाता है और कवि ज्ञान, समाज इत्यादि पर रुष्ट होता हुआ प्रेम, विरह, वेदना इत्यादि पर अपने निश्छल उद्‌गार प्रकट करता है। ग्रन्थि की कथा चलते उपन्यासों या बाजार में प्रचलित कहानियों जैसी भले ही हो; प्रथम दर्शन के बाद ही प्रिया, नाथ इत्यादि का प्रयोग अस्वाभाविक भले ही हो; ज्ञान जैसे विषयों पर बीस वर्षीय असफल प्रेमी का क्रोध बालोचित भले ही हो, पर उसमें निराश प्रेमी-हृदय की मर्मवेधक प्रणय-पीड़ा का जो तलस्पर्शी वर्णन हुआ है, वह असाधारण रूप से सफल है। ग्रन्थ अतुकान्त है। पंत ने लिखा है 'अतुकान्त का सौन्दर्य-स्वरूप तब (मई, सन् १९२०, जब ग्रन्थि की रचना हुई) मेरे हृदय में प्रस्फुटित नहीं हो पाया था। अपने साहित्य में उन दिनों जैसा ढंग प्रचलित था, उसी के अनुरूप मैंने भी किसी तरह अपनी इस कहानी को बेतुका निवास पहना दिया।[1] पर सन् १९१३ में अपने साहित्य में 'प्रिय-प्रवास' जैसा अतुकांत काव्य लिखा जा चुका था। अतः ग्रन्थि के बेतुके लिबास के लिए उस समय के स्थान पर कवि को अपनी बीस वर्ष की आयु या सहज मुक्तक-प्रकृति का कारण देना ही सत्य होता, यह सन्देह-रहित है। प्रास-हीन सृष्टि का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण निदर्शन पंतजी कालान्तर में भी (अभी तक) प्रस्तुत नहीं कर सके। हमारा मत है कि पंत की प्रतिभा प्रास-पूर्ण सृष्टि के ही अनुकूल है, प्रसाद और महादेवी के समान। प्राण-हीन सृष्टि की महत्ता अभी हरिऔध एवं निराला तक ही सीमित है। ग्रन्थि में स्वच्छन्द काव्य-धारा का साधारण से अच्छा रूप दृष्टिगोचर होता है। विरह-वर्णन बहुत सुन्दर हुआ है। नये उपमा विधान, जो आगे चलकर छायावादी काव्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता बने, ग्रन्थि में बड़े मनोहारी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। एकाध आलोचकों ने 'ग्रन्थि' के खण्ड-काव्यत्व की समता निराला के तुलसीदास से की है, जो अनुचित है। ग्रन्थि पंत की प्रौढ़ कृति नहीं है, यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। पर वह पंत के उज्ज्वल भविष्य का संकेत अपने उस रूप में भी करती है और इसी कारण हमारे काव्य में उसका एक सीमा तक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ग्रन्थि की कथा तो निमित्त-मात्र है,[2] काव्य का प्रमुख लक्ष्य प्रेम, स्मृति, उन्माद, आह, अश्रु एवं सर्वोपरि, वेदना के उद्‌गार

१—'ग्रन्थि का विज्ञापन।

२—आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास (पृष्ठ ६४१) में लिखा है : कहानी तो एक निमित्त मात्र जान पड़ती है, वास्तव में सौन्दर्य-भावना की अभिव्यक्ति और आशा, उल्लास, वेदना, स्मृति इत्यादि की अलग-अलग व्यंजना पर ही ध्यान जाता है।

प्रकट करता है। यदि पंत इस विषय पर एक लम्बी मुक्तक कविता लिखते, तो उन्हें अधिक सफलता मिलती, क्योंकि उन्हीं की नहीं, सभी छायावादी कवियों की प्रतिभा मुक्तक या प्रगीत में अधिक सफल हुई है, जिसका कारण उनका प्रणय-संघर्ष-युक्त जीवन है, जो उच्चकोटि के प्रबन्धों की अपेक्षा शैली, कीट्स, रवीन्द्र या बायरन के समान मुक्तक में ही अधिक सफल हो सकता था, अतः हुआ है। प्रबन्ध में उन्हें जो सफलता मिली है, वह प्रबन्ध में भी मुक्तक-तत्त्व की स्थिति के कारण है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम मुक्तक-काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य को अधिक उत्कृष्ट स्थान प्रदान करते हैं।[1] मुक्तक के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ जैसी प्रतिभाएँ अपने युग में ही हुई हैं। हमारा तात्पर्य इतना ही है कि छायावादी कविता का वर्णन-विषय-क्षेत्र एवं उसके स्रष्टाओं का जीवन मुक्तक के अधिक अनुकूल था।

छायावादी काव्य से सम्बद्ध रहस्यवादी विरह-सृजन कुण्ठा-मूलक होने पर भी अत्यन्त ललित एवं मर्मस्पर्शी है। कभी-कभी मानव की रागमयी प्रवृत्तियाँ पराकाष्ठा पर पहुंचकर विराग का स्वरूप ग्रहण कर लेती हैं। लौकिक प्रेम भी कभी-कभी पवित्र बनकर अलौकिक रूप ग्रहण करने लगता है। सच पूछा जाये तो लौकिकता का उदात्तत्व ही पारलौकिकता है। इस दृष्टि से छायावाद का रहस्यवादी-सृजन कभी-कभी रहस्याभास से ऊपर उठकर उच्च स्तर का रहस्य-वैभव-सा प्रदर्शित कर देता है, भले ही ऐसा बहुत कम हुआ हो। पंत का ध्यान रहस्य की ओर कम गया है, गया भी है तो प्रेम सम्बन्ध से दूर रहा है। प्रसाद, निराला एवं महादेवी में ऐसी सुन्दर रहस्य-विभूति यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती हैं :—

चंचला स्नान कर आवे
चंद्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी [2]।

१—यों इतना तो स्पष्ट है कि विश्व के मुक्तक-काव्य क्षेत्र में जब तक कुछ होमर, वर्जिल, दान्ते, मिल्टन, फिरदौसी, वाल्मीकि, व्यास कालिदास या तुलसीदास नहीं होंगे, तब तक वह प्रबन्ध की समता नहीं कर पायेगा। शेक्सपियर और गेटे के अमरत्त्व के प्रतीक मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध के ही अधिक निकट हैं। मुक्तक की सीमाएँ अभी वर्डस्वर्थ, शेली, रवीन्द्र, गालिब, उमर ख़ैयाम, निराला, पंत इत्यादि तक ही पहुँच पाई हैं।

२—आँसू, अष्टम् संस्करण, पृष्ठ २४।

शीतल समीर आता है
कर पावन परस तुम्हारा
मैं सिहर उठा करता हूं
बरसा कर आँसू धारा।[1]

× × ×

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ?
इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस जलधि रहे चिर चुंबित
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।[2]

× × ×

एक दिन थम जायगा रोदन
तुम्हारे प्रेम अंचल में,
लिपट स्मृति बन जायेंगे कुछ कन
कनक सींचे नयन जल में।[3]

अद्वैतवादी महाकवि निराला की आत्मा निम्नलिखित पंक्तियों में अपने प्रियतम को 'एकाकी न रमते' का स्मरण कराती हुई वैभव का प्रतीकत्त्व करती है:—

याद रखना इतनी ही बात,
नहीं चाहते मत चाहो तुम।
मेरे अर्ध्य, सुमन दल, नाथ।

× × ×

मैं न रहूंगी जब सूना होगा जग,
समझोगे तब, यह मंगल कलरव सब।
था मेरे ही स्वर से सुन्दर जगमग,
चला गया सब साथ।[4]
नाश भी हूं मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी।
तार भी आघात भी झँकार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी।[5]

१—आँसू, अष्टम संस्करण, पृष्ठ ३६।
२—लहर, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १०।
३—परिमल (निवेदन)
४—गीतिका, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३०।
५—कवि भारती, पृष्ठ ४५१.।

तू जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलनामय।
मधुर मिलन में मिट जाता तू,
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल।
मदिर मदिर मेरे दीपक जल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर।[1]

'मधुर मिलन में मिट जाना' और 'उसकी उज्ज्वल स्मित' में घुल, खिल जाना, दीपक और दिवस के सहज सम्बन्ध के साथ-साथ केवल्य की सूचना भी देता है, जहाँ पहुंचकर प्राण 'अहं ब्रह्मास्मि' कहते हुए 'एकमेवाद्वितीयम्' का अनुभव करता है। केवल्य का अर्थ है, 'केवलता' या 'एक होना'। निराला और महादेवी का गम्भीर अध्ययन कहीं-कहीं रहस्य के क्षेत्र में बहुत गहराई से बोलता है, और ऐसे स्थलों पर रवीन्द्र के रहस्यवाद से तनिक भी पीछे नहीं रहता। यह तो सभी जानते हैं कि आधुनिक कविता का रहस्यवाद, चाहे वह रवीन्द्र में हो या प्रसाद, निराला, महादेवी, रामकुमार, में साधना की नहीं, अध्ययन की उपज है, पर उसका मूल्य अपने क्षेत्र में असाधारण है। साधना अधिक गम्भीर भले ही हो, पर वह अध्ययन जैसी विविधमुखी तथा व्यापक नहीं रहती। साधना में घनत्व अधिक होता है, अध्ययन में व्यापकत्व। ठीक यही अन्तर कबीर, दादू, मीरा और रवीन्द्र, निराला, महादेवी के रहस्यवाद में है। कबीर, दादू, मीरा में सत्यता अधिक है; रवीन्द्र, निराला, महादेवी में कल्पना अधिक है। कबीर, दादू, मीरा में स्पष्टता अधिक है; रवीन्द्र, निराला, महादेवी में कला अधिक है। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों वर्गों के कवियों की महत्ता असंदिग्ध है।

छायावादी स्रष्टा को विरही-हृदय प्राप्त है और यदि वह कुण्ठा-निराशा में मुक्त सृजन कर पाता तो जायसी, सूर, मीरा, घनानन्द की सीमाओं का आसानी से स्पर्श कर लेता, क्योंकि उसे वेदना की विभूति किसी से कम नहीं मिली। कुण्ठा-निराशा ने विरह में प्रसन्नता बहुत कम रहने दी है, फिर भी अपने क्षेत्र में प्रसाद और महादेवी का विरह-काव्य आधुनिक भारतीय काव्य में बेजोड़ है, इस युग की हिन्दी में सर्वश्रेष्ठ है। इस कथन के प्रमाण उसके वे स्वर हैं, जो वाणी से नहीं, अश्रु-कणों से अपना प्रभाव स्पष्ट करते हैं :—

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती

१—कवि भारती, पृष्ठ ४६०।

क्यों हाहाकर स्वरों में
वेदना असीम गरजती ।
आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी
टकराती बिलखाती सी
पगली सी देती फेरी ।
क्यों व्यथित व्योमगंगा सी
छिटका कर दोनों छोरों
चेतना तरंगिनि मेरी
लेती है मृदुल हिलोरें ।

× × ×

मेरे क्रन्दन में बजती
क्या वीणा ? जो सुनते हो ?
धागों से इन आँसू के
निज करुणा-पट बुनते हो ?
रो-रो कर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करती जानी अनजानी ।

× × ×

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला ।[1]

× × ×

एक बार भी यदि अजान के
अन्तर से उठ आ जातीं तुम,
एक बार भी प्राणों की तम
छाया में आ कह जातीं तुम
सत्य हृदय का अपना हाल
कैसा था, अतीत यह, अब यह

१—आँसू ।

बीत रहा है कैसा काल ।
मैं न कभी कुछ कहता,
बस तुम्हें देखता रहता ।
चकित थकी, चितवन मेरी रह जाती
दग्ध हृदय के अगणित व्याकुल भाव
मौन दृष्टि की ही भाषा कह जाती ।
× × ×
मौन दृष्टि सब कहती हाल,
कैसा था असीन मेरा, अब
बीत रहा है कैसा काल ।
क्या तुम व्याकुल होतीं ?
मेरे दुख पर रोतीं ।
× × ×
मेरे नयनों में न अक्षु प्रिय आता
मौन दृष्टि का मेरा चिर अपनाव
अपना चिर निर्मल अन्तर दिखलाता ।[1]

निराला का पौरुष उनकी विरह-वेदना में भी बोलता है । पर इन पंक्तियों में जो अनिर्वचनीय वेदना है, वह वाणी से नहीं, नेत्रों से ही बोल सकती है । जब वाणी भाव विशेष को अभिव्यक्त करने में अपने को असमर्थ पाती है, तब नेत्र बोलते हैं :—

मैं न कभी कुछ कहता,
बस, तुम्हें देखता रहता ।

और निराला के 'चिर निर्मल अन्तर' से अब सभी परिचित हो चुके हैं । उन्हें अपने युग का सरहपा नहीं, आधुनिक काल का कबीर कहा जाना चाहिए; विद्रोही, पौरुष का प्रतीक, संघर्ष नेता; हिन्दी का हरक्युलीस; विषपान कर अमरत्व को चरणों पर गिरवाने वाला शिव, प्रिया से भी यही कह सकता है :—

मेरे नयनों में न अश्रु प्रिय, आता
मौन दृष्टि का मेरा चिर अपनाव
अपना चिर निर्मल अन्तर दिखलाता ।

इन स्वरों में विरह-गान गाने वाला निराला यदि विरह के क्षेत्र में आगे बढ़ता, तो निस्सन्देह अद्वितीय विरह-काव्य-सृष्टि कर सकता । कुण्ठित भवभूति ने

१—परिमल (प्रिया के प्रति)

विश्व-साहित्य में अपना स्थान केवल आत्म-बल के ही कारण बनाया है। पर निराला ने विरह के क्षेत्र का स्पर्श मात्र किया है।

पंत का भावावेश कितना विगलित है, उन्हीं जैसा सुकुमार, उन्हीं जैसा निश्छल :—

> आह, यह मेरा गीला गान
> वर्ण-वर्ण है उर की कम्पन,
> शब्द-शब्द है सुधि की दंशन
> चरण-चरण है आह,
> कथा है कण-कण करुण अथाह,
> बूँद में है वाड़व का दाह।[1]

यहाँ प्रसंगवश 'उर की कम्पन' और 'सुधि की दंशन' के कारण पर भी कुछ विचार कर लेना उचित होगा। पंत के लिंग-परिवर्त्तन को कुछ विद्वानों ने निरंकुशता कहा है। एकाध कवियों ने उनकी नारी-जैसी कोमल प्रकृति को इसका कारण माना है। पर पंत की निरंकुशता बहुत दिन हुए समाप्त हो चुकी है, फिर भी ऐसा लिंग-परिवर्त्तन जारी है। स्पष्ट है कि केवल निरंकुशता के कारण पंत ने शब्दों में लिंग-परिवर्तन नहीं किया, अन्यथा वे प्रौढ़ावस्था में ऐसा न करते। नारी-जैसी कोमल प्रकृति इसका एक कारण है। पर सबसे बड़ा कारण है उनके जीवन में नारी के प्रेम की प्राप्ति का अभाव। इसी कारण वे प्रकृति के नाना रूपों में 'वीणा' से लेकर 'अतिमा' तक लगातार नारी के दर्शन करते आ रहे हैं, लिंग-प्रयोग में नारी-ने कट्य-सम्बद्ध मनोनुकूल परिवर्तन करते आ रहे हैं।[2] इस हृदय-द्रावक कारण के सामने उनकी स्वच्छन्दता क्या ठहरेगी ? फिर उनके ऐसे परिवर्तनों ने भावों को कोमलता भी प्रदान की है। नारी का भाव-स्पर्श भी अनुभूति एवं अनुमति के शिशु शब्द को कोमलता प्रदान करता है।

छायावादी सृष्टायों में विरह की दृष्टि से महादेवी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। वैयक्तिक पीड़ा-वेदना का विगलित गान करके उन्होंने मीरा की परम्परा को अपनी

१—पल्लव (आँसू)

२—पंत ने स्त्रीलिंग शब्दों को भी यत्र-यत्र पुल्लिंग के रूप में प्रयुक्त किया है, पर ऐसा बहुत कम किया है और जहाँ किया भी है वहाँ सोत्साह नहीं किया। ऐसे प्रयोगों का कारण पुल्लिग शब्दों को स्त्रीलिंग के रूप में प्रयुक्त करने की ज्ञात या अज्ञात प्रतिक्रिया है।

परिस्थिति के अनुकूल आगे बढ़ाया है। अगाढ़ वेदना, अथाह पीड़ा, गम्भीर भावुकता और सफल अभिव्यक्ति उन्हें आधुनिक भारत की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री के रूप में सरलता से प्रतिष्ठित कर सकती है। मीरा को छोड़कर भारतीय साहित्य में महादेवी की समता करने वाली कवयित्री नहीं मिल सकती। समृद्ध अँग्रेजी साहित्य को भी इतना महान् नारी-हृदय कहाँ प्राप्त हुआ है? उन पर हिन्दी का गर्व सर्वतोरूपेण उचित है। गानों की एकरस तान उबा भले ही दे, पर अपने क्षेत्र में सूर और मीरा-जैसी सफलता से सम्पन्न है। विरह-वेदना की पराकाष्ठा के शत-शत स्पर्श महादेवी ने किये हैं। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे :—

फिर आयी मनाने साँझ
मैं बेसुध मानी नहीं।
मैं प्रिय पहचानी नहीं।
इन श्वासों का इतिहास
आँकते युग बीते,
रोमों में पर भर पुलक
लौटते पल रीते,
यह ढुलक रही है याद
नयन से पानी नहीं।
मैं प्रिय पहचानी नहीं।[1]
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना, इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली।
मैं नीर भरी दुख की बदली।[2]

आचार्य शुक्ल ने जिसे महादेवी की 'पीड़ा का चसका'[3] कहा है, वह उनके हृदय की शीतल ज्वाला है और उसे वही समझ सकता है जिसे उस ज्वाला में जलने का अवसर प्राप्त हुआ है। अन्यथा :—

हेरी म्यां दरदे दिवाणी म्हारां दरद न जाणे कोय।
घायल री गत घायल जान्यो, हिवडों अगण संजोय।

१—कवि भारती, पृष्ठ ४५३।

२—कवि भारती, पृष्ठ ४५५।

३—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६६५।

जौहर की गत जौहरी जाणै, क्या जान्यां जिण खोय।[1]

छायावादी स्रष्टा विरह-जन्य निराशा का गान ही अधिक करता है, विरह के सुखद तथा उज्ज्वल पक्ष पर उसकी सहज आस्था नहीं है। अनेक स्थानों पर उसने ऐसी आस्था दिखलाने का प्रयास किया है, पर ऐसा लगता है जैसे यह प्रयास प्रयास ही है, विसर्गजात तान नहीं। प्रसाद गाते हैं :—

ज्यों-ज्यों उलझन बढ़ती थी
बस शान्ति विहंसती बैठी
उस बन्धन में सुख बंधता
करुणा रहती थी ऐंठी।[2]

पन्त कहते हैं :—

किन्तु मैं सब भाँति सुख सम्पन्न हूं
वेदना के इस मनोहर विपिन में।[3]

स्वयं प्रश्न करते हैं :—

विरह है अथवा वह वरदान।[4]

महादेवी गाती हैं :—

विरह की घड़ियाँ हुईं अति मधुर मधु की यामिनी सी।[5]
मिलन का मत मान ले मैं विरह में चिर हूँ।[6]

पर इन महान कलाकारों का राशि-राशि सृजन यह स्पष्ट कर देता है कि ऐसे कथन या तो मन को सन्तुष्ट करने के लिए हैं या निराशा-जन्य। निराला अवश्य बहुत दूर तक सत्य कहते हैं, पर वे विरह के क्षेत्र में अधिक दूर तक गए ही नहीं हैं :—

तप वियोग की चिर ज्वाला से
कितना उज्ज्वल हुआ हृदय यह,

१—मीराबाई की पदावली (७०)
२—आँसू, अष्टम संस्करण पृष्ठ २५।
३—ग्रन्थि, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ५०।
४—पल्लव (आँसू)
५—सांध्यगीत, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३४।
६—सांध्यगीत, ,, संस्करण, पृष्ठ ३४।

पिष्ट कठिन साधना शिला से
कितना पावन हुआ प्रणय यह ।[1]

पर जिस उच्चस्तर की मर्यादा का परिचय छायावाद का विकल विरही स्रष्टा देता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वेदना के इन स्वरों में मानव की सहज प्रेम-पिपासा तृप्त भले ही न हो, उदात्त अवश्य होती है। यही कारण है कि जब इस उदात्तता से हट कर बच्चन, भगवतीचरण, नरेन्द्र और अंचल ने अपने गीत गाए, तब जनता ने उन्हें दुलार तो दिया, पर श्रद्धा नहीं। श्रद्धा अब तक हरिऔध, गुप्त, प्रसाद, निराला, पंत, एवं महादेवी को ही मिल रही है। तृप्ति को हम प्यार ही देते हैं, श्रद्धा नहीं। श्रद्धा तो उदात्त को ही देते हैं। यदि छायावादी स्रष्टा की वेदना-जन्य उदात्तता जायसी, सूर, मीरा जैसी होती तो जनता की श्रद्धा भक्ति का रूप अवश्य ग्रहण करती। कविता का सच्चा तथा स्थायी मूल्यांकन आलोचक की तर्क-सम्पन्न बुद्धि नहीं, जनता की भाव-भरी आत्मा करती है।

अतंतोगत्वा हम छायावादी विरह-काव्य में प्राचीन एवं नवीन भाव एवं शैली-सम्पन्नता पर थोड़ा-सा विचार करेंगे। विरह-वर्णन में कवि प्रकृति के नाना रूपों की सहायता से अपनी अनुमति को चिरकाल से सशक्ति करता आ रहा है। कालिदास, जायसी, सूर, तुलसी, घनआनन्द इत्यादि अनेक भारतीय विरह वर्णनकारों ने प्रकृति के मनोनुकूल दर्शन कर अपने विरह-चित्रों में नव-नव रंग भरे हैं। सभी साहित्यों में ऐसा हुआ है। काव्य में मानव-संवेदना को उत्तेजित करने में प्रकृति का योग सर्वाधिक रहा है। छायावादी कवि ने भी अपने विरह-वर्णन में संयोग-स्मृति या वियोग वेदना के प्राचीन प्रतीकों का प्रशंसनीय प्रयोग किया है, साथ ही उनमें नयापन भी भरा है। इस कारण से छायावादी काव्य हिन्दी की परम्परा से भिन्न नहीं होने पाया और साधारणीकरणगत मूल्य की दृष्टि से भी उत्कृष्ट स्तर का उतरा है। कुछ उदाहरण दे देना अनुचित न होगा :—

परिचय राका जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से
ऊपर से किरणें आतीं
मिलती हैं गले लहर से।

× × ×

हिलते द्रुम दल कल किसलय

१—परिमल (प्रिया के प्रति)

देती गलबाहीं डाली
फूलों का चुम्बन, छिड़ती
मधुपों की तान निराली।

× × ×

चुम्बन अंकित प्राची का
पीला कपोल दिखलाता
मैं कोरी आँख निरखता
पथ, प्रात समय सो जाता।
श्यामल अंचल धरणी का
भर मुक्ता आँसू कन से
छूंछा बादल बन आया
मैं प्रेम प्रभात गगन से।[1]
देखता हूँ जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को,
नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर
सरकती है सत्वर,
अकेली आकुलता सी प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात
ठहर जाते हैं पग अज्ञात।
देखता हूँ जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद कला,
तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अन्तर्धान,

१—आंसू।

न जाने तुमसे मेरे प्राण
चाहते क्या आदान ।[1]
जलते नभ में देख असंख्यक
स्नेहहीन नित कितने दीपक,
जलमय सागर का उर जलता,
विद्युत ले घिरता है बादल ।
बिहंस बिहंस मेरे दीपक जल ।[2]

(महादेवी)

आह, वह कोकिल न जाने
क्यों हृदय को चीर रोयी ?
एक प्रतिध्वनि सी हृदय में
क्षीण हो हो हाय, सोयी ।
किन्तु इससे आज मैं कितने तुम्हारे पास आया ।
यह तुम्हारा हास आया ।[3]

(रामकुमार)

पंत पहले ही गा चुके थे :—

शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन का
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणों ! गाओ, पवन वीणा बजा ।
पर हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ किसी निर्जन विपिन में बैठकर
आँसुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख सी ।
देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृसित चातक वारि को,

१—पल्लव (आँसू)
२—कवि भारती, पृष्ठ ४५६ ।
३—कवि भारती, पृष्ठ ४६४ ।

वह मधुप बिन्ध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो हृदय, रो ।[1]

छायावादी काव्य-परम्परा में नूतनता का समावेश चाहता था, जो प्रत्येक श्रेष्ठ काव्य सदा चाहता है और यदि नहीं चाहता तो मृत घोषित कर दिया जाता है। परम्परा के प्रति जान बूझकर उपेक्षा का भाव छायावाद ने बहुत कम दिखलाया है। प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी, रामकुमार इत्यादि का काव्य नवीन होते हुए भी गांव में आया नया-नया ऊँट[2] कदापि नहीं है और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण छायावादी कवियों की भाषा, अलंकार-योजना तथा सबसे बढ़कर उनकी अनुभूति है।

छायावादी कवियों में नूतन प्रयोगों के प्रति विशेष सचेष्ट पन्त ने छंद के चरण-प्रवाह को भावानुकूल रूप प्रदान करने में भी बड़ी सफलता पायी है। विरह के क्षेत्र में भी उन्होंने ऐसे प्रयोग किए हैं। जो क्रिया विलम्ब से होती है, उसके लिए अपेक्षाकृत लम्बा चरण, जो क्रिया शीघ्र सम्पन्न होती है, उसके लिए अपेक्षाकृत मोटा चरण। यह प्रयास सचमुच अत्यन्त उत्कृष्ट है, जो काव्य में अधिक से अधिक अपनाया जाना चाहिए। पर छुटभैयों के वश का यह कार्य नहीं। यह उसी भावनामय हृदय से संभव है जो भाव के तल में पूरा नहीं तो, काफी दूरी तक जरूर गया हो। दो उदाहरण देखिए, दोनों 'पल्लव' की 'आँसू' शीर्षक उत्कृष्ट कविता के हैं :—

अकेली आकुलता सी प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात।

मृदु आघात करने में कुछ समय लगता है। पर कृश गात पर आघात होने पर सिहरने में क्या विलम्ब लग सकता है? अतः चरण छोटा है, जो समय की छोटाई का सूचक है। अज्ञात रूप से ही आकुलता के आघात के कारण पग देर तक ठहरे रहते हैं, अतः चरण भी बढ़ा है।

इसी प्रकार :—

अचल पलकों में मूर्ति संवार
पान करता हूँ रूप अपार,

१—ग्रन्थि, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३५-३६।
२—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा इन्दौर सम्मेलन में किया गया व्यंग्यात्मक प्रयोग।

पिघल पड़ते हैं प्राण,
उबल चलती है दृगजल धार ।[1]

अचल पलकों में मूर्ति संवारने में विलम्ब लगता है, अपार रूप का पान करना तो और भी दीर्घकाल तक चलता रहता है, पर सहसा प्राणों के पिघलने में कोई विलम्ब नहीं लगता, फिर, दृगजल धार का उबल-उबल कर चलना तो बहुत देर तक चलेगा ही । चारों चरण पूर्णतः भावानुमोदित गति से प्रेरित हैं ।

पन्त की भावुकता प्रायः सदा पवित्रता से प्रेरित होकर चली है । जब 'अभिशाप' का कवि 'जीवन की प्रथम हार' के कारण विकल होकर गाता था :—

प्रेम करना है पापाचार,
प्रेम करना है पाप विचार,
जगत के दो दिन के थे अतिथि !
प्रेम करना है पापाचार ।
प्रेम के अंतराल में छिपी
वासना की है भीषण ज्वाल,
उसी में जलते हैं दिन रात,
प्रेम के बन्दी बन बिकराल ।
प्रेम में है इच्छा की जीत,
और जीवन की भीषण हार,
न करना प्रेम, न करना प्रेम,
प्रेम करना है पापाचार ।

तब कुछ आगे-पीछे 'पल्लव' का कवि अपनी असफलता को भोले-भाले संदेह के साथ अपनी वैयक्तिक सीमाओं के भीतर (किसी व्यापक सिद्धान्त के रूप में नहीं) इस प्रकार प्रकट करता था :—

कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज
हाय क्या गंगाजल की धार ।

१—स्वर्गीय अवध उपाध्याय ने अपने 'नवीन पिंगल' नामक छोटे से ग्रन्थ में इन पंक्तियों का सुन्दर विवेचन किया है ।

छायावादी कवि एक सफल सृष्टा के समान अपनी वेदना को विराट अभिव्यक्ति-क्षेत्र में सजाता रहा है; प्रकृति उसे अपनी भावना की क्रीड़स्थली लगती रही है, काव्य उसकी अभिव्यक्ति। विरह के प्रति छायावाद का दृष्टिकोण उन शब्दों में प्रकट हुआ है :—

> वियोगी होना पहला कवि
> आह से उपजा होगा गान,
> उमड़कर आँखों से चुपचाप
> बही होगी कविता अनजान।

पुरानी पद्धति के एक आलोचक ने इस प्रवृत्ति को आदिकवि पर अपनी भावना स्पष्टतः लादना जैसा माना है। पर एक तो कवि ने यहाँ पहला कवि कहा है, आदि-कवि नहीं, दूसरे बाल्मीकि जब साहसिक जीवन त्याग कर तपस्वी के रूप में वन-भ्रमण कर रहे थे, तब वियोगी नहीं तो और क्या था? तमसा के तट पर पुष्पक बन में क्रौंच-वध के अवसर पर जब अज्ञात रूप से, बिना यह जाने ही कि वे विश्व-काव्य का आरम्भ करने जा रहे हैं, उनकी वाणी 'मा निषाद' इत्यादि के रूप में फूट पड़ी थी, तब तो वियोग-दुखी अवशिष्ट क्रौञ्च के हृदय में रमे वाल्मीकि वियोगी के भी वियोगी हो गए होंगे। इस स्थिति में कवि का उक्त मनोहर कथन मर्मस्पर्शी ही नहीं, गम्भीर भी है।

विरह के क्षेत्र में छायावादी कवियों ने छंद के लिए छंद, अलंकार के लिए अलंकार एवं कामदशाओं के लिए कामदशाओं का प्रयोग नहीं किया। ऐसा ठीक है। छंद तो कवि पर निर्भर है, पर अलंकार अभिनिवेश मुक्ति की दशा में कविता का निसर्गजात अंग है। अतः प्रमुखतः उपमा और रूपक इन दो अलंकारों का प्रयोग उसके द्वारा ज्ञात-अज्ञात दोनों रूपों में बड़ा भव्य हुआ है। अनुप्रास, उत्प्रेक्षा एवं अर्थान्तरन्यास भी कहीं-कहीं अपने आप आ गए हैं। मानवीकरण यत्र-तत्र स्वतः आया हुआ और कई स्थलों पर प्रयत्नपूर्वक लाया गया दृष्टिगोचर होता है। अन्य पाश्चात्य अलंकारों के प्रति छायावादी कवि का अधिक उत्साह दृष्टिगोचर नहीं होता। काम-दशाओं का जान बूझ कर वर्णन करना छायावादी कवि को इष्ट नहीं है, फिर भी उक्त दशाओं का मनोवैज्ञानिक मूल्य उन्हें विरह-क्षेत्र में सर्वत्र स्थान दिला भी देता है। वैयक्तिक विरह-काव्य में जड़ता तथा मरण के वर्णन का प्रश्न नहीं के बराबर उठता है। प्रलाप, उन्माद और व्याधि के लिए भी वैयक्तिक कविता में कम ही अवकाश है। छायावादी कविता शुद्ध वैयक्तिक कविता है। अतः प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण इन कामदशाओं

का वर्णन उसमें नहीं मिलता। शेष दशाओं में अभिलाष (प्रिय मिलन की), चिन्ता (प्रिय के इष्टानिष्ट की), स्मृति (प्रिय तथा संयोग-सुख की), गुण-कथन (प्रिय के गुणों का वर्णन), में से चिन्ता की ओर छायावादी कवि का ध्यान प्रायः नहीं गया। अभिलाषा, स्मृति, गुण-कथन इन तीन दशाओं का वर्णन छायावादी कविता में खूब हुआ है। अभिलाषा एक स्वाभाविक एवं सर्व-व्यापी कामदशा है। प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी में उसके बड़े मनोहारी वर्णन हुए हैं। प्रेम से डरने वाले रामकुमार को भी इस स्वाभाविक भूख से दूर रहने में सफलता नहीं मिली। स्मृति कामदशाओं की आत्मा है, जिसके बिना विरह-वर्णन संभव ही नहीं है, और यदि कदाचित संभव हो भी, तो निष्प्राण होगा, क्योंकि बिना आत्मा के करीर शव कहलाता है, शरीर नहीं। स्मृति विरह की आत्मा है। सभी छायावादी कवियों ने स्मृति के मर्मस्पर्शी वर्णन किए हैं। प्रसाद ने स्मृति में प्रिय के नख-शिख का वर्णन भी बड़ा सुन्दर किया है, जिसमें पुराने अप्रस्तुत विधान को नवीन रूप में प्रस्तुत करने में उन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। गुण-कथन की ओर प्रसाद और महादेवी की रुचि नहीं है। कारण स्पष्ट है, प्रसाद ने मधुराका की मुस्कान वेला में जब प्रिय को पहले-पहल देखा था, तब वह उन्हें परिचित-सा लगा अवश्य, पर वह सब छलना थी और महादेवी 'प्रिय पहचानी नहीं' है। गुण-कथन बिना परिचय के नहीं हो सकता। निराश एवं पंत के प्रिय परिचित रहे हैं, भले ही उन्हें उनकी प्राप्ति न हो पायी हो, अतः उन्होंने, विशेष कर पंत ने, गुण-कथन खूब किये है। प्रसाद जिस प्रकार उर्दू या अधिक से अधिक सूफियों के ढंग पर प्रिय के लिए पुलिङ्गवाची शब्द का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार कहीं-कहीं प्रिय के छलिया, मायावी एवं जड़तापूर्ण भावनाओं वाले रूप पर भी कुछ न कुछ कह देते हैं। पर उनका यह कहना बड़ा ही शिष्ट एवं मर्मस्पर्शी रूप लेकर प्रकट हुआ है, उर्दू की तरह खीझे आशिक के माशूक के लिए गाली-गलौज जैसा रूप लेकर नहीं। ज्ञात या अज्ञात रूप से प्रसाद पर उर्दू का प्रभाव एकाध स्थान पर 'छिल छिल कर छाले फोड़े' के रूप में भी पड़ा है।

छायावादी कवि विरह-वेदना की जो प्रशंसा करता है, उस पर हम सम्यक् प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ केवल इतना कह देना आवश्यक है कि द्विवेदी-युगीन विरह-वेदना समाज सेवा में पर्यवसित होती है या कम से कम ऐसा उद्‌बोधन अवश्य करती है, छायावादी विरह-वेदना आदि से अन्त तक शुद्ध वैयक्तिक रहती है। स्वभावतः वह अधिक काव्यात्मक है। प्रायः वह 'सुन्दरम्' में केन्द्रित है। द्विवेदी-युगीन विरह-वेदना शिवम् में केन्द्रित है। कारण स्पष्ट है। द्विवेदी-युगीन काव्य सामाजिक चेतना का उद्देश्य लेकर चलता है, छायावादी काव्य वैयक्तिक चेतना का। इस क्षेत्र में वह घनानन्द के विशेष निकट है।

छायावादी विरह-काव्य हिन्दी के विरह-काव्य में अपना शाश्वत महत्त्व बना चुका है। कुण्ठामूलक होने के कारण वह उस सर्वोच्च कोटि का भले ही न हो, जिस कोटि का विरह-काव्य जायसी, सूर, तुलसी एवं मीरा का है, पर अनुभूति की तीव्रता और इससे भी बढ़ कर अभिव्यक्ति की वंकिमता तथा सौम्यता में वह किसी से पीछे नहीं है। व्यापकत्व की दृष्टि से छायावादी विरह-काव्य सूर, तुलसी, हरिऔध और मैथिलीशरण के विरह-काव्य की समता भले ही न कर सके (ऐसा स्वाभाविक ही है क्योंकि छायावादी विरह-काव्य वैयक्तिक है), पर अपनी द्वन्द्वात्मकता एवं भाषा-सौष्ठव में वह किसी से भी पीछे नहीं है। छायावदी विरह-काव्य हिन्दी ही नहीं, समग्र भारतीय साहित्य में गर्व के साथ खड़ा हो सकता है। हिन्दी में विरह-वर्णन करने वाले महाकवियों मे जायसी, सूर, मीरा, घनानन्द हरिऔध और मैथिलीशरण के बाद दो अक्षय ज्योति-स्तम्भ प्रसाद और महादेवी (विरह की दृष्टि से महादेवी और प्रसाद) छायावादी विरह-काव्य की ही देन हैं। आगे चलकर बच्चन, नरेन्द्र, अंचल और नीरज ने जो विरह-काव्य रचा वह अपनी समग्रता (अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों पक्षों की महानता एवं सम्पन्नता) में छायावादी विरह-काव्य, विशेषतः प्रसाद और महादेवी के विरह-काव्य, के स्तर तक नहीं पहुँच सका। बच्चन की अनुभूति अधिक स्वाभाविक, व्यापक एवं सरल है, पर अभिव्यक्ति-पक्ष की दृष्टि से प्रसाद या महादेवी से बच्चन की तुलना नहीं हो सकती। नरेन्द्र, अंचल और नीरज की निराशा, अतृप्त-पिपासा और मृत्युवाद अपना महत्त्व रखते हुए भी प्रसाद और महादेवी के विराट् विरह-शरीर के समक्ष नहीं खड़ा हो सकता। स्पष्ट है कि छायावादी विरह-काव्य कुण्ठा-जन्य होने पर भी अपना महान स्थान बना चुका है, तथा सदैव बनाए रखेगा।

सन् १९३५ से ही छायावादी अति वैयक्तिकता की वह प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होने लगी, जो प्रत्यालोचना से आगे बढ़ सृजन की नव्यता का रूप लेकर प्रकट होने को उत्सुक थी। प्रगतिवाद के आदिकवि निराला प्रतिक्रिया से बहुत अधिक नहीं हिले, पर पंत का नेतृत्व-प्रेमी हृदय इधर झुका। पुराने खेमे के भगवतीचरण और नरेन्द्र ने प्रगति को अपनाया। बाद में अंचल, सुमन इत्यादि भी इधर मुड़े। कुछ नये कवि भी इधर चले और प्रगतिवादी काव्य-युग का नामकरण हो गया। कुकुरमुत्ता, युगवाणी, ग्राम्या, भैंसागाड़ी, करील इत्यादि ग्रन्थ प्रगतिवादी युग की सार्थकता के कतिपय प्रतीक हैं। कुछ ही बाद में प्रयोगवाद पनपा। और अब प्रगति-प्रयोग का सम्मिलित युग चल रहा है, जिसमें कुछ कवि केवल प्रगतिवादी हैं, कुछ केवल प्रयोगवादी, कुछ प्रगति-प्रयोग-वादी।

१—चक्रवाल, पृष्ठ ५४-५५।

सन् १९४० के कुछ पूर्व ही छायावाद की प्रतिक्रिया काव्य में सरलता तथा निरलंकरण का सन्देश लेकर आयी। संक्षेप में छायावादोत्तर-युग की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं।

(१) सीमित तथा कल्पना-प्रधान छायावादी अनुभूति-क्षेत्र की प्रतिक्रिया के कारण अनुभूति के व्यापक तथा यथार्थमूलक क्षेत्र की अवतारणा। मैथिलीशरण, सियारामशरण, निराला, दिनकर इत्यादि का अनुभूति-क्षेत्र पहले से ही बहुत दूर तक व्यापक तथा यथार्थ प्रधान था। इस प्रवृत्ति ने पंत, भगवतीचरण, नरेन्द्र, अंचल इत्यादि की अनुभूति को भी व्यापकोतर तथा यथार्थप्रधान क्षेत्र प्रदान किया। आज के अज्ञेय, भवानीप्रसाद, गिरिजाकुमार इत्यादि में अनुभूति की विराटता तथा यथार्थता का गुण अत्यन्त सशक्त रूप में विद्यमान है।

(२) छायावादी भाषा की दुरूहता की प्रतिक्रिया में भाषा कीं सरलता के प्रति जागरूकता, जो कहीं-कहीं कृत्रिमता के दोष से युक्त होने पर भी स्तुत्य है। 'स्वर्ण-धूलि' की भाषा अत्यन्त प्रसन्न एवं सशक्त है। कुरुक्षेत्र, भैंसागाड़ी, करील, लाल चूनर, बावरा अहेरी, धूप के धान आदि की भाषा खड़ी-बोली के भाषा रूप को बहुत उदार तथा विशद बना चुकी है।

(३) छायावादी कवियों में एकाध ने अपनी गजगामिनी कविता-सुन्दरी को अनलंकृत रूप में ही सुशोभित होने की बात तो कही, पर वस्तुतः वे अलंकारों को 'भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार'[1] मानते रहे। यह समीचीन भी नहीं था। पर सन् १९४० में पंत ने ही घोषणा की :—

> तुम वहन कर सको जग जन में मेरे विचार,
> वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।[2]

अलंकारों के प्रति छायावादोत्तर युग अधिक सचेष्ट नहीं रहा। इसका यह अर्थ नहीं कि उसने जाने-अनजाने अलंकारों का प्रयोग नहीं किया, इसका अर्थ केवल इतना है कि अलंकारों पर छायावादी युग या उससे पूर्व के युगों में जो विशेष ध्यान दिया जाता था, वह नहीं दिया गया। प्रयोगवादी ग्रुप में कुछ कवि ऐसे अवश्य हैं, जो प्रयोग का वैसा ही सम्मान करते हैं, जैसा अलंकार का केशवदास करते थे। इस दृष्टि से वे अलंकारवादियों के नवीन संस्करण हैं। पर अधिकतर कवि अब अलंकार का मोह नहीं रखते। यह अच्छा ही है। यों तो अलंकारों के प्रति

१—पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ ३२।

२—आधुनिक कवि (२), 'वाणी' शीर्षक कविता, पृष्ठ १०।

उदासीनता का भाव इस सदी के प्रारम्भ में ही आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ के द्वारा प्रकट किया जा चुका था, जिन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित किया था 'मेरा गान अलंकार मुक्त हो चुका है। उसे आभरण एवं सज्जा का गर्व नहीं। प्रिय, अलंकार हमारे मिलन में बाधक होते हैं, वे तुम्हारे और हमारे बीच में व्यवधान बन जाते हैं, उनकी छनछन-झनझन में तुम्हारे कोमल प्रेम-स्वर श्रुति-गोचर नहीं होते। प्रियतम ! तुम्हारी दृष्टि के समक्ष मेरा गर्व सलज्ज होकर समाप्त हो जाता है। हे श्रेष्ठतम महाकवि, मैं तुम्हारे चरणों के समीप बैठा हूँ। केवल इतना ही चाहता हूँ कि एक साधारण बंशी की भाँति जीवन को सीधा-साधा बना सकूँ और उसके समस्त स्वरों में तुम्हारा संगीत भर सकूँ'।[1] पर अलंकारों का मोह अधिकांश कवियों ने सन् १९४० के आस-पास ही छोड़ा। जहाँ तक अलंकार का अनुभूति के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, उसका अस्तित्व अनिवार्य है, रहा है, सदा रहेगा। पर कृत्रिम अलंकरण का युग अब समाप्त हो चुका है।

छायावादोत्तर युग के विरह-वर्णनों में भी उक्त तीनों प्रवृत्तियों के स्पष्ट दर्शन होते हैं। बच्चन, नरेन्द्र, अंचल इत्यादि के विरह-निवेदन यथार्थ की प्रेरणा के फल हैं, कल्पना की प्रेरणा के फल नहीं, भले ही यह यथार्थ कई कोटियों का हो। विरह को नारी के घेरे से बाहर लाने का प्रयास तो कम ही हुआ है, क्योंकि अधिकांश कवियों का अनुभूति-जगत् विराट नहीं है, पर विरह की सरलता एवं स्वाभाविकता के प्रति अधिक से अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। निराला तथा पंत ने भी छायावाद-युग के बाद जो विरह-गान गाये हैं, उनमें कुछ सरलता विद्यमान है, कहीं-कहीं यथार्थ के प्रति ललक भी। अधिकांश कवियों के विरह-निवेदन कला की दृष्टि से साधारण या साधारण से कुछ अधिक होने पर भी, अनुभूति की दृष्टि से बड़े प्रभावशाली हैं। ऐसे कवियों में बच्चन, अंचल और नरेन्द्र शर्मा प्रमुख हैं। नीरज की कविता में विरह-वेदना का आधिक्य है, पर वह वेदना पुष्ट नहीं है, क्योंकि

१—My song has put off her adornments. She has no pride of dress and decoration. Ornaments would mar our union, they would come between thee and me, their jingling would drown thy whispers.

My poet's vdnity dies in shame before thy sight. O master poet, I have sat down at thy feet. Only let me make my life simple and straight, like a flute of reed for thee to fill with music.

(Gitanjali, 7)

वे 'हर बार' आदमी होने के कारण आदमी से प्यार करने का 'अपराध' करते हैं।[1] यहाँ एक तो आदमी अभिधा का नहीं, व्यंजना का विषय है, दूसरे आदमी का हृदय इतना बड़ा विज्ञान कभी नहीं बना पाया कि वह हर बार गम्भीरता के साथ प्यार कर सके। इसीलिए उनकी आत्मा अपराध शब्द की अभिव्यक्ति में झिझकी नहीं। चिर-विरही बलवीरसिंह 'रंग' के विरह-गान अत्यन्त प्रभावशाली हैं। सुमित्राकुमारी, विद्यावती मिश्र इत्यादि कवयित्रियों के विरह-गान अनुभूति की सत्यता से पूर्ण होने के कारण मर्म को छूते हैं। अज्ञेय, गिरिजाकुमार, भारतभूषण, रघुवीरशरण, केदारनाथ, नर्मदाप्रसाद खरे, गोपालसिंह नेपाली, आरतीप्रसाद सिंह, कीर्ति चौधरी इत्यादि अनेक नये-पुराने कवियों ने भी विरह-गीत गाये हैं, पर विरह उनके सृजन का प्रमुख अंग नहीं है। पत्र-पत्रिकाओं में कभी-कभी सम्पादक की जाति या शिष्य-शिष्या वर्ग के रचयिताओं के 'इधर से जो निकल गयी, उसी पे हम मचल गए' या 'इधर से जो निकल गया उसी पे मैं मचल पड़ी'—सिद्धान्त से अनुप्राणित विरहाभास से भरी कविताएँ तथा गीत भी प्रकाशित होते रहते हैं, और सच्ची अनुभूति से प्रेरित मार्मिक कविताएँ तथा गीत भी। पर मार्मिक कविताओं और गीतों का मूल्य अधिकतर अस्थायी ही रह पाता है, क्योंकि हिन्दी में कविता-पुस्तकें अब या तो श्रेष्ठ वर्ग से सम्बन्धित लोगों की छपती हैं या दल से सम्बन्धित लोगों की। कतिपय सम्पन्न कवि प्रकाशक भी बन चुके हैं, और बहुत से रूपों में अपनी कविता तथा विचार छापते रहते हैं। उनकी बात और है। पर अनेक नये श्रेष्ठ कवि कवि-सम्मेलनों के कण्ठवाद, मनोरंजनवाद, सम्पादनवाद, वादवाद, दलवाद इत्यादि बहुमूल्य सिद्धान्तों से अपरिचित होने तथा श्रेष्ठ-वर्ग और प्रकाशक-वर्ग की अनुकम्पा की अप्राप्ति के कारण निराश होकर दूसरे रास्ते भी पकड़ने को विवश होते हैं। और इन वादों से परिचित लाभान्वित लोगों में से अधिकांश का साहित्य जिस रूप में बाजारों को भर रहा है, यह हिन्दी-साहित्य के इतिहास का सबसे दयनीय रूप है। रीतिकाल में भी कवियों की ऐसी बाढ़ न आयी थी जैसी अब आ गई है। अनुमानतः इस समय छोटे-बड़े पाँच सहस्र कवि हिन्दी-कविता के भण्डार को भरने में जुटे पड़े हैं। इनमें से कुछ दर्जन तो महाकाव्यकार हैं। 'कामायनी' के बाद हिन्दी में महाकाव्यों की जैसी बाढ़ आयी है, वैसी संसार-साहित्य के इतिहास में पहले कभी नहीं आयी थी। प्रत्येक प्रबन्ध काव्य 'महाकाव्य' बन गया है और ऐसे महाकाव्य का महत्त्व इस बात में रहता है कि उसमें कितने सर्ग हैं, कितने पृष्ठ हैं, सबसे बढ़कर

१—बस यही अपराध मैं हर बार करता हूँ
आदमी हूँ आदमी से प्यार करता हूँ।

(विभावरी)

उसका मूल्य कितना है। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक अहिन्दी प्रदेशों में भी रहा है और वहाँ उसे इन महाकाव्यों के पीछे अनेक बार निरुत्तर रह जाना पड़ा है। पर हिन्दी-काव्य-भण्डार को भरने वाले अधिकांश उत्साही 'कवि' और 'महाकवि' यह नहीं देख रहे कि वे कैसा भर रहे हैं वे सिर्फ इसी से सन्तुष्ट हैं कि वे कुछ भर रहे हैं। सरकारी क्षेत्रों में पुरष्कार का राजनैतिक हथकण्डा इस 'भरती' को अपना वरदहस्त बड़ी उदारता से प्रदान कर रहा है, और 'आचार्यों' 'महाकवियों' तथा 'नेताओं' की प्रस्तावनाएँ उसकी मूल्य-वृद्धि कर रही हैं। नेताओं ने अब ज्यादा जोश के साथ साहित्य में प्रवेश किया है। जवाहरलाल, गोविन्दबल्लभ पन्त और डाक्टर कालूलाल श्रीमाली, साहित्य अकादेमी, नागरी प्रचारिणी सभा और राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के प्रधान बन साहित्य की सेवा भी कर रहे हैं। प्रत्येक कवि और महाकवि विरह पर भी लिखता है, चाहे कारण जो भी हो। 'महाकवि' तो विरह-वर्णन आवश्यक भी मानता है। इस स्थिति में यदि खड़ीबोली के समग्र विरह-काव्य पर विस्तृत प्रकाश डाला जाये, तो चार बड़ी-बड़ी जिल्दें सार्थक हो सकती हैं। हमारा क्षेत्र सीमित है। अतः हम केवल उन्हीं विरह-वर्णनों पर विवेचन प्रस्तुत करेंगे, जिनमें नवीनता या प्रभावशालिता या कुछ-बहुत मर्मस्पर्शी अंश विद्यमान हैं।

छायावादोत्तर युग के विरह-वर्णनों में प्रेम की पवित्रता, आस्था तथा वेदना के सम्यक् मूल्यांकन की प्रवृत्ति कम नहीं हुई, पर प्रेम पर आदर्श के प्राधान्य तथा वेदना की स्तुति की द्विवेदीयुगीन एवं छायावादयुगीन प्रवृत्तियाँ बहुत कम अवश्य हो गयीं। ऐसा स्वाभाविक है, क्योंकि छायावाद के बाद की कविता यथार्थ प्रिय है, जिसका कारण युग है। पर यथार्थ रूप में भी मानव मानव ही रहता है। अपनी सारी प्यास के बावजूद भी इन्सान एक सन्तोष के प्रति भी आस्थावान रहता है। अतः अधिकांश कवियों ने विरह में यथार्थ के नाम पर चार्वाक या फ्रायड का सिद्धान्त-निरूपण नहीं किया। छिट-पुट रचनाओं में ऐसा कभी-कभी होता रहता है, पर ऐसी रचनाओं का विशेष मूल्य नहीं है। छायावाद के बाद विरह-वर्णन करने वाले प्रमुख कवि बच्चन, नरेन्द्र, अंचल और नीरज हैं। बच्चन की आत्मानुभूति-वेदना नितांत स्वाभाविक एवं गम्भीर है। नरेन्द्र की वेदना में करुणा का स्पर्श है, पर आशा एवं उत्साह की पूर्ण समाप्ति भी नहीं। अंचल की पिपासा अपने तरुणोचित्त चांचल्य के साथ भी अत्यधिक उद्दाम नहीं है। नीरज हर बार प्यार करते हैं, फिर भी सर्वत्र उच्छृङ्खल नहीं होते। कवयित्रियों में सुमित्रा और विद्यावती के विरह-गान नारी-सात्विकता तथा स्थिरता के प्रतीक ही हुए हैं। पंजाबी की कवयित्री अमृता प्रीतम का जैसा प्रेम अभी हिन्दी की कोई कवयित्री नहीं कर पायी। इसका कारण हिन्दी की अपनी संस्कृति है, जिसकी प्रेरणा का स्रोत तुलसी, सूर और मीरा हैं।

पर फ्रायडीय मनोविज्ञान के अनुकूल विरह में एन्द्रिय रसाभाव की तड़प भी इस युग की कविता में यत्र-तत्र प्रकट हुई है। इसे अस्वाभाविक तो नहीं कहा जा सकता, पर यह स्वाभाविकता का सबसे नीचे का सिरा है, इसमें संदेह नहीं। ऐन्द्रिय विकलता का वर्णन कालिदास जैसे महाकवियों ने भी किया है। पर इस ओर कम कवि ही मुड़े हैं, क्योंकि यह सर्वानुभूत स्थूल तत्त्व है, जिसके पीछे अधिक पड़ जाने सर कविता का स्तर गिर जाता है। मांसल प्रणय-व्यापार हेय नहीं है, क्योंकि मनुष्य मांस का ही बना है। पर केवल मांसल प्रणय स्तुत्य नहीं है, क्योंकि मनुष्य केवल मांस का ही नहीं है, आत्मा का भी है। अति-मांसल वियोग, विरह के सहज पथ का एक वैसा ही सिरा है जैसा दूसरा सिरा अत्यादर्शपूर्ण वियोग है। ऐसी कविताएँ अधिकतर तरुण कवि ही लिखते हैं, पर कभी-कभी प्रौढ़ कवि भी अज्ञेय के स्वरों में परम्परा में नवीनता जोड़ते हुए गा पड़ते हैं :

घिर गया नभ, ऊमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कंपित उरोजों पर झुका-सा
विशद श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नीलवक्ष
वज्र सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ सा।
आह मेरा श्वास है उत्तप्त
धमनियों में उमड़ आयी है लहू का धार
प्यार है अभिशप्त
तुम कहाँ हो नारि ?[१]
अकारण उदास
भर सहमी उसास
अपने सूने कोने
(कहाँ तेरी बाँह)
मैं जाता हूं सोने
फीके अकास
के तारों की छांह
मैं बिना आस, बिना प्यास
अंधा विश्वास

१—कवि भारती, पृष्ठ ६७७।

ले, कि तेरे पास
आता हूँ मैं तेरा ही होने।
अपने घरोंदे के उदास सूने कोने
मैं जाता हूँ सोने।[1]

पत्र-पत्रिकाओं तथा कवि-सम्मेलनों में अधिकतर, और पुस्तकों में कभी-कभी ऐसी अनुभूतियों का साक्षात्कार होता है। अज्ञेय ने सब कुछ मांसल ही कहा है, फिर भी उसमें एक सहज वेदनाजन्य गांभीर्य है, नवसिखुओं में गांभीर्य का स्थान कृत्रिमता ले लेती है, जो अनुभूति को पाखण्ड का रूप प्रदान करती है। नर और नारी के तरल सम्बन्ध को आदर्श के अस्वाभाविक पर्दे में रखना अब समीचीन नहीं माना जा सकता। पर नर और नारी को अनावृत्त रूप में चित्रित किया जाना भी समीचीन नहीं माना जा सकता, क्योंकि नर-नारी वस्त्र पहनते हैं, नग्न नहीं रहते। ब्राउनिन्ग क्रान्तिकारी कवि था। उसे नर और नारी के सम्बन्ध के बीच आदर्श का कृतिम व्यवधान नहीं रुचता था। उसे प्रेमी और प्रेमिका का प्रेम स्वर्ग के राज्य और अदन से भी अधिक स्पृहणीय लगता था। ठीक भी है। आदि-मानव आदम और ईव ऐसा कर चुके हैं, स्वर्ग को, अमरत्व को प्रेम के समक्ष ठुकरा चुके हैं। पर ब्राउनिन्ग देवत्व के आकर्षण से पूर्ण स्पर्श भी चाहता है, पुरुषत्व के उत्तप्त प्रवेग से पूर्ण उद्दाम आलिंगन भी। उसकी प्रेमिका के कंठ से उसका हृदय केवल प्रेम मांगता है, पर मांसलता एवं आत्मपरता के समन्वित रूप में, क्योंकि मनुष्य मनुष्य वहीं है, जहाँ उसे मांसलता की मादकता एवं आध्यात्मिक शीतलता दोनों प्राप्त होती हैं। जहाँ मनुष्य मांसलता का धन खो देता है, वहाँ वह देवता होकर हमारे सुख-दुःख का साथी नहीं, पूजा का विषय बन जाता है, हमारे लिए उसकी उपयोगिता संदिग्ध नहीं, तो सीमित अवश्य हो जाती है. और जहाँ वह आत्मा का धन खो देता है, वहाँ वह यदि द्विपद पशु नहीं, तो निरा अनावृत्त हो जाता है, उसके संसर्ग से भी लज्जा की अनुभूति होती है। प्रेम में ब्राउनिन्ग का संतुलन सर्वथा स्पृहणीय है।[2] खेद है कि हमारे मनोविज्ञान-प्रेमी नये कवि इस संतुलन पर ध्यान नहीं दे रहे। साकेत के प्रथम सर्ग की मांसलता और नवे सर्ग की शिवं से पूर्ण होने पर भी सहज वेदना अपने उबा देने वाले विस्तार के बावजूद भी अमर है, इस ओर नये कवि को युगानुकूल दृष्टिपात करना अभी बाकी है।

छायावाद के बाद के विरह-गानों में भी परम्परा का प्रभाव रहा, पर स्वाभाविक रूप में, रीतिकाल के समान कृत्रिम रूप में नहीं। बच्चन, नरेन्द्र, अंचल, नीरज,

१—बावरा अहेरी, पृष्ठ २६।
२—राबर्ट ब्राउनिन्ग की प्रसिद्ध तथा करुण कविता 'ए वूमैन्स लास्ट वर्ड्स :

पन्त, अज्ञेय, सुमित्रा, विद्यावती इत्यादि ने दीपक, शलभ, मेघ, चातक, कोकिल, विद्युत् इत्यादि प्राचीन अप्रस्तुतों का उपयोग भरपूर किया है, पर वहीं तक, जहाँ तक उनका हृदय के साथ सीधा सम्बन्ध है, 'उपयोग के लिए उपयोग' में पुराने अप्रस्तुतों का दुरुपयोग इस युग में नहीं हुआ। कामदशाओं में मुक्तक की अनुरूपता, मनोविज्ञान की स्वाभाविकता तथा हृदय की निकटता के कारण स्मृति के ही भव्य चित्र इस युग की कविता में खींचे गये हैं। बच्चन के विशद विरह-काव्य में विकलता, गुण-कथन इत्यादि का भी सुन्दर समावेश है पर प्रधानता उनमें भी स्मृति की ही है। स्मृति के पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित जिन भव्य चित्रों का अंकन साकेत के नवम सर्ग में मैथिलीशरण ने किया था वे और भी आगे बढ़ कर सरलतर, स्वाभाविक होकर प्रकट हुए हैं और काव्य की महिमा को जाज्वल्यवान करने वाले हैं। विरह की वेदनामयी दशा में 'स्मृति के लिए स्मृति' का प्रयोग अब तक बहुत दूर तक, कृत्रिम रूप में होता रहा है। जीवन के शुद्ध यथार्थ से अनुप्राणित प्रिय-सम्बद्ध छोटी-छोटी वस्तुओं को देखकर फूट पड़ने वाली या याद आने वाली सरल स्मृति के जो कतिपय चित्र इस युग के कवियों ने खींचे हैं, वे बहुत ही स्वाभाविक एवं मर्म-भेदक हैं। नरेन्द्र शर्मा की अनुभूति विरह - वेदना कल्पना की

Where the apple reddens
Never fry—
Lest we lose our Edens,
Eve and I.
Be a god and hold me
With a charm
Be a man and fold me
With thine arm,
Teach me, only teach, Love
As I ought
I Will speak thy speech, Love,
Think thy thought.
Meet if thou require it,
Both demands,
Laying flesh and spirit
In thy hands,

आश्रित नहीं रही। वह इस युग से कुछ पहले ही गा चुकी थी :

तुम्हें याद है क्या उस दिन की
नये कोट के बटन होल में
हंसकर प्रिये, लगा दी थी जब
वह गुलाब की लाल कली।
फिर कुछ शरमा कर साहस कर,
बोलीं थीं तुम, इसको यों ही
खेल समझ कर फेंक न देना
है यह प्रेम भेंट पहली।
कुसुमकली वह कब की सूखी,
फटा ट्वीड का नया कोट भी
किन्तु बसी है सुरभि हृदय में
जो उस कलिका ले निकली।[1]

विरह की वेदना प्रिय से संबन्धित बड़ी-बड़ी घटनाओं पर विचार करते-करते ऊब जाती है, उससे सम्बद्ध बड़ी-बड़ी वस्तुओं पर ध्यान देते-देते थक जाती है। फिर भी उन्हें छोड़ती नहीं। पर इस स्थिति में छोटी-छोटी घटनाएँ और वस्तुएँ उसके लिए बड़ी-बड़ी घटनाओं और वस्तुओं से अधिक स्पृहणीय लगती हैं। अधिक कसक-भरी बन जाती हैं, क्योंकि उनका कोष अधिक विशाल होता है। नये कवि ने इस गंभीर तथ्य को ठीक से समझा है। फलतः विरह अब केवल अध्ययन का ही नहीं अनुशीलन का विषय भी बनता चला जा रहा है, जीवन का विषय बन रहा है। यह नये कवि की विरह-काव्य को महत्त्वपूर्ण देन है, जिसका मूल प्राचीन काव्य में भले ही हो, पर रूप पूर्णतः नवीन है। श्री गिरजा कुमार माथुर 'चूड़ी का टुकड़ा' जैसी निरर्थक एवं सामान्य वस्तु को कितनी सार्थक एवं विशेष वस्तु बना चुके हैं, कवि के स्रष्टा रूप की एक सुन्दर झाँकी कितने मर्मस्पर्शी रूप में दिखा चुके हैं, यह पढ़ने से ही विदित हो सकता है। सामान्य को भी परिस्थिति कितना विशेष बना देती है :—

आज अचानक सूनी सी संध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था,

१—प्रवासी के गीत (४८)

किसी काम में जी बहलाने,
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का
छोटा सा टुकड़ा,

उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं,
रंग-भरी उस मिलन रात में।
मैं वैसा का वैसा ही
रह गया सोचता
पिछली बातें।
दूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगी तुम्हारी सब सज्जित तस्वीरें,
सेज सुनहली,
कसे हुए बन्धन में चूड़ी का झर जाना,
निकल गई सपने जैसी वे मीठी रातें,
याद दिलाने रहा
यही छोटा सा टुकड़ा।[1]

यहाँ स्मृति का मूल विषय कुछ अधिक खुलकर प्रकट किया है, पर भदेस रूप में नहीं। चूड़ी के टुकड़े का रेशमी चूड़ी का टुकड़ा बन जाना कितना सत्य है ?

ऐसे अनेक नवीन तथा महान स्मृति-चित्र छायावाद के बाद रचे गए विरह-काव्य में मिलते हैं, जो हिन्दी की सम्पन्नता एवं उसके नवीन जीवन-रस के प्रतीक हैं। रघुवीरसहाय का खींचा हुआ एक करुण चित्र देखिए :—

मैं कभी कभी कमरे के कौने में जाकर
एकांत जहाँ पर होता है,
चुपके से एक पुराना कागज पढ़ता हूँ
मेरे जीवन का विवरण उसमें लिखा हुआ,
वह एक पुराना प्रेम-पत्र है जो लिखकर

१—कवि भारती, पृष्ठ ६९६-९७।

भेजा ही नहीं गया, जिसका पाने वाला,
काफी दिन बीते गुजर चुका ।[१]

कितनी सरलता, कितना प्रभाव ! खेद है कि प्रयोगवाद के आलोचकों ने ऐसी कविताओं के साथ भी न्याय नहीं किया, जो एक अच्छी संख्या में लिखी जा चुकी हैं । रस की कसौटी पर भी ऐसी कविताएँ सर्वोच्च कोटि की होंगी, पर रस-प्रेमियों की दृष्टि भी इधर नहीं गयी । फिर भी, इतना स्पष्ट है कि भविष्य में कविता का रूप ऐसा ही होगा । बाहर से सरल, सीधा-सादा; अन्दर से गम्भीर, वंकिम । मनुष्य भी तो बाहर से सीधा-सादा और अन्दर से गम्भीर-वंकिम है । अब वह कविता को अपने अधिक से अधिक अनुकूल बनाकर मानेगा । नयी कविता अपनी सारी कमजोरियों के साथ भी इस सत्य की साक्षी हैं ।

आसन्न-विरह के वर्णन भी इस युग में अत्यन्त सुन्दर हुए हैं । एक ओर यदि सुमित्राकुमारी का हृदय विदा के समय चिरन्तन नारीत्व की भावमयी कामना बड़ी परोक्षता के साथ व्यक्त करता है :—

निशा-नीड़ तज कर भले ही विवश से,
कहीं भी रहो मुक्त पंछी दिवस के ।

क्षितिज की परिधि तक पहुँचकर कहीं तुम न फिर लौट पड़ना अगर याद आयी ।

तुम्हें दी विदाई ।[२]

तो दूसरी ओर भारतभूषण का सहज भाव 'प्लेट फार्म' पर विदाई का नूतन चित्र स्पष्ट रेखाओं में खींचता है :—

होने सवार
ज्यों बढ़े चरण
चमका एड़ी का गौर वर्ण
कर नमस्कार
कुछ नमित वदन
जब मुड़ी हो गए रक्त कर्ण ।

१—दूसरा सप्तक, 'भला' शीर्षक कविता में, पृष्ठ १६० ।
२—कवि भारती, पृष्ठ ६०९ ।

पल को खिड़की पर
बाँह टेक
देखा फिर कर
उफ उभर-उभर
आये अनेक
छवि के अक्षर ।

चल दी गाड़ी
थर-थर थर-थर
खिचता ही गया सनेह-तार
फर-फर फर
उड़-उड़कर दीखी बार-बार ।

पल भी न लगा
सुनसान, शांत
मैं खड़ा देखता निर्निमेष
लो फिर सुलगा
यह प्राण-प्रांत
बस प्लेट फार्म की टिकिट शेष ।[1]

गाड़ी का थर-थर चलना मन को गाड़ी की चाल में देखने पर बहुत गम्भीर लगेगा। प्रयोगवादी गोरी बांहों, गोरी एड़ी, गोरे गाल का विशेष उपासक है। पर गोरे रंग के प्रेम के लिए इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता कि यहाँ पर वह परम्परा का अंधभक्त ही बना हुआ है। उसकी बुद्धि ने 'गदहा' पर तो कविता लिखी है, पर उसके अन्तस ने काले रंग में सुषमा के दर्शन अभी नहीं कर पाये। संसार के कवियों में शायद अभी तक कुछ को ही सौन्दर्य को विराट तथा पूर्ण रूप से देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। निराला एकाध ही है, जो पत्थर तोड़ने वाली मजूरिन को श्याम तन देखे ! पर खेद तब अधिक हो जाता है, जब नया कवि भी यहाँ पर नवीनता, सच्ची नवीनता के प्रति उदासीन बना रहता है।

विरह के क्षेत्र में अभिव्यक्ति की सरलता तभी आती है, जब अनुभूति सच्ची हो, कुंठित या कृत्रिम न हो। छायावाद के बाद हिन्दी-कविता में कथन की सरलता

१—कवि भारती, पृष्ठ ७०४ ।

ही नहीं आयी, भावना की सरलता भी आयी। इस सरलता का चरम उत्कर्ष अंचल की कविताओं में मिलता है, जिनकी अतृप्त वेदना अपनी स्वाभाविकता में अद्वितीय हैं। प्रिय के न मिलने पर साधारण और प्राथमिक हृदयोद्गार प्रकट होते हैं। काश ! मैं प्रिय के सिर, भाल आनन, वक्ष, बाहु, चरण इत्यादि अवयवों से संबंधित कोई वस्तु बन पाता और संसर्ग का रस पाता ! तरुणों में यह भावना बहुत उत्कष्ट रूप में प्रकट होती है। अंचल की 'मनुहार' में यह भावना अधिक स्थूल न होकर कुछ सूक्ष्म है, अधिक वस्तु परक न होकर कुछ भाव परक है, मांसल होते हुए भी साधारण नहीं है।

मेरा वश चलता मैं
बन जाता कौमार्य तुम्हारा।
होठों पर निर्माल्य अछूता
बन कर मैं छा जाता,
अंगों के चंपई रेशमी
परदों में सो जाता।
आँखों की सुर्मई गुलाबी
चितवन में खो जाता।
मेरा वश चलता में
बन जाता सौन्दर्य तुम्हारा।
जब तुम सिहर लजातीं बनता
मैं कानों की लाली,
शरद समीरण में बनता
मैं पुलकों की घन-जाली।
मैं न छलकने देता
मुसकानों की गोरी प्याली।[1]

गोरेपन का मोह पुराना है, बहुत दूर तक शायद चिरन्तन भी है, पर कानों की लाली के दर्शनों की प्रेरणा का मूल प्रसाद में है।[2] अंचल की क्षुधा के विषय में एक आलोचक ने कहा है कि वह ऐसी क्षुधा है जो खाने पर भी नहीं मिटती।

१—कवि भारती, पृष्ठ ५९७।

२—कामायनी, लज्जा सर्ग :—

प्रसाद का मनु या प्रसाद का मन कह चुका है :—

प्यासा हूँ मैं, अब भी प्यासा
सन्तुष्ट ओघ से मैं न हुआ,
आया फिर भी वह चला गया
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ ।[1]

अंचल अपनी वासना को वासना के सहज रूप में प्रकट करते हैं, आदर्श या रहस्य का अवगुंठन डाल कर नहीं । फिर भी, वे अज्ञेय के समान उत्तेजना की सीमा का स्पर्श नहीं करते, उधर का संकेत देकर ही चुप हो जाते हैं । यह प्रशंसनीय वस्तु है । स्वानुभूत विरह की मादक वास्तविकता को व्यक्त करने में अंचल का साहस और उनकी ईमानदारी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अमर रहने योग्य वस्तु है । वह पुष्ट तथा प्रौढ़ भले ही न हो, पर सच्ची तथा सरल अवश्य है । और विरह की अभिव्यक्ति में सच्चाई तथा सरलता का मूल्य सदा उच्च कोटि का रहा है, भले ही प्रथम कोटि उसे आंतरिक रूप से पुष्ट और प्रौढ़ होने पर ही मिली हो ।

अंचल की संभावनाएं भी बड़ी स्वाभाविक, सरल तथा भोली-भाली हैं :—

क्या तुम भी सुधि से थके प्राण ले मुझ सी अकुलाती होगी ।
जब नींद नहीं आती होगी ।
दिन भर के कार्य-भार से थक जाता होगा जूही सा तन,
श्रम से कुम्हला जाता होगा मृदु कोकावेली सा आनन ।
लेकर तन मन की श्रांति पड़ी होगी जब शैया पर चंचल,
किस मर्म वेदना से क्रन्दन करता होगा प्रति रोम विकल ।[2]

कहीं-कहीं अंचल की भावना सिनेमा के गीतों की भावना की ओर ललकती हुई दृष्टिगोचर होती है, वहाँ मायूसी भी नजर आ जाती है, उर्दू का प्रभाव छलक-छलक पड़ता है, अज्ञेय की 'तुम कहाँ हो नारि ? की तड़प झलक उठती है । पर सहज वेदना की तीव्रता वहाँ भी मर्म को छूती रहती है :—

चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली,
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ
जो बनती कानों की लाली ।

१—कामायनी, काम, सर्ग ।

२—कवि भारती, पृष्ठ ६०१ ।

यह फागुन की रात और मैं विकल पड़ा मन मारे।
मेरे गीत बन गए रोदन, हंसी व्यथा का पानी।
तुमसे बिछुड़ बन गया मैं अपनी ही करुण कहानी।
मेरे बुझे हृदय पर चौमुख याद तुम्हारी आती,
मन के मुंदे धुँधलके में जो सिर धुनती, मंडराती।
तड़प सिसकता है अधजला, अधमरा ज्यों परवाना,
शेष जिसे अब बुझी शमा पर है केवल मंडराना।

× × ×

अपनी ही तृष्णा से अब ये प्राण सदा को हारे।
यह फागुन की रात और मैं विकल पड़ा मन मारे।[1]

पर जिस सच्चाई और साहस के साथ वे अपनी साध के छोटेपन और अर्पण के कमसिन होने का सत्य प्रकट करते हैं, वह स्तुत्य है। उनके विरह-काव्य की कुंजी निम्नलिखित पंक्तियों में है :—

× × ×

टूटा कितनी बार हृदय, गीतों का तार न टूटा,
सूखा फूलों का रस, मन का मधुघट कभी न फूटा।

× × ×

रुके अजनमे पड़े तुम्हारे बिना अर्चना के क्षण
है मेरा विश्वास अभी नादान और चंचल मन
अपनी ही आशंका से तो कंपित मैं मेरापन
छोटी मेरी साध अभी कमसिन है मेरा अर्पण।[2]

'कितनी बार' कवि की अनेकमुखी प्रेम-भावना का सूचक है। फलतः उसका नादान विश्वास और चंचल मन उसे संकित किये रहता है। स्पष्ट है कि उसे प्रेम के भव्य रूप के दर्शन नहीं हुए, क्योंकि प्रेम अपने सारे दुःख-सुख के साथ विश्वास का आत्मज ही है। इतना होने पर भी वह नीरज के समान 'हर बार' प्यार करने को अपराध' न मान कर अपनी विकलता को सम्पन्न रूप में प्रकट करता है, वासना

१—कवि भारती, 'यह फागुन की रात' शीर्षक कविता।
२—धर्मयुग, ८ फरवरी १९५९ में 'कितनी देर लगी' कविता।

को भी मर्मस्पर्शी रूप प्रदान करता है :

मुझसे रहा न जाता तुमको पल पल बिना बुलाए
सदा असंख्य वसंतों के सौन्दर्य तुम्हें पहनाए
अपनी भूल भूल में मैंने तुमको ही दोहराया
सच लगने वाली छलना[1] ने सदा तुम्हीं को गाया ।[2]

छायावाद के बाद रचे गये विरह-काव्य की दृष्टि से बच्चन और नरेन्द्र के पश्चात अंचल का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। बच्चन की पवित्र एकनिष्ठ करुणा और नरेन्द्र की निराशा, पर अपने मूल में सात्विक वेदना, अंचल में नहीं है। उन्हें वह शुद्ध प्रेम नहीं प्राप्त हुआ जो अचंचल हो या चंचल, मंदाकिनी-सा पवित्र रहता है। उनका विरह वासनामूलक है, उसमें प्रेमाभास भले ही हो, प्रेम का गंभीर और सारी व्यथा के होते हुए भी, प्रसन्न रूप नहीं है। पर जिस तड़प और सत्यता के साथ वे अपनी अनुभूति प्रकट करते हैं, वह बच्चन और नरेन्द्र में भी दुर्लभ है। अंचल आवेश में मिलते हैं, धैर्य में नहीं। यह उनका गुण भी है, दोष भी। उनकी विकलता परंपरा में भी नवीनता की सृष्टि करती है, जो सहज अनुभूति की सूचना देती है :—

ओ नभ में मंडराते बादल वे बरसे मत जा।
मन के होठों पर रस की बिसरी पहचान जगा,
पुरवा की लहरों में सुख की आतुरता उनगा,
सूखे सुमनों में हरियाली का आभास दिखा,
खींच क्षितिज पर शीतलता की कज्जल धूमशिखा,
आज वर्ष की पहली वर्षा का पहला झोंका,
कितने दिन धरती ने प्रखर पिपासा को रोका।
ओ वर्षा के पहले बादल बे बरसे मत जा।[3]

१—प्रसाद भी ऐसे 'आँसू' बहा चुके हैं :
छलना थी, तब भी मेरा
उसमें विश्वास घना था
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वयं बना था।
२—धर्मयुग (८ फरवरी, १९५९) में 'कितनी देर लगी' शीर्षक कविता।
३—भारतीय कविता १९५३ (साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली से प्रकाशित)। पृष्ठ ५५८।

मनुष्य की विरह-वेदना सर्वत्र गंभीर प्रेम की उद्भूति ही नहीं हुआ करती, कभी-कभी उसका मूल वासना की ऊष्मा में भी रहता है। अज्ञेय की विरह - वेदना ऐसी ही है। अंचल की विरह-वेदना अज्ञेय से अधिक विगलित, व्यापक तथा विशद होने पर भी अपने मूल में है वैसी ही। पर इस क्षेत्र में विरह-व्यथा का वर्णन करने वाले कवियों में अंचल का स्थान. बहुत ऊँचा है। उनका प्रश्न केवल प्रश्न ही नहीं, हृदय की विकील पुकार भी है :—

> कब तक मेरा मन अपने को मरुभू पर बोये ?
> कब तक देखें राह तुम्हारी प्राण थके रोये ?[1]

अंचल के प्राय; समसामयिक नरेन्द्र 'प्रवासी के गीत' गा चुके हैं। प्रवासी के गीत वस्तुत: विरह-गीत ही हैं। 'प्रवासी के गीत' अपने विरह-निवेदन की अनुभूति-गत सरलता तथा स्वाभाविकता और अभिव्यक्तिगत ऋजुता तथा सज्जनहीनता में छायावाद के बाद हिन्दी-विरह-काव्य की प्रस्तावना-जैसे हैं। बाद के सभी कवियों ने अपने अनुकूल प्राय: वैसा पथ ही पकड़ा जैसा 'प्रवासी के गीत' के गायक ने बनाया था। बच्चन, अंचल नीरज तथा अन्य कवियों के विरह-निवेदन में जो ऋजुता एवं सरलता है, उसका मूल नरेन्द्र में ही है, भले ही ये कवि उनसे प्रभावित न हुए हों। कारण युग है। क्षय-ग्रस्त कवि की स्वाभाविक जीवन-मोह-युक्त पीड़ा विरह पर छा गयी है, जो करुण-विप्रलम्भ की शास्त्रीयता में नहीं बांधी जा सकती। छोटी छोटी स्मृतियों का जैसा मर्मभेदक वर्णन 'प्रवासी के गीत' में हुआ है, वैसा अन्यत्र कहीं नही। उद्दीपनगत प्राचीन अप्रस्तुतों का भरपूर प्रयोग होते हुए भी शिथिलता नहीं आने पायी। पर अनुभूति की दुर्बलता प्राय: सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, जिसके विराट शरीर में यत्र-तत्र की सबलता तिरोहित हो जाती है। वक्तव्य में कवि स्वयं कहता है। 'प्रवासी के गीत' का कवि आज भी 'मरघट का पीपल तरु है। उसके जीवन की गति आज भी 'हृदय की कायरता' और 'मन की छलना' के सहारे चलती जाती है। मुक्ति उससे दूर है। वह मुक्ति का मार्ग जानता है लेकिन फिर भी अपनी बेबसी का गुलाम है। यह उसकी परवशता की चरमसीमा है।[2] पर इस परवशता का कारण क्षय का रोग नहीं, कवि का कमजोर हृदय है, जो परिस्थितियों के आगे झुकना तो जानता है, जैसा कि सभी साधारण स्तर के व्यक्ति जानते हैं, उन्हें झुकाना नहीं जानता। 'प्रवासी के गीत' में क्षय की दुर्बलता तो अपने सारे उद्गारों को प्रकट करती है, पर आसन्नमृत्यु की कल्पनाजन्य

१—श्री रमाकान्त 'कांत' सम्पादित "५५ की श्रेष्ठ कविताएँ", पृष्ठ १४।
२—प्रवासी के गीत, वक्तव्य, पृष्ठ ६।

दृढ़ता कदाचित कहीं नहीं, यदि कहीं उसका आभास होता भी है, तो वह आभास मात्र रह पाता है, सत्य नहीं बन पाता। सारी व्यवस्था के साथ-साथ मृत्यु में एक दृढ़ता भी रहती है। दीपक बुझने के पहले एक जाज्वल्यवान लौ छोड़ता है। सच्चा मनुष्य मरने के पहले कामना की सुदृढ़ता या व्यक्तित्व की शक्ति प्रकट करता है। मृत्यु में कायरता नहीं होती, नहीं हो सकती। 'प्रवासी के गीत' रचने वाला मृत्यु का आभास बड़े धुंधले रूप में ही पाता है, अन्यथा उसके स्वर ओज से भर जाते हैं। सारा जीवन रुग्णावस्था में बिताने वाला राबर्ट लुई स्टीवेन्सन जीवन का उल्लास व्यक्त करते हुए मृत्यु का सम्मान करता है,[१] कालिदास के उन शब्दों का स्मरण कराता है जिनमें वे मरण को शरीरधारियों की प्रकृति और जीवन को विकृति कह कर, सत्य न कह कर भी, अपूर्व साहस का परिचय देते हैं :—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।[२]

प्रेम अपनी शुद्ध अनुभूति में पुरुष और नारी में एकरूप रहता है। चाहे एलिजाबेथ बैरेट ब्राउनिन्ग के वैयक्तिक-प्रेम-सम्बन्धी सानेट्स हों, जायसी की नागमती की वेदना हो, घनानन्द की अनिर्वचनीय आकुलता हो या कालिदास के अज और यक्ष की मर्मबेधक पीड़ा, सबमें एक ही समर्पण, एक ही पावन प्रदान, एक ही शीतल अनुभूति बोलती है। एलिजाबेथ बैरेट ब्राउनिन्ग का जीवन रोगों से ही नहीं, संघर्षों से भी पूर्ण था। उसने रुग्ण कवयित्री ने विद्रोही कवि राबर्ट ब्राउनिग्ग को पिता की कामना के विरुद्ध अपना पति बनाया था। पति से आयु में कई वर्ष बड़ी, पिता की विद्रोहिणी, रुग्णा कवयित्री सदा प्रेमोल्लास एवं अमर प्रेम की घोषणा करती

१—Requiem :

Under the wide and starry sky,
Dig the grave and let me lie.
Glad did I live and gladly die
And I laid me down with a will.
This be the verse you grave for me :
Here he lies where he longed to be;
Home is the sailor, home from sea,
And the hunter home from the hill.

२—रघुवंशम् (८।८७। १)

रही,[१] मृत्यु की छाया का सतत आभास होते रहने पर भी प्रेम के जय-गान गाती रही,[२] शरीर-मन्दिर के जलने पर भी प्रेम की उज्ज्वल ज्वाला की प्रशंसा करती रही[३], अपनी आत्मा, जीवन, सुख-दुख और शरीर से अपने प्रिय तथा उसके समग्र के प्रति जन्म-जन्मांतर के लिए प्रेम का भाव प्रकट करती रही।[४] पर नरेन्द्र उसकी तुलना में बहुत कम संघर्षपूर्ण जीवन बिताकर भी ऐसे स्वस्थ तथा सशक्ति गाना न गा सके। बच्चन की तन्मयता और अचल की स्थायी आकुलता भी नरेन्द्र के विरह-गानों में नहीं

१—Love me for love's sake, that evermore
Thou mayst love on, through love's eternity.

२—Straightway I was ware,
So weeping, how a mystic shape did move
Behind me and drow me backward by the hair,
And a voice said in mystery while I strove, ...
Guess now who holds thee-Death I said but there
The silver answer rang...Not Death but love.

३—Yet love, more, love, is beautiful indeed
And worthy of acceptation. Fire is bright,
Let temple burn or flex ... ...

४—How do I love thee ? Let me count the ways.
I love thee to the depth and bredth and height
My soul can reach when feeling out of sight
For the ends of being and ideal Grace.
I love thee to the level of every days
Most quiet need by sun and candlelight.
I love thee freely as men strive for Right,
I love thee purely as they turn from Praise.
I love thee with passion put to use
In my old griefs and with my childhood's faith.
I love thee with a love I seemed to lose
With my lost saints I love thee with the beath,
Suiles, tears of all my life and, if God choose,
I shall but love thee better after death.

आ सकी। वास्तव में नरेन्द्र केवल विरह के कवि नहीं हैं। विरह-गीत तो परिस्थिति विशेष के कारण लिख डाले गये हैं, जैसे बंगाल का काल, सूत की माला (बच्चन) और करील (अंचल) की रचना विरही कवियों ने परिस्थिति-विशेष के कारण की है। नरेन्द्र का स्वर जागरण और हुंकार का स्वर है, और यह उनके कवि के लिए गौरव का विषय ही है कि उसे विरह के स्वरों में भी बहुत दूर तक सफलता मिल सकी है।

छायावाद के पश्चात हिन्दी-विरह-काव्य को सम्पन्न बनाने वाले सबसे समर्थ तथा श्रेष्ठ कवि बच्चन हैं। बच्चन का हिन्दी-साहित्य में प्रवेश सन् १६३५ में 'मधुशाला' के साथ हुआ और कुछ तो क्रान्ति-स्थल युग की भयानक व्यस्तता, कुछ उनकी सरलता तथा कुछ उनके कंठ के कारण 'मधुशाला' को अभूतपूर्व लोकप्रियता मिली। अँग्रेजी के अमर अनुवादक कवि फिट्जरल्ड ने जब उमर खैयाम की भाव-तरल रुबाइयों का अनुवाद किया था, तो उसे पाश्चात्य जगत में अभूतपूर्व लोकप्रियता मिली थी, जिसका कुछ कारण तो खैयाम की सरल तथा तरल अनुभूति थी तथा बहुत बड़ा कारण यूरोप की विलासिता तथा युद्ध-जर्जरता की दशा में कुछ भोजन, कुछ मदिरा और प्रिया को पाकर सूनेपन को स्वर्ग बनाने की तीव्र स्पृहा।[1] बच्चन की मधुशाला के स्वागत के कारण भी कुछ-कुछ ऐसे ही थे। सन् १६३५ में नया संविधान बना था, राष्ट्र स्वातन्त्र्य-पथ पर कुछ सफलतापूर्वक गतिशील हो चला था। अतः 'मधुशाला' के गीत सुनने में संकोच भले ही लगता, लज्जा का अनुभव नहीं हो सकता था। पर बच्चन का जीवन कुछ दूर तक संघर्षों का जीवन रहा है और वे हाला के यथार्थवादी उपासक नहीं रहे, उनका हाला-प्रेम वह प्रेम था, जो शब्दों में ही जीवन पाता है, जीवन में जीवन नहीं पाता। अतः उनकी हालावादिता में न तो उमर खैयाम की खालिस मस्ती, बेफिक्री और जिन्दादिली ही है, न फिट्जरल्ड की भावग्रहण करने वाली अनन्यता-तन्मयता। बच्चन का हालावाद पढ़ने पर मजा तो देता है, पर ऐसा लगता है जैसे समुद्र का वर्णन कोई तट पर से कर रहा है, धारा के घात-प्रतिघात के मध्य से नहीं। उर्दू के शायर दाग ने शराब पर जैसी आस्था दिखलाई है, वैसी ही बच्चन ने हाला पर। बच्चन के हालावाद की लोक-

---

१—Herewith a Loaf of Breed beneath the Bough,
A Flask of Wine a book of Verse and Thou
Beside me singing in the wilderness
And wilderness is Paradise enow.

प्रियता नीरज के मृत्युवाद की लोकप्रियता जैसी ही थी। यदि बच्चन हाला के फेर में पड़े रहते, तो उनका कवि तृतीय श्रेणी के आसपास ही चक्कर काटता रहता। पर उनकी स्वर्गीया पत्नी श्यामा के अवसान ने जो वज्राघात किया, वह उनके जीवन में तन्मयी वेदना और पीड़ा लाने में समर्थ होकर उन्हें वैयक्तिक विरहानुभूति को व्यक्त करने वाला एक प्रमुख कवि बनाने में समर्थ हो गया। जिस प्रकार रत्नावली का तुलसीदास पर अमर ऋण है और सुजान का घनानन्द पर, उसी प्रकार बच्चन पर श्यामा का है, इसे कौन अस्वीकार करेगा ?

अपनी दिवंगता प्रिया के प्रति बच्चन का करुण विरहोद्गार एक कवि की अपनी प्राणों की प्राण पत्नी के प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि है, जिनका विस्तार निशा-निमन्त्रण, आकुल अंतर, एकान्त-संगीत और व्याकुल विश्व के शत-शत गीतों तक फैला है। संसार के किसी कवि ने अपनी प्रिया की समाधि पर इतनी अधिक भाव-मालाएँ नहीं चढ़ाई थीं। बच्चन का विरह-काव्य वेदना की प्राय सभी छोटी-बड़ी निधियों को अपनी पीड़ा में समेटकर सम्पन्न हुआ है। करुणा-कलित विरही-हृदय कितना आकुल हो सकता है, उसे यह विश्व कितना व्याकुल लग सकता है, एकांत में उसका मर्म-संगीत कितने आँसू बहा सकता है, और मिलन की शत-शत स्मृतियों की भाव-मञ्जूषा निशा उसे क्या-क्या भावोपहार दे सकती है, यह सब बच्चन के विरह-काव्य में जितना सरल, सहज तथा सीधा-सादा रूप लेकर साकार हुआ है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। जायसी की विराट् भावुकता बच्चन में नहीं है, सूर की व्यापक अन्तर्दृष्टि उनमें ढूँढ़ना उनके साथ अन्याय करना है, मीरा की विद्रोही अनुभूति उनमें नहीं है, घनानन्द का साहस-धैर्य उनमें नहीं है, मैथिलीशरण और हरिऔध की विशदता तथा महाकवित्व उनमें ढूँढ़ना उनकी वैयक्तिकता तथा सरलता से न्याय करना नहीं होगा, प्रसाद और महादेवी का दर्शन तथा कला भी उनमें नहीं है, पर उनमें अनुभव की सम्पन्नता इतनी अधिक है, अभिव्यक्ति की सरलता इतने सम्पन्न रूप में विद्यमान है कि जायसी, सूर, मीरा, घनानन्द, मैथिली-शरण हरिऔध, प्रसाद तथा महादेवी के स्तर के स्रष्टा कलाकार न होते हुए भी वे अपने विरह-काव्य में उनकी परंपरा में सरलता से एक कड़ी बन सकते हैं, बन चुके हैं।

बच्चन अँग्रेजी-काव्य के निष्णात पण्डित हैं, केवल इसीलिए नहीं कि वे अँग्रेजी के एम० ए० और कैम्ब्रिज से पी-एच० डी० हैं और विश्वविद्यालय में अँग्रेजी के प्राध्यापक रहे हैं, प्रत्युत् इसलिए भी कि उन्होंने अँग्रेजी-साहित्य के सीमांत शेक्सपियर के अमर नाटकों का अत्यन्त सुन्दर अनुवाद करके भी अपनी

विद्वत्ता स्पष्ट की है। अँग्रेजी-कविता की वैयक्तिकता से जितना लाभ बच्चन ने उठाया है, उतना हिन्दी के किसी कवि ने नहीं। छायावाद की वैयक्तिक कविता कुछ तो अपने प्रारंभिक रूप के कारण और कुछ दार्शनिक दुराग्रह के कारण दुरूह तथा अस्पष्ट थी। बच्चन ने उसे सरलता का वह रूप प्रदान किया, जो आधुनिक हिन्दी-साहित्य की एक बहुत बड़ी चीज़ है। बच्चन की भाषा में न तो छायावादी प्रदर्शन ही है, न प्रगतिवादी नेतागिरी, न प्रयोगवादी अँग्रेजी ज्ञानाभास का प्रदर्शन।

परम्परा से बच्चन ने जितना लाभ उठाया है, उतना द्विवेदी-युग के बाद के कवियों में किसी ने नहीं। पर उनमें वह कवि-सामर्थ्य सतत विद्यमान रहा है, जो प्राचीन को नवीन रूप प्रदान करता रहता है। जल्दी-जल्दी ढलने वाला दिन, सिन्दूर लुटाती संध्या, बढ़ता हुआ अन्धकार, प्रबल झंझावात, पतझड़ की शाम, नदी के पार का गान,[1] उल्कापात, दूर किसी का रोना, पावस की अंधेरी रात, पपीहे की रटन, बादल, रोती रात, जड़ तकिये, तरु पर बोलती श्यामा, अरुणचूड़ का तरुण राग, इन्द्रधनुष, रवि की सवारी, पागल रात, झरते हुए सर-सरि-निर्झर, नभ-कम्पनकारी समीर, दीपक और परवाना-प्रायः सभी अप्रस्तुत नये नहीं हैं, फिर भी बच्चन की प्रतिभा ने उन्हें सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। स्मृति, गुण-कथन, अभिलाषा इत्यादि अनिवार्य कामदशाओं का वर्णन बच्चन की कविता का शृङ्गार है। पर बच्चन के विरह-काव्य का सबसे बड़ा धन अनुभूति की एकरस गहराई है। पं० नन्ददुलारे बाजपेयी ने लिखा है 'अनुभूति के क्षेत्र में बच्चन की सी गहराई छायावादी कवियों में कम मिलेगी, यद्यपि बच्चन की यह गहराई अत्यधिक वैयक्तिक है। इस दृष्टि से बच्चन की वास्तविक कविता एकान्त-संगीत और निशा-निमंत्रण में ही मिलती है, उनकी आकुल अन्तर और व्याकुल विश्व कृतियों में वह संतुलित आत्मिक संवेदन नहीं दीखता। व्यक्तित्व का पर्यवसान यदि काव्य की कसौटी माना जाये तो निशा-निमंत्रण ही उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना ठहरेगी।[2] इस कथन में निशा-निमंत्रण पर प्रकट किये गए विचार सर्वतोरूपेण उचित हैं। निशा विरह-व्यथा की चिर-सहचरी है। फिर निशा-निमंत्रण की रचना का इतिहास भी बड़ा करुण है: "अपनी पूर्व-पत्नी के देहावसान के पश्चात् लगभग एक वर्ष तक कवि ने कुछ नहीं लिखा। बाद में जो कुछ लिखा वह निशा-निमंत्रण के गीतों के रूप में प्रकाशित किया गया। यों तो बच्चन की प्रत्येक रचना कुछ न

१—इस सम्बन्ध में श्री चतुरसेन शास्त्री की 'दुखवा में कासे कहूँ मोरी सजनी' शीर्षक कहानी बरबस याद आ जाती है।

२—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ६७।

कुछ नूतनता लेकर आती है, परन्तु निशा-निमन्त्रण की अपनी विशेषता ही अलग है। रात्रि के अन्धकारपूर्ण वातावरण से अपनी अनुभूतियों को रंजित कर उन्होंने गीतों की जो शृङ्खला तैयार की है, वह आधुनिक हिन्दी-कविता के लिए सर्वथा मौलिक वस्तु है। गीत एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि यह सौ गीतों का संग्रह मात्र न होकर सौ गीतों का एक महागीत है, शत दलों का एक शतदल है।[1] सौ गीतों का एक महागीत, शत दलों का एक शतदल, निशा-निमन्त्रण का सच्चा परिचय। एक पुरुष अपनी प्रिया के प्रति कितना प्रेम तथा सम्मान रख सकता है, उसके प्रति कितनी वेदना प्रकट कर सकता है, उसके पश्चात् भी उसके प्रति कितनी महान् आस्था रख सकता है, इस सबका आधुनिक हिन्दी-कविता का अमर विरह-शतक, निशा-निमन्त्रण, एक विवेचन है। 'आकुल अन्तर, निशा-निमन्त्रण का मर्म-सीमित परिशिष्ट है; व्याकुल विश्व विस्तार; 'एकांत-संगीत', एकान्त; पर इन तीनों सुन्दर ग्रन्थों में भी उच्च स्तर के गीत विद्यमान हैं। सच पूछा जाये तो निशा-निमन्त्रण, आकुल अन्तर, एकान्त-संगीत और व्याकुल विश्व एक दूसरे के पूरक हैं, इनके शीर्षक ही यह स्पष्ट कर देते है, और चारों मिलकर ही बच्चन के विरह-काव्य को अपने पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं। बच्चन वैयक्तिक काव्य के ही सफल रचयिता हैं, यह भी इन चारों ग्रन्थों से स्पष्ट हो जाता है, और 'बंगाल का काल' तथा 'सूत की माला' की असफलता इसका विवेचन कर देती है।

बच्चन के विरह-काव्य के सरल तथा एकरस रूप के निर्माण में अँग्रेजी की प्रेरणा विद्यमान है, पर प्रभाव के रूप में नहीं; वेदना की अभिव्यक्ति में यत्र-तत्र उर्दू जैसा साधारण स्तर का अति वैकल्प भी दृष्टिगोचर होता है, पर अनुकरण के रूप में नहीं; नियति के प्रति अत्यधिक आस्था पर प्रसाद का प्रभाव प्रतीत होता है, पर वाद के रूप में नहीं। संक्षेप में बच्चन पर अँग्रेजी, उर्दू और प्रसाद का जो प्रभाव पड़ा है, वह न तो असन्तुलित होने पाया है, न आवश्यकता से अधिक, और अधिकतर उसने उनकी कविता को सम्पन्न ही बनाया है।

बच्चन की अनुभूति सरल तथा ऋजु है, फलतः अभिव्यक्ति भी प्रसन्न और सीधी-सादी है। उनका चिन्तन भी भोला-भाला है, जो स्पष्ट कर देता है कि वे चिन्तक नहीं है। बचचन की सरलता उन्हें एक श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर चुकी है, पर वह 'महान' विशेषण का बोझ नहीं सम्हाल सकती। डा० नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है—"अनुभूति और चिन्ता के अनुरूप ही बच्चन की कल्पना भी ऋजु सरल है। उसमें छायावादी कल्पना के ऐश्वर्य का नितांत अभाव है। प्रसाद,

१—निशा निमंत्रण, प्रकाशक का विज्ञापन।

निराला, पंत और महादेवी की तुलना में बच्चन की कल्पना कितनी अबोध है, राज-भवन की किसी विदग्ध प्रौढ़ा के समक्ष जैसे कोई अर्द्ध-क्षितिज मुग्धा।[१] पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने बच्चन के विरह-वर्णन में व्याप्त वैयक्तिकता के साथ अत्यधिक विशेषण ठीक ही लगाया है।[२] एक प्रकार की ही राशि-राशि कविताएँ पढ़ते रहने में पाठक को अपने धैर्य की जो परीक्षा करनी पड़ती है, वह तो सूर, मीरा, घनानन्द, महादेवी में भी होती है, पर बच्चन में वह बड़ी कठिन हो जाती है, क्योंकि उनके पास अभिव्यक्ति का वह चमत्कार भी नहीं है, जो कभी-कभी अपनी ओर आकृष्ट करके अनुभूतिजन्य एकरूपता के अतिरेक की रक्षा कर लेता है।

बच्चन एक समर्थ कवि हैं जो लिखते हैं प्रकाशित हो जाता है। आधुनिक हिन्दी का यह दुर्भाग्य रहा है कि कवियों ने अपना सब कुछ प्रकाशित करा देने का लोभ नियन्त्रित नहीं कर पाया। उर्दू के कवि, विशेषकर गालिब, इस दिशा में सर्वथा अनुकरणीय हैं, जो सहस्र-सहस्र शेरों में कुछ सौ छाँटकर दीवान प्रकाशित करते रहे हैं और अपनी कसावट में संसार की कविता में अद्वितीयता सिद्ध करते रहे हैं। गालिब ने जितना काव्य प्रकाशित किया है, उतना ही छाँटे जाने पर संसार का कोई महाकवि उनकी समता में नहीं खड़ा हो सकेगा। हिन्दी के गालिब बिहारी काव्य में 'कितना नहीं, कैसा' के ज्वलंत उदाहरण हैं। पर दुर्भाग्य यह रहा कि आधुनिक हिन्दी-कवि यह धैर्य न दिखा सका। इसका घाटा उसे उठाना पड़ता है। फालतू कविताओं में प्रायः अच्छी कविताएँ भी दब जाती हैं। इस दुर्बलता से मैथिलीशरण, हरिऔध, प्रसाद, पंत जैसे महान कवियों से लेकर बच्चन, दिनकर जैसे श्रेष्ठ कवि तथा नीरज, अज्ञेय और गिरिजाकुमार जैसे सुकवि सभी ग्रस्त हैं। केवल निराला तथा एक बड़ी दूरी तक महादेवी इससे मुक्त हैं। बच्चन में वह लोभ सीमा तक पहुँच गया है। उनके लगभग चार सौ विरह-गीतों में श्रेष्ठ गीत सौ से अधिक नहीं हैं। यदि चार सौ के स्थान पर सौ या डेढ़ सौ गीतों की कसावट हिन्दी को मिलती, तो कदाचित वह बच्चन की अधिक कृतज्ञ होती। इससे बच्चन के महत्त्व में कोई विशेष अन्तर न आता, क्योंकि काव्य में उनका स्थान सौ गीतों के ही कारण है, चार सौ के कारण नहीं। इस स्थिति में सब-कुछ के प्रकाशन के लोभ या दोष से वे बच गये होते। डाक्टर नगेन्द्र ने ठीक लिखा है : 'बच्चन की रचनाओं में महान कविताओं की संख्या बहुत कम है और ऐसी कविताएँ अनुपात से बहुत अधिक हैं जो प्राणरस से वंचित, मुखर और वाचाल हैं : परन्तु किसी कवि का मूल्यांकन उसकी सर्वश्रेष्ठ कविताओं के आधार पर ही किया जाना चाहिए। और

१—आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, बच्चन की कविता, पृष्ठ ९१।
२—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ६७।

इस दृष्टि से बच्चन का स्थान हमारी पीढ़ी के कवियों में बहुत ऊँचा है, यद्यपि कवि सन्देह नहीं है कि गुण और परिमाण दोनों में बच्चन से अधिक खोखली कविता भी आज के किसी समर्थ कवि ने नहीं लिखीं ।[१]

हमारी दृष्टि में बच्चन के विरह-काव्य में अनुभूति की सीमा से भी बढ़कर कमजोर पहलू वेदना में उत्साह का अभाव है। इसका कारण युग भी है। नरेन्द्र ने ठीक लिखा है 'आधुनिक हिन्दी-गीत-काव्य निराशावाद से परिपूर्ण है।'[२] पर बच्चन की निराशा तथा वेदना में न तो प्रसाद का दार्शनिक समझौता ही है, न महादेवी का विरह में चिरत्व का सन्तोष ही। कहीं वे जीवन और मरण दोनों के व्यर्थ होने का रोना रोते हैं, कहीं शव बन कर पड़े रहते हैं, कहीं जगती में फिर न आने की कामना करते हैं, कहीं मर जाने की चर्चा करते हैं, तो कहीं पुराने कवियों की तरह छाती के पत्थर न हो जाने का उलाहना देते हैं :—

जानता यह भी नहीं मन
कौन मेरी थाम गर्दन

है विवश करता कि कह दूँ व्यर्थ जीवन भी मरण भी ।[३]

आज पड़ा हूँ मैं बनकर शव,
जीवन में जड़ता का अनुभव ।[४]
फिर न पड़े जगती में गाना,
फिर न पड़े जगती में आना ।[५]
आओ सो जायें, मर जायें ।[६]
बीते सुख की याद सताती
अभी बहुत कोमल है छाती,
दुख तो वह है जिसे सहन कर
पत्थर की छाती हो जाये ।[७]

१—आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, बच्चन की कविता, पृष्ठ ९६ ।
२—प्रवासी के गीत, वक्तव्य पृष्ठ ६ ।
३—निशा-निमन्त्रण (१८) ।
४—निशा-निमन्त्रण (२१) ।
५—निशा-निमन्त्रण (२२) ।
६—निशा-निमन्त्रण (२३) ।
७—आकुल अन्तर (२३) ।

प्रिया के मरण पर इस स्तर की वेदना कवि की अनुभूति को सबल नहीं रखती, भले ही उसका आकार अत्यन्त विशाल तथा उत्कृष्ट लगने वाला हो। वेदना अपने संतुलित रूप में बड़ी पवित्र होती है, पर अतिरेक की स्थिति में वह दुर्बलना बन जाती है और उसके प्रेरक तथा स्वस्थ तत्त्व समाप्त हो जाते हैं, वह अनावृत्त होकर सम्मान खो बैठती है, भले ही कला न खोये। स्वस्थ तथा सबल करुणा एवं तज्जन्य विरह-वेदना वह है, जो प्रिय के प्रति शक्तिशाली सम्बन्ध की अवतारणा करे, महाकवि तुलसीदास की पार्वती के शब्दों में घोषणा करे :—

जनम कोटि सत रगर हमारी।
बरों संभु न तू रहें कुवांरी॥

स्वस्थ एवं सम्पन्न विरह-वेदना वह है, जिसकी आँखों में आँसू और हृदय में उत्साह भरा हो। राम सीता के विरह में 'डरपते' तथा रोते ही नहीं हैं, पता लगने पर काल को भी समर में जीत कर उन्हें ले आने का उत्साह भी प्रकट करते हैं। यह कहा जा सकता है कि बच्चन की वियोग-व्यथा दिवंगता प्रिया के प्रति है। तब भी उसके मूल में जो आवश्यकता से अधिक निराशा है, वह सशक्त नहीं कही जा सकती। अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि राबर्ट ब्राउनिंग प्रेम से पलायन करने को कभी प्रस्तुत नहीं हुए।[१] और अपनी प्रिया पत्नी एलिजावेथ बैरेट ब्राउनिंग के देहावसान पर भी एक योद्धा की भाँति 'एक युद्ध और' तथा मरण के बाद भी उससे मिलने का उत्साह प्रकट करते रहे।[२] मृत्यु से वे कभी भयभीत नहीं हुए। यहाँ हमारा उद्देश्य बच्चन और ब्राउनिंग की तुलना करना नहीं है। ब्राउनिंग ने

1.—Life in love :

Escape me ?
Never
Beloved
While I am I, and you are you
So long as the world contains us both,
Me the loving and you the loath—

2—ब्राउनिंग की अत्यन्त श्रेष्ठ तथा प्रसिद्ध कविता 'प्रासपाइस' में :—

I was ever a fighter so one fight more,
The best and the last
X X X
O thou soul of my soul, I shall clasp thee again
And with God be the rest.

विरह-काव्य की ओर उत्साह नहीं दिखलाया। वह एक विद्रोही तथा जागरूक कवि था, जो प्रिया के वियोग, प्रेम, इटली के पुनर्जागरण, यूरोप में शिक्षा-सुधार से लेकर स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा का नेतृत्व छोड़कर राजकवि बनने वाले महाकवि वर्डस्वर्थ की भर्त्सना तक, शत-शत विषयों तक, अपने विद्रोह की ज्वाला को उड़ेलता रहता था। उसकी भाषा की शक्ति अँग्रेजी की अनूठी सम्पत्ति है। विषम परिस्थिति को कलाकार का साहस ज्योतिर्मय कर देता है। मृत्यु को एक युद्ध बनाकर तथा उसके प्रति उत्साह के स्थायीभाव की निष्पत्ति कर ब्राउनिंग 'मृत्युवीर' बन गया है। यहाँ तक पहुँचना सबके लिए सम्भव नहीं है। पर कुछ उत्साह तो सबके द्वारा प्रकट किया जा सकता है। मृत्यु जीवन की जननी है, यह दर्शन की काल्पनिक स्थापना है, जीवन मृत्यु का जनक हैं, यह जीवन का सत्य है। मृत्यु पर केवल रौदन कायरता है, मृत्यु की असमय कामना पलायन है। कालिदास, शेक्सपियर, वर्डस्वर्थ, प्रसाद इत्यादि ने मृत्यु के जो गीत गाये हैं, उन्हें अर्थवाद के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है। मृत्यु स्पृहणीय तभी हो सकती है, जब जीवन स्पृहणीय रहा हो। बिना जीवन के मृत्यु स्वयं मृत्यु बन जाती है, पर जीवन बिना मृत्यु के भी जीवन बना रहता है। मृत्यु जीवन का एक अंग मात्र है। उसके प्रति आवश्यकता से अधिक झुक पड़ना कमजोरी है, जो आधुनिक कविता का रोग बन गयी है। नीरज का मृत्युवाद इसका प्रमाण है। बच्चन का युग निराशा का युग रहा है। पर युग की बाढ़ में समर्थ स्रष्टा अपनी दुर्बलता को नहीं सन्तुष्ट करते। ब्राउनिंग का युग भी बहुत दूर तक निराला का युग था। कीट्स रो-रोकर असमय मरा था,[1] टेनीसन ने मृत्यु के आघातों को वेदना के अतिरेक के साथ ही झेला था,[2] वर्डस्वर्थ मानव की स्वार्थपरता से खिन्न होकर प्रकृति से प्रेरणा ले रहा था[3] और विद्रोही शैली मृत्यु न मिलने का रोना रो चुका

1—कीट्स योद्धा के माध्यम से अपने लिये लिख चुका था :—

I see a lily on thy brow
With anguish moist and fever dew.
And on thy cheeks a fading rose
Fast withereth too.

2—Break, break, break.
At the foot of thy crags, o sea
But a tender grace of a day that is dead
Will never come back to me.

3—To her fair works did Nature link
The human soul that through me ran,

था।[1] पर ब्राउनिंग ने अपने संघर्षों के सामने साहस नहीं छोड़ा। तरुण कवियों में कवि-सम्मेलनों में आज के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि नीरज ने सबसे अधिक विरह-गीत लिखे हैं। नीरज की प्रेम-वेदना अत्यन्त प्राथमिक स्तर की है, जो प्रणय की असफलता पर सीधे 'मृत्यु-गीत' रचकर कवि-प्रतिभा के सबसे बड़े शत्रु,गलेबाजी तथा दलबंदी के कलह-क्षेत्र कवि-सम्मेलनों में मृत्युवाद को जन्म देने में उत्साह रखती है, गंभीर व्यथा का उत्साह-धन नहीं प्राप्त कर पाती। चाँद को समर्पित 'विभावरी' के अधिकाँश गीत तरुण-सुलभ वेदना का साधारण पर उबलता हुआ विरहाभास ही देते हैं। कवि प्रिय को इन सिनेमा तथा बाजार में प्रचलित शब्दों में समझाता है :—

मत करो प्रिय रूप का अभिमान,
कब्र है धरती, कफन है आसमान।
हर पखेरू का यहां है नीड़ मरघट पर,
हैं बंधी हर एक नया मृत्यु के तट पर,
खुद बखुद चलती हुई यह देह अर्थी है
प्राण है प्यासा पथिक संसार पनघट पर
किसलिए फिर प्यास का अपमान
जी रहा है प्यास पी पी कर जहान।[2]

उक्त गीत की प्यास अबोध तरुण की अनजान प्यास है, प्रेम को पहचानने

And much it grieved my heart to think
What Man has made of Man ?

1.—Alas I have nor hope nor health,
Nor peace within nor calm around,
Nor that content, surpassing wealth
The sage in meditation found.
And walk'd with inward glory crown'd
Nor fame nor power not love nor leisure,
Others I see whom these sorround
Smiling they live and call life pleasure
To me that cup has been dealt in another measure.

२—विभावरी (५)

वाले कवि की प्यास नहीं। ऐसी प्यास का संमान नहीं हो सकता। कविसम्मेलन कवि की भाषा पर कितना अत्याचार कर सकते हैं, नीरज की भाषा इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। मौत की स्तुति प्रसाद कर गए हैं, बच्चन ने कहीं-कहीं उसे पुचकारा है, पर नीरज ने उसे अपने सृजन की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। किन्तु यह निश्चित है कि महान कला मृत्यु की जर्जर नींव पर नहीं, जीवन की सबल नींव पर ही सदा खड़ी हुई है, हो रही है, होगी, क्योंकि संभव ही यही है।

चांदी के देश में कवि अपने हृदय से प्यार भी सोच समझ कर करने की बातें करता है और उसे अपनी करुण कराहें सुनने वाला कोई नहीं मिलता। ऐसा लगता है, जैसे कवि किसी को सचेत भी करता चल रहा है :—

चाँदी का यह देश, यहाँ के छलिया राजकुमार,
सोच समझ कर करना पंथी यहाँ किसी को प्यार,
हृदय व्यापार।

यहाँ किसे अवकाश सुने जो तेरी करुण कराहें,
तुझ पर करे प्यार यहाँ खाली हैं किसकी बाहें,
बादल बन कर खोज रहा तू किसको इस मरुथल में,
कौन यहाँ व्याकुल हों जिसकी तेरे लिए निगाहें,
फूलों की यह हाट, लगा है मुस्कानों का मेला,
कौन खरीदेगा तेरे घायल आँसू दो चार,
सोच समझ कर करना पंथी यहाँ किसी से प्यार।[1]

जब कभी कवि को सुनयना के दर्शन होते हैं, वह उमर खैयाम के दर्शन को अपने चिरपरिवर्तनीय आकर्षण में घुला-मिला कर उससे साफ साफ कह देता है :

आज पिला दो जी भर कर मधु कल का करो न ध्यान सुनयने!
कल का करो न ध्यान।

संभव है कल तक मिट जाए मधु के प्रति आकर्षण मन का,
मधु पीने के लिए न हो कल संभव है संकेत गगन का,
पीने और पिलाने को हम ही न रहें कल संभव यह भी,
पल पल पर झकझोर रहा है काल प्रबल दामन जीवन का,

१—विभावरी (१७)

कौन जानता है कब किस पल तार-तार क्षण में हो जाये
जीवन क्या सांसों के कच्चे धागों का परिधान सुनयने।
कल का करो न ध्यान ।।[१]

जीवन की क्षण-भंगुरता का ध्यान आने पर प्रेमी के हृदय में दो प्रकार के भाव उठते हैं। प्रथम में वह डरता है कि प्रेम क्या करे, जब कि दो में से एक दूसरे से छिन जायगा। शेक्सपियर की दार्शनिकता ऐसा ही भय प्रकट करती है।[२]

द्वितीय में वह जानता है कि विछोह तो अवश्यंभावी है ही, अतः क्यों न मिलन का भरपूर रस ले लिया जाये। उमर खैयाम का दर्शन ऐसे ही उद्गार प्रकट करते है।[3] शेक्सपियर पूर्ण सात्त्विक है, बहुत दूर तक दार्शनिक है। खैयाम भी प्रेमी है, भले ही वह भोगवादी हो। पर नीरज तो प्रेम के मूल में ही संशय भर देते हैं, जो उनके प्रेम को प्रेम ही नहीं रहने देता। अपरिपक्व अवस्था में दार्शनिक बन जाना कवि के लिए बड़ा खतरनाक होता है।

१—विभावरी (१९)

२—उदाहरण के लिए इस प्रकार की सब से प्रसिद्ध 'समय और प्रेम' शीर्षक चतुर्दशपदी देखिए :

When I have seen by Time's fell hand defaced
The rich proud cost of outworn buried age;
When sometime lofly towers I see down razed,
And brass eternal slave to mertal rage.
When I have seen the hungry ocean gain
Advantage on the kingdom of the shore,
And the firm soil win of the watery main,
Increasing store with loss and loss with store,
When I have seen such interchange of state,
Or state itself confounded to decay,
Ruin hath taught me thus to reminate—
That time will come and take my love away;
This thought is as a death which cannot choose
But weep to have that which it fears to loose.

३—दो चतुष्पदियाँ उदाहरणार्थ पर्याप्त हैं :

Come fill the cup and in the Fire of spring
The winter Garment of Repentance fling.

पत्थरों के देश की राजकुमारी को समर्पित 'प्राण-गीत' में कवि का प्रेम कुछ पुष्ट-सा रूप लेकर प्रकट हुआ है, वह प्रिय के बिना धरा के स्वर्ग को भी व्यर्थ बतलाने की सोच सका है :

जब न तुम ही मिले राह पर तो मुझे
स्वर्ग भी गर धरा पर मिले व्यर्थ है ।[1]

धरा पर स्वर्ग की कल्पना नयी नहीं है । फिर भी उसमें सबलता का आभास है । पवित्र प्यार करने की प्रेरणा देते हुए भी कवि 'डर' शब्द से मुक्त नहीं हो पाता :

तुम डरो न, प्यार करो प्यार करो
प्यार तो सदैव ही पवित्र है ।[2]

पर प्रेम में पुष्टता का आभास तब समाप्त हो जाता है, जब वह प्रिय का स्मरण रकीबों के साथ करता है, भले ही प्रिय तथा रकीबों को उर्दू के शायरों की तरह अपशब्द न कहता हो, क्योंकि हिन्दी की संस्कृति इसके अनुकूल नहीं है :

जब सूना सूना तुम्हें लगे जीवन अपना
तुम मुझे बुलाना मैं गुंजन बन आऊंगा ।
जिस दिन तक बगिया में भौंरों की रहे भीड़
उस दिन तक तुम मत आने देना मुझे पास,
जिस दिन तक बुलबुल गाती रहे बहारों को
उस दिन तक मत पूछना कि मैं क्यों हूँ उदास,
लेकिन जिस दिन पथ पर सपनों की उड़े धूल
तब मुझे बुलाना मैं चन्दन बन जाऊँगा ।

The Bird of Time has but a little way
To fly and so The Bird is on the Wing.
Ah, make the most of what we yet may spend,
Before we too into the Dust Descend,
Dust into Dust and under Dust, to lie,
Sans Wine, san song, sans Singer and Sans End.

१—प्राण-गीत (१२) ।
२—प्राण-गीत (६) ।

जब सूना सूना तुम्हें लगे जीवन अपना
तुम मुझे बुलाना मैं गुंजन बन आऊँगा ।।[१]

उर्दू के विरह-वर्णनों में वासनामूलक प्रेम का आधिक्य रहा है। नीरज पर उसका प्रभाव पड़ा है। भारतीय बगिया में बुलबुल से बहारों का गान सुनना-सुनवाना उसी का एक परिणाम है। भाषा पर भी उसका प्रभाव पड़ा है। अपने कंठ के कारण उन्हें लोकप्रियता तो मिली है, संपादकवाद ने भी हवा का रुख परख-कर उन्हें प्रोत्साहित किया है, पर अभी उनमें वह स्थिरता तथा गंभीरता नहीं आ पायी, जो किसी कवि को स्थायित्व प्रदान करती है। उनमें प्रतिभा है, पर कवि-सम्मेलनों तथा सम्पादकों ने उसे पनपने का अवसर देने के पहले ही आक्रान्त कर दिया है। हिन्दी के दुर्भाग्य से कवि-सम्मेलन दिन पर दिन संगीत-सम्मेलन या मनोरंजन-कार्यक्रम बनते चले जा रहे हैं तथा प्रतिभा को परख कर समय पर उसे डांट-फटकार कर ठीक रास्ते पर लगाने वाला कोई महान सम्पादक आचार्य द्विवेदी के बाद देखने में आया ही नहीं।

नरेन्द्र की तरह नीरज का काव्य-क्षेत्र विरह-मात्र में बँधा न होकर व्यापक है। जिस प्रकार परिस्थिति ने नरेन्द्र को विरह-गान गाने का अवसर दिया था, उसी प्रकार नीरज को भी देती रहती है। वैसे वे विविध विषयों पर राज-नैतिक ढंग की कविताएँ भी लिखते हैं तथा जोशीले गीत भी गाते रहते हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी-साहित्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा कि उस पर राजनीति का प्रत्यक्ष या परोक्ष शासन स्थापित हो गया। किसी को संसद या प्रान्तीय कौंसिल का, किसी को रेडियो या शासकीय पत्र पत्रिका का, किसी को अकादेमी या प्रतिनिधिमंडल का पदस्थ नायक बनाकर राजनीति ने साहित्य पर अपना पूरा आतंक स्थापित कर लिया है। नीरज इस आतंक से बहुत दूर तक बचे तो, पर राजनैतिक प्रचारवान से मुक्त नहीं रह सके। परिणामतः विरहहेतर क्षेत्रों में भी उनकी आत्मा के नहीं, राजनीति के स्वर बोलते रहते हैं। पर उनमें अपरिपक्व प्रेम से उत्पन्न विरह-गीतों की अपेक्षा सजीवता अधिक रहती है, क्योंकि कवि की सामाजिक चेतना क्रान्तिमयी न होने पर भी उद्‌बुद्ध अवश्य है।

छायावाद के बाद रचे गए विरह-वर्णनों में यत्र-तत्र पदार्थ के नाम पर अति मांसलता तथा प्रयोग के नाम पर अतिनव्यता की अस्वाभाविकता के आते

१—प्राणगीत (१५)

हुए भी जो नवीनता, स्वानुभूतिमयता, सरलता तथा सहजात मर्मस्पर्शिता आयी है उसका मूल्य साधारण नहीं है। प्रगति-प्रयोग-युग हिन्दी को कोई मैथिलीशरण, हरिऔध, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी नहीं दे पाया, यह ठीक है। पर कुल मिलाकर वह उसके काव्य को यथार्थ नवीनता तथा सारल्य की जिस भूमिका पर प्रतिष्ठित कर रहा है, वह उसकी बहुत बड़ी देन है। इस यथार्थ नवीनता तथा सारल्य की भूमिका पर कोई महाकवि उत्पन्न हो सकता है और हम उसकी प्रतीक्षा में हैं।

विरह में साहस एवं उत्साहोन्मुख प्रेम निराशावाद के आधुनिक प्रगीत-काव्य-युग में नहीं दृष्टिगोचर हुआ, जिसका कारण युग कम, व्यक्तिगत शक्ति का अभाव अधिक है, क्योंकि महान प्रतिभाएं युग की दुर्बलता का आँख मूँदकर अनुकरण न करके नया युग ही अधिक उत्पन्न करती हैं। फिर भी, प्रेम की तल्लीनता, वेदना में उल्लास, स्मृति में उल्लास तथा प्रेम की दृढ़ता नयी कविता में भी विद्यमान है :—

अब सुधि श्वास बनी
मैंने मन के भीतर देखा
सूनी एक पड़ी थी रेखा
वह पगली अपने पतझर में चिर मधुमास बनी।
अब सुधि श्वास बनी।
आशा और निराशा कैसी
विरह मिलन की भाषा कैसी
हिय की धड़कन शेष दिनों का दृढ़ विश्वास बनी।
अब सुधि श्वास बनी।
कल तक मैं था भूला परिचय
पल भर में ही आज असंशय
मेरी सृष्टि तुम्हारी आँखों का आकाश बनी।
अब सुधि श्वास बनी।[1]

—केदारनाथ मिश्र।

गीत के तल में प्रेम की पवित्रता है, फिर भी यह आदर्शात्मक उपदेश नहीं है, मर्म-व्यथा ही है। ऐसी कविताएँ अभिनय विरह-काव्य को जिस पथ पर लगा

१— कवि भारती, पृष्ठ ६१२।

सकती हैं, वह काव्य का सबसे सुन्दर पथ है—पवित्र यथार्थ, क्योंकि कितना ही बर्बर क्यों न हो, मानव का अन्तस् अन्ततोगत्वा है पवित्र ही, उसकी बर्बरता उसकी पवित्रता की तुलना में नहीं खड़ी हो सकती। न मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्। सबेर ऊपर मानुश सत्य !!

निम्नलिखित पंक्तियों में ही जानकीवल्लभ शास्त्री प्रेम के वेदनामय उल्लास का विरोधाभास-वैभव जिन मधुर शब्दों में व्यक्त कर रहे हैं, वे किसी भी साहित्य का शृंगार कर सकते हैं :

मेरी शिथिल मंद-गति ही क्यों,
गिरि, वन, सिन्धु-धार भी देखो।

× × ×

आँखों का खारा जल ही क्यों,
उर का मधुर प्यार भी देखो।

× × ×

ऊपर सूनी डाली ही क्यों,
नीचे हरसिन्गार भी देखो।

× × ×

सोने का तपना ही क्यों
तुम अपना कंठ-हार भी देखो।[१]

अज्ञेय जानते हैं कि प्रेम कभी परास्त नहीं होता :—

हृदयों के अंतराल में
जीवन बिता गया
संशय के दंश से
साहस तिलमिला गया
प्यार पर हारा नहीं
अमल विनय से
घास फूल धैर्य का
चुपके खिला गया।[२]

१—कवि भारती, पृष्ठ ६२३।

२—बावरा अहेरी, पृष्ठ १३।

यहाँ की 'अमल विनय' पर अज्ञेय के आलोचकों को ध्यान देने की आवश्यकता है।

प्रयोगवादी कवियों में सबसे अधिक गंभीर अनुभूतियों तथा सशक्त एवं भावानुकूल भाषा के धनी कवि श्री भवानीप्रसाद मिश्र 'स्नेह-शपथ' लेना जानते हैं, पूरे उत्साह और साहस के साथ :

कितने भी गहरे रहें गर्त,
हर जगह प्यार भा सकता है,
कितना भी भ्रष्ट जमाना हो,
हर समय प्यार भा सकता है
जो गिरे हुए को उठा सके
इससे प्यारा कुछ जतन नहीं
दे प्यार उठा पाये न जिसे
इतना गहरा कुछ पतन नहीं।
देखे से प्यार भरी आँखें
दुस्साहस पीले होते हैं
हर एक धृष्टता के कपोल
आंसू से गीले होते हैं।[1]

शमशेरबहादुरसिंह प्रेम की शाश्वत महिमा को किसी से कम नहीं समझते :

कहाँ किया मैंने प्रेम
अभी।
जब करूँगा प्रेम
पिघल उठेंगे
युगों के भूधर
उफन उठेंगे
सात सागर।

× × ×

सरल से भी गूढ़, गूढ़तर
तत्व निकलेंगे

१—दूसरा सप्तक, पृष्ठ २३-२४।

अमित विषमय
जब मथेगा प्रेम, सागर
हृदय ।

× × ×

तब बनोगी एक
गहन मायामय
प्राप्त सुख
तुम बनोगी तब
प्राप्त जय ।[1]

कीर्ति चौधरी की 'एकांत'-भावना केवल मर्मस्पर्शी ही नहीं, पवित्र भी है :

अब अक्सर जब
एकांत कहीं भी होता है
जाने किसके हित माथा मेरा झुक जाता
ये दृग मुंद कर वर्णनातीत सुख पाते हैं ।
मेरी तो कोई मूर्ति नहीं
मैंने तो कुछ भी कहीं प्रतिष्ठित नहीं किया ।
प्रति क्षण बढ़ते ही जाने वाले जो अभाव हैं
उनकी कोई पूर्ति नहीं ।
पर जाने क्यों
अनजान दिशा में हाथ स्वयं जुड़ जाते हैं
होकर कृतज्ञ
अन्तर सहसा ही भर आता
चेतन प्रबुद्ध मन
आस-पास को भूल बिसर
अपमान मान सब खोता है
अक्सर अब जब एकांत कहीं भी होता है ।[2]

यहाँ पर रहस्यात्मक निवेदन भी (यदि कुछ है तो) अत्यन्त सरल एवं

१---दूसरा सप्तक, पृष्ठ ११४ ।

२---कविताएँ, पृष्ठ ६१ ।

सहज है। रामावतार त्यागी प्रेम को व्यापक रूप में न देखते हुए भी उसकी अटूटता का प्रण करना जानते हैं।

उड़ना था स्वप्न विहंगम ही तो थे,
लेकिन मैं उनका मोह न छोड़ूँगा,
मेरे मन का जिस-जिस से नाता है,
मर जाऊँगा सम्बन्ध न तोड़ूँगा।[1]

'जिस-जिस' का बहुवचन-सूचक प्रयोग भले ही आलोच्य विषय हो, पर 'सम्बन्ध न तोड़ूँगा' की घोषणा में शक्ति के तत्त्व विद्यमान हैं। 'जिस-जिस' की दुर्बलता आधुनिक साहित्य का ही नहीं, प्राचीन साहित्य का भी एक अंग रही है, जिसका प्रचार पंजाबी की प्रमुख कवयित्री अमृता प्रीतम करती रहती हैं। इस दुर्बलता का आधार मनुष्य है, इसमें खेद हो सकता है, सन्देह नहीं।

छायावाद के बाद हमारे विरह-काव्य में स्तुत्य अन्तर्बाह्य सहजता-सरलता तो आयी, पर वर्ण्य विषय का वह व्यापकत्व न आ सका, जो भक्ति-काल या द्विवेदी-युग के विरह-काव्य में थोड़ा-बहुत विद्यमान था, तथा अँग्रेजी और कन्नड़ इत्यादि में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में विद्यमान है। हम पहले ही कह आये हैं कि हिन्दी का विरह-काव्य कुल मिलाकर संसार की किसी भी भाषा के विरह-काव्य से कम नहीं है, वात्सल्य-विरह में तो अद्वितीय भी है। पर उसमें वह वर्ण्य-विषय-विस्तार नहीं है, जो प्रौढ़ों के गम्भीर प्रेम, वृद्धों के निगूढ़ प्रेम, बालक बालिकाओं के सरल प्रेम, गुरु-शिष्य-प्रेम, देशप्रेम, मातृ-पितृ-प्रेम, मातृभूमि-प्रेम तथा अन्य जीवों के पारस्परिक या उनके प्रति अपने प्रेम की वियोगजन्य वेदना को भी वाणी की विभूति प्रदान कर सके। भक्तिकाल में तुलसी, सूर, हरिराम व्यास इयादि की प्रेम-दृष्टि दाम्पत्य-वात्सल्येतर प्रेम से ऊपर या बाहर गयी थी और बन्धु-विरह, जन्मभूमि-विरह, गुरु-विरह के कुछ सुन्दर वर्णन हुए थे। द्विवेदी-युग में यह दृष्टि और भी विशद हुई, पशु-पक्षियों, मित्रों इत्यादि तक पहुँची। पर छायावादी युग में आकर वह पुनः संकुचित हो गयी। खेद है कि प्रगति-प्रयोग-युग में भी वह संकुचित ही बनी रही, 'प्रिया' के घेरे से बाहर न आ सकी। कन्नड़ के यशस्वी कवि बेन्द्रे अतिवृद्ध पुरुष के अपनी वृद्धा प्रिया के प्रति आसन्न-चिरविरहोद्गार जब बड़े मर्मविधक पर आशान्वित दृष्टिकोण से व्यक्त कर सकते हैं, तब क्या हमारा कवि प्रौढ़ तथा वृद्ध लोगों के प्रौढ़ तथा प्रकृष्ट उत्तेजनाहीन प्रेम पर कुछ नहीं लिख सकता? क्या प्रेम एक निश्चित अवस्थावालों के बीच ही बंधी रहने वाली अस्थायी भावना है? क्या

१—'५५ की श्रेष्ठ कविताएँ', पृष्ठ ६१।

हमारे कवि ऐसा जीवन बिता रहे हैं कि उन्हें सहृदय पिता, वात्सल्यमयी माता, ज्ञानदाता गुरु, स्नेहदाता मित्र, स्वर्गादपि गरीयसी मातृभूमि, स्फूर्तिदाता पशु-पक्षियों के प्रति प्रेम-भाव अनुभूत ही नहीं होता ? क्या प्रेम को विशद करके वे नवीनता की दृष्टि से भी अधिक महान नहीं बन सकते ? क्या ऐसी कविताओं में उच्चतरकोटि का भाव-वैभव व्यक्त नहीं हो सकता ? जहाँ कहीं नये कवि ने प्रिया-भाव से आगे बढ़कर विरह-वेदना को व्यक्त किया है, वहाँ वह कितना सजीव है, इसका एक उदाहरण लीजिए :—

देश काल तज कर मैं आया
भूमि सिन्धु के पार, सलोनी
उस मिट्टी का परस छूट गया
जैसे तेरा प्यार, सलोनी।
दुनियाँ एक मिट गयी, टूटे
नया खिलौना ज्यों मिट्टी का
आँसू की सी बूँद बन गया
मोती का संसार, सलोनी।
स्याह सिन्धु की इस रेखा पर
है झिलमिली तिलिस्मी दुनियाँ
हुमक उमगती याद फेन सी
छाती में हर बार, सलोनी।
सभी पराया सभी अचीन्हा
रंग हजारों पर मन सूना
नभ-भवनों में याद आ रहे
वे कच्चे घर द्वार, सलोनी

× × ×

धन, विलास, मद, नृत्य, केलि, रस
ऋतु रोमानी तन रोमाञ्चित
कहीं नयन मिल होते शीतल
अपने मन अंगार सलोनी।[१]

नये विरह-काव्य की सहजता-सरलता का प्रभाव पुराने जागरूक कवियों पर

१—श्री गिरिजाकुमार माथुर कृत 'धूप के धान' में 'न्यूयार्क की एक शाम' शीर्षक कविता।

भी पड़ा। उन्होंने अपने स्वरों की उदात्तता के साथ सरलता का समन्वय कर दिया। कुछ उदाहरण दे देना उचित होगा :—

बाँध दिये क्यों प्राण
प्राणों से !
तुमने चिर अनजान
प्राणों से !
गोपन रह न सकेगी
अब यह मर्म-कथा,
प्राणों की न रुकेगी
बढ़ती विरह-व्यथा,
विवश फूटते गान
प्राणों से !
यह विदेह प्राणों का बन्धन,
अन्तर्ज्वाला में तपता तन,
मुग्ध हृदय सौन्दर्य-ज्योति को
दग्ध कामना करता अर्पण !
नहीं चाहता जो कुछ भी आदान
प्राणों से !
बाँध दिये क्यों प्राण
प्राणों से ![1]

अब पुराना विरही कवि अपनी पवित्र प्रेम-स्मृति को ऋजुता की विभूति प्रदान कर पुनः नयी पीढ़ी को अनुकरण-संदेश देने की क्षमता दिखलाता है। यह हमारे साहित्य के लिए वरदान ही है :—

वन फूलों की तरु डाली में
गाती अह, निर्दय गिरि कोयल,
काले कौओं के बीच पली,
मुँहजली, प्राण करती विह्वल।
कोकिल का ज्वाला का गायन,
गायन में मर्म व्यथा मादन,

१—आधुनिक कवि : २, (पंत), पृष्ठ ६।

उस मूक व्यथा में लिपटी स्मृति,
स्मृति पट में प्रीति कथा पावन ।
वह प्रीति तुम्हारी ही प्रिय निधि,
निधि, चिर शोभा की (जो अनन्त
कवि कुसुमों के अंगों में खिल
बनती रहती जीवन बसन्त ।)
उस शोभा का स्वप्नों का तन,
(जिन स्वप्नों से विस्मित लोचन ।
जो स्वप्न मूर्त हो सके नहीं,
भरते उर में स्वर्णिम गुंजन ।)
उस तन की भाव द्रवित आकृति,
(जो धूप छांह पट पर अङ्कित ।)
आकृति की खोयी सी रेखा
लहरों की बेला सी मज्जित ।
यौवन बेला वह, स्वप्न लिखी
कवि रेखाएँ जिसमें ओझल
तुम अन्तर्मुख शोभा धारा
बहती अब प्राणों में शीतल ।
प्राणों की फूलों की डाली,
स्मृति की छाया मधु की कोयल,
यह गीति व्यथा, अन्तर्मुख स्वर,
वह प्रीति कथा, धारा निच्छल ।[1]

कोई-कोई आलोचक प्राणों की विकलता पर आपत्ति प्रकट करते हैं । पर यह निश्चित है कि ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है, मनुष्य का शरीर विपन्न और प्राण सम्पन्न होता जाता है । मानव-संस्कृति का निर्माण प्राणों की सम्पन्नता ने ही किया है । शरीर की सम्पन्नता प्राण की सम्पन्नता की प्रेरणा पाकर सभ्यता का निर्माण ही करती आयी है, कर रही है, करेगी, क्योंकि संभव भी यही है । और प्राण शरीर के बाहर की वस्तु तो है नहीं । फिर प्राणों से इतना चिढ़ना शरीर का ही अपमान करना हुआ, क्योंकि प्राण शरीर का भी शरीर है । हम चाहते हैं, नयी कविता प्राणों की सम्पन्नता की ओर भी डग बढ़ाऐ, केवल शरीर की ही सम्पन्नता के

---

१ -- अतिमा (पंत), स्मृति' शीर्षक कविता ।

प्रयास में न उलझी रहे। इससे उसका शरीर स्थायी बनेगा, क्योंकि प्राण शरीर का भी शरीर है।

मानव चिरंतन है, मानव की अनुभूति चिरंतन है। अतएव काव्य की कोई परंपरा किसी भी युग में सर्वतोरूपेण विछिन्न नहीं होती। छायावादोत्तर युग काव्य में भौतिकता के प्राधान्य का युग है। तथापि उसमें यत्र-तत्र चिरंतन मानवीय आध्यात्मिकता भी अभिव्यक्त हुई है। डॉक्टर मुंशीराम शर्मा 'सोम' का महाकाव्य 'विरहिणी, इस तथ्य का एक सशक्त निदर्शन है।

'विरहिणी' एक आध्यात्मिक काव्य है, जिसमें प्रकृति की समग्र शक्तियों के संचित-संक्षिप्त-संस्करण मानव के 'नंदन वन' में विहार करने के हेतु विहृति मार्ग से प्रविष्ट होने वाली, किंतु च्युत होकर विकल होने वाली, आत्मा की समग्र विरह-गाथा विशुद्ध वैदिक आधार पर गाई गई है। इस एकादश सर्गीय महाकाव्य में आत्मा-परमात्मा के चिरंतन संबंध पर वैदिक दृष्टिकोण इतने गंभीर रूप में व्यक्त हुआ है, विरहिणी आत्मा की परमात्मा की प्राप्ति के प्रति विकलता इतने पवित्र रूप में अभिव्यंजित हुई है, अपने मूल उद्देश्य के प्रति आस्था इतने जागरूक रूप में स्पष्ट की गई है कि इसे देखकर भक्तिकालीन रहस्यात्मक विरह का स्मरण हो आता है। स्वभावतः यह काव्य कठिन है। इसमें वैदिक शब्दों की भरमार है, चिंतन-पक्ष कलापक्ष को दबाए है। पर इस प्रकार की रचनाओं का एक स्वतंत्र उद्देश्य होता है महा-भारत के संबंध में कला-पक्ष की चर्चा नहीं, उसके विराट् जीवन-दर्शन की चर्चा ही समीचीन होगी; तुलसी के उत्तर कांड का उत्तरार्द्ध अलंकारों की दृष्टि से नहीं, भक्ति निरूपण की दृष्टि से रचा गया है। दोनों अपने ध्येय में सफल हैं, अतः महान हैं। यही बात अपने क्षेत्र एवं अपनी सीमा में 'विरहिणी' पर कही जा सकती है।

नयी कविता, और उसका एक प्रमुख अंग विरह की अभिव्यक्ति आगे बढ़ रही है। दुर्भाग्य यह है कि भाव तथा भाषा की दृष्टि से उसका घेरा अंग्रेजी से ही बँध गया है। इलियट को विश्व का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित करना नये कवियों को ही नहीं, पुराने अधेड़ों का भी फैशन की चीज प्रतीत होता है, पर संसार की तो दूर, भारत की भाषाओं के नाम भी याद करने में उनकी रुचि नहीं है। मैथिलीशरण, निराला, वेन्द्रे, जोश, नजरुल इन सबको छोड़कर कभी-कभी वे उस अंग्रेजी कविता का ज्ञानाभासजन्य आडंबर प्रकट करने लगते हैं, जो एक शोषक राष्ट्र की अभिनव दुर्बलता से ग्रस्त होकर अपने काव्य में ग्रन्थि-बद्ध तथा दुरूह, परिणामतः लोकप्रियता से रहित होती चली आ रही है। इङ्गलैण्ड का शोषण समाप्त हो गया है, युग उसे

मजबूर एवं अशक्त बनाकर पुराने अपराधों की सजा दे चुका है, दे रहा है। वह अमेरिकी डालर का मुहताज है, रूस की एक डांट पर रो देता है, मिस्र जैसे छोटे राष्ट्र की सत्य-शक्ति की लातें खा लेने को विवश होता है। इसके विपरीत भारत एक नव-जागृत राष्ट्र है, जिसकी धमनियों में नव-निर्माण का तप्त रक्त है, या होना चाहिए, जिसके प्राणों में इङ्गलैण्ड से कहीं अधिक महान, प्राचीन तथा त्यागमयी संस्कृति की शक्ति है। इङ्गलैण्ड के अनुकरण के दिन अब लद गये। अब भारतीय कवि को अपने राष्ट्र की आत्मा को अभिव्यक्त करना है, क्योंकि वहाँ उसे वह सन्देश प्रदान करने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है, जो भावी विश्व का निर्माण करने वाला बन सकता है। आज के बौद्धिक तथा विश्वबंधुत्ववाद के युग में नये कवि को केवल अँग्रेजी चश्मे से संसार को देखना उसकी असमर्थता ही है, भारत को उस चश्में से देखना भारत का अपमान करना है। इस अपराध का दण्ड उसे मिल भी रहा है। अंग्रेजी के आतंक से ग्रस्त कोई भी कवि तृतीय श्रेणी से ऊपर नहीं उठ पाया, पत्र-पत्रिकाओं में उछल-कूद कर या एकाध लोकप्रियता की दृष्टि से दरिद्र पुस्तकें छपा कर समाप्त हो गया। आज भारत में एक सजग कवि को होमर से लेकर इलियट तक का पाश्चात्य साहित्य-चक्र देख लेना आवश्यक है, पर वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर, शंकरदेव, कम्बन, पंप, कुमार व्यास, नरसी, भोरेपंत से लेकर रवीन्द्रनाथ, इकबाल, भारती, वल्लत्तोल, मैथिलीशरण, वेन्द्रे तक की कविता-गंगा में स्नात होना अनिवार्य है। इस अनिवार्य की अनिवार्यता को समझे बिना वह राष्ट्र की जनता के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं कर पायेगा, फलस्वरूप जनता उसे आज या कल नष्ट कर देगी। हिन्दी राष्ट्रभाषा है, उसे राष्ट्र पर पूरा ध्यान न देने पर अपने पद से हटना पड़ेगा, कर्त्तव्य पूरा न करने पर पद से हटना या हटाया जाना प्रकृति और मानव का नियम है। स्पष्ट है कि इलियट की अपेक्षा मैथिलीशरण, निराला, मेघाणी, नजरुल, जोश, वेन्द्रे का प्रभाव हमें अपनी मौलिकता के साथ ज्यादा लाभ पहुँचा सकेगा। नये कवि को यह तथ्य भुलाने के कारण काफी दण्ड देना पड़ा है, और यदि वह इस तथ्य को भुलाता रहा, तो उसे असफलता के साथ समाप्त भी होना पड़ेगा।

एक बात और ; हिन्दी की नयी कविता अपनी अनुभूति में बहुत दूर तक यह भूल रही है कि यह देश निर्धन कृष्कों-श्रमिकों का देश है, जिनके जीवन को साहित्य में उतारने पर ही प्रथम कोटि का काव्य-सृजन सम्भव हो सकता है, क्योंकि युग-निष्ठा ही नहीं, समाज-निष्ठा भी महान काव्य का आवश्यक अंग है। भाषा

की दृष्टि से नया कवि इस दिशा में स्तुत्य कार्य कर रहा है, किन्तु अनुभूति की दृष्टि से उसे अभी आगे बढ़ना है। लोकानुभूति एवं लोक-ग्राह्य अभिव्यक्ति कवि को कितना ऊँचा उठा सकती है, गुजराती के मेघाणी और कन्नड़ के मधुर-चन्न इसके प्रतीक हैं। हर्ष है कि नया कवि इधर ध्यान दे रहा है। पर उसे इस ओर अधिक ध्यान देना पड़ेगा। हिन्दी में खड़ीबोली-कविता ही सबसे कम जन-प्रेम पा सकी है, बहुत दूर तक सामान्य जनता अब भी ब्रज और अवधी में ही रस पाने को विवश बनी है। इस समस्या का समाधान नये कवि को ढूँढ़ना है। विरह की दृष्टि से यह दृष्टि और भी अधिक वांछनीय है, क्योंकि विरह अपने मूल रूप में सबको एक-जैसा ही स्पर्श करता है।

यह सौभाग्य का विषय है कि नयी कविता अपने समग्र तथा स्वस्थ रूप में वाद की शृङ्खलाओं को तोड़कर आगे बढ़ने का प्रयास कर रही है। हिन्दी-साहित्य तथा उसका विरह-काव्यांग अपने ऋजु तथा सजग रूप में जिस दिशा की ओर जा रहा है, वह एक श्रेष्ठ दिशा है।

खड़ी-बोली के कतिपय विशिष्ट कवियों के विरह वर्णन ४

यों तो खड़ीबोली-साहित्य का एक लम्बा इतिहास है, पर हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों ने उसे काव्य-भाषा के रूप में बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही अपनाया है। इस अपनाये जाने के मूल में आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व अपना सर्वोपरि महत्त्व रखता है। आचार्य द्विवेदी ने अपने युग की भाषा और साहित्य को जितना अधिक प्रभावित किया है, संसार के साहित्यिक इतिहास में अपने युग की भाषा और साहित्य को किसी दूसरे एक व्यक्ति ने उतना अधिक प्रभावित नहीं किया। अपने युग के साहित्य की साधना-वरित्री पर वे आकाश की तरह छा गये थे। कबीर, सूर और तुलसीदास के बाद आचार्य द्विवेदी का ही व्यक्तित्व हमारे साहित्य में ऐसा मिलता है, जिसकी साधना ने उसे सर्वाधिक गौरव प्रदान किया। आचार्य स्वयं लिखने के बजाय दूसरों के लिखे हुए पर छाये रहे। ऐसा त्याग संसार के किसी अन्य साहित्यकार ने शायद ही किया हो। स्वयं लिखने का अवसर उनकी युग-निर्माण-साधना को कैसे मिलता? उनकी साधना स्व को भूल कर भी स्व के गौरव की सबसे महान प्रतीक बन गयी। बीसवीं शताब्दी ने हिन्दी के क्षेत्र में जो सबसे महान व्यक्तित्व पाया है, वह आचार्य द्विवेदी का ही है। खड़ी-बोली काव्य का इतिहास आचार्य में ही अपने प्रारम्भ, विकास एवं उत्थान की कहानी केन्द्रित किये है।

खड़ी-बोली का विरह-काव्य भी द्विवेदी-युग से ही प्रारम्भ होता है। यों तो थोड़ा-बहुत विरह-वर्णन उस युग के प्रायः सभी कवियों की रचनाओं में प्राप्त होता है, पर नवीनता, विशदता तथा गम्भीरता के साथ ही कलात्मक गुरुता एवं भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से दो महाकवि ऐसे हैं, जिन्होंने हिन्दी-विरह-काव्य को निस्संदेह अमर दान दिये हैं। वे दो महाकवि हैं, अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त। हरिऔध और मैथिलीशरण हिन्दी-विरह-काव्य की जायसी, सूर, मीरा और घनानन्द की परम्परा को आगे बढ़ा चुके हैं। सूर और तुलसी के बाद विरह-वर्णन को व्यापक रूप में वर्ण्य-विषय बनाने वाले हरिऔध और मैथिलीशरण सचमुच इस युग के सूर और तुलसी हैं। इनके विरह-वर्णनों पर आचार्य द्विवेदी की समाज के प्रति साहित्य की जागरूकता की प्रेरणा छाई हुई है, जो केवल प्रिया तक ही

आबद्ध न होकर माता-पिता, सखा-सखी, मातृभूमि, बन्धु इत्यादि तक विस्तृत है, तथा अपने कलेवर में समाज के प्रति तप का भाव भी अन्तर्भूत किये है। कला की दृष्टि से यह प्रवृत्ति कुछ खटकने वाली है, पर उसे निरी अस्वाभाविक, नीरस और नैतिकता के आतंक से ग्रस्त कहना असंगत है।

द्विवेदी-युग के बाद हिन्दी में जिस महानत्तम व्यक्तित्व का प्रकाश फैला, वह साहित्य की सभी विधाओं पर पड़ने वाले प्रभाव की दृष्टि से युग-निर्माता भले ही न कहा जा सके, पर कला के क्षेत्र में बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का सबसे बड़ा व्यक्तित्व है। वह व्यक्तित्व जयशंकर प्रसाद का है, जिनकी काव्य-साधना बहुत दूर तक अपने युग पर ही नहीं छायी रही, बाद में भी उसका प्रभाव बना रहा। प्रसाद का वेदनावाद तथा नियतिवाद ज्ञात-अज्ञात रूप से छायावादी काव्य पर तो छा ही गया, बाद में भी बच्चन प्रभृति कवियों पर प्रभाव डालता रहा। यदि यह कहा जाये कि सारा युग निराशा का युग था, इसलिये वेदना तथा नियति का कवियों पर प्रभाव पड़ा, तो यह पूर्ण सत्य न होगा। हिन्दी में ही मैथिलीशरण, हरिऔध, माखनलाल इत्यादि अनेक उत्कृष्ट कवि अपनी मूल भावना में पीड़ा तथा निराशा से मुक्त रहे हैं। छायावादी युग तथा बाद में जो पीड़ा तथा वेदना मिलती है, उस पर प्रसाद का प्रभाव स्वीकार करना ही पड़ेगा। प्रसाद आचार्य द्विवेदी की तरह अपने युग पर छाये तो नहीं, क्योंकि वे युग-गुरु न होकर कलाकार थे, पर उनके महान व्यक्तित्व का प्रभाव युग पर तो पड़ा ही, बाद में भी पड़ता रहा। छायावादी युग तथा उसके बाद में अनेकानेक कवियों ने विरह-गान गाये हैं, पर प्रमुख दो ही हैं—प्रसाद और महादेवी।

विरह एक ऐसा भाव है, जो अपने किसी न किसी रूप में सभी मनुष्यों का स्पर्श करता है। कवि की भावना-मूलकता विरह का विशेष सम्मान करती है, यह स्वाभाविक भी है क्योंकि विरह अन्तरतम को बड़े सशक्त रूप में पकड़ता है और कविता की सृष्टि तभी होती है जब अन्तरतम में हलचल मचती है। हिन्दी में सहस्त्रों कवियों ने विरह-गीत गाये हैं, पर महान एवं अमर सफलता जायसी, सूर, मीरा, घनानन्द, हरिऔध, मैथिलीशरण, प्रसाद और महादेवी को मिली है। इसका कारण स्पष्ट है। विरह एक ऐसी वेदना है, जो अनुभूति के बिना सम्यक् रूप से अभिव्यक्त नहीं हो सकती। अन्य वेदनाएँ कल्पना के सहारे भी उत्कृष्ट रूप से अभिव्यक्त हो जाती हैं, पर विरह के लिये अनुभूति अनिवार्य है। अनुभूति यदि निम्न-स्तर की हुई, साधारण हुई, तो विरह विरह न होकर, वासना का प्रलाप बन जाता है। महान विरह-वर्णन के लिये विरह की महान अनुभूति अनिवार्य है,

जो बहुत कम कवियों को ही प्राप्त होती है। अनेक महाकवि अन्य वर्ण्य-विषय को प्रमुखता देने के कारण विरह पर साधारण दृष्टिपात करके रह जाते हैं, वह बात और है।

हरिऔध और मैथिलीशरण-द्विवेदी युग की आँखें-जीवन की दृष्टि से ऋजु-सरल तथा आत्मा की दृष्टि से पवित्र। दोनों बहुजनगृही, प्रेम के विशद रूप से परिचित, वियोग के नाना रूपों से अभिज्ञ। जीवन की ऋजुता-सरलता ने इनके विरह-वर्णनों में जायसी, सूर, मीरा तथा घनानन्द की तीव्रता, वंकिमता, विद्रोह तथा प्रवेग भले ही अधिक न आने दिया हो, पर प्रेम की व्यापकता ने प्रिय-प्रिया से आगे बढ़कर मातृभूमि, मित्र, माता-पिता, बन्धु इत्यादि का अश्रु-विगलित स्पर्श करने का जो सामर्थ्य इन्हें दिया है, उसकी समता सूर और तुलसी को छोड़कर कोई अन्य हिन्दी-कवि नहीं कर सकता। विरह का व्यापकत्व खड़ीबोली कविता में हरिऔध और मैथिलीशरण में ही दृष्टिगोचर होता है; महाकविजनोचित, गौरवपूर्ण।

महादेवी और प्रसाद के विरह निवेदन मीरा घनानन्द की परंपरा को अपने व्यतिक्तत्व के अनुरूप आगे बढ़ाने वाले विरह-निवेदन है। महादेवी के अश्रुओं में मीरा की उत्साह-भावना नहीं है, पर कला मीरा से बहुत अधिक है। प्रसाद में घनानन्द का विरह-व्यथा का रस-ग्रहण-भाव नहीं हैं, पर वेदना के स्वागत की दार्शनिकता में वे घनानन्द से कहीं अधिक गम्भीर हैं। मैथिलीशरण और हरिऔध का महाकवित्व उनके विरह-वर्णनों पर भी छाया हुआ है, पर महादेवी और प्रसाद अपने विरह-निवेदनों में कवि ही हैं, अधिक संवेदनपूर्ण, अधिक पीड़ापूर्ण, अधिक वेदनापूर्ण, कम व्यापक, कम सरल, कम ऋजु। सच पूछा जाये तो विरह की दृष्टि से मैथिलीशरण और हरिऔध, प्रसाद और महादेवी के पूरक हैं तथा प्रसाद और महादेवी, मैथिलीशरण और हरिऔध के पूरक हैं। चारों मिलकर ही खड़ीबोली के विरह-काव्य को पूर्ण करते हैं, व्यष्टि एवं समष्टि दोनों दृष्टियों से उसे अमर तथा महान बनाते हैं।

(२) महाकवि हरिऔध का विरह-वर्णन

स्वर्गीय पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' मैथिलीशरण गुप्त के साथ-साथ द्विवेदी-युग के सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। उनमें और मैथिलीशरण में अन्तर इतना रहा कि मैथिलीशरण उनसे अधिक युग-सजग तथा जागरूक रहे, प्रत्येक युग की काव्य-धारा का अपने ढंग से लाभ उठाते रहे, और वे युग-प्रभाव को प्रिय-प्रवास में ही साकार रूप दे सके, गुप्त जी केवल कवि रहे, हरिऔध जी गद्य की ओर भी

सचेष्ट हुये । अपनी एकाग्रता एवं व्यापकतर सांस्कृतिक निष्ठा के कारण गुप्त जी अपने युग के हिन्दी के प्रतिनिधि कवि तथा राष्ट्र-कवि बन सके, पर हरिऔध की महिमा प्रिय-प्रवास तक ही केंद्रित रह सकी। किन्तु प्रिय-प्रवास ऐसी कृति है, जो हरिऔध को चिरकाल तक महाकवि घोषित करती रहेगी। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के खड़ीबोली के महाकवियों में गुप्त, प्रसाद, निराला और पंत के साथ-साथ हरिऔध का नाम सदा आदरपूर्वक लिया जाता रहेगा। भविष्य यह सतत स्वीकृत करता रहेगा कि बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में गुप्त, रत्नाकर और प्रसाद के साथ-साथ हरिऔध हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि थे।

हरिऔध की प्रतिभा गद्य तथा पद्य दोनों क्षेत्रों में सजग रही, पर हिन्दी में उन्हें अमरत्व प्रदान करने का श्रेय प्रिय-प्रवास को ही है। बोलचाल, चुभते चौपदे और चोखे चौपदे प्रेरणादायिनी अनुभूति तथा जनवाणी की अभिव्यक्ति में अपना महत्त्व भले ही रखें, मुहावरेदार हिन्दुस्तानी या उर्दू-जैसी कसावट में क्षमता की सूचना भले ही देते रहें, पर उनमें वह मौलिकता नहीं है, जो काल की आँधी को साहस के साथ झेल कर भी अपनी विजय-बैजयंती फहराती रहे। रस-कलस रत्नाकर के बाद आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य का सबसे श्रेष्ठ प्रतीक भले ही बना रहे,[1] उनके काव्यरीति-ज्ञान तथा आचार्यत्व का द्योतन भले ही करता रहे, पर उसमें वह निसर्गगात नवीनता नहीं है, जो वर्तमान या भविष्य का ध्यान अधिक विस्तृत रूप से आकृष्ट कर सके। प्रिय-प्रवास के बाद उनकी सर्वश्रेष्ठ कृत 'वैदेही-बनवास' उनके भाषा-सम्बन्धी अधिकार को हिन्दुस्तानी तथा संस्कृत-बहुल हिन्दी दोनों से मुक्त होने के कारण मध्यमा-प्रतिपदा का द्योतक भले ही बनाये, उनके आदर्शवाद का प्रस्तार भले ही सूचित करे, उनकी कर्त्तव्य-पुष्ट वेदना की झलकें भले ही दिखाए, पर अनुभूति की वह तीव्रता, कल्पना का वह चमत्कार तथा वेदना की वह विभूति विद्यमान नहीं है जो महाकवि भवभूति के स्पर्श से पुलकित इस विषय को कोई नवीन महत्त्व प्रदान कर सके।

यों इन सभी कृतियों का मूल्य है, ये हरिऔध को आधुनिक युग के कवियों

१—पं० कृष्णशंकर शुक्ल के शब्दों में—'आजकल ब्रजभाषा के जो दो-चार श्रेष्ठ कवि हुये हैं उनमें इनका प्रमुख स्थान था। रत्नाकर जी के बाद तो ब्रजभाषा के कवियों में इनका स्थान सर्वश्रेष्ठ था, यह निस्संकोच कहा जा सकता है। श्री वियोगीहरि की प्रतिभा एकदेशीय है पर इनकी सूझ अनेक भावों तक थी।
(आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६६)

में ही नहीं, तुलसीदास के बाद हिन्दी के सभी कवियों में भाषा पर सबसे अधिक अधिकार रखने वाला बना देती हैं, उन्हें केवल साहित्यिकों के ही नहीं, छात्रों तथा सामान्यजन के उपयोग का कवि भी घोषित कर देती है। पर उन्हें अमरत्व प्रिय-प्रवास ही प्रदान करता है।

प्रिय-प्रवास 'विरह-वेदना का मर्मस्पर्शी काव्य है। सप्तदश-सर्गीय इस विशद प्रबन्ध में प्रथम पंक्ति से लेकर अंतिम पंक्ति तक किसी न किसी रूप में विरह की वेदना ही प्रकट की गई है। प्रथम सर्ग काव्य की मूल वस्तु का पूर्वाभास है, जिसका वस्तुनिर्देशात्मक प्रारंभ ब्रज-भूमि में निकट-भविष्य के प्रेम-मूर्ति कृष्ण-वियोग या उसके सुख के अवसान की सूचना देता है। ग्रंथ की कथावस्तु के जितना अनुकूल, सुन्दर तथा उत्कृष्ट प्रारंभ प्रिय-प्रवास का हुआ है, उतना हिन्दी के किसी भी दूसरे काव्य का नहीं। शब्द-श्लेष से बहुत आगे बढ़ कर महाकवि ने भाव-श्लेष का बड़ा ही सरल तथा स्वाभाविक परिचय अपने प्रथम छंद में दिया है। दिवस का अवसान ब्रजभूमि के सुखावसान की सूचना देता है, जो समग्र प्रबन्ध का मूल आधार है, कमलिनी-कुल-बल्लभ की प्रभा का तरुशिखा पर कुछ क्षणों के लिये राजना ब्रज में कृष्ण की कुछ समय तक ही रहने वाली शोभा का सूचक है :

> दिवस का अवसान समीप था।
> गगन था कुछ लोहित हो चला॥
> तरुशिखा पर थी अब राजती।
> कमलिनी-कुल-बल्लभ की प्रभा॥

इस छन्द में वन्दना या आशीर्वचन का आभास लेना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। उपाध्याय जी ने 'वैदेही-बनवास' का प्रारम्भ भी वन्दना या आशीर्वचन से न करके प्रकृति-वर्णन या दूसरे शब्दों में वस्तु निर्देश से ही किया है। संस्कृत में कुमारसम्भवम् प्रभृति काव्यों का प्रारम्भ भी वस्तुनिर्देशात्मक है।

इस वृहदाकार प्रबन्ध की विषय-वस्तु कृष्ण के मथुरा जाने पर ब्रज-निवासियों की विकलता है। इस छोटी-सी वस्तु-विभूति को लेकर प्रबन्ध की रचना की गयी है। स्पष्ट है कि कथा के स्थान पर कवि भाव को महत्त्व देता है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है; 'यह काव्य अधिकतर भाव-व्यंजनात्मक और वर्णनात्मक है। कृष्ण के चले जाने पर ब्रज की दशा का वर्णन बहुत अच्छा है। विरह-वेदना से क्षुब्ध बचनावली प्रेम की अनेक अंतर्दशाओं की व्यंजना करती हुई बहुत दूर तक चली चलती है। जैसा कि नाम से प्रकट है, इसकी कथावस्तु एक महाकाव्य क्या, अच्छे प्रबंधकाव्य

के लिये भी अपर्याप्त है। अतः प्रबन्धकाव्य के सब अवयव इसमें कहाँ आ सकते ?'[1] प्रियप्रवास शुद्ध भाव-व्यंजनात्मक काव्य है, इसकी वर्णनात्मकता स्मृति का रूप लेकर प्रस्तुत होती है, अतः उसकी पृथक् सत्ता नहीं है, वह भाव-व्यंजना की सहायिका-मात्र के रूप में प्रकट की गयी है, उसी में अंतर्भूत है। कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन की प्रमुख घटनाओं का वर्णन स्वतन्त्र रूप में न किया जाकर स्मृति संचारी के रूप में किया गया है जो इस प्रबन्ध को भाव-व्यंजनात्मक मात्र घोषित करता है। कथानक की दृष्टि से शुक्ल जी का कथन बहुत दूर तक उचित है। प्रिय-प्रवास का कथानक नैषध के कथानक से भी बहुत कम है। पर आश्चर्य तो यह है कि अपने छोटे-से कथानक को भी कवि ने सुन्दर प्रबन्ध का रूप प्रदान करने में सफलता प्राप्त करली है। भारतीय साहित्य में शायद ही कोई दूसरा प्रबन्ध ऐसा हो, जो इतनी छोटी कथावस्तु को लेकर चलते हुए भी इतना अधिक सफल हो सका हो। अन्य प्रबन्धों में कथातत्त्व प्रमुख रहता है, प्रियप्रवास में भाव-तत्त्व प्रमुख है। हिन्दी ही नहीं, कदाचित भारतीय साहित्य में हरिऔध ने भाव-व्यंजनात्मक प्रबन्ध लिखने में पहली बार सफलता प्राप्त की थी। कालान्तर में कामायनी के महाकवि प्रसाद मनोविज्ञान की सहायता से इस पथ पर स्वतन्त्र रूप से बहुत आगे बढ़े। पर कथानक उनके प्रबन्ध में भी प्रियप्रवास से अधिक है।

विरह को ही लेकर रचा जाने वाला प्रिय-प्रवास हिन्दी में अपने ढंग का एक ही प्रबन्ध है। अन्य भाषाओं में भी केवल विरह-वेदना प्रकट करने वाला ऐसा काव्य शायद ही मिले। हरिऔध करुणा तथा विरह के कवि हैं, इसका सबसे महान सूचक प्रियप्रवास है। पर प्रिय-प्रवास का परिशिष्ट वैदेही-बनवास इस तथ्य का पूर्ण निदर्शन है, क्योंकि उसका भी प्रायः समग्र आकार-प्रकार विरहमय ही है। यदि प्रियप्रवास साकेत है, तो वैदेही-बनवास यशोधरा। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है—"उपाध्याय जी करुणा के कवि हैं। वस्तु-जगत के कवि नहीं, बल्कि भाव-जगत में प्रकृति-पुरुष के बीच व्याप्त विरह (ट्रेजडी) के कवि हैं, मानों सूक्ष्मतम सजलता के कवि। प्रियप्रवास के बाद, उसकी भूमिका में वैदेही-वनवास लिखे जाने की सूचना उनकी इसी कोमल रुचि की सूचक थी। उनका प्रियप्रवास विरहिणी-व्रजांगना ही होने लायक था, क्योंकि इस काव्य में पंचदश सर्ग ही अन्य सर्गों की अपेक्षा अधिक मर्म-व्यंजक हैं। अन्य सर्ग या प्रसंग तो इसमें बोलचाल मात्र हैं। उपाध्याय जी की करुण वृत्ति प्रियप्रवास जैसे महाकाव्य के बजाय एक मार्मिक खंडकाव्य की अपेक्षा रखती थी।'[2]

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५५९-६०।

२—संचारिणी, भारतेन्दु-युग के बाद हिन्दी-कविता, पृष्ठ १२१।

शांतिप्रिय जी का यह कथन नितांत सत्य है कि उपाध्याय जी करुणा के कवि हैं, सूक्ष्मतम सजलता के कवि हैं। मर्मस्पर्शी सजलता की दृष्टि से हरिऔध हिन्दी के अन्यतम सृष्टा हैं। पर शांतिप्रिय जी के अन्य कथन संदेहास्पद हैं। प्रियप्रवास विरहिणी-ब्रजांगना के रूप में भारतीय कृष्ण-काव्य को कोई भी नयी देन नहीं दे सकता था, क्योंकि ब्रजांगनाओं के विरह पर भारत की सभी भाषाओं के अनेकानेक कवि तथा महाकवि बहुत-कुछ लिख चुके थे। बंगला के महान कवि मधुसूदन का विरहिणी ब्रजांगनाओं पर रचित काव्य इस कथन का प्रमाण है। प्रियप्रवास का मूल्य इस बात में है कि उसमें कृष्ण के प्रति वियोग-वेदना सभी के हृदयों में दिखलाई गयी है—वह बूढ़े नन्द, दीना-खीना यशोदा, वृद्ध आभीर, ग्वालों, गोपों, वृद्धाओं, पशु-पक्षियों तक फैली है, उसका क्षेत्र राधा तथा गोपिकाओं में ही केन्द्रित नहीं है। विरहिणी-ब्रजांगना वह गुरुतर कार्य कदापि न कर सकती थी, जो प्रियप्रवास में किया है। यही कारण है कि स्वयं हरिऔध ने ब्रजांगना-विलाप का पूर्व-निश्चित शीर्षक बदल-कर ग्रन्थ का नाम प्रिय-प्रवास ही रखा था।[1] यदि प्रियप्रवास अपने विशद प्रेम-क्षेत्र से वंचित केवल विरहिणी ब्रजांगना की व्यथा को व्यक्त करता, तो उसका साहित्य में कोई विशेष महत्त्व न हो सकता था, क्योंकि नवीनता-वलित होने पर भी पिष्ट-पेषण का सम्मान अब नहीं होता, नहीं हो सकता। पंचदश सर्ग को अन्य सभी सर्गों से अधिक मर्म-व्यंजक कहना भी विवादास्पद विषय है। प्रियप्रवास हिन्दी ही नहीं, समग्र कृष्ण-काव्य की एक महान देन है, जो हरिऔध को उस परम्परा की एक स्वतन्त्र तथा महान कड़ी बना चुकी है जिसमें व्यास, शुकदेव, पंप, कुमारव्यास, जयदेव, विद्यापति, नरसी, सूर, मीरा प्रभृति अनेक रूपों स्थितियों के महान व्यक्तित्व संपृक्त हैं। इतना महान कार्य एक खंड-काव्य के बूते के बाहर था। प्रियप्रवास जिस आकार में है, उसी में उसका महत्त्व है। विरह-मूर्ति हरिऔध का यह काव्य आज भी कामायनी तथा साकेत के साथ-साथ खड़ीबोली का सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य बना हुआ है, कोई तीसरा काव्य उसकी समता आज भी नहीं कर सकता। छोटे से वस्तु-क्षेत्र में इतना विराट् भाव-कौशल हिन्दी का कोई अन्य कवि नहीं दिखा सका। अपने प्राचीनता-प्रेम तथा कला को आघात तक पहुँचाने वाले आदर्शवाद के बावजूद भी प्रियप्रवास हिन्दी की एक क्लासिक बन चुका है, जिसकी सम्पन्नता का स्मरण मानस, सूर-सागर, पद्मावत, रामचन्द्रिका, कामायनी और साकेत जैसे कुछ काव्यों के साथ ही किया जा सकता है। पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने लिखा है: "रामचरितमानस के पश्चात् आपके इस

१—प्रियप्रवास, भूमिका, पृष्ठ २।

काव्य का बहुत ही महत्त्व का स्थान है। खड़ीबोली में भी अनेक प्रबन्ध-काव्य लिखे गये। कुछ लोगों की सम्मत्ति से महाकाव्य—परन्तु किसी में भी वह बात न आने पाई जो प्रियप्रवास में है। जिस ऊँची उठान से ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है, उसी का निर्वाह करते हुए आप अन्त तक ले गये हैं। रामचरितमानस में भी किष्किंधा इत्यादि अनेक काण्डों में शिथिलता आ गयी है परन्तु प्रियप्रवास में ऐसा कहीं नहीं हुआ है।'[1] यहाँ 'वह बात' स्पष्ट नहीं की गयी, पर इतना निश्चित है कि हिन्दी-भाषा-भाषी जनता में लाखों व्यक्ति ऐसे हैं, जो अब भी प्रियप्रवास को खड़ीबोली का सर्वश्रेष्ठ काव्य मानते हैं और पं० कृष्णशंकर जी यहाँ पर उनके प्रवक्ता हैं। अपनी विशदतम प्रेम-द्रष्टि, अपनी सहजात सजलता, अपने पुष्ट छन्द-विधान, अपनी ललित सुपाठ्यता तथा अपने एकरस प्रवाह में प्रियप्रवास निस्संदेह आधुनिक युग का अद्वितीय प्रबन्ध है। पर अपनी अनूठी पारिवारिक जीवन की झाँकी तथा अपेक्षाकृत अधिक अंतर्बाह्य आधुनिकता में साकेत तथा सबसे बढ़कर अपनी गम्भीर कला, सरस अनुभूति तथा विशद दर्शन में कामायनी का महत्त्व कुल मिलाकर प्रियप्रवास से कम नहीं कहा जा सकता। कामायनी खड़ीबोली के प्रबन्धों में प्रथम स्थान प्राप्त भी कर चुकी है।

प्रियप्रवास की क्लिष्टता की चर्चा प्रायः होती रहती है, कुछ अति-संस्कृतनिष्ठ छन्दों को लेकर उसका उपहास करने का फैशन भी आचार्य शुक्ल से लेकर अब तक चला आ रहा है। पर एक तो कुछ छन्दों को लेकर पूरे काव्य की भाषा पर विचार करना ही गलत है, दूसरे क्लिष्टता क्लिष्टता तब बनती है, जब भाषा अपनी अनुभूति को पाठक या श्रोता तक न पहुँचा पाये। इस दृष्टि से प्रियप्रवास आधुनिक युग का सबसे सरल प्रबन्ध है। उसकी भाषा में शब्दगत कठिनाई का आभास भले ही हो जैसा कि कम-बेस प्रायः सभी कवियों की वृहदाकार कृतियों में होता है, पर उलझाव कहीं नहीं है, सरल, सहज अनुभूति का परिचय प्रियप्रवास की भाषा जितनी शीघ्रता से देती है, उतनी शीघ्रता से आधुनिक युग के किसी अन्य काव्य की नहीं। पं० कृष्णशंकर जी ने ठीक ही लिखा है :—
"उपाध्याय जी के ऊपर प्रायः यह आक्षेप किया जाता था कि इनकी भाषा में संस्कृत-पदावली का इतना अधिक प्रयोग होता है कि उसमें क्लिष्टता आ जाती है। अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये लोग प्रियप्रवास में से खोजकर उदाहरण भी देते हैं। परन्तु वास्तव में उन उदाहरणों के द्वारा इनकी भाषा के विषय में कुछ निर्णय करना अपने को भ्रम में डालना है। विनय-पत्रिका के प्रारम्भ में

१—आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १८३-८४।

तुलसीदास जी ने जो भाषा लिखी है, उसके आधार पर तुलसी के विषय में कोई निर्णय करना न्याय-संगत नहीं हो सकता। उसी प्रकार खोज कर प्रस्तुत किये हुये पद्यों के आधार पर क्लिष्टता का आरोप करना अन्याय ही है। हमारी भाषा में संस्कृत-पदावली सदा से ग्रहण होती आयी है। ऐसा ही करके उपाध्याय जी ने कौन-सी ऐसी बात की जो लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगे ? उनकी भाषा का प्रवाह बड़ी मधुर ध्वनि से आगे अग्रसर होता है।'[1] पं० कृष्णशंकर जी का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है। कुल मिलाकर हरिऔध की भाषा तथा उसकी अभिव्यक्ति क्षमता सर्वथा प्रशंसनीय है। इड़ा सर्ग की भाषा को लेकर प्रसाद या 'परिवर्त्तन' कविता की भाषा को लेकर पंत की भाषा-समीक्षा प्रस्तुत करने-जैसा कार्य ही प्रियप्रवास के चतुर्थ सर्ग या अन्यत्र से एकाध छन्द उद्धृत करके हरिऔध की भाषा पर आलोचना करना भी है।

प्रियप्रवास के विराट् विरह-शरीर पर क्रमबद्ध दृष्टिपात करने के पूर्व उसके प्रेरक तत्त्वों पर विचार कर लेना समीचीन होगा। उपाध्याय जी हिन्दी के उन महाकवियों की परम्परा में थे, जिनका जीवन आभ्यंतर तथा बाह्य दृष्टियों से पवित्र, ऋजु तथा त्याग से परिपूर्ण होता है। अपने सुदीर्घ जीवन में उनका चरित्र उन्हें सदा आगे ही बढ़ाता रहा। प्राचीनता के अटूट संस्कारों ने उनकी कविता के अन्तर एवं बाह्य को अधिकतर घाटा ही दिया है, पर कहीं-कहीं वे लाभदायक भी प्रमाणित हुए हैं। हरिऔध की अनुभूति-बद्ध आदर्शवादिता आधुनिक काव्य-मानों के अनुकूल नहीं बैठती, फिर भी जनता के जीवनगत परम्परा-प्रेम को वह बहुत-कुछ प्रदान करती रहती है, करती रहेगी। हरिऔध जन-रुचि के परिचायक पहले हैं, कवि या कलाकार बाद में। इस दृष्टि से वे भक्तिकाल के कुछ श्रेष्ठ कवियों के अधिक निकट हैं। मैथिलीशरण इस दृष्टि से भी हरिऔध की समता कर लेते हैं, साथ ही कला के प्रति अधिक जागरूक भी बने रहते हैं। रत्नाकर और प्रसाद शुद्ध कलाकार हैं, प्रेरक या उपदेशक नहीं। पर अपने-अपने क्षेत्रों में सभी का मूल्य है। यदि गुप्त और हरिऔध आधुनिक हिन्दी के वाल्मीकि और व्यास हैं तो प्रसाद और रत्नाकर कालिदास और भवभूति। हरिऔध का जन-कल्याण-भाव उनकी कला पर छाया रहता है, कहीं-कहीं कला के क्षेत्र से हटकर उपदेश-मात्र बन जाता है। पर बहुत दूर तक व्यास और कुछ दूर तक तुलसीदास में भी तो ऐसा दृष्टिगोचर होता है।

१—आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास; पृष्ठ १६२।

यद्यपि उपाध्याय जी करुणा तथा विरह-वेदना के क्षेत्र में ही अधिक सफल हुए हैं, पर उनका सृजन-क्षेत्र इन्हीं प्रवृत्तियों में आबद्ध नहीं रहा है। प्रियप्रवास तथा वैदेही-बनवास को छोड़कर अन्य ग्रन्थों में करुणा तथा विरह-वेदना को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिला। पर चूँकि उनकी आत्मा करुणा तथा विरह में अधिक डूबी रही है, इसलिये अगर सफलता उन्हें इन्हीं दो काव्यों में मिली है। इन दो में प्रेरक तत्त्वों का पुंज प्रियप्रवास ही है। वैदेही-बनवास उपाध्याय जी की यशोधरा है; जिसकी सृजन-प्रेरणा उनके साकेत या प्रियप्रवास में है। प्रियप्रवास की व्यापक विरह-वेदना का कारण बड़ा करुण है। उसका मूल कवि के जीवन की दर्द-भरी कहानी है। श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' के शब्दों में हरिऔध की धर्मपत्नी श्रीमती अनन्तकुमारी देवी का उनके व्यक्तित्व के विकास पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका पता इसी से लग सकता है कि उनके देहान्त के बाद, अनेक लोगों के बहुत प्रयत्न करने पर भी, उन्होंने फिर विवाह करना अस्वीकार कर दिया। यह ध्यान देने योग्य है कि हरिऔध की अवस्था उस समय चालीस वर्ष की थी और लगभग पैंतालीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने प्रियप्रवास की रचना का श्रीगणेश किया। वियोगी कवि के लिये प्रियप्रवास की रचना का विषय तो अनुकूल था ही।'[1] अपनी प्रिया के निधन के बाद रसकलस के सरस श्रृङ्गार-गायक कवि ने करुण तथा पवित्र विरह-वेदना को ही अपना रुचिकर वर्ण्य-विषय बना लिया। पाँच वर्ष के सुदीर्घ काल ने उसकी वेदना को संतुलित बना दिया, व्यापक रूप प्रदान कर दिया। आधुनिक युग में हरिऔध के अतिरिक्त कुछ अन्य कवियों को भी पत्नी-वियोग हुआ है—प्रसाद को दो बार, निराला और बच्चन को एक-एक बार। पर प्रिया के विरह को वैयक्तिक क्षेत्र में मुखर करने वाले कवि बच्चन तथा व्यापक क्षेत्र में व्यक्त करने वाले महाकवि हरिऔध ने पत्नी-वियोग को सबसे अधिक स्थायित्व एवं महत्त्व प्रदान किया है। हरिऔध की आदर्श-पुष्ट पर तलस्पर्शी विकलता तथा वेदना उनके व्यक्तित्व तथा जीवन को समझे बिना स्पष्ट नहीं हो सकती।

प्रियप्रवास का विरह-रथ बड़ी स्वाभाविकता से बढ़ता है। प्रथम सर्ग में कृष्ण के रूप, चरित्र तथा स्वभाव की महत्ता की हल्की-सी झाँकी दिखाकर कवि ने ब्रज-जनता का उन पर अपार प्रेम चित्रित कर दिया है। यह चित्रण समग्र ब्रज-जीवन की कृष्ण-वियोग-वेदना को तीव्र करने में सहायक होता है। राधा और गोपियों के घेरे से बाहर निकाल कर कृष्ण को समग्र ब्रज-जनता का प्राणाधार चित्रित करके हरिऔध ने हिन्दी के कृष्ण-काव्य को एक नया मोड़ दिया है।

१—महाकवि हरिऔध, पृष्ठ ५२।

द्वितीय सर्ग में अक्रूर के आगमन, कृष्ण को मथुरा ले जाने की घोषणा तथा तज्जन्य प्रभाव का मर्मस्पर्शी वर्णन है। ब्रज की जनता कंस के हृदय में कृष्ण के प्रति भावों से अभिज्ञ थी, उसके अनेक भयंकर हथकंडे देख चुकी थी। अतः इस आसन्न विरह-व्यथा में आशंका का तत्त्व अधिक तीव्र चित्रित किया जाना स्वाभाविक है। कृष्ण अतीव लोकप्रिय थे। अतः आबाल-वृद्ध समस्त ब्रज-निवासी आशंकाओं से भरे आसन्न वियोग-दुःख से दग्ध हो उठे। इस सर्ग में आसन्न-विरह का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है। आसन्न-वियोग की व्यथा प्रवास-वियोग से भी अधिक दुःखद होती है। प्रियप्रवास का द्वितीय सर्ग इसका परिचायक है। यों तो सभी ब्रजवासी दुःख-निमग्न हैं, पर प्रेममूर्त्ति नारियों की व्यथा उनके भावावेगाधिक्य के कारण विशेष हृदयविदारक है। नारी का हृदय विरह की वेदना का जितना सजल अनुभव करता है, उतना पुरुष का नहीं। सभी कवि ऐसा कहते हैं, हरिऔध ने भी उसे बड़े स्वाभाविक ढंग से कहा है :—

दुख प्रकाशन का क्रम नारि का।
अधिक था नर के अनुसार ही॥
पर विलाप कलाप बिसूरना।
बिलखना उनमें अतिरिक्त था॥

प्रियप्रवास का तृतीय सर्ग आसन्न वात्सल्य-वियोग का हिन्दी-साहित्य में सबसे सुन्दर तथा सजीव चित्र है। उपाध्याय जी अपने प्रबन्धों के सर्गों का प्रारम्भ प्रायः प्रकृति-चित्रण से करते हैं। यह प्रकृति-चित्रण नितान्त सौद्देश्य तथा सर्ग के वर्ण्य-विषय के अनुकूल होता है। कभी-कभी ऐसे प्रकृति-चित्रण आलंबनात्मक वर्णन जैसे प्रतीत होने लगते हैं। पर वे सर्वत्र हैं उद्दीपनात्मक ही, जो सर्ग की कथा को सशक्त बनाने के सुन्दर उपादान हैं। तृतीय सर्ग का लम्बा प्रकृति-चित्रण प्रकृति को भयानक रूप में प्रस्तुत करता है, जो सर्ग की नन्द-यशोदा की आत्मग्राही वेदना को उद्दीप्त करने की दृष्टि से बड़ा सफल है। प्रकृति हमारे साथ हंसती है, हमारे साथ रोती है, कम से कम हम ऐसा ही समझते हैं :—

सरल तरल जिन तुहिन कणों से हंसती हर्षित होती है,
अति आत्मीया प्रकृति हमारे साथ उन्हीं से रोती है।[1]

इस सर्ग में नन्द और यशोदा की वेदना का जो वर्णन हरिऔध ने किया

१—पंचवटी।

है, यह अपनी स्वाभाविकता, सरलता तथा चित्रमयता में ही नहीं, सरसता में भी अद्वितीय है। मथुरा-प्रस्थान के पूर्व नंद की व्यथा का इतना सजीव चित्र कृष्ण-काव्य में शायद ही कहीं मिले :—

सित हुये अपने मुख-लोम को।
कर गहे दुखव्यंजक भाव से।।
विषम संकट बीच पड़े हुये।
बिलखते चुपचाप व्रजेश थे।।
हृदय-निर्गत वाष्प-समूह से।
सजल थे युग-लोचन हो रहे।।
वदन से उनके चुपचाप ही।
निकलती अति तप्त उसाँस थी।।
शयित हो अति-चंचल-नेत्र से।
छत कभी वह थे अवलोकते।।
टहलते फिरते सविषाद थे।
वह कभी निज निर्जन कक्ष में।।
जब कभी बढ़ती उर की व्यथा।
निकट जा करके तब द्वार के।।
वह रहे नभ नीरव देखते।
निशि-घटी अवधारण के लिये।।
सब प्रबंध प्रभात-प्रयाण के।
यदिच थे रव–वर्जित हो रहे।।
तदपि रो पड़ती सहसा रहीं।
विविध कार्यरता गृहदासियाँ।।
जब कभी यह रोदन कान में।
व्रज-धराधिप के पड़ता रहा।।
तड़पते तब यों वह तल्प पै।
निशित-शायक-विद्धजनो यथा।।

इन छह छन्दों में कवि ने आकुलता-विकलता का जो चित्र खींचा है, वह कल्पना से नहीं, यथार्थ से संपुष्ट है, स्वभावतः प्रथम श्रेणी का रस-संचार करता है। अपने श्वेत मुख-लोम को हाथ से पकड़े, चुपचाप बिलखते, वाष्प-मय, कभी शैया पर लेटकर छत देखते, कभी कक्ष में एकाकी टहलते, कभी द्वार पर जाकर रात की घड़ियों का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते और प्रस्थान-प्रबन्ध में लगी

गृहदासियों के विलाप को सुनकर शर से आहत व्यक्ति-से नंद, या परिस्थिति के तल में स्वयं पहुँचकर नंद बना कवि, एक बड़ा ही स्वाभाविक चित्र है। मनुष्य के यथार्थ जीवन में, उसके सुख-दुःख में बहुत उच्च काव्य-तत्त्व भरे पड़े हैं, जिन तक कल्पना की पहुँच नहीं है; महाकवियों की क्षमता दिखलाते हुए हरिऔध ने प्रिय-प्रवास में यह तथ्य स्पष्ट कर दिया है। प्रियप्रवास के अधिकांश प्रभावशाली स्थल कल्पना की नहीं, स्वाभाविकता की नींव पर खड़े हैं।

यशोदा का चित्र प्रियप्रवास का सबसे महान तथा सबसे अधिक रसमय चित्र है। कृष्ण-काव्य में वृद्धा यशोदा का इतना अधिक विराट्, सजल, विकल, करुण और साथ ही, स्वाभाविक चित्र कहीं नहीं चित्रित किया गया, जितना प्रियप्रवास में। सूर ने भी यशोदा को अपनी कला का उतना विराट अंश नहीं प्रदान किया जितना हरिऔध ने। यशोदा को निकाल देने पर प्रियप्रवास का मूल्यांकन करना कठिन हो जायेगा।

काव्य की नायिका राधा का चित्र आदर्श-बोझिल होने के कारण कला की स्वाभाविकता का बहुत दूर तक विरोधी बन गया है। पर यशोदा का चित्र सहज मानवीय वेदना से मुखरित होने के कारण अद्वितीय है। मातृ-हृदय की विरह-वेदना का जैसा विशद तथा स्वाभाविक वर्णन हरिऔध ने किया है, वैसा हिन्दी का कोई कवि नहीं कर सका। कुल मिलाकर वात्सल्य रस के सम्राट सूर मातृ-हृदय के अधिक गहरे पारखी भले ही हों, संयोग-वियोग दोनों क्षेत्रों में अपने सामर्थ्य के श्रेष्ठतर परिचायक भले ही हों, पर पुत्र-वियोग की व्यापक वेदना जैसी हरिऔध ने व्यक्त की है, वैसी सूर-सागर में भी नहीं हो पायी। इसका कारण सूर का प्रेरक व्यक्तित्व ही है, जिसका ऋण हरिऔध पर सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। पं० गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश ने ठीक ही लिखा है : 'प्रियप्रवास की यशोदा का चित्र बड़ा ही मर्मस्पर्शी है, उनके भग्न-हृदय की वेदना का अनुमान करना सरल नहीं है। जिस भवन का आधार-स्तम्भ टूट गया हो, जिस वृद्धा की लकड़ी किसी ने छीन ली हो, जिसकी आँख का तारा, जीवन का सहारा अचानक अनायास ही छूट गया हो, उसकी दशा पर दृष्टिपात करने के लिये बहुत चौड़े कलेजे की आवश्यकता है। यशोदा न जगत-हित समझती हैं और न लोक-सेवा की प्रेरणा का मर्म हृदयंगम कर सकती हैं। वे एक सीधी-सादी माँ हैं, जिसे अपने प्राणों से प्यारे दुलारे लड़के से मतलब है।'[1]

१—महाकवि हरिऔध, प्रियप्रवास में नारी-चित्र, पृष्ठ १९०।

तृतीय सर्ग से ही प्रियप्रवास की वात्सल्य-मूर्ति यशोदा का चित्र हमारे मानसचक्षुओं को सजल करने लगता है, आँसू बनकर वेदना का मर्म समझाने लगता है। यशोदा के उद्‌गारों में संचारी भावों का सफल वर्णन बड़ा प्रभावशाली है, पर मातृ-हृदय की सजलता में वह डूब जाता है।

कृष्ण शैया पर पड़े सो रहे हैं। आधी रात हो चुकी है। यशोदा कल मथुरा के लिये प्रस्थान करने वाले अपने पुत्र को साश्रु देख रही हैं, कलप रही हैं। पर वे जोर से रो भी नहीं सकतीं—पुत्र जग न जाये, उसकी नींद टूट न जाये! फलस्वरूप वेदना की टीस से हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है। हरिऔध ने इस स्थल पर कविता नहीं लिखी, माता के हृदय की अपार वेदना की परिभाषा लिखी है :—

हरि न जाग उठें इस शोच से।
सिसकती तक भी वह थी नहीं॥
इसलिये उनका दुखवेग से।
हृदय था शतधा अब हो रहा॥

उनको मनोतियों पर दृष्टि डालकर हरिऔध ने स्वाभाविकता को जो कला-प्रदान की है, वह आँसुओं से अभिव्यक्त होती है, वाणी से नहीं। मानव का अंध-विश्वास भी कितना सरल तथा स्पृहणीय होता है, इसका सबसे सुन्दर परिचय हिन्दी में प्रियप्रवास के तृतीय सर्ग के द्वारा ही मिलता है।

चतुर्थ सर्ग में राधा का परिचय मिलता है। उनका सौंदर्य वही है, जो कवि-परम्परा में दृष्टिगोचर होता रहता है, पर उनके व्यक्तित्व में हरिऔधत्व का समावेश है, जिसके आगे की समाज-सेवा एकदम आकस्मिक न लगे। सात्विकता की मूर्ति राधा 'रोगीवृद्धजनोपकारनिरता सच्छास्त्रचिंतापरा' हैं। इस पंक्ति का सम्बन्ध चौथे सर्ग से कम, सोलहवें तथा अन्तिम सर्गों से अधिक है।

राधा के आसन्न विरह-वर्णन में हरिऔध ने कृष्ण-काव्य की प्रचलित अलंकृत परिपाटी को छोड़कर आयु तथा अनुभव के अनुरूप सहज तथा सरल वेदना की सहज तथा सरल अभिव्यक्ति का जो पथ ग्रहण किया है, वह स्तुत्य है। उनकी विकलता तथा उनके प्रश्नों, प्रिय के बिना कुछ घड़ियाँ जब युगों-जैसी लगती हैं तब दिन कैसे बीतेंगे? मैंने किसी का जी नहीं दुखाया, फिर मेरा जी क्यों दुखाया जा रहा है? मेरा हृदय दग्ध क्यों हो रहा है? घर में भय क्यों छाया जा रहा है? गृह-कांति क्यों खोयी जा रही है? सखि! तारे क्या प्रियगमन का दुःखद दृश्य न

देखने के लिये मुख छिपा रहे हैं ? या दिन को न रोक पाने के कारण प्रिय-वियोग का कारण बनने की लज्जा से मुँह छिपा रहे हैं ? क्षितिज के निकट रुधिर की लालिमा कैसी दीख रही है ? सारी दिशाओं में आग सी क्यों लग रही है ? इत्यादि, में भोलापन बरस रहा है, और सरल तथा भावानुरूप भाषा उस भोलेपन को और भी अधिक भोला रूप प्रदान कर रही है :—

कल कुवलय के से नेत्र वाले रसीले ।
वररचित फबीले पीत कौशेय शोभी ।।
गुणगण मणिमाली मंजुभाषी सजीले ।
वह परम छबीले लाडिले नंदजी के ।।
यदि कल मथुरा को प्रात ही जा रहे हैं ।
बिन मुख अवलोके प्राण कैसे रहेंगे ?
युग सम घटिकायें वार की बीतती थीं ।
सखि ! दिवस हमारे बीत कैसे सकेंगे ?
यह सकल दिशायें आज रो सी रही हैं ।
यह सदन हमारा है हमें काट खाता ।।
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है ।
विजन विपिन में है भागता सा दिखाता ।।
रूदनरत न जाने कौन क्यों है बुलाता ।
गति पलट रही है भाग्य की क्यों हमारे ?
उह ! कसक समायी जा रही है कहाँ की ?
सखि ! हृदय हमारा दग्ध क्यों हो रहा है ?
सखि ! भय यह कैसा गेह में छा गया है ।
पल-पल जिससे मैं आज यों चौंकती हूँ ?
कंप कर गृह में की ज्योति छायी हुई भी ।
छन-छन अति मैली क्यों हुई जा रही है ?
सखि ! मुख अब तारे क्यों छिपाने लगे हैं ?
वह दुख लखने की ताब क्या हैं न लाते ?
परम विफल हो के आपदा टालने में ।
वह मुख अपना हैं लाज से या छिपाते ?
क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है ?
वह रुधिर रहा है कौन सी कामिनी का ?

विहग विकल हो हो बोलने क्यों लगे हैं ?
सखि ! सकल दिशा में आग सी क्यों लगी है ?

विरहिणी के लिये आग का यह गोला नया न होने पर भी बड़ा स्वाभाविक है :—

अब नभ उगलेगा आग का एक गोला ।
सकल ब्रज-धरा को फूँक देता जलाता ।।

राधा जब अपनी सखी से प्रिय को रोकने की युक्ति न सूझने की चर्चा करती हैं तथा रात न बीते और प्राणप्यारे न जायें, यह कल्पना करती हैं, तब भोले तरुण हृदय के सरल भाव को ही प्रकट करती हैं :—

मनहरण हमारे प्रात जाने न पावें ।
सखि ! जुगुल हमें तो सूझती है न ऐसी ।।
पर यदि यह काली यामिनी ही न बीते ।
तब फिर ब्रज कैसे प्राणप्यारे तजेंगे ।।[1]

हरिऔध के विरह-वर्णन की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि वे जिस आयु के व्यक्ति के विरहोद्गार प्रकट करते हैं, उसके अन्तर में प्रविष्ट से होकर करते हैं । प्रत्येक शब्द में सम्बद्ध व्यक्तित्व की आयु, स्थिति, अनुभव-संक्षेप में उसकी बुद्धि तथा उसका हृदय-मुखरित होता प्रतीत होता है । चाहे नंद हो या यशोदा, श्रीदामा हो या अन्य कृष्ण-सखा, वृद्ध आमीर हो प्रवीणा वृद्धा, ग्वाला हो या कोई अन्य व्यक्ति, राधा हो या कोई दूसरी गोपिका, सभी के उद्गार पूर्णतः उपयुक्त एवं तर्कसंगत हैं । इस विशेषता को हरिऔध की सूक्ष्म मानस-पर्यालोचन शक्ति का श्रेष्ठ परिचायक कहा जा सकता है ।

प्रियप्रवास का पंचम सर्ग कृष्ण की व्यापक लोक-प्रियता का सुन्दर तथा

१—प्रसाद की 'बिसाती' कहानी की प्रमुख पात्रा शीरीं का प्रिय भारत में व्यापार करने गया है, पर लौटा नहीं । इस स्थिति में शीरीं की इच्छा में कितना भोलापन बरस रहा है :—

'उसकी इच्छा हुई कि हिन्दुस्तान के प्रत्येक गृहस्थ के पास हम इतना धन रखदें कि वें अनावश्यक होने पर भी उस युवक की सब वस्तुओं का मूल्य देकर उसका बोझ उतार दें ।'

मर्मस्पर्शी चित्र है। कृष्ण मथुरा जाने वाले हैं, सारा ब्रज-जन-समुदाय विकल है, पशु-पक्षी तक विकल हैं। उनके जाते समय शकुन के कारण लोग पहले तो आँसू रोके रहते हैं, पर अंततोगत्वा वे रुक नहीं पाते। रोता-धोता आभीर बूढ़ा, श्रम से पास आने वाली प्रवीणा वृद्धा, गायों के कृष्ण-वियोग में वन न जाने की सूचना देने वाला ग्वाला और उसी के पीछे पूँछ ऊँचे उठाये दौड़कर आने वाली गायें, महर के गृह का काकातूआ, सभी की विरह-व्यथा का जो हृदयद्रावक वर्णन हरिऔध ने किया है, वह कृष्ण-काव्य को उनकी महान देन है। हिन्दी में ही नहीं, कदाचित् समग्र भारतीय कृष्ण-काव्य में, कृष्ण के व्यक्तित्व को उतना जन-प्रेम कहीं नहीं मिला, जितना प्रियप्रवास में। प्रेम की विराटता तथा पवित्रता का जो भव्य चित्रण हरिऔध ने किया है, वह तुलसी को छोड़कर हिन्दी का कोई दूसरा कवि नहीं कर सका।

यशोदा, कृष्ण और बलराम के मथुरा-प्रस्थान के पूर्व नंद से पुत्रों की देख-रेख रखने के लिये जो कुछ कहती हैं, उसमें मातृ-हृदय का दर्पण-सा दृष्टिगोचर होता है। मधुर फल खिलाने, तीव्र वायु तथा धूप से बचाने, निर्मल जल पिलाने, अश्वों को अधिक तेज न दौड़ाने—जिससे पुत्रों को धक्का न लगे—और सबसे बढ़कर द्रुनही स्त्रियों के टोने-टटकों से बचाने की चर्चा में चिरंतन तथा सर्वव्यापक मातृत्व बोल रहा है। माता मानवता की सबसे सजल, सबसे पवित्र, सबसे महान, सबसे गम्भीर, साथ ही सबसे भावमयी प्रतिमा है। प्रियप्रवास की यशोदा इसका निदर्शन हैं। पुत्र की आयु छोटी हो या बड़ी, वह क्षुद्र हो या महान, मूर्ख हो या चतुर, दुर्बल हो या सबल, माँ के लिये वह केवल पुत्र है। और कुछ नहीं। पुत्र के कुछ दूर पैदल जाने पर भी मां का हृदय विकल हो उठता है, कह पड़ता है: 'सड़क के किनारे-किनारे जाना, गाड़ियों का ध्यान रखना। तू बीच सड़क में क्यों चलता है रे? किनारे चलना!' छोटी-मोटी यात्रा पर भी मां के निर्देश होने लगते हैं—'किसी से बिना जाने पहचाने हेल-मेल न बढ़ाना! किसी के हाथ की कोई चीज न खाना। यह करना, वह करना!' पुत्र ऊबने लगता है, क्योंकि उसका हृदय इतना महान नहीं कि मातृत्व को समझ सके। पर महानता कभी ऊबती नहीं। माता यह सब निर्देश देने में चूकती नहीं। महानता सदा भावुक होती है, माता सदैव भावुक रहती है। प्रियप्रवास के कृष्ण पिता तथा भ्राता के साथ थोड़ी दूर पर स्थित मथुरा के लिये प्रस्थान कर रहे हैं, यह भी पैदल नहीं, रथ पर। फिर भी माता का हृदय अपने भाव रोक नहीं पाता, (रोकता तो अनुचित करता) :—

सब पथ कठिनाई नाथ हैं जानते ही।
अब तक न कहीं भी लाडिले हैं पधारे॥

मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना ।
कुछ पथ-दुख मेरे बाल को न होवे ।।
खर पवन सतावे लाडिलों को न मेरे ।
दिनकर-किरणों की ताप से भी बचाना ।।
यदि उचित जचे तो छांह में भी बिठाना ।
सुख-सरसिज ऐसा म्लान होने न पावे ।।
विमल जल मंगाना देख प्यासा पिलाना ।
कुछ क्षुधित हुये ही व्यंजनों को खिलाना ।।
दिन वदन सुतों का देखते ही बिताना ।
विलसित अधरों को सूखने भी न देना ।।
युग तुरग सजीले वायु-से वेग वाले ।
अति-अधिक न दौड़ें यान धीरे चलाना ।।
बहु हिल-हिल कर हा हा कष्ट कोई न देवे ।
परम मृदुल मेरे बालकों का कलेजा ।।
प्रिय ! सब नगरों में वे कुबामा मिलेंगी ।
न सुजन जिनकी हैं वामता बूझ पाते ।।
सकल समय ऐसी सापिनों से बचाना ।
वह निकट हमारे लाडिलों के न आवें ।।

हिन्दी के कुछ तथाकथित नवीनतावादो कवि और आलोचक ऐसे वर्णनों को परम्परागत घोषित करते हुये हरिऔध की प्रतिभा पर प्रकट-अप्रकट शंका व्यक्त करते रहते हैं । निवेदन है कि इस युग के हिन्दी के कवियों ने जो कुछ भी अब तक लिखा है, उसमें बिल्कुल नया शायद कुछ-भी नहीं है । प्रसाद के कथानक, निराला के छन्द, पंत की भाव-विभूति, प्रयोगवादियों की नवीनता, प्रगतिवादियों की संघर्ष-भावना क्रमशः उपनिषदों तथा ब्राह्मण ग्रंथों, अँग्रेजी तथा बंगला के छंदों, संस्कृत या अँग्रेजी की रचनाओं, इस सदी के प्रारम्भ की ईलियट की कविताओं से लेकर अब तक की यूरोप या अँग्रेजी की प्रयोगवादी कविताओं तथा बहुत दिनों से प्रचलित फ्रेंच, जर्मन तथा रूसी कविताओं के शोषकों के विरोध में सृजित कविताओं में मूल-भूत हैं । इन सब के आदि स्रोत ढूँढ़ निकालना असम्भव नहीं है । फिर भी, उनमें नवीनता है, मौलिकता है, और वे महत्त्वपूर्ण हैं । तो फिर, अपनी ही भाषा के साहित्य से प्रेरणा लेकर काव्य-प्रासाद खड़ा करना क्यों हमारे नवीनता-प्रेमियों को खटकता है ? क्या नवीनता पाश्चात्य-अनुकरण में ही समाहित है ? क्या वह अपने साहित्य तथा उसकी परम्परा के सम्मान से उड़न-छू हो जाती है ? क्या कारण है

कि पाश्चात्य साहित्य में नवीनता का सबसे सबल वाहक ईलियट परम्परा का समर्थन कर रहा है ?

कृष्ण का रथ जब चलता है, तब अनेक ब्रजवासी उसके चक्र पकड़ लेते हैं, अनेक घोड़ों की रासें थाम लेते हैं; अनेक पथ पर लेट जाते हैं। ऐसे वर्णन अन्य काव्यों में भी मिलते हैं। साकेत में भी ऐसा हुआ है। कुछ विद्वान इसे सत्याग्रह की अभिनवता में लपेट कर प्राचीन युग के अनुकूल घोषित करते हैं। निवेदन है कि मनुष्य की अनेक चिरंतन प्रवृत्तियों तथा उनसे उत्पन्न क्रियाओं को युगों की सीमा में बाँधना उचित नहीं है। प्रिय व्यक्ति को जाने से रोकने की अनेक चेष्टायें सभी करते हैं। लोक-प्रिय व्यक्ति को रोकने के लिये उक्त चेष्टा स्वाभाविक चेष्टा है, उसमें सत्याग्रह की नवीनता ढूँढ़ना व्यर्थ है। फिर सन् १९१३ तक, जब प्रियप्रवास प्रकाशित हुआ था, सत्याग्रह शब्द का उस रूप में जन्म भी न हुआ था, जिस रूप से हम आज परिचित हैं।

यान जाने पर धूल, रथ-ध्वजा तथा टापों की ध्वनि को देखने सुनने के सहज तथा पवित्र मोह का बड़ा ही हृदयहारी वर्णन हरिऔध जी ने किया है। तुलसीदास के बाद हिन्दी के विरह-काव्य में व्यापकता के साथ स्वाभाविकता का समावेश करने वाले हरिऔध ही हैं।

प्रियप्रवास का षष्ठ सर्ग ग्रन्थ के सप्तम् तथा पंचदश सर्गों के साथ-साथ सर्वश्रेष्ठ है। कृष्ण को गये अनेक दिवस व्यतीत हो गये, पर वे न लौटे। ब्रजभूमि में सर्वत्र उनके न आने की ही चर्चा है, व्यथा है। ग्राम-जीवन की सरलता तथा प्रेममयता का जो भव्य चित्र हरिऔध ने इस सर्ग में अंकित किया है, वह हमारे काव्य में अनूठा है। गांव की दुनिया बहुत दूर तक अपनी इकाई में सीमित रहती है। वहाँ छोटी-छोटी घटनाएँ भी चर्चा तथा वेदना का विषय बन जाती हैं। फिर कृष्ण का जाना तो बहुत बड़ी तथा वेदनामय घटना थी। उसका उल्लेख अत्यधिक होना स्वाभाविक है। कहीं दो व्यक्ति भी बैठते हैं तो कृष्ण की चर्चा छेड़ देते हैं। घरों, द्वारों, चौपालों, चरागाहों, कुंजों, सर्वत्र उन्हीं की चर्चा हो रही है—वेदना तथा व्यथा से परिपूर्ण नारियों की प्रतीक्षा उनके अधिक वेदनामय हृदय के अनुरूप ही अधिक दयनीय है, उनकी दो आँखें ही सहस्र आँखें बनकर ब्रज के जीवनाधार की प्रतीक्षा कर रही हैं। सचमुच प्रतीक्षा की आकुलता विरही के दो नेत्रों को सहस्र नेत्रों में परिवर्तित कर देती हैं :—

दो ही आँखें सहस्र बन के देखती पंथ को थीं ।

काक जैसे चिर-उपेक्षित तथा सतत-अपमानित पक्षी को भारतीय विरह-काव्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विरह की वेदना-दशा सभी के प्रति संवेदनशील तथा उदार होती है। अपमानिता-उपेक्षित काक के प्रति भी वह सहानुभूति का भाव रखती है। पर इस सहानुभूति के तल में एक मधुर स्वार्थ भी मिला रहता है। हमारे ग्राम-जीवन में काक का घर के निकट बोलना प्रिय के आगमन का सूचक माना जाना है। इसलिये उसके आगमन तथा गान का विरह की बेला में बड़ा सम्मान होता है। उसे प्रलोभन भी दिये जाते हैं—'यदि प्रिय आ गये, तो तुझे दूध-भात खिलाऊँगी। या तेरी चोंच सोने से मंढ़ा दूँगी।' इत्यादि। विद्यापति से लेकर हरिऔध तक विरह-काव्य में काक को यह सम्मान बराबर मिलता रहा है। लोकगीतों के विरह-काव्य में काक का महत्त्व और भी अधिक है, जिसका कारण ग्राम-जीवन का अपेक्षाकृत अधिक भोलापन है। हरिऔध की व्यापक दृष्टि इधर भी गयी है :—

आके कागा यदि सदन में बैठता था कहीं भी।
तो तन्वंगी उस सदन की यों उसे थी सुनाती ॥
जो आते हों कुंवर उड़के काक तो बैठ जा तू।
मैं खाने को प्रतिदिन तुझे दूध औ भात दूँगी ॥

मथुरा की ओर जाते हुए पथिकों से सन्देश सूर ने भी भिजवाये हैं, हरिऔध ने भी। पर सूर के संदेशों की खीझ और तन्मयता हरिऔध के सन्देशों में नहीं दृष्टिगोचर होती। सूर इस दिशा में सीमा का स्पर्श करते हैं, हरिऔध नहीं।

पुत्र-वियोग से व्यथित यशोदा का हृदयद्रावक चित्र षष्ठ सर्ग की भी एक विशेषता है। अनेक व्यक्तियों को पथ पर भेज कर, देवताओं की मनौती कर, सदन के निकट डोलते हुए पत्र से भी उत्कंठित होकर, किसी को घर की ओर शीघ्रता-पूर्वक आते देखकर हाथों से हृदय थामते हुये, तथा उसके दूसरी ओर जाने पर उन्हीं हाथों से आँखें ढाँप कर, मधुवन की ओर उड़ते हुए पंछियों को भी व्यग्रतापूर्वक देखकर उनके निराश होने का बड़ा ही सजीव चित्र महाकवि हरिऔध ने खींचा है। कवि की सहृदयता सरलता को भी कितना सम्पन्न बना सकती है, हरिऔध का विरह-वर्णन इसका उज्ज्वल निदर्शन है।

षष्ठ सर्ग के महत्त्व का सबसे बड़ा कारण पवन-दूत का आयोजन है।

विरहिणी राधिका पवन को दूत बनाकर मथुरा भेजती हैं। भारतीय विरह-काव्य में चेतन तथा अचेतन प्राणियों तथा वस्तुओं को दूत का पद बड़े समारोह के साथ दिया गया है। हनुमान, नल, मेघ, हंस, पवन, भ्रमर इत्यादि विरहियों की भूरि-भूरि सहायता कर चुके हैं। पर्वतों, नदियों तथा वृक्षों तक अपने विराट् प्रेम-तत्त्व तथा श्रद्धा-भाव को व्याप्त करने वाली भारतीय संस्कृति की अद्वैत भावना इन सन्देशों को बहुत सजीव बना देती है, क्योंकि वहाँ भेद के लिये बहुत कम अवकाश रह जाता है। हरिऔध का विरह-वर्णन जहाँ प्रकृति से उद्दीपन, मान-मनौती, कामदशाओं, सन्देशों इत्यादि भारतीय विरह-काव्य की परम्पराओं का सम्मान करता है, वहीं दूत-विधान का भी आयोजन करता है। इससे हिन्दी के कुछ आलोचक चिढ़ते हैं। पर उनका चिढ़ना बेकार है। सहस्रों वर्षों से व्याप्त काव्य-संस्कारों से साधारण कवि अपने को प्रयासपूर्वक भले ही मुक्त रख सके, पर लोक-जीवन का द्रष्टा तथा सांस्कृतिक सन्देश का सशक्त वाहक महाकवि उससे पूर्णतः असंपृक्त नहीं रह सकता। फिर हरिऔध तो परम्परा-प्रेमी कवि थे। उनमें महा-कवियों की वह शक्ति विद्यमान थी, जो परम्परा को नवीन जीवन-रस प्रदान करती है। पवन-दूत में वह शक्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। उस पर मेघदूत का प्रभाव है, फिर भी उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व उपेक्षणीय नहीं है। पवन-दूत प्रियप्रवास का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। उसका कुछ व्यापक विवेचन असमीचीन न होगा।

(३) मेघदूत तथा पवनदूत

मेघदूत भारतीय साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकवि, भारतीय भावुकता के सीमांत तथा विश्व-साहित्य के अद्वितीय रत्न और विश्व-काव्य में भारत के प्रतिनिधि कवि-कुल-गुरु कालिदास की शाकुंतल के साथ-साथ सर्वश्रेष्ठ कलाकृति है। एक-सौ-तीस छंदों के इस छोटे-से काव्य को हटा देने पर भारतीय साहित्य का एक स्तम्भ ही टूट जायेगा, यही मेघदूत का सबसे बड़ा परिचय है। प्रेम की भव्यता, विरह की विकलता, प्रकृति का सौंदर्य, विरही का चित्र जैसा मेघदूत में प्राप्त होता है, वैसा संसार के साहित्य में शायद ही कहीं प्राप्त हो। यदि कालिदास केवल मेघदूत लिखते, तब भी वे हमारे श्रेष्ठतम महाकवियों में गिने जाते, यही उस अलौकिक प्रतिभा के प्रतीक काव्य की सम्यक् समीक्षा है।

मेघदूत कालिदास का प्रतीक है। उसकी कला तथा भाव-व्यापकता हरिऔध में ढूंढ़ना उनके साथ अन्याय-सा करना होगा, क्योंकि हिन्दी में कालिदास की समता करने वाला व्यक्तित्व केवल एक-तुलसीदास है। मेघदूत में स्वर्ण-युगीन स्वतन्त्र तथा सशक्त भारतवर्ष की प्रसन्न तथा सबल कवि-चेतना मुखरित होती है,

पवनदूत में अर्द्धजागृत, परतंत्र तथा अशक्त भारतवर्ष की त्याग तथा जन-कल्याण की वेदना-मूलक कवि-चेतना व्यक्त होती है।

एक तो कालिदास का विश्व-साहित्य का एक उच्चतम व्यक्तित्व, दूसरे तत्कालीन स्वर्णयुग-दोनों मेघदूत के आभ्यंतर तथा वाह्य को इतना महान बना देते हैं कि संसार-साहित्य में उसका जोड़ मिलना कठिन है। पवनदूत के कवि का स्तर मेघदूत के कवि के स्तर का नहीं है। दूसरे उसका युग कालिदास के युग से ठीक उलटा है। हमारा यह अर्थ कदापि नहीं कि युग महान सृजन का मूल प्रेरक है। बाल्मीकि, व्यास, और कालिदास के साथ-साथ भारतीय साहित्याकाश के सबसे अधिक उज्ज्वल नक्षत्र तुलसीदास का युग भी बहुत दयनीय था, जिसकी मर्मस्पर्शी झलक उनके काव्य में मिलती है। पर युग से शक्ति के साथ ऊपर उठने की क्षमता तुलसीदास-जैसे संसार के दो-चार महाकवियों में ही दृष्टिगोचर होती है। इस युग का कोई भी भारतीय कवि युग-प्रभाव को उस उदात्त रूप में नहीं अपना सका, उस सशक्त रूप में नहीं व्यक्त कर सका, जिसमें तुलसीदास। अतः इसके लिये हरिऔध को दोष नहीं दिया जा सकता। पवनदूत में राधा की जनहित-भावना कला की अनुकूलता की सीमाओं का अतिक्रमण कर गयी है। इसका कारण महाकवि हरिऔध का युग है, जिसमें सेवा का महत्त्व सर्वोपरि था।

मेघदूत में कालिदासत्व प्रत्येक स्थल पर झलकता है, पवनदूत में हरिऔधत्व। ऐसा स्वाभाविक है। स्रष्टा अपनी सृष्टि में झलकता ही है। कालिदास के लिये प्रकृति एक चेतन सत्ता है और उस चेतना में उसका नारी के प्रति कुछ अधिक मांसल दृष्टिकोण बोलता रहता है। यक्ष का विरह ऐंद्रिय अभावों की ओर कुछ अधिक झुकता दृष्टिगोचर होता है, जो विरह-वेदना की अतिशयता की स्थिति में ऐंद्रियता की स्थिति से बहुत अधिक हो गया है। कालिदास का हृदय संभोग-प्रवण है। यह संभोग-प्रवणता जहाँ कहीं अधिक हो जाती है, वहाँ स्वाभाविकता के रहने पर अश्लीलता का स्पर्श, तथा अस्वाभाविकता के रहने पर दोष का अस्तित्व आ जाता है। मेघदूत का विरही यक्ष जितना विकल चित्रित किया गया है, उसे देखते हुए सन्देश कुछ अधिक लम्बा है। दूसरे विरह की वेदना में ऐंद्रियता का अत्यधिक समावेश उसकी उदात्तता को व्याघात पहुँचाता है। कालिदास की कला अद्वितीय है, पर उसके सन्देश में वह स्वाभाविक गुरुता नहीं आ सकी, जो जायसी की नागमती में दृष्टिगोचर होती है। हरिऔध का युग तथा व्यक्तित्व विलास के अनुकूल न था। उनका युग राष्ट्र-सेवा का युग था। उनका व्यक्तित्व युगानुकूल था। यह युगानुकूलता कला में आदर्श के सम्यक् समन्वय का अतिक्रमण कर गयी है। प्रियप्रवास का सप्तदश सर्ग इस अतिक्रमण का उदाहरण है।

पवनदूत में यह अतिक्रमण अपेक्षाकृत कम हुआ है । पर राधा की भोलीभाली आयु लोकहित के उतने अधिक अनुकूल नहीं है, जितना वह पवनदूत में दृष्टिगोचर होती है । चतुर्थ सर्ग में राधा का जो भोलाभाला स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उनके उद्गारों में जो सरलता बरसती है, उसके देखते हुए पवनदूत की अत्यधिक संयत वेदना तथा लोकहित-भावना बहुत अधिक प्रतीत होती है, अस्वाभाविक लगती है । रोगीवृद्धजनोपकारनिरता होते हुये भी तरुणावस्था में राधा पर लोकहित का बोझ उनके अन्तर तथा वाह्य की तुलना में बहुत अधिक डाल दिया गया है । सप्तदश सर्ग में वह निराशाजन्य होने पर तर्क का आश्रय ले सकता है, पर पवनदूत में ऐसा अवकाश भी नहीं है । कृष्ण को मथुरा गये इतने दिन नहीं हुए कि मानसिक निराशा लोक-सेवा में परिणत हो सके । फिर वे कुछ दूरी पर ही स्थित मथुरा में विद्यमान हैं, और अभी उनके लौटने की भी आशा है, क्योंकि नंद भी अभी वहीं हैं । इस स्थिति में सन्देश को शिवं से अत्यधिक दबाना कला की दृष्टि से खटकता है । फिर भी कालिदास की विलास-प्रधानता की अपेक्षा उसका रूप संयत है । मेघदूत पढ़ते समय बीच का लम्बा भाग स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण जैसा प्रतीत होने लगता है, विरह की दयनीय व्यथा से उसका सम्पर्क छूट-सा जाता है । यह बात अनुभूति-पक्ष की विश्रृङ्खलता की द्योतक है । पवनदूत में ऐसा अपेक्षाकृत कम हुआ है । विरह में ऐंद्रियता होती ही न हो, ऐसा तो नहीं है । साधारणतः मानव अपनी इन्द्रियों से जीवन में कभी पूर्णतः अप्रभावित नहीं हो पाता । पर वेदना-व्यथा की स्थिति में ऐंद्रियता की अपेक्षा मानसिकता अधिक सचेष्ट हो उठती है । मेघदूत में ऐंद्रियता की अति विरह-वेदना की अति के अनुकूल नहीं है । यक्ष की वेदना में मानसिक व्यथा की अपेक्षा ऐंद्रिय व्यथा का प्राबल्य दिखलाकर कालिदास ने अपनी भावना से यक्षानुरूप सहजात भावनाओं को आक्रांत-सा कर दिया है । मेघदूत की महान कला, अद्वितीय प्रकृति-चित्रण-वैभव तथा ललित संगीत के होते हुए भी उसके अंतरतम की यह कमी अध्येता को खटक सकती है । सन्देश की आत्मा की दृष्टि से हरिऔध अधिक संतत, उदात्त तथा गम्भीर हैं, भले ही कला, कल्पना तथा रमणीयता में वे कालिदास से बहुत पीछे हों ।

मेघदूत का लालित्य उसमें विस्तार से वर्णित मेघ-सौंदर्य, नगरों के वैभव, सरिताओं की छटा, पशु-पक्षियों की शोभा इत्यादि के कारण बहुत अधिक बढ़ जाता है । रामगिरि से लेकर कैलास तक का भौगोलिक तथा प्राकृतिक चित्रण तो अनूठा ही है, जो कालिदास की देशप्रेममयी चेतना तथा प्रकृति-प्रेम का गम्भीर सूचक है । कालिदास प्रकृति को प्रेममयी सुन्दरी के रूप में देखते हैं, उसके पुरुषावयवों को पुष्ट देवात्मा या पुरुष के रूप में चित्रित करता है । वर्ड्स्वर्थ की

तरह उपदेशमूलक या विचारमूलक न होने के कारण कालिदास के प्रकृति-चित्र शुद्ध संवेदनात्मक बन पड़े हैं, जिनकी समता भारतीय काव्य में ही नहीं, कदाचित् संसार-काव्य में शायद ही कहीं मिल पायेगी। पवनदूत में वर्ण्य-विषय-विस्तार का वह वैभव नहीं है, जो मेघदूत में है। इसका कारण कवियों की प्रतिभा तथा रुचि तो है ही, लक्ष्य-स्थल की दूरी की कमी तथा अधिकता भी है। रामगिरि से कैलास तक की दूरी इतनी अधिक है कि कालिदास व्यापक प्रकृति-चित्रण सरलता से कर सकता है। व्रज से मथुरा इतनी निकट है कि वे प्रकृति-वर्णन पवनदूत में हो ही नहीं सकते, जो मेघदूत के वैभव को महान बना देते हैं।

विरह की दुःख-दशा दूसरों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने में समर्थ रहती है। मेघदूत का यक्ष पथ के पर्वतों, झरनों, नदियों, देवालयों इत्यादि के प्रति मेघ के कर्त्तव्य का उल्लेख बड़ी भावुकता के साथ करता है। पवनदूत की राधा भी पथ क्लांता पथिकों, लज्जाशील पथिक महिला, एक साथ बैठे भ्रमर-भ्रमरी, रोगी, क्लांत कृषक-ललना इत्यादि के प्रति पवन को कर्त्तव्य-सजग कर देती है। दूत को अपनी सुख-सुविधा का ध्यान रखने का मर्मस्पर्शी निर्देश यक्ष ने भी किया है, राधा ने भी। पथ-परिचय यक्ष ने भी दिया है, राधा ने भी। हरिऔध ने कालिदास से बहुत कुछ ग्रहण किया है, इसमें सन्देह नहीं। पर यह सारा ग्रहण करना अनुकरण नहीं है, प्रेरणा भर है।

अपनी प्रिया यक्षिणी को पहचानने के लिये कालिदास के यक्ष ने मेघ को जो संकेत बताये हैं, वे यक्षिणी को विरह की साकार मूर्ति बना देने में समर्थ हुए हैं। यक्षिणी की असह्य विरह-व्यथा के कारण उसके शरीर की जिस स्थिति का चित्रण महाकवि कालिदास ने किया है, उसकी तुलना में मथुरा में राजा के रूप में स्थित कृष्ण के दरबारी ठाट-बाट हास्यास्पद लगते हैं। दरबारी शिष्टता तथा कृष्ण के व्यक्तित्व का जो उल्लेख राधा पवन से करती है, वह विरह-व्यथा के सर्वथा प्रतिकूल है। यक्ष को विश्वास है कि उसकी प्रिया उसके वियोग में अत्यधिक व्यथित तथा श्रांत-क्लांत होगी, और वह इसे मेघ से बलपूर्वक कहता भी है। इधर राधा पवन से कृष्ण और कृष्ण की राज-गोष्ठी का जो परिचय देती है, वह कृष्ण के हृदय में विरह के अस्तित्व की सूचना भी नहीं देता। यह पवनदूत की सबसे बड़ी असफलता है, जो उसकी मूल वेदना को एकपक्षीय-सा चित्रित करती है, और मेघदूत के समक्ष बहुत हल्की ठहरती है। प्रेम सबके हृदयों का संस्पर्श प्रेम के रूप में ही करता है, यह भुलाकर हरिऔध ने पवनदूत की आत्मा को दुर्बल कर दिया है। राम हों या नेपोलियन, पार्वती हों या क्लीयोपेट्रा, पैरिस हों या मजनूं, एडवर्ड

अष्टम् हों या राजकुमारी मारगेरेट, प्रेम सबके लिये प्रेम ही है, उसका मूल संस्पर्श एक ही है, भले ही उसके प्रभाव-परिणाम व्यक्तित्व के अनुकूल असाधारण या साधारण निकलें।

कालिदास की कथा-कल्पना को यह अवसर प्राप्त हो सका है कि जायसी के 'बिहंगम' के समान उसका मेघ अपने उद्देश्य में सफल हो सके। पर हरिऔध की कथा-कल्पना को यह सुयोग प्राप्त नहीं हो सकता था, क्योंकि वे राधा तथा कृष्ण की सर्व-विदित गाथा में उस स्वतन्त्रता के साथ कल्पना समन्वित नहीं कर सकते थे। फलतः पवनदूत का अन्त मेघदूत-जैसा प्रसन्न नहीं हो सकता, नहीं हुआ।

कालिदास एक ओर तो यह जानता है कि मेघ धूम्र, अग्नि, जल और वायु से निर्मित अचेतन तत्त्व है, जो सन्देश की वे बातें जो केवल चतुर लोग ही कह सकते हैं, नहीं कह सकता, और उसका यक्ष उससे अपने भाव इसी कारण प्रकट करता है कि प्रेमियों को जड़ या चेतन के समझने की सुध नहीं रहती :—

धूमज्योतिः सलिल मरुतां संनिपातः क्व मेघः
संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥[1]

दूसरी ओर उसका मेघ यक्षिणी से सन्देश ही नहीं कहता, उसके सन्देश की मर्मस्पर्शी गाथा अलकापुरी में फैल भी जाती है, और उससे द्रवीभूत होकर कुबेर यक्ष को क्षमा प्रदान कर देते हैं, यक्ष अपनी प्रिया से मिलकर आनन्द प्राप्त करता है। स्पष्ट है कि कालिदास का उक्त श्लोक सारे काव्य की आत्मा के प्रतिकूल है, उसके हृदय पर बुद्धि के अनुपयुक्त प्रभाव का सूचक है। हरिऔध की बौद्धिक चेतना तथा मानसिक भावना अधिक संगत, पूर्ण तथा एकरस है। उनकी राधा जानती है कि वायु बोल नहीं सकती। अतः वे उससे वही करने को कहती हैं, जो उससे सहज सम्भव है। राधा का पवन के प्रति यह निवेदन बहुत मर्मस्पर्शी है, अद्वितीय है :—

जो चित्रों में विरह-विधुरा का मिले चित्र कोई।
तो जा सके निकट उसके भाव से यों हिलाना ॥
प्यारे हो के चकित जिससे चित्र की ओर देखें।
आशा है यों सूरति उनको हो सकेगी हमारी ॥

१—पूर्वमेघ (५)।

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला गेह में जो पड़ा हो।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसी को।।
यों देना ऐ पवन! बतला फूल-सी एक बाला।
म्लाना हो हो कमल-पग को चूमना चाहती है।।
जो प्यारे मंजु-उपवन या वाटिका में खड़े हों।
छिद्रों से जा क्वणित करना वेणु-सा कीचकों को।।
यों होवेगी सुरति उनको सर्व गोपांगना की।
जो हैं वंशी-श्रवण-रुचि से दीर्घ उत्कंठ होती।।
सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो।
तो पांवों के निकट उसको श्याम के ला गिराना।।
यों सीधे से प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो।
मेरा होना अति मलिन औ सूखते नित्य जाना।।
कोई पत्ता नवल तरु का पीत जो हो रहा हो।
तो प्यारे के दृग युगल के सामने ला उसे ही।।
धीरे-धीरे संभल रखना औ उन्हें यों बताना।
पीला होना प्रबल दुख से प्रोषिता-सा हमारा।।

उक्त पंक्तियों में पवन के प्रति राधा के उद्गार मेघदूत के मेघ के प्रति यक्ष के उद्गारों से अधिक तर्कसंगत तथा मर्मस्पर्शी हैं। फिर हरिऔध ने पवन की अचेतनता का उल्लेख भी कहीं नहीं किया।

पवनदूत का अंत मेघदूत के अंत से अधिक सरस, मर्मस्पर्शी तथा उदात्त है। इसका कारण परिस्थिति की करुणा तथा हरिऔध का वह अन्तस् है, जो नारी की महान वेदना को व्यक्त करने में बहुत अधिक समर्थ हुआ है। मेघदूत का यक्ष राधा के नारी हृदय के उद्गार कैसे प्रकट करता ?—

यों प्यारे को विदित करके सर्व मेरी व्यथायें।
धीरे-धीरे वहन करके पांव की धूलि लाना।।
थोड़ी सी भी चरण-रज जो ला न देगी हमें तू।
हा! कैसे तो व्यथित चित को बोध मैं दे सकूँगी।।
जो ला देगी चरणरज तो तू बड़ा पुण्य लेगी।
पूता हूँगी भगिनि उसको अंग में मैं लगाके।।
पोतूँगी जो हृदयतल में वेदना दूर होगी।

डालूंगी मैं सिर पर उसे आँख में ले मलूँगी ।।[1]
पूरी होवें न यदि तुझसे अन्य बातें हमारी ।
तो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली जा ।।
छू के प्यारे कमलपग को प्यार के साथ आ जा ।
जी जाऊँगी हृदयतल में मैं तुझी को लगाके ।।

पवनदूत का अंत मेघदूत से अधिक मर्मस्पर्शी है, पर प्रारम्भ ठीक इसके विपरीत है । मेघदूत का प्रारम्भ बड़ा हृदय-द्रावक है ।

यक्ष मेघ की कृपाशीलता तथा उदारता की प्रशंसा करता है, दूसरे शब्दों में योग्य पात्र समझ कर ही उसे सन्देश ले जाने का उपयुक्त कार्य-भार प्रदान करता है—'केवल तुम्हीं इस आतप तापित विश्व के प्राणियों को शीतलता प्रदान करने वाले हो, संतप्तों के जीवन हो, अतः हे मेघ ! यक्षेश्वर कुबेर के क्रोध के कारण निर्वासित तथा अपनी प्राण-प्रिया से दूर मुझ वियोगी का सन्देश उस तक पहुंचा आओ ।'

संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
संदेशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।[2]

इसके विपरीत राधा पवन को पहले इसलिये फटकारती है कि वह अब उन्हें व्यथा प्रदान करती है । परम्परा में मलयानिल विरहिणी के अपशब्द पाता आ रहा है, यह ठीक है । पर जब उससे सन्देश पहुंचवाना है, तब उसके उपयोगी पक्ष पर ही प्रकाश पड़ना सरस हो सकेगा । मेघ भी ओले गिराता है, गरजता है, बाढ़ की विनाश-लीला करता है, पर कालिदास को सन्देश भिजवाते समय उसके शिव रूप

१—साल्ह चलंतइ परठिया आंगण बीखड़ियांह ।
सो मइं हियइ लगाड़ियां भरि-भरि मूठड़ियांह ।।
साल्ह चलंतइ परठिया आंगण बीखड़ियांह ।
कूवा केरी कुहड़ि ज्यूँ हियड़इ हुइ रहियांह ।।

[साल्ह कुमार के चलते समय आँगन में पद-चिह्न बन गये । उन (की धूल) को मैंने मुट्ठियाँ भर-भर के हृदय से लगाया । साल्ह कुमार ने चलते हुये आँगन में पद-चिह्न बना दिये, जो कुए के कुहरे की तरह मेरे हृदय में हो रहे हैं—(बने हुए हैं)]

(ढोला मारू रा दूहा, ३६६-६७)

२—पूर्वमेघ (७।१-२) ।

का चित्रण ही समीचीन प्रतीत हुआ, जो सर्वथा उचित है। हरिऔध की प्रतिभा इस तथ्य को नहीं पकड़ सकी। जिससे बड़ा भारी काम निकालना है, जो परम उपकारक बनने जा रहा है, उस दूत के प्रति राधा के निम्नलिखित उद्गार सर्वथा अनुकूल एवं नीरस हैं :—

प्यारी प्रातः पवन इतना क्यों मुझे है सताती।
क्या तू भी है कलुषित हुई काल की क्रूरता से॥
कालिन्दी के कल पुलिन में घूमती सिक्त होती।
प्यारे प्यारे कुसुमचय को चूमती गंध लेती॥
तू आती है वहन करती वारि के सीकरों को।
हा! पापिष्ठे फिर किसलिये ताप देती मुझे है॥
क्यों होती है निठुर इतना क्यों बढ़ाती व्यथा है।
तू है मेरी चिर-परिचिता तू हमारी प्रिया है॥
मेरी बातें सुन मत सता छोड़ दे वामता को।
पीड़ा खो के प्रणतजन की है बड़ा पुण्य होता॥

पवनदूत मेघदूत से प्रभावित है। पर उसका रूप अपना स्वतन्त्र है। कालिदास यक्ष के कंठ से बोलता है, हरिऔध राधा के कंठ से। कालिदास की सजग व्यक्तिगत चेतना अपनी समग्र विलासिता, प्रकृति-प्रेम तथा शक्ति के साथ मेघदूत में साकार दृष्टिगोचर होती है, हरिऔध की सजग सामाजिक चेतना अपनी समग्र सेवा-भावना, जन-कल्याण-वृत्ति तथा त्याग के साथ पवनदूत में साकार दृष्टिगोचर होती है।

व्यक्तिगत भावुकता का तल अधिक गहरा होना स्वाभाविक है। समाजगत भावुकता का विस्तार अधिक होना स्वाभाविक है। मेघदूत के संवेदन में घनत्व अधिक है, पवनदूत के संवेदन में व्यापकत्व अधिक है। मेघदूत में कला अपेक्षाकृत बहुत अधिक है, पवनदूत में संवेदन अपेक्षाकृत अधिक संपुष्ट है। पहली दृष्टि से कालिदास बहुत आगे हैं, दूसरी दृष्टि से हरिऔध। अपनी छन्द-योजना, अपने प्रारम्भ तथा मध्य में पवनदूत मेघदूत की छाया लिये हुए हैं, संक्षेप में उसके शरीर पर मेघदूत का प्रभाव पर्याप्त रूप में पड़ा है। पर उसका सन्देश बहुत भिन्न है। उसकी आत्मा पृथक् रूप से अपनी है। मेघदूत और पवनदूत में उतना ही अन्तर है जितना कालिदास और हरिऔध में। कालिदासत्व सुन्दरम् के प्रति अधिक सजग है। हरिऔधत्व शिवं के प्रति अधिक सजग है काव्य तथा कला की दृष्टि से मेघदूत अधिक प्रभावशाली है, सन्देश की दृष्टि से

पवनदूत। मेघदूत एक स्वतन्त्र कलाकृति होने के कारण अपनी समग्रता में अद्वितीय है, पवनदूत एक विशद काव्य का अंग-मात्र है। अतः पवनदूत को मेघदूत की छाय बताकर उसकी मनमानी आलोचना करना सर्वथा विगर्हणीय है।

× × × ×

प्रियप्रवास का सप्तम सर्ग कृष्ण-रहित नंद को मथुरा से ब्रज लौटा देखकर यशोदा के उस आत्म-द्रावक एवं करुणा-कलित विलाप से सम्पन्न है, जो हिन्दी-कविता में वात्सल्य-वियोग का एक चरम उत्कर्ष बन चुका है। हरिऔध को माता का महान हृदय प्राप्त था, यह सप्तम सर्ग के उक्त विलाप से पूर्णतः प्रकट हो जाता है।

सप्तम सर्ग के प्रारम्भ में नन्द की दयनीय दशा का वर्णन भी हुआ है। ब्रजवासियों को अकेले क्या उत्तर दूँगा? गया था साथ में ब्रज के सूर्य-चन्द्र को लेकर, आया हूँ निराशा का तिमिर लेकर। यह चित्र जितना मर्मस्पर्शी होना चाहिये था, उतना नहीं बन पड़ा। तृतीय सर्ग के व्यथित नंद के चित्र की तुलना में यह चित्र परिस्थिति की गुरुतर वेदना से संतृप्त अनुभूति से सम्पन्न होना चाहिये था, क्योंकि तब आशा थी, कृष्ण-बलराम साथ ही तो जा रहे थे, अब तो निराश और अकेले लौट रहे थे। तब यदि आशंकायें थीं, तो अब भी तो आशंकाओं से पूर्णतः मुक्ति नहीं मिल पायी थी। सबसे बड़ी बात, वे अकेले लौट रहे थे। इस दशा में निम्नलिखित वर्णन परिस्थिति की गम्भीरता को सम्यक् रूप से व्यक्त नहीं कर पा रहा :—

खो के होवे विकल जितना आत्म-सर्वस्व कोई।
होती है खो स्वमणि जितनी सर्प को वेदनायें॥
दोनों प्यारे कुंवर तज के ग्राम में आज आते।
पीड़ा होती अधिक उससे गो-कुलाधीश को थी॥
लज्जा से वे प्रथित-पथ में पांव भी थे न देते।
जी होता था व्यथित हरि का पूछते ही सन्देशा :।
वृक्षों में हो विपथ चल के वे आ रहे ग्राम में थे।
ज्यों-ज्यों आते निकट महि के मध्य जाते गड़े थे॥
पावों को वे सम्हल बल के साथ ही थे उठाते।
तो भी वे न उठ सकते हो गये थे मनों के॥
मानों यों वे गृह-गमन से नंद को रोकते थे।
संक्षुब्धा हो सबल बहती थी जहाँ शोकधारा॥

उक्त वर्णन नन्द की आंतरिक पीड़ा की झाँकी न दिखलाकर, उनके उद्‌गार न प्रकट कर बाह्य स्थिति का चित्रण भर प्रस्तुत कर रहा है। केवल बाह्य स्थिति के चित्रण से गम्भीर वेदना की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती। वृक्षों में हो विपथ चलने में वेदना का चित्र सफल होता प्रतीत होता है, पर कवि आगे यह स्पष्ट कर देता है कि वे रथ को पेड़ों के नीचे से ला रहे थे, जिससे लोग देखें-सुनें और पूछें-पांछे न। यान से वे घर निकट आने पर ही उतरते हैं :—

> यानों से हो पृथक तज के संग भी साथियों का।
> थोड़े लोगों सहित गृह की ओर वे आ रहे थे ॥

नन्द का यह चित्र-राम, सीता और लक्ष्मण को अयोध्या की सीमाओं पर छोड़कर लौटने वाले तुलसीदास के सुमंत्र के चित्र से प्रभावित है। पर हरिऔध तुलसीदास की करुणा-कलित भावराशि का स्पर्श नही कर सके। सुमंत्र को अकेला लौटा देखकर दशरथ के जो उद्‌गार 'मानस' में प्रकट हुए हैं, उनकी तुलना का विषय तो शायद ही कहीं मिले, पर उसकी एक पुष्ट झलक भी नन्द के उक्त चित्र में नहीं आ सकी है। यशोदा नन्द को अकेले देखकर जो कहती है, वह अवश्य अनूठा है। तुलसी की कौशल्या-सुमित्रा में वह बात नहीं आने पायी, जो हरिऔध या सूर की यशोदा में आ सकी है। स्पष्ट है कि सूर के समान हरिऔध की प्रतिभा मातृत्व का चित्र अधिक सजीव खींचती है, पितृत्व का उमसे बहुत कम। तुलसी की स्थिति ठीक इसके विपरीत है।

मैथिलीशरण ने इसी दशा से सम्बन्धित नन्द का जो चित्र खींचा है, वह अधिक गम्भीर है, यद्यपि भावानुकूल भाषा की योजना वे भी नहीं कर सके :—

> नन्द लौट आया मथुरा से,
> हे ईश्वर क्या लेकर ?
> यह सन्तोष—'देवकी का वह,
> कोष उसी को देकर।'
> नहीं नहीं, दे सका कहाँ यह,
> लोलुप मन उस धन को ?
> तब तो तम तकना पड़ता है,
> तस्कर ज्यों इस जन को।
> यह गोकुल का ग्योंडा, गाड़ी,
> खड़ी क्यों रहे, जावे।
> मेरी बाट यशोदा की द्रुक,

आशा को अटकावे।
दिन जाने पर भी कुछ क्षण तक,
अरुणाभा रहती है।
और एक आश्रय लेने को,
यात्रा से कहती है।
तब तक मैं भी तनिक अकेला,
रह कर जी भर रो लूँ।
मानस के जल से मुँह धोलूँ,
कसि कट प्रस्तुत हो लूँ।
श्याम नहीं तो तनिक श्यामता,
संध्या में आ जावे।
ठीक किसी को यह जन, कोई,
इसको देख न पावे।

'श्याम नहीं तो तनिक श्यामता' संध्या में आने पर घर जाने की सोचना बाद में कुछ कहने के लिये अवकाश नहीं रखता। मैथिलीशरण एक बुंदेला वीर के बाहर से विगलित न लगने वाले, पर अन्तर से अश्रु-घट-भरे शब्दों में यहाँ जो कुछ कह गये हैं, उसके बाद यदि और कुछ भी न कहते, तो भी पर्याप्त होता। हाँ, मैथिलीशरण की भाषा झाँसी की जलवायु में पली है, हरिऔध की नाम के लिये आजमगढ़ की, तथा काम के लिये ब्रज की जलवायु में।

सप्तम सर्ग का विख्यात यशोदा-विलाप हिन्दी के वात्सल्य-वियोग की एक सर्वोत्तम सम्पत्ति है। उसके एक-एक शब्द में माता की निराशा, व्यथा, जरावस्था की विकलता तथा पुत्र-स्मृति की करुणा बोलती है। साकेत के अष्टम् सर्ग में कैकेयी के उद्‌गारों में जो करुणा भरी है, वैसी ही तड़प-भरी तथा व्यापक रूप वाली करुणा-वेदना प्रियप्रवास के सप्तम सर्ग में अपनी अनुकूलता के साथ दृष्टिगोचर होती है। सच पूछा जाये तो द्विवेदी-युगीन काव्य के महानतम नारी-चित्र यशोदा और केकैयी हैं, राधा और उर्मिला का नाम घनत्व की दृष्टि से बाद में आता है।

यशोदा के विस्तृत विलाप में वे अपनी वेदना को पूर्ण रूप से प्रकट कर देती हैं। एक-एक स्मृति-सार, एक-एक भावी-चिंतना, गांव के एक-एक वर्ग की कृष्ण-वियोग-वेदना, एक-एक बदली अनुभूति और पुत्र-वियोग में भी कौशलाधीश का सौभाग्य पाने से बंचित या अपने जीवित होने की ग्लानि इस अमर विलाप में मूर्तिमान हो उठी है। इसका समुचित अनुशीलन आँसू बनकर बह पड़ता है, इसका सस्वर पाठ श्रोताओं को रुला-रुला देता है, पंत-जैसे महाकवियों को रुला चुका है।

मानस के दशरथ-विलाप तथा लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम-विलाप के साथ-साथ यह यशोदा-विलाप हमारी कविता का अपने ढंग का सर्वोत्तम प्रतीक है, जिसकी सीधे आत्मा से निकली सरलतम अकृत्रिम अनुभूति सीधे आत्मा को ही झकझोर देती है, गीला कर देती है।

अष्टम सर्ग में ब्रज भर में व्याप्त कृष्ण-वियोग की व्यथा का वर्णन स्मृति के माध्यम से किया गया है। उनके जन्म के उत्सव-उल्लास का वर्णन करके उसकी स्मृति से व्यथित वृद्धाओं, अन्य स्त्रियों-बालाओं के वेदनामय भावों का सुन्दर तथा व्यापक चित्रण हरिऔध जी ने प्रस्तुत किया है। वात्सल्य रस का जो सुन्दर परिपाक इस सर्ग में हुआ है, वह सूर के बाद हिन्दी में अनुपम है।

प्रियप्रवास का नवम् सर्ग इस महान तथा अमर काव्य का एक मात्र पूर्णतः-असफल सर्ग है। सप्तदश सर्ग का उबा देने वाला आदर्शवाद भी इस सर्ग की विभिन्न वृक्षों तथा लताओं की लम्बी लिस्ट के सामने मात खा जाता है। कृष्ण के भेजे उद्धव ज्ञान तथा योग का सन्देश लेकर मथुरा से ब्रज की ओर चले, पर मार्ग की शोभा में अपना उद्देश्य भूल कर शब्द-कोप की सहायता से वृक्षों तथा लताओं की सूची बनाने में उलझ गये। उन्हें अपना, अपने कार्य का, अपने प्रदेश का, वहाँ के जलवायु का कोई ध्यान ही न रहा। सुन्दर सरोवरों, पक्षियों, यमुना इत्यादि की ओर उनकी दृष्टि तभी गयी, जब वे उक्त सूची तैयार करने में थक कर चकनाचूर हो गये थे। अतः इनकी तरफ उनका ध्यान तो गया, पर जितना जाना चाहिये था, उतना नहीं जा सका। इस सूची के निर्माण में हरिऔध केशवदास से भी बाजी मार ले गये हैं, क्योंकि केशवदास से जो नाम छूट गये थे, उनको भी हरिऔध ने नत्थी कर लिया है। उपसर्गों की भरमार प्रियप्रवास की खटकने वाली चीजों में से है, यहाँ वह भी उबा देने वाली बन गयी है। उद्धव के ब्रज में पहुँचने पर वहाँ के निवासियों की उत्सुकता का वर्णन अच्छा हुआ है, जिस पर मानस की छाप है। मानस में राम को देखने के लिये अवध-वासी जैसे दौड़ पड़ते हैं, वैसे ही उद्धव को देखने के लिये ब्रज-वासी। उद्धव के ब्रज पहुंचने पर सूर का वर्णन भी बड़ा सजीव है। पर इस दृष्टि से रत्नाकर का स्थान अद्वितीय है। उद्धव-शतक में उद्धव के ब्रज पहुंचने पर वहाँ की गोपिकाओं की स्थिति का जो सजीव, चित्रमय तथा कलापूर्ण वर्णन रत्नाकर ने किया है, वह अपने ढंग का सर्वोत्तम वर्णन है। हरिऔध का वर्णन रत्नाकर के वर्णन की समता किसी भी दृष्टि से नहीं कर सकता।

इसका कारण केवल यही नहीं है आधुनिक युग के एक ही स्तर के चार महाकवियों—हरिऔध, रत्नाकर, मैथिलीशरण, प्रसाद-में प्रसाद और रत्नाकर कला

की दृष्टि से अधिक मनोरम हैं, प्रत्युत्त यह भी है कि उद्धवशतक का शतकत्व उसकी कसावट को मेघदूत के पास लाकर खड़ा कर देता है, जिसकी गुंजाइश सप्तदश-सर्गीय विशालकाय-प्रियप्रवास में आसानी से हो भी नहीं सकती ।

नवम् सर्ग के प्रारम्भ में कृष्ण के ब्रज-वियोग का वर्णन हुआ है । पर सूरदास और सबसे बढ़कर रत्नाकर के इसी अवसर से सम्बद्ध वर्णनों की तुलना में वह बहुत ही साधारण प्रतीत होता है । कृष्ण ब्रज की प्रकृति, यमुना, गायों-बछड़ों, ग्वाल-वालों, गोपिकाओं, नंद-यशोदा तथा अपने स्वच्छंद सरल जीवन का जैसा स्वाभाविक स्मरण सूर में करते हैं, तथा इन सबके स्मरण के साथ-साथ आँसुओं की जो अमूल्य लड़ी रत्नाकर में पिरोते हैं, वह हरिऔध में नहीं है । यहाँ हरिऔध सूर के उत्तराधिकार के एक पक्ष को शिथिल कर देते हैं । सूर के कृष्ण जब कहते हैं :—

ऊधौ, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं ।
हंसपुता की सुन्दरि कगरी अरु कुंजन की छाहीं ।।
वे सुरभी, वे बच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाहीं ।
ग्वालबाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं ।।
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि-मुक्ताहल जाहीं ।
जबहिं सूरति आवति वा सुख की जिय उमगत, तनु नाहीं ।।[१]

तब उनके प्रत्येक शब्द में स्वाभाविक विकलता बरसती प्रतीत होती है, 'वा मुख' की 'सूरति' तक पहुंचत-पहुंचते पाठक अपने को भूल जाता है । रत्नाकर इस दिशा में बहुत आगे तक बढ़े हैं, सूर और आलम की प्रेरणा लेकर भी उनसे आगे तक । कुछ कहने के पूर्व ही उनकी दशा का जो भाव-निमज्जित उच्चतम कोटि का वर्णन वर्ण्य-विषय के महत्वपूर्ण स्थलों के एक बड़े पारखी रत्नाकर करते हैं, उसकी समता करने वाला वर्णन शायद ही मिले :—

कहा कहैं ऊधो सों कहैं हूं तो कहाँ लौं कहैं,
कैसें कहैं कहैं पुनि कौन सी उठानि तैं ।
तोलों अधिकाई तैं उमगि कंठ आइ भिंचि,
नीर ह्वै बहन लागी बात अंखियानि तें ।।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यों,
प्रेम पर्‌यौं चपल चुचाइ पुतरीनि सौं ।

१—भ्रमरगीतसार, अन्तिम पद ।

नेंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचिकीनि सौं ॥[1]

जिस प्रेम-सन्देश के प्रारम्भ में मूकता इतने व्यापक तथा सशक्त रूप से बोलती है, उस सन्देश का मुखरित रूप जितना महान होना चाहिये, उद्धव-शतक में वह उससे किंचिन्मात्र भी कम नहीं है और उसका अन्त भी वैसा ही हृदय-द्रावक है :—

आइ ब्रज-पथ रथ ऊधौ कों चढ़ाइ कान्ह,
अकथ कथानि की व्यथा सों अकुलात है।
कहै रत्नाकर बुझाइ कछु रोकैं पाय,
पुनि कछु ध्याइ उर धाइ उरझात हैं।
उससि उसांसनि सौं बहि बहि आंसनि सों,
भूरि भरे हिय के हुलास न उरात हैं।
सीरे तपे विविध संदेसनि की बातनि की,
घातनि की झोंक में लगेई चले जात हैं ॥[2]

सूर और रत्नाकर की तुलना में हरिऔध के कृष्ण रस तथा कला की दृष्टि से बहुत ही शुष्क और साधारण चित्रित किये गये दृष्टिगोचर होते हैं :—

बोले बारिदगात पास बिठला सम्मान से बंधु को।
प्यारे, सर्व-विधान ही नियति का व्यामोह से है भरा ॥
मेरे जीवन का प्रवाह पहले अत्यन्त उन्मुक्त था।
पाता हूँ अब मैं नितांत उसको आबद्ध कर्त्तव्य में ॥
शोभा-संभ्रम-शालिनी ब्रज-धरा प्रेमास्पदा-गोपिका।
माता-प्रीतिमयी प्रतीति-प्रतिमा, वात्सल्य-धाता पिता ॥
प्यारे गोप-कुमार, प्रेम-मणि के पाथोधि से गोप वे।
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है हमें ॥
जी में बात अनेक बार यह थी मेरे उठी मैं चलूँ।
प्यारी-भावमयी सुभूमि ब्रज में दो ही दिनों के लिये ॥
बीते मास कई परन्तु अब भी इच्छा न पूरी हुई।
नाना कार्य-कलाप की जटिलता होती गयी बाधिका ॥

१—उद्धव-शतक (४-५)।
२—उद्धव-शतक (२२)।

कृष्ण को हरिऔध ने जैसा शुष्क चित्रित किया है, वैसा अन्यत्र शायद कहीं भी नहीं किया गया। इसे यह कहकर नहीं टाला जा सकता कि कृष्ण को हरिऔध ने एक ऐसे लोक-रक्षक महामानव के रूप में चित्रित किया है, जिसके जीवन में भावना की अपेक्षा कर्त्तव्य का महत्त्व अधिक होता है। मानस के राम की कर्त्तव्य-सजगता के समक्ष प्रियप्रवास के कृष्ण की कर्त्तव्य-सजगता साधारण प्रतीत होगी। पर तुलसी के राम अपनी अश्रु-विगलित भावुकता में भी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नायक हैं।

दशम सर्ग में यशोदा की दयनीय दशा तथा उद्धव से उनके पुत्र-वियोग-निवेदन का वर्णन उत्कृष्ट एवं सरस हुआ है। प्रियप्रवास को जहाँ यशोदा का स्पर्श मिलता है, वह पुलकित हो उठता है। सचमुच हरिऔध ने मातृ-हृदय पाया था—पवित्र, उज्ज्वल, सजल। हरिऔध की सजलता हिन्दी में अतुलनीय है। यशोदा के उद्गारों में विरह की चिंता, गुण-कथन, उत्कंठा इत्यादि कामदशाओं का भव्य वर्णन अपने-आप हो गया है। उनके उद्गारों में कृष्ण की रुचि के भोजन का उल्लेख सूर का स्मरण कराता है। कृष्ण के भोजन में संकोच की चर्चा सूर की यशोदा के समान हरिऔध की यशोदा भी बड़ी तन्मयता से करती हैं। उनके खाने-पीने, शयन करने की बेला का ध्यान रखने की बात बताकर वे सजला गरीयसी जननी के पवित्र अश्रुओं से पाठक की आत्मा को सिंचित कर देती हैं :—

जो पाती हूँ कुंवर-मुख के जोग में भोग प्यारा।
तो होती हैं हृदय-तल में वेदनायें बड़ी ही।।
जो कोई भी सुफल सुत के योग्य में देखती हूँ।
हो जाती हूँ परम-व्यथिता, हूं महादग्ध होती।।
प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था।
खाते-खाते पुलक पड़ता नाचता कूदता था।।
ए बातें हैं सरस नवनी देखते याद आती।
हो जाता है मधुरतर औ स्निग्ध भी दग्धकारी।।

पूर्ण आत्म-विस्मृति का नाम ही मातृत्व है। माता किसी भी स्वादिष्ट पदार्थ को बच्चे के लिये खूँट में बाँधकर अपने खाने से अधिक सुख पाती है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि वियोगिनी माता भी अतीत के अभ्यास के अनुसार खाने-पीने के सुस्वादु पदार्थ पुत्र के लिये रख छोड़ती है और कालान्तर में वर्त्तमान की दयनीयता पर आँसू बहा-बहा कर विगलित होती है। इस विश्व में, मानव में जो कुछ सबसे महान, सबसे निष्कलंक, सबसे सजल, सबसे पवित्र, संक्षेप में सबसे

उज्ज्वल तथा एकांत रूप से सबसे पावन है, वह मातृत्व है। महाकवि हरिऔध ने मातृत्व के विविध पक्षों, विशेषकर करुणा-कलित वियोग का जैसा विशद तथा सर्वांगपूर्ण वर्णन किया है वह हिन्दी-साहित्य में सूर के साथ-साथ सर्वोत्तम है। बहुत दिनों से नीरस पड़ी वंशी को अपनी वेदना के पीयूष से सरस अमरत्त्व प्रदान करने के बाद यशोदा उद्धव से कृष्ण के व्रज, जननी-जनक, गोप-गोपिकाओं के विस्मरण पर 'कैसे' का प्रश्न करती हैं। यह 'कैसे' बहुत सफल हुआ है। फिर वे अपनी व्यथा का विशद वर्णन पुनः करने लगती हैं। हृदयोद्यान-रूपक दशम सर्ग का एक सुन्दर तथा विशद रूपक है, जिसकी समता के सुन्दर रूपक मानस, सूर-सागर और कामायनी के अतिरिक्त हिन्दी में शायद ही कहीं मिलें। अन्त के निकट वे बड़ी स्वाभाविक कामना करती हैं :—

पत्रों पुष्पों रहित विटपी विश्व में हो न कोई।
कैसी भी हो सरस सरिता बारि-शून्या न होवे ॥
ऊधो सीपी-सदृश न कभी भाग्य फूटे किसी का।
मोती ऐसा रतन अपना आह! कोई न खोये ॥
अंभोजों से रहित न कभी अंक हो वापिका का।
कैसी ही हो कलित-लतिका पुष्पहीना न होवे ॥
जो प्यारा है परम-धन है जीवनाधार जो है।
ऊधो ऐसे रुचिर-विटपी-शून्य वाटी न होवे ॥
छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल-छल से लाल ले-ले किसी का ॥
पूँजी कोई जनम भर की गाँठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का ॥

दुःख कितना उदात्त होता है यह मंगल-कामना इसका एक निदर्शन है।

एकादश सर्ग में गोपों का कृष्ण-वियोग स्मृति संचारी के व्यापक प्रयोग के द्वारा वर्णित है। द्वादश सर्ग में आभीरों के दल तथा कुछ गोपों द्वारा और त्रयोदश सर्ग में एक ग्वाल के द्वारा ऐसा ही किया गया है। इन सर्गों की विशेषता यह है कि उनमें कृष्ण के जीवन की बाल्य-काल-सम्बद्ध प्रमुख तथा प्रसिद्ध घटनाओं का वर्णन सुन्दर तथा बुद्धिपरक दृष्टिकोण से किया गया है, साथ ही कृष्ण के व्यापक लोकप्रेम का कृष्ण-काव्य के भीतर स्पष्ट तथा प्रयत्नपूर्वक समावेश किया गया है, जैसा हिन्दी में इस रूप में पहले नहीं हुआ था। त्रयोदश सर्ग का अन्तिम अंश बड़ा मर्मस्पर्शी तथा ललित है। एक ग्वाले के मधुर स्वर सुनिये :—

विपुल-ललित-लीलाधाम-आमोद-प्याले ।
सकल कलित क्रीड़ा कौशलों में निराले ।।
अनुपम बनमाला को गले बीच डाले ।
कब उमग मिलेंगे लोक-लावण्य वाले ।।
कब कुसुमित - कुंजों में बजेगी बता दो ।
वह मधुमय प्यारी बाँसुरी लाडिले की ।।
कब कल - यमुना के कूल वृंदाटवी में ।
चित-पुलकितकारी चारु आलाप होगा ।।
कब प्रिय विहरेंगे आ पुनः काननों में ।
कब वह फिर खेलेंगे चुने खेल नाना ।।
विविध-रस-निमग्ना भाव-सौंदर्य-सिक्ता ।
कब वर - मुख-मुद्रा लोचनों में लसेगी ।।

द्वितीय छन्द का 'बता दो' का अनुरोध अपने आँसुओं में ही अपनी महत्ता है। तुलसीदास और सूरदास के बाद हिन्दी में पहली बार हरिऔध ने सरलतम को ललिततम बना सकने का उच्चकोटि के महाकवियों के अनुरूप कौशल दिखा पाया है। गम्भीर को गम्भीर रूप में चित्रित करना उतना कठिन नहीं है, जितना सरल को गम्भीर रूप में चित्रित करना। इस दृष्टि से जब कभी हिन्दी के कवियों पर विचार किया जायेगा तुलसी और सूर के बाद हरिऔध का नाम स्वतः आ जायेगा।

इसी सर्ग में ग्वाले के मुख से आयु के अनुरूप कृष्ण के गोचारण-जीवन की कुछ मधुरतम स्मृतियाँ वर्णित हैं। अपने स्वादिष्ट भोजन को सखाओं में बाँट-बंटाकर खाना, भूखे सखाओं के लिये वृक्ष पर चढ़कर फलाहार का आयोजन करना, कभी सुन्दर किसलयों तथा पत्रों के खिलौने बनाना, कभी कमल-पुष्पों की माला बनाना, कथायें सुनाना, कोयल, मैना, तोतों-तोतियों की बोलियाँ बोलकर उनके प्रत्युत्तर सुनना, हंस की चाल चलना, मयूरों-सा नाचना, केशरी की-सी गर्जना करना, राजा का नाटक करना इत्यादि का जो स्मरण हरिऔध का ग्वाला करता है, उसमें पारस के गोचारण-जीवन की हिन्दी में सूर के साथ-साथ सबसे बड़ी झाँकी दृष्टिगोचर होती है। खेद है कि अपने राष्ट्रीय जीवन के विविध पक्षों की उपेक्षा करके तथा विजातीय या अल्प-जन-सम्बद्ध क्रिया-कलापों के प्रति ही अधिक उत्साह प्रकट करके हमारे नये कवियों में अधिकांश कविता की लोकप्रियता के मूल पर ज्ञात या अज्ञात रूप से चोट कर रहे हैं। गांवों से पूर्ण परिचित आलोचक भी हिन्दी में अब नहीं के

बराबर ही रह गये हैं अन्यथा वे यह बताते कि अपनी संस्कृतनिष्ठता के बावजूद भी प्रियप्रवास ग्राम-जीवन की झलक भी पाता रहता है। हमारे विचार से इस समय हिन्दी के लिये सबसे बड़ी समस्या यह है कि उसका वाङ्मय शिक्षालयों के बाहर नहीं निकल पा रहा। यदि यही दशा बनी रही तो हमारे साहित्य का भविष्य क्या होगा, इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है। यदि कोई यह कहे कि हमारी जनता अशिक्षित तथा मूर्ख है, तो यह उसकी मूर्खता तथा देश का अपमान करने का दंडनीय अपराध होगा। जो जनता कबीर के रहस्यवाद, तुलसी के विराटवाद और सूर के रसवाद का आनन्द ले सकती है, जो जनता हरिऔध, रत्नाकर, मैथिलीशरण और प्रेमचन्द को अपना प्रेम प्रदान कर धन्य बना सकती है, उसे निरी निरक्षर या मूर्ख कहना, अपनी अक्षमता को गलत ढंग से छिपाना ही होगा।

अन्त में ग्वाला पाठकों को इन शब्दों से रुलाता है :—

जब हृदय हुआ है और मेरे सखा का।
अहह वह नहीं तो क्यों सभी भूल जाते॥
वह नित नव-कुंजें भूमि शोभा-निधाना।
प्रति दिवस उन्हें तो क्यों नहीं याद आती॥

चतुर्दश सर्ग में उद्धव-गोपी-संवाद हुआ है। यह संवाद सूर, नंददास और रत्नाकर के संवादों की समता नहीं कर सकता। उद्धव-गोपी-संवाद की सफलता रागात्मिकता वृत्ति का सम्यक् स्पर्श पाकर ही हिन्दी में सतत पुलकित हुई है, क्योंकि सम्भव ही यही था। उपाध्याय जी के उद्धव गोपिकाओं के भाव-जगत् को अपनी बौद्धिकता से वह उत्तेजना नहीं प्रदान कर सके, जो सूर और रत्नाकर प्रदान कर सके हैं। हरिऔध जहाँ कहीं राधा तथा गोपिकाओं से कृष्ण के सम्बन्ध का वर्णन करने लगते हैं, वहाँ उनका आदर्शवाद आवश्यकता से अधिक होकर नीरसता की सृष्टि कर देता है। यह नीरसता अत्यधिक प्रतीत होने लगती है, क्योंकि हिन्दी सूर और रत्नाकर की भाव-विभूति से भलीभाँति परिचित है। सर्ग के अन्त में स्मृति के माध्यम से रास का सुन्दर वर्णन हुआ है, पर वह नन्ददास और हितहरिवंश की तुलना में नहीं खड़ा किया जा सकता। अन्त के निकट रास की रात्रि का स्मरण करते हुये गोपी बड़ा स्वाभाविक उद्गार प्रकट करती है, जो महानिशि के चिंत्य प्रयोग के बावजूद भी मनोरम है :—

जैसी मनोहर हुई यह यामिनी थी।
वैसी कभी न जन-लोचन ने विलोकी॥

जैसी बही रससरी इस शर्वरी में ।
वैसी कभी न व्रजभूतल में बही थी ।।
जैसी बजी मधुर वीन मृदंग बंशी ।
जैसा हुआ रुचिर नृत्य विचित्र नाना ।
जैसा बंधा इस महा-निशि में समां था ।।
होगी न कोटि मुख से उसकी प्रशंसा ।

प्रियप्रवास का पंचदश सर्ग ग्रन्थ के सर्वोत्तम सर्गों में है, भले ही अपने अनूटे संवेदन में षेष्ठ सर्ग तथा अपनी अतुलनीय विकलता में—सप्तम सर्ग उससे कम न हों। इस सर्ग में विरहिणी राधा का चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो परम्पराबद्ध होते हुए भी सुन्दर है, अपनी प्राचीनता में भी नवीन प्रतीत होता है।

इस सर्ग में एक बाला या राधा प्रकृति के विभिन्न अवयवों में व्याप्त सौंदर्य को देख उनसे अपने विकलता भरे निवेदन करती हैं। निराली लालिमा से विलसित एक कुसुम देखकर वे पूछती हैं कि क्या तू प्रिय के आगमन की सूचना दे रहा है, तभी तो इतना उत्फुल्ल है। जूही, चमेली, पाटलों, बेला, चम्पा, कुंव, केतकी, बंधूक, सूर्यमुखी इत्यादि पुष्पों को वे इसलिये फटकारती हैं कि अब वे पूर्व की भाँति सुखद न होकर दुखद क्यों बन गये हैं, उनके दुःख को क्यों नहीं समझ रहे हैं। फिर भौंरे से अपना दुखड़ा सुनाती हैं, उसके प्रति अपना विशेष भाव प्रदर्शित करती हैं, क्योंकि वह प्रियतम से मिलता-जुलता है :—

मधुकर ! सुन तेरी श्यामता है न वैसी ।
अति अनुपम जैसी श्याम के गात की है ।।
पर जब-जब आँखें देख लेती तुझे हैं ।
तब-तब सुधि आती श्यामली मूर्ति की है ।।
तब तन पर जैसी पीत आभा लसी है ।
प्रियतम-कटि में है सोहता वस्त्र वैसा ।।
गुन-गुन करना औ गूँजना देख तेरा ।
रसमय मुरली का नाद है याद आता ।।

वे उसे श्याम-बंधु कहते हुये सदय होने की प्रार्थना करती हैं, अपना रस-संचय छोड़कर दुखड़ा सुनने का निवेदन करती हैं। बीच-बीच में परम्परा से कुछ हटकर भोले-भाले कथन भी द्रष्टव्य हैं :—

जब विरह विधाता ने सृजा विश्व में था ।
तब स्मृति रचने में कौन-सी चातुरी थी ।।

यदि स्मृति विरचा तो क्यों उसे है बनाया ।
वपन कटु कुपीड़ा बीज प्राणी-उरों में ।।

इस सर्ग के सत्तरहवें मालिनी छन्द के बाद दस द्रुत-विलंबित छन्दों में मुरली के प्रति बाला के उद्‌गार प्रकट किये हैं। सर्ग के शरीर से उनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। ऐसा लगता है, जैसे वे अलग से जोड़ दिये गये हैं। उनके बाद के वंशस्थ छन्दों में कोकिला से प्रार्थना की गयी है कि वह मथुरा जाकर अपने मर्म-बेधक स्वर से प्रिय को वियोग की कठोरता, व्यापकता तथा गम्भीरता से परिचित कराये। यमुना से रोना-धोना भी मार्मिक है।

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी पंचदश सर्ग को प्रियप्रवास में सर्वोत्तम मानते हैं। पर वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास, सूरदास से मिलते-जुलते उक्त वर्णनों में विस्तार उबा देने वाला है।

उक्त महाकवियों ने बेलों, वृक्षों, खग-मृग-मधुकर श्रेणियों, मधुवन, यमुना इत्यादि से जो निवेदन किये हैं, वे संख्या गिनाने के लिये न करके रस की सफल निष्पत्ति के लिये किये हैं। उपाध्याय जी ने नवम् सर्ग में वृक्षों, लताओं की सूची देने-जैसा काम पंचदश सर्ग में यह किया कि भारी संख्या में प्रकृति के अवयवों को प्रस्तुत कर सबके प्रति विरहिणी के निवेदन दिखा दिये। यह सत्य है कि सभी वर्णन सुन्दर हैं, भले ही उनमें विशेष नवीनता न हो। पर नवम् सर्ग की वृक्ष-सूची भी असुन्दर नहीं है, लता-सूची भी अच्छी है। स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता को बिना समझे एक-जैसे वर्णनों की भरमार पंचदश सर्ग को कृत्रिम बना देती है। ऐसा लगता है जैसे बाला ने एक दिन ऐसे निवेदनों के लिये निश्चित कर दिया था और पहले से ही डटकर तैयारी करली थी। 'विरह के लिये विरह' का जरूरत से ज्यादा लम्बा वर्णन कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् नाटक की एक बड़ी असफलता है, साकेत की एक खटकने वाली बात है। प्रियप्रवास में ऐसा केवल पंचदश सर्ग में ही हुआ है। अन्यत्र उसकी स्वाभाविकता विरह के क्षेत्र में बड़ी प्रशंसनीय है। इस स्थिति में शांतिप्रिय जी का उक्त कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता है और अनुभूति की तीव्रतम विकलता से सम्पन्न षष्ठ एवं सप्तम सर्गों के साथ अन्याय करता है। हाँ, अस्वाभाविकता के साथ ही पंचदश सर्ग में जो प्रभूत भाव-सौंदर्य दृष्टिगोचर होता है, उसे देखते हुये षष्ठ तथा सप्तम सर्गों के साथ उसे काव्य के सुन्दरतम सर्गों में स्थान दिया जा सकता है।

प्रियप्रवास के षोड़श सर्ग में उद्धव राधा से कृष्ण का सन्देश कहते हैं। इस सन्देश में उपदेश-तत्त्व भाव-तत्त्व को आक्रांत तथा व्यर्थ बना देता है। ताराओं जैसे

चित्य प्रयोग भी दृष्टिगोचर होतेहैं , जिनका भरपूर प्रयोग बाद के कवियों विशेषतः प्रसाद, ने किया है। राधा का उत्तर भी वैसा ही है। यह सर्ग विषय की दृष्टि से जितना ही सफल होना चाहिये था, उतना ही असफल बन गया है। राधा का यह कथन किसी प्रौढ़ा या वृद्धा का कथन प्रतीत होता है, जिसकी लालसायें स्वतः शमित हो चुकी हों और जो केवल लालसा के लिये लालसा की चर्चा करती हों, सूर और रत्नाकर के ऐसे कथनों के समक्ष यह कथन बिल्कुल रूखा और फालतू प्रतीत होता है।

निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मैं नित्यशः संयता हूँ।
तो भी होती हूँ अति व्यथित श्याम की याद आते ।।
वैसी वांछा जगत-हित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है ।।

इसके पश्चात् मोह, प्रणय, स्वार्थ, विषय, प्रकृति में प्रिय-दर्शन, मिलनेच्छा से लेकर प्रिय की विश्व-व्याप्ति, विश्व-प्रेम, शास्त्र-विज्ञान बातें, निष्काम भक्ति, नवधा भक्ति, विश्वात्मा प्रभृति की चर्चा या उपदेश में राधा इतना अधिक डूब जाती हैं कि प्रकृत विषय गौण और गौण विषय प्रकृत विषय बन जाता है। अन्त में वे आश्वासन देती हैं :—

आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।
मेरा कौमार-व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे ।।

इस कौमार-व्रत को निरा अस्वाभाविक तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि असफल प्रणय प्रायः कौमार-व्रत, भक्ति, देश-सेवा इत्यादि में परिणत होता ही रहता है। पर जिस विशद शास्त्रीयता का निरूपण करके राधा उसकी घोषणा करती है, वह चित्य है। उद्धव जैसे वयस्क ज्ञान-गुरु व्यक्ति को सूर, नन्ददास या रत्नाकर की गोपिकायें और राधा शास्त्र-पथ पर चलकर मूक नहीं करतीं—यदि उनसे ऐसा कराया जाता, तो असाहित्यिक होता—प्रेम-पथ पर चलकर ही ऐसा करती हैं। पर राधा प्रेम पर कम, शस्त्र पर अधिक व्याख्यान देकर उद्धव को ऐसा प्रभावित करती हैं कि वे चुपचाप सारा उपदेश सुनते रहते हैं, आये थे उपदेश देने पर उन्हें स्वयं उपदेश सुनना पड़ता है, और अंततोगत्वा चरण की रज लेकर परम शांतिसमेत विदा होते हैं। यह सब पढ़ते समय ऐसा लगता है जैसे भक्तिकाल की कोई ऐसी कृति पढ़ी जा रही है, जिसका रचयिता मानव-मन तथा कला पर उपदेश को लादना-भर जानता है।

प्रियप्रवास का अन्तिम सत्रहवां सर्ग करुणा तथा निराशा से परिपूर्ण है।

जरासंध के पाशविक आक्रमणों का समाचार सुन-सुनकर व्रज की जनता सारा उत्साह खो चुकी थी, कृष्ण के व्रज में आगमन की आशा बहुत दूर तक जाती रही थी। ऐसी निराशा तथा पीड़ा की स्थिति में उसे एक दिन सुनना पड़ा कि जरासंध के बार-बार होने वाले आक्रमणों से व्यग्र हो कृष्ण ने मथुरा छोड़कर द्वारका की ओर प्रस्थान कर दिया है। व्रज की सारी आशा समाप्त हो गयी। सभी लोग शोक में डूब गये। उस समय की व्रज की इस राष्ट्रीय संकट की जैसी स्थिति को हरिऔध ने सन् १९१० के आसपास की भयानक राष्ट्रीय स्थिति के रूप में देखा है, जिसमें सेवाश्रम खुल गये हैं और कौमार-व्रत की धूम मच गयी है। राधा गृहों, पथों, बागों, कुंजों, बनों में निशि-दिन फिरती हुई अपने प्रेम को सभी प्राणियों में बाँट रही है। मूर्छिता, ज्वर-तप्त बालिका, उन्मना बाला, वंचिता नारी, वृद्ध-रोगी जन, कलह-ग्रस्त व्यक्ति, कलुषित-हृदय प्राणी, चिंतित परिवार सभी को उनकी निष्काम सेवायें प्राप्त हो रही हैं। करुणा-पूर्ति यशोदा के पास वे रोज जाती हैं, उन्हें दिलासा देती हैं, व्रजनृपति नंद के पास भी प्रायः जाती रहती हैं। निराश गोपों को वे कर्म में लगाती हैं। गोप-बालकों को मलीन देखकर उन्हें पुष्प-रचित खिलौने देती है। दुःखिनी गोपिकाओं के आने पर वे उन्हें सुख प्रदान करती हैं। यही नहीं, उनका सेवा-क्षेत्र मानवेतर प्राणियों तक फैला है। वे चीटियों को आटा, पक्षियों को वारि और अन्न देती हैं,कीटादि पर भी दया करती हैं। जड़ जगत पर भी उनका प्रेम फैला है।

व्यर्थ में वे पत्ते तक नहीं तोड़तीं। सदा भूत-संवर्द्धन में लगी रहती हैं। गद्य में प्रेमचन्द आश्रम खोल रहे थे, पद्य में हरिऔध। राधा के चरण-तल पर आकर घण्टों कौमार-व्रत लेने वाली शिष्यायें कृतार्थ होती हैं।

> चिंता-ग्रस्ता विरह-विधुरा भावना में निमग्ना।
> जो थीं कौमार-व्रत-तिरना बालिकायें अनेकों॥
> वे होती थीं बहु-उपकृता नित्य श्री राधिका से।
> घंटों आके पग-कमल के पास वे बैठती थीं॥

शांति-संस्थापना राधा द्वारा संचालित मिशन या आश्रम का प्रधान लक्ष्य था, हरिऔध जी इसे बारम्बार स्पष्ट करते हैं :—

> जो थीं कौमार-व्रत निरता बालिकायें अनेकों।
> वे भी पा के समय ब्रज में शांति विस्तारती थीं॥
> श्री राधा के हृदय-बल से दिव्य शिक्षा गुणों से।
> वे भी छाया-सदृश उनकी वस्तुतः हो गयी थीं॥

यदि हरिऔध जी स्वतन्त्र भारत में यह सब कुछ लिखते, तो निस्सन्देह आचार्य विनोबा भावे उनके काव्य की विस्तृत भूमिका लिखते, राष्ट्रपति उन्हें पद्म-विभूषण की उपाधि प्रदान करते, साहित्य अकादेमी के अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू उन्हें पाँच हजार रुपये वाला सबसे बड़ा पुरुष्कार प्रदान करते, और इस सम्मान के सागर में उचित आलोचना की नैया डगमगाकर डूब जाती। पर उस समय ऐसा कुछ न हो सका। साहित्य-सम्मेलन का मंगलप्रसाद पुरष्कार उन्हें अवश्य मिला। पर कौन कह सकता है काव्य में सोशल सर्विस के प्रचार के लिये ही वह मिला ? सम्मेलन की अध्यक्षता के लिये भी यही कहा जा सकता है। हाँ, अगर फ्लोरेन्स नाइटिंगेल राधा का सप्तदश सर्ग से सम्बन्धित चित्र देखतीं, तो प्रेरणा अवश्य पा सकती थीं।

प्रियप्रवास का अत्यधिक आदर्शवाद राधा के चित्र को काव्य के अनुकूल नहीं रहने देता, कला के अनुकूल नहीं रहने देता। भाषा में उपसर्गों की भरमार खटकती है, भले ही उसका कारण सृजन की दृष्टि से यों ही कठिन तथा हिन्दी में सृजन की दृष्टि से कठिनतम वर्ण-वृत्त हों। कहीं-कहीं सूची तैयार करने की प्रवृत्ति भी हास्यास्पद है। पर उसमें व्याप्त विशद प्रेम तथा वियोग, जिसका प्रसार वृद्धा-वृद्धाओं, युवक-युवतियों, बालक-बालिकाओं, धनिक-निर्धनों सभी तक अत्यन्त सफल रूप में हुआ है, उसकी प्रेम तथा मातृत्व की मूर्ति यशोदा, उसके सशक्त छन्द-विधान, सुन्दर अलंकार-योजना तथा ललित-भाषा के महान गुण दोषों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

मंदाक्रांता और द्रुतविलंबित छन्दों पर हरिऔध का असाधारण अधिकार हिन्दी में तो अद्वितीय है ही, संस्कृत के भी अच्छे-से-अच्छे कवि की समता कर सकता है। खड़ीबोली में प्रबन्ध नाम की वस्तु उससे पूर्व भी मिल सकती है, पर वस्तुतः प्रियप्रवास ही खड़ीबोली का प्रथम सफल तथा विशद प्रबन्ध है, प्रचलित शब्दों में पहला महाकाव्य है। उसकी सफल रस-निष्पत्ति तुलसी और सूर के बाद अनूठी है। यदि उसकी समता में खड़ीबोली के केवल दो ही काव्य-कामायनी और साकेत-खड़े हो पाते हैं, तो कोई आश्चर्य नहीं। प्रियप्रवास हिन्दी की एक महान रचना है, और उस पर हमें गर्व है।

× × × ×

हरिऔध विरह-वेदना के कवि हैं। यों मीरा, घनानन्द तथा महादेवी का अमरत्व भी विरह-गानों के ही कारण है, पर इनका क्षेत्र शुद्ध वैयक्तिक तथा मुक्तक का है। प्रबन्ध के क्षेत्र में जायसी का विरह-वर्णन अद्वितीय है, पर जायसी

केवल विरह के कवि नहीं हैं । हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्य सूर-सागर का महाकवि विरह का भी महान गायक है, पर केवल विरह में ही आबद्ध नहीं है । यही बात प्रसाद के लिये भी है । प्रबन्धकारों में हरिऔध ही एक मात्र महाकवि हैं, जिनकी महिमा विरह, और केवल विरह के कारण ही है ।

हरिऔध की दूसरी श्रेष्ठ कृति वैदेही-बनवास प्रबन्ध. काव्य है । उसकी आत्मा भी विरह में रमती है । वैदेही-बनवास के कथानक में अठारह सर्गों का विस्तार हरिऔध ने निकाला तो है, पर वह प्रियप्रवास जैसा सुश्रृङ्खलित तथा एकरस नहीं है । प्रारम्भ के चार सर्ग यदि एक कसे हुए सर्ग के रूप में होते, तो अच्छा रहता, क्योंकि इनमें दुर्मुख के द्वारा अवध-वासियों में सीता के चरित्र के प्रति असन्तोष की भावना जानकर राम का चिंतित होना, भाइयों के साथ मन्त्रणा करना तथा वशिष्ठ से परामर्श करने भर का वर्णन हुआ है । इसके बाद तीन सर्गों में सीता का अवध परित्याग वर्णित है, जो एक सुन्दर सर्ग के ही लिये उपयुक्त है । बाद के सर्गों में वाल्मीकि आश्रम में सीता के पहुँचने, अवध की स्थिति और राम की विरह दशा, सीता के वेदनापूर्ण विरह निवेदनों, आश्रम में शत्रुघ्न के आगमन, लवकुश के नामकरण, सत्यवती के लवकुश प्रेम, आत्रेयी के शुभ वचनों, दाम्पत्य जीवन की दिव्यता के प्रकाश में सीता के पति प्रेम की झाँकी तथा उनके लवकुश के प्रति बचनों में पतिव्रत, पुत्र प्रेम तथा उन्हें अच्छे अच्छे उपदेश, लवकुश का विभिन्न कलाओं, खासकर संगीत का अभ्यास, शम्बूक प्रकरण के सिलसिले में राम का पंचवटी पहुंचना तथा अतीत स्मृति की वेदना में विभोर होना और सीता का स्वर्गारोहण वर्णित है । स्पष्ट है कि एक खण्डकाव्य की कथा को बढ़ाकर आकार की दृष्टि से महाकाव्य बनाने की चेष्टा वैदेही बनवास में बहुत अधिक हुई है ।

प्रियप्रवास में भी ऐसा हुआ है, पर उसका समग्र विषय प्रेम की व्यापकता तथा विरह की वेदना से पूर्ण होने के कारण कुछ सर्गों के अतिरिक्त नीरस नहीं हो सका, क्योंकि हरिऔध विरह के कुशल गायक हैं, विशेषकर माता, मित्रों तथा जन-समूह की विरह-भावना । वैदेही-बनवास में उन्होंने वैसा नहीं किया । सीता के अवध-त्याग के बाद यही उनके विषम वियोग में कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, कुछ दिनों बाद अपने अनुचित कृत्य पर पछताने वाले अवध-निवासियों तथा मूर्ख रजक के उद्‌गारों को विस्तार से प्रकट करते, तो उनकी रुचि का विषय वैदेही-बनवास को प्रियप्रवास के जोड़ का ग्रन्थ बना सकता था । पर यहाँ पर उन्होंने परम्परागत कथा को, जो उन्हें बाल्मीकि तथा भवभूति से प्राप्त हुई, बहुत अधिक परिवर्तित नहीं किया । प्रियप्रवास एक भावात्मक काव्य है, वैदेही-बनवास में कथानक का प्रधानता है । स्पष्टतः प्रियप्रवास अधिक प्रभावशाली

तथा सरस है, क्योंकि हरिऔध की प्रबन्ध-कला कथानक को सुन्दर रूप दे सकने में अपेक्षाकृत कम समर्थ रही है, उसका सामर्थ्य कथानक को निमित्त-मात्र बनाकर उसके अनुकूल भावनाओं के चित्रण में ही अधिक पुष्ट तथा रमणीय रूप लेकर प्रकट होता है ।

भवभूति का प्रभाव हरिऔध पर पड़ा तो है, पर बहुत स्थूल रूप में । सप्तदश सर्ग में पंचवटी में राम की सीता-संयोग-स्मृति उत्तररामचरितम् में मूलभूत होने पर भी उसकी समता नहीं कर सकती । उसमें परम्परागत प्रकृति के अवयवों के द्वारा विरही को व्यथा प्रदान करने की चर्चा तथा स्थूल स्मृति के कुछ प्रसंग ही दृष्टिगोचर होते हैं । भवभूति ने राम की आंतरिक पीड़ा तथा ग्लानि का जो चित्रण किया है, उससे हरिऔध के राम के चित्रण की कोई समता नहीं की जा सकती । भवभूति ने अपने अमर काव्यात्मक-नाटक में राम और अदृश्य सीता के वार्तालाप का आयोजन करके अपनी अपूर्व कल्पना-शक्ति तथा मार्मिकता का परिचय दिया है । वैदेही-बनवास में कवि की आधुनिकता ने इसे अपनाने में कठिनाई का अनुभव करते हुए छोड़ दिया है । भवभूति के राम करुणा-कलित स्वरों में रोदन करते हुये, विलाप करते हुए कहते हैं, 'हा ! हा ! प्राणप्रिये, मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है, देह-बंध विशृंखल हो रहा है । मुझे विश्व निरा रिक्त एवं व्यर्थ प्रतीत हो रहा है । मेरा अंतरतम विदग्ध हो रहा है, न रुकने या न बुझने वाली वेदना की लपटें उसे भस्मसात किये दे रही हैं । मेरी दीन असहाय आत्मा निविड़ निराशान्धकार में डूबी जा रही है । पीड़ा तथा वेदना चतुर्दिक जड़ता की सृष्टि कर रही है । हाँ, मैं अभागा क्या करूँ ?'[1] भवभूति के राम यह कहकर वेदना के अतिरेक में मूर्च्छित हो जाते हैं । पर हरिऔध के स्थूल आदर्शवाद ने वनवास के राम को यह सुअवसर तो दूर, मर्मस्पर्शी उद्गार प्रकट करने का भी अवसर नहीं दिया ।

भवभूति ब्राह्मण था, आदर्शवादी था, राम के प्रति श्रद्धालु था । यह सब उसकी कृतियाँ स्पष्ट करती हैं । पर उसमें वह तलस्पर्शी भावुकता तथा कवि-

---

१—उत्तररामचरितं (३।३८)—

हा हा देवि स्फुटति हृदयं स्रंसते देहबंधः,
शून्यं मन्ये जगद विरतज्वालमंतर्ज्वलामि ।
सदिन्नंधे तमसि विधुरो मज्जतीवांतरात्मा,
विष्वंमोहः स्थगयति कथं मंदभाग्यः करोमि ॥

संवेदन विद्यमान था, जो आदर्श से कला को विपन्न नहीं, सम्पन्न कर देता है। इस दृष्टि से हरिऔध भवभूति से ठीक उलटे छोर पर खड़े होते हैं। भवभूति ने राम से उपर्युक्त शब्द कहलाकर, उन्हें मूच्छित कर उनके चरित्र को उज्ज्वलतर, पवित्रतर, महानतर बना दिया है, सीता के प्रति उनके अतिचार के कलंक को बहुत दूर तक प्रक्षालित कर दिया है। पर हरिऔध इस स्तर की भावुकता नहीं दिखला सके।

राम का सीता-त्याग उनके समष्टिगत कर्त्तव्य की जागरूकता, समाज के आनन्द पर स्व के आनन्द के त्याग का द्योतक तो है, पर साथ ही वैयक्तिक दुर्बलता का सूचक भी है, जो अपनी गर्भिणी प्रिया के प्रति जन-मन-अनुरंजन के लिये अत्याचार करती है। यह दृष्टिकोण आज का नहीं है, सहस्त्रों वर्ष से चला आने वाला है। कालिदास और भवभूति जैसे हमारे सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक महापुरुषों ने राम के प्रति आस्था रखते हुए भी, उनको आदर्श प्रजापालक मानते हुए भी, उनके सीता-त्याग का प्रत्याख्यान ही नहीं किया, उस पर आक्रोश भी व्यक्त किया है। कौन कह सकता है कि राम के चरित्र को महानतम रूप में प्रस्तुत करने वाले, राम-काव्य के सूर्य तुलसीदास ने वैदेही-वनवास की कथा को मानस में इसीलिये नहीं चित्रित किया कि उससे उन्हें अपने भगवान के पूरे रूप का चित्र प्रस्तुत करने में कठिनाई पड़ती ? कालिदास वाल्मीकि के कंठ से सीता को आश्वस्त करता है, 'बेटी ! मैंने योग-बल से जान लिया है कि तुम्हारे पति ने झूठे अपयश से डर कर तुम्हें घर से निकाल दिया है। बेटी ! यहाँ भी तुम अपने पिता का ही घर समझो और शोक छोड़ दो। यद्यपि राम तीनों लोकों का दुःख दूर करने वाले हैं, अपनी प्रतिज्ञा के पक्के हैं और अपने मुँह से अपनी बड़ाई भी नहीं करते फिर भी तुम्हारे साथ जो उन्होंने यह भद्दा व्यवहार किया है, इसे देखकर मुझे उन पर बड़ा क्रोध आ रहा है।'[१]

> जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा ।
> तस्मा व्यथिष्ठा विषयांतरस्थं प्राप्तासि वैदेहि पितुर्निकेतम् ।।
> उत्खातलोकत्रयकंटकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
> त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ।।[२]

१—प्रस्तुत श्लोकानुवाद पं० सीताराम चतुर्वेदी का है। कालिदास-ग्रन्थावली, पृष्ठ १५६।

२—रघुवंशम् (१४।७२-७३)।

भवभूति जनक के कंठ से जनता की सीता द्वारा पुनः अग्निपरीक्षा करके शुद्धि का प्रमाण प्रस्तुत करने की इच्छा पर क्रुद्ध होकर (जनक के) पुनः अपमानित होने की चर्चा करता है, क्योंकि पहले (जनक) राम के द्वारा सीता को निर्वासित करते ही अपमानित हो चुके हैं। जनक-जैसे महान राजर्षि का यह क्रोध भवभूति के आंतरिक भावों का सुन्दर द्योतक है। वे जनता की इस इच्छा में अपने अपमान का अनुभव करते हैं, स्पष्ट कहते हैं कि राम पहले ही उनकी आत्मजा को, निर्दोष आत्मजा को, निर्वासित कर उन्हें अपमानित कर चुके हैं :—

आः, कोऽयमग्निर्नामास्मत्प्रसूतिपरिशोधने ? कष्टम्, एवं—
वादिना जनेन रामपरिभूता अपि वयं पुनः परिभूयामहे ।[1]

अपनी गर्भिणी पुत्री पर हुए अत्याचार से क्षुब्ध भवभूति के जनक अयोध्या की जनता की दुष्टता तथा नीचता पर ही नहीं, राम के राज-कर्त्तव्य पर भी क्रोध प्रकट करते हैं, इस भयानक पतन एवं वज्र-पात को जलाकर राख करने के लिये धनुष तथा शाप को वांछनीय उपादान घोषित करते हैं :—

हा वत्से !
नूनं त्वया परिभवं च वनं च घोरं,
तां च व्यथां प्रसवकालकृतामवाप्य ।
क्रव्यादगणेषु परितः परिवारयत्सु,
संत्रस्तया शरणमित्यसकृत् स्मृतोऽस्मि ।।

अहो, दुर्मर्यादता दुरात्मनां पौराणाम् । अहो, रामस्य राज्ञः क्षिप्रकारिता ।

एतद्वैशसवज्रघोरपतनं शश्वन्ममोत्पश्यतः ।
क्रोधस्य ज्वलितं धगित्यवसरश्चापेन शापेन वा ।।[2]

जनक का यह क्रोध तथा उनके यह सशक्त उद्‌गार उनकी महानता के द्योतक तो हैं ही, अपनी दुहिता के प्रति पूर्ण कर्त्तव्य-सजग पिता के अन्तःकरण का निर्मल दर्पण भी है। वैदेही-बनवास में जनक को कोई स्थान ही नहीं मिला।

प्रियप्रवास के विरह व्यथित कवि ने वैदेही-बनवास की रचना ठीक उसी प्रकार की प्रेरणा से की है, जिस प्रकार की प्रेरणा से साकेत के विरह के कुशल कवि ने यशोधरा की रचना की है। पर यशोधरा की नवीनता, उसका पुष्ट नारी-

---

१—उत्तररामचरितम् (चतुर्थ अंक, दसवें श्लोक के बाद)
२—उत्तररामचरितम् (४।२३-२४)

स्वाभिमान और द्वन्द्व तथा उसकी सूक्ष्म कला वैदेही-बनवास में नहीं आ सकी। कुल मिलाकर, अपने विस्तृत आकार में बिखरे पड़े अनुभूति-कणों को एकत्र कर वैदेही-बनवास यशोधरा से कम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भले ही न हो, पर आकारगत गुण-दृष्टि से वह यशोधरा की समता नहीं कर सकता। प्रियप्रवास में कवि की नवीन उद्भावनायें अनुभूति की सजगता में घुल जाने के कारण महान बन गयी हैं। वैदेही-बनवास में उपदेश की अतिशयता ने ऐसा नहीं होने दिया। चतुर्दश तथा पंचदश सर्गों में तो दाम्पत्य-जीवन तथा मातृ-जीवन से सम्बन्धित उपदेश ही भरे पड़े हैं। लगता है किसी नीति-ग्रन्थ के भाग हों। सारे ग्रन्थ में बुद्धि-गम्य आदर्श भरा पड़ा है। भाव-पक्ष की जैसी निर्बलता वैदेही-बनवास में दृष्टिगोचर होती है, वैसी हिन्दी के किसी अन्य श्रेष्ठ प्रबन्धकाव्य में शायद ही हो।

जहाँ कहीं सुन्दर विरह-वर्णन हुआ है, वहाँ प्रियप्रवास की छाया स्पष्ट दीखती है। पंचम सर्ग में सीता के आसन्न-विरह का वर्णन ऐसा ही है। षष्ठ सर्ग में सीता कौशल्या से राम पर ध्यान देने की चर्चा करती हैं, जिसे अवसर के बहुत उपयुक्त नहीं कहा जा सकता :—

माता की ममता है मानी।
किस मुंह से क्या सकती हूँ कह॥
पर मेरा मन नहीं भाता।
मेरी विनय इसलिये है यह॥
मैं प्रतिदिन अपने हाथों से।
सारे व्यंजन रही बनाती॥
पास बैठ कर पंखा झल कर।
प्यार सहित थी उन्हें खिलाती॥
प्रियतम सुख-साधन आराधन—
मैं थी सारा दिवस बिताती॥
उनके पुलके रही पुलकती।
उनके कुम्हलाये कुम्हलाती॥
हैं गुणवती दासियाँ कितनी।
हैं पाचक-पाचिका नहीं कम॥
पर है किसी में नहीं मिलता।
जितना वांछनीय है संयम॥

सीता के चलते समय पांडवी अपनी अन्य बहनों के साथ चलने को प्रस्तुत हो जाती हैं। कहती हैं :—

हम सब भी साथ चलेंगी ।
सेवायें सभी करेंगी ।।
पर घर पर बैठी रह कर ।
नित आहें नहीं भरेंगी ।।

इस पर सीता का लम्बा उपदेश होता है । सारा प्रकरण बिल्कुल नीरस है । उर्मिला की चर्चा में जो मर्मस्पर्शिता है, वह स्वाभाविक ही है । साकेत लिखा जा चुका है और अब हिन्दी का राम-काव्य उर्मिला को त्यागने में कठिनाई का ही अनुभव करेगा । सीता की सुध बड़ी सजल है :—

इस खिन्न उर्मिला ने है ।
जो सहन-शक्ति दिखलाई ।।
जिसकी सुध आते मेरा—
दिल हिला आँख भर आयी ।

सीता के प्रस्थान के समय उनकी तथा राम की अंतर्बाह्य दशा का बड़ा ललित एवं मर्म-बेधक वर्णन हो सकता था । पर ऐसा नहीं हुआ । अवध-धाम में सुकृतिवती नामक गायिका जो विरह-गान गाती है, उसमें कुछ भी नवीनता नहीं है । प्रियप्रवास के कृष्ण के समान राम को कर्त्तव्य-सजग महामानव ही अधिक रहने दिया गया है, विगलित-हृदय वियोगी कम, या नहीं के बराबर । भवभूति के विरही राम की तुलना में हरिऔध के विरही राम विरही प्रतीत ही नहीं होते । दशम सर्ग में सीता चंद्रिका के प्रति जो कुछ कहती है, वह मर्मस्पर्शी न होकर आदर्शाक्रांत है । एकादश सर्ग में मेघ को देखकर वे राम की स्मृति करती हैं । पर ऐसी स्मृतियाँ काव्य में इतनी अधिक हो चुकी हैं कि उसमें कुछ भी प्रभावशालिता नहीं दृष्टिगोचर होतीं । शत्रुघ्न का निवेदन प्रियप्रवास में उद्धव के निवेदन से भी गया-गुजरा और रूढ़ है । बाद में प्रियप्रवास की राधा के सेवाश्रम से मिलता-जुलता तपस्विनी-आश्रम या शांति-निकेतन खोलकर सीता सेवा-व्रत का पालन करने लगती हैं, बिल्कुल प्रियप्रवास जैसा :—

देख चींटियों का दल आंटा छींटती ।
दाना देदे खगकुल को थीं पालती ।।
मृग-समूह के सम्मुख, उनको प्यार कर ।
कोमल हरित तृणावलि वे थीं डालती ।।

पशु, पक्षी, क्या कीटों का भी प्रति दिवस ।
जनक-नन्दिनी कर से होता था भला ।।
शांति-निकेतन के सब ओर इसीलिये ।
दिखलाती थी सर्व-भूत-हित की कला ।।

पशु पक्षियों का काव्य में प्रवेश कराना जितना सरल है, उनके प्रवेश को सरस एवं सजीव बनाना उतना ही कठिन है। कालिदास इस कथन का एक छोर है, हरिऔध दूसरा।

जहाँ कहीं हृदय कुछ सच्ची वेदना प्रकट करने लगता है :—

कलपेगा आकुल होता ही रहेगा ।
व्यक्ति बनेगा करेगा न मति की कही ।।
निज वल्लभ को भूल न पायेगा कभी ।
हृदय हृदय है सदा रहेगा हृदय ही ।।
कभी समीर नहीं होगा गति से रहित ।
होगा सलिल तरंगहीन न किसी समय ।।
कभी अभाव न होगा भाव-विभाव का ।
कभी भावनाहीन नहीं होगा हृदय ।।

वहाँ तुरन्त हरिऔध का हरिऔधत्व उसे रोककर स्वयं आगे आ जाता है:—

विरह-जन्य मेरी पीड़ायें हैं प्रकृत ।
किंतु कभी कर्त्तव्यहीन हूँगी न मैं ।।
प्रिय-अभिलाषायें जो हैं प्राणेश की ।
किसी काल में उनको भूलूँगी न मैं ।।
विरह-वेदनाओं में है यदि सबलता ।
उनके शासक तो प्रियतम-आदेश हैं ।।
जो हैं पावन परम न्याय-संगत उचित ।
भव-हितकारक जो सच्चे उपदेश हैं ।।

विरह का कर्त्तव्य प्रेम है। प्रेम काव्य-कला में समाज सेवा न करके भी महान हो सकता है। विश्व का अधिकांश विरह-काव्य इसका प्रमाण है। पर हरिऔध ने इस तथ्य की बहुत उपेक्षा की है। जहाँ यह उपेक्षा नहीं है, वहीं हरिऔध महाकवि हैं। उनकी यशोदा का चित्र इसका सबसे ज्वलंत निदर्शन है।

वैदेही-बनवास में कोई ऐसी मार्मिकता, सरलता, नवीनता या प्रौढ़ता नहीं

है कि उसे कोई महान कृति कहा जाये। वस्तुतः वह प्रियप्रवास का आवश्यकता से अधिक विस्तृत परिशिष्ट मात्र है। पर उसकी विरहमूलकता इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि उपाध्याय जी विरह-वेदना के कवि थे, और यही उसका महत्त्व भी है।

× × × ×

हरिऔध-विरह-मूर्ति हरिऔध-बीसवीं शताब्दी के हिन्दी-कवियों में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। इस स्थान का कारण उनका प्रियप्रवास, या दूसरे शब्दों में उनका विरह-वर्णन है। मैथिलीशरण की नवीनता के प्रति संतुलित ललक, प्रसाद की गम्भीर कला और चिंतना तथा महादेवी की वैयक्तिकता के तल को छूने वाली पीड़ा उनके विरह-काव्य में भले ही न हो, पर जिस व्यापक क्षेत्र में फैले हुये प्रेम एवं तज्जन्य विरह का विराट स्पर्श उन्होंने किया है, वह आधुनिक विरह-काव्य का एक अद्वितीय स्पर्श है। जिस अकृत्रिमता तथा सरलता से वे विरह-संगीत छेड़ते हैं, वह असाधारण रूप से महान है। प्रेम को प्रिया तक ही न बाँधकर हरिऔध ने खड़ीबोली के विरह-काव्य को जो व्यापक भूमि प्रदान की है वह सूर और तुलसी का स्मरण कराती है। सच पूछा जाय तो हरिऔध प्रिया के प्रिय के प्रति या प्रिय के प्रिया के प्रति प्रेम और विरह के चितेरे के रूप में अधिक सफल नहीं हुये। पर मातृ-हृदय, मित्र-हृदय तथा जन-सामान्य के हृदय के प्रेम तथा विरह के वे इतने सफल तथा अनूठे चित्रकार हैं कि आधुनिक हिन्दी-कविता से उनका नाम हटा देने पर उसके विरह-काव्य का क्षेत्र संकुचित हो जायेगा।

हिन्दी के विरह-वर्णन करने वाले महान कवियों की परम्परा में हरिऔध आधुनिक युग के पहले प्रतिनिधि के रूप में आते हैं। जायसी की विरहानुभूति अपनी तीव्रता में अतुलनीय है। पर उसका क्षेत्र विशद नहीं है। यही बात मीरा और घनानंद के लिये भी कही जा सकती है। हरिऔध अपने विराट विरह-निवेदन में सूर के अधिक निकट हैं। सूर के वात्सल्य-विरह से हरिऔध का वात्सल्य-विरह प्रभावित होने पर भी कम मर्मस्पर्शी नहीं है। पर सूर के शृंङ्गार-विरह की तुलना में हरिऔध का शृंङ्गार-विरह नहीं खड़ा किया जा सकता। तुलसी विरह के कवि नहीं हैं। फिर भी उनकी महान प्रतिभा ने विरह का बड़ा प्रभावशाली स्पर्श किया है। उनके प्रिय-प्रिया-वियोग के समक्ष हरिऔध का प्रिय-प्रिया-वियोग बहुत साधारण भले ही प्रतीत हो, पर वात्सल्य-वियोग की दृष्टि से वे तुलसी से अधिक मर्मस्पर्शी तथा विशद हैं। संक्षेप में तुलसी और सूर के बाद विरह का सबसे व्यापक चित्र प्रस्तुत करने वाले महाकवि हरिऔध ही हैं। हिन्दी के विशद विरह-काव्य की परम्परा-शृंङ्खला की वे एक महान तथा अमर कड़ी हैं।

(३) मैथिलीशरण का विरह-वर्णन

मैथिलीशरण आधुनिक भारतवर्ष के काव्य में रवीन्द्र, इकबाल, भारती, बल्लत्तोल और प्रसाद प्रभृति के साथ-साथ सर्वश्रेष्ठ स्थान रखते हैं। हिन्दी के आधुनिक कवियों में उनका स्थान सर्वप्रमुख है। हरिऔध की सहजात सजलता, रत्नाकर की अद्‌भुत सरसता, प्रसाद की गम्भीर कला एवं दार्शनिकता, निराला की अमर नवीनता, पंत की रमणीय कोमलता तथा महादेवी की अक्षय वेदना-विभूति मैथिलीशरण में नहीं है। पर इन सब गुणों का थोड़ा-बहुत परिणाम उनके विराट सृजन में विद्यमान है, जो उनकी महान सांस्कृतिक चेतना में घुल-मिलकर उन्हें इस युग की हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित करता है। कुल मिलाकर प्रसाद को छोड़कर हिन्दी का कोई आधुनिक कवि उनकी समता नहीं कर सकता।

रवीन्द्रनाथ के बाद बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत की जनता को सबसे अधिक प्रभावित करने वाले कवि मैथिलीशरण आधुनिक भारतीय साहित्य में इस महान राष्ट्र की संस्कृति के सबसे उत्कृष्ट व्याख्याता हैं। दिवोदास प्रभृति पूर्व-वैदिक कालीन महामानवों, राम, लक्ष्मण, युधिष्ठर, कृष्ण प्रभृति उत्तर-वैदिक कालीन अवतारों एवं महामानवों तथा बुद्ध प्रभृति ऐतिहासिक भारत के प्राचीन महामानवों से लेकर मध्यकालीन राजपूत वीरों-वीरांगनाओं, संतों-भक्तों तथा आधुनिक काल के महात्मा गाँधी और विनोबा भावे प्रभृति महापुरुषों तक उनका विराट प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्य-क्षेत्र फैला हुआ है। सिखों के गुरुओं तथा इस्लाम के शहीदों पर भी श्रद्धा-संवलित दृष्टि डालकर उन्होंने अपने राष्ट्र-कवि को पूर्णत्त्व प्रदान किया है। परिमाण-गत महत्ता में आधुनिक भारत का कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता। पर गुण-गत महत्ता में भी वे महान हैं। समग्र भारतीय संस्कृति की विराटतम झाँकी यदि कहीं देखने को मिल सकती है, तो वह मैथिलीशरण के काव्य में। साकेत तथा पंचवटी के द्वारा यदि वे वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, कम्बन, तुलसी, कृत्तिवास जैसे महान कवियों के राम-काव्य का मौलिक एवं युगानुरूप स्पर्श करते हैं तो जयभारत, जयद्रथवध तथा द्वापर के द्वारा व्यास, पंप, कुमारव्यास, सूर, नरसी, मीरा तथा हरिऔध के कृष्ण-काव्य का। बुद्ध से लेकर विनोबा तक भारत के अनेकानेक महापुरुषों पर व्यक्त उनके काव्योद्‌गार उनकी विराट सांस्कृतिक चेतना को विराटतर बना देते हैं, जो हसन और हुसैन का सम्मान कर विराटतम रूप ग्रहण करती हैं। अपने समय के प्रति वे सतत सजग रहे हैं। चाहे महावीर का प्रसाद हो या जयशंकर का वियोग, नरसिंह निराला का हतचेत होना हो या राष्ट्रपिता के स्वर्गलोक-गमन की वेदना, विनोबा की पद-यात्रा हो या युद्ध की विभीषिका-सभी ओर उनका ध्यान पूरी आस्था के साथ गया है। इस विराट चेतना

ने उन्हें व्यास और तुलसी के बाद भारतीय साहित्य का सबसे महान सांस्कृतिक कवि बना दिया है। वे तुलसी के बाद हिन्दी के श्रेष्ठतम प्रतिनिधि कवि हैं। भारतीय संस्कृति की सारी विशेषतायें तथा हिन्दी-संस्कृति की सारी विभूतियाँ मैथिलीशरण के काव्य में साकार हो गयी हैं। बहुत पहले ही आचार्य शुक्ल जैसे धुरंधर विद्वान ने उन्हें हिन्दीभाषी-जनता के प्रतिनिधि कवि[1] का गौरव प्रदान किया था। सर्व सम्मतरूप से वे हमारे महान राष्ट्रकवि हैं।

मैथिलीशरण की प्रतिभा अपने स्तर पर वाल्मीकि और व्यास की प्रतिभा है, कालिदास और भवभूति की प्रतिभा नहीं। इस दृष्टि से विचार करने पर उनका स्थान कवि रवीन्द्रनाथ से कम नहीं ठहराया जा सकता। रवीन्द्र और मैथिलीशरण एक-दूसरे के पूरक हैं। एक भारतीय संस्कृति के सार को उसकी समग्र सरसता के साथ प्रकट करता है, दूसरा भारतीय संस्कृति के रूप को उसकी सारी व्यापकता के साथ प्रकट करता है। अँग्रेजी के ज्ञान ने रवीन्द्र को नोबेल प्राइज दिलाया, विश्व-ख्याति प्रदान की। पर केवल इसी से भारत के अन्य आधुनिक महाकवियों से उनकी ऊँचाई का समर्थन करना मूर्खता-पूर्ण होगा। नोबेल प्राइज पाश्चात्य जगत के प्राय: सभी श्रेष्ठ लेखकों तथा कवियों को मिलता रहता है, जिनमें महान बहुत थोड़े होते हैं। मिस्टर चर्चिल भी साहित्य का नोबेल प्राइज पा चुके हैं। अत: जब हम इस युग के इकबाल, मैथिलीशरण, प्रसाद, भारती, बल्लत्तोल, मेघाणी, वेन्द्रे, निराला प्रभृति कवियों पर विचार करें या रवीन्द्र से उनकी तुलना करें तब बीच में उक्त पुरस्कार की दीवार न खड़ी करें तो अच्छा हो। रवीन्द्र केवल कवि नहीं थे, और कुल मिलाकर उनकी समता आधुनिक विश्व का कोई साहित्यकार नहीं कर सकता। पर कवि के रूप में रवीन्द्र की समता कई कवि कर सकते हैं। मैथिलीशरण उनमें प्रमुख हैं। प्राचीन और नवीन का जो पुष्ट तथा अभिनिवेश-मुक्त समन्वय मैथिलीशरण में दीखता है, वह अद्वितीय है। श्री वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में वे "अपने युग में पल्लवित, पुष्पित, फलित और प्रतिमंडित एक विराट काव्य-मानस" हैं।[2] तुलसी, सूर, कबीर और प्रसाद को छोड़कर उनकी समता करने वाला कवि हिन्दी में और कोई नहीं है। आज वे अपनी साधना के शिखर पर पहुँचकर गा रहे हैं, "जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होई जाई" का अभिनव रूप प्रकट कर रहे हैं :—

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५६६।

२—डा० उमाकांत-लिखित "मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता' शीर्षक प्रबंध की भूमिका में।

पार उतरना है तो तर,
नारायण हो हेरे नर।[1]

हिन्दी का एक महाकवि उनके विराट कवि-शरीर का स्तवन करते हुये आवश्यकता से अधिक दूरी पर अकारण ही नहीं गया :—

सूर सूर तुलसी शशि लगता मिथ्यारोपण।
स्वर्गंगा छायापथ में कर आपके भ्रमण।।[2] (पंत)

विराटवादी महाकवि मैथिलीशरण केवल विरह के कवि नहीं हैं, नहीं हो सकते। पर उनकी कविता की सबसे बड़ी अंतर्प्रवृत्तियों में विरह भी एक है, इसमें सन्देह नहीं। यों तो विरहानुभूति को उन्होंने यथावसर सर्वत्र ही व्यक्त किया है, बड़ी तन्मयता से व्यक्त किया है पर साकेत और यशोधरा की तो आत्मा ही विरह में रमती है। इन दो अमर काव्यों के विशद विरह-वर्णन उन्हें हिन्दी विरह-गायकों में बहुत ऊँचा स्थान प्रदान करते हैं, पुराने कवियों में जायसी, सूर, मीरा और घनानद के साथ, आधुनिक कवियों में हरिऔध, प्रसाद और महादेवी के साथ। उनकी कला की सीमा साकेत अपने विरह-वर्णन के लिये अमर हो चुका है।

साकेत के प्रसिद्ध विरह-वर्णन का विवेचन करने के पूर्व हम गुप्तजी के अन्य विरह-वर्णनों पर कुछ प्रकाश डालेंगे। गुप्तजी प्रबन्ध-रचना में मुक्तक-रचना की अपेक्षा अधिक सफल हुए हैं। वस्तुत: वे प्रबन्ध के कवि हैं, मुक्तक के नहीं। 'रंग में भंग' से लेकर 'विष्णुप्रिया' तक का विराट सृजन इसका साक्षी है। प्रबन्ध का सम्बन्ध जीवन के बाह्य तथा आभ्यंतर दोनों से होता है, जबकि मुक्तक, विशेषकर प्रगति. जीवन के आभ्यंतर का ऊहा-पोह अपेक्षाकृत अधिक करता है। विरह एक ऐसा भाव है, जो जीवन के बाह्य तथा आभ्यंतर दोनों को सतत प्रभावित करता रहता है। अतः कुछ बड़े प्रबन्ध में उसका समावेश हो ही जाता है। स्वभावत: गुप्तजी के अनेकानेक छोटे-बड़े प्रबन्धों में विरह के अनेकानेक छोटे-बड़े वर्णन बिखरे पड़े हैं। उन सबका विवेचन आवश्यक नहीं हैं, पर उनकी मूल-वृत्ति का संक्षिप्त अनुशीलन समीचीन है।

गुप्तजी हमारे राष्ट्रीय जीवन एवं उसकी प्रेरक शक्ति संस्कृति के कवि हैं। उनका प्रेम-जगत युवा पति-पत्नी के सीमित क्षेत्र में ही बंधा हुआ नहीं है। प्रेम का रूप आयु के साथ ही गम्भीर तथा संयत होता रहता है। खेद है कि अनेक कवि

१—नवनीत (मासिक) सितम्बर, १९५८।
२ 'स्वर्ण-किरण' में गुप्तजी पर लिखी गयी कविता से।

इसे नहीं समझते तथा केवल युवक-युवतियों में ही प्रेम को बाँधकर स्वयं भी बंध जाते हैं। गुप्तजी में तुलसी, सूर और हरिऔध के समान यह बन्धन नहीं दृष्टिगोचर होता। उनका प्रेम-जगत बड़ा विशाल तथा पुष्ट है, जो प्रौढ़ों-वृद्धों तक प्रसरित है। उनके वियोग के वर्णनों और छोटी-छोटी झलकियों का क्षेत्र प्रौढ़ दंपतियों, जन्मभूमि, माता-पिता, प्रिय-प्रिया से लेकर नव-दंपतियों तक फैला हुआ है।

उनकी विशद सहृदयता सभी क्षेत्रों का सम्मान करती है। उनके द्रोणाचार्य नहीं भूलते कि जब दारिद्रय की प्रतारणा ने उन्हें प्रवास के लिये प्रेरित किया था तब :—

बोली मुझसे सती, पोंछ आँखों का पानी—
सुन सकती हूँ नाथ, कहाँ जाने की ठानी ?[1]

उनका किसान गरीबी की चोट से विकल होकर फिजी द्वीप जाने के समय जलयान पर बैठा-बैठा भारतवर्ष से अपना रोना रो लेता है :—

हाय रे भारत ! तुझे इतना हमारा भार है—
जो हमारा अंत भी तुझको नहीं स्वीकार है।
मृत्यु-हित भी सात सागर पार जाना है हमें,
स्वर्ग के बदले वहाँ भी नरक पाना है हमें।
पूछने पर यह कि कैसे है हुआ आना यहाँ,
आर्यभूमि हमें बता दे, क्या कहेंगे हम वहाँ ?
बोल, यह कह दें कि तेरी कीर्ति करने के लिये,
या यही कह दें कि अपनी मौत मरने के लिये।
हड्डियाँ घोलीं तथा शोणित सुखाया है सदा,
उर्वरा करके तुझे दी है हमींने सम्पदा।
और भारतभूमि ! तुझसे हा ! हमीं वंचित रहे,
याद होकर यह कि हमने कष्ट कितने हैं सहे॥
अन्नपूर्णारूपिणी मां ! तू हमें है छोड़ती,
हाय ! मां होकर सुतों से तू स्वयं मुंह मोड़ती।
तो विदा दे अब हमें, तू भोगती रह सुख सभी,
हम सदा तेरे, न चाहे तू हमारी हो कभी।

१—जय भारत, पृष्ठ ४६।

बस जहाज ! चले चलो, अब डगमगाना छोड़ दो,
पवन ! तुम भी सिंधु में लागें लगाना छोड़ दो।
देखने को सभ्ययुग के दृश्य हम हैं जा रहे,
किंतु भीतर और बाहर क्यों हिलोरे आ रहे ॥[1]

अँग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपने ट्रैवेलर शीर्षक काव्य में आंग्ल-संतति के आर्थिक कारणों से विदेश-गमन तथा वहाँ विषम जलवायु में रहने पर आँसू बहाये हैं। पर गोल्डस्मिथ के देशवासी का प्रवास प्रायः स्वामी का प्रवास रहता रहा है, भारतवासी का प्रवास दास का प्रवास। इस स्थिति में मैथिलीशरण के उक्त उद्गार कितने स्वाभाविक एवं सत्य हैं !

कतिपय व्यक्तियों की शिकायत है कि जयद्रथ-वध में अभिमन्यु के रण-प्रस्थान के अवसर पर उत्तरा-अभिमन्यु की आसन्न-वियोग-व्यथा का सम्यक् चित्रण गुप्तजी नहीं कर सके। यह शिकायत ठीक है। पर हमें यह भी न भूलना चाहिये कि खंडकाव्य जयद्रथ-वध का प्रमुख वर्ण्य-विषय वियोग-वेदना का अधिक वर्णन करने के लिये अवकाश नहीं दे सकता।

द्वापर की रचना तब हुई थी, जब मैथिलीशरण का कवि प्रौढ़ तथा संयत हो चुका था। अतः द्वापर के विरह-चित्र यदि अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़े हैं, तो स्वाभाविक ही है। अपनी एकरस भाषा, अपने सुनियोजित भाव-विन्यास तथा अपनी एकतान विचार-धारा के कारण द्वापर को साकेत के बाद और यशोधरा तथा सिद्धराज के साथ-साथ मैथिलीशरण की सर्वोत्कृष्ट कलाकृति कहा जा सकता है। उसके विरह-चित्र बड़े संक्षिप्त, कसावट वाले और व्यापक अध्ययन की सूचना देने वाले हैं।

मथुरा नगरी से गोकुल की ओर जाते हुए अक्रूर ब्रज की संभाव्य विरह-दशा की कल्पना करते हुये अपने नाम की सार्थकता इतने भाव-भरे रूप में शायद पहली बार ही प्रमाणित करते हैं :—

हाय ! रंभायेंगी कल गायें,
मातायें रोवेंगीं।
वृन्दावन की विपिन-देवियाँ,
सुध कर सुध खोवेंगी।

१—किसान, पृष्ठ ३३-३४।

बोल सकेगी वाष्प-वेग-वश,
क्या कोई व्रज-बाला ?
चला जायगा खिझा-खिझा कर,
उन्हें रिझाने वाला ।

'सुध कर सुध खोवेंगी' शब्द कविवर रत्नाकर के 'भूले हूँ न भूले-भूले हमको भुलाइबो' की सुध दिलाकर ही शांत नहीं होते, यमक और विरोधाभास को भी कृतार्थ कर देते हैं ।

द्वापर में मथुरा से कृष्ण और बलराम-रहित स्थिति में लौटने वाला नंद का भाव-चित्र बड़ा ही अनूठा खिंचा हुआ मिलता है । सूर के बाद नंद को जितने सुन्दर रूप में मैथिलीशरण ने प्रस्तुत किया है, उतने में किसी अन्य कवि ने नहीं । उनकी निराशा—

यह संतोष-'देवकी का वह,
कोष उसी को देकर ।'

लौटने का आश्वासन देती है । और करे ही क्या ? फिर भी ग्राम-प्रवेश के लिये उन्हें तस्कर-ज्योतम को तकना पड़ता है । इससे यशोदा की आशा कुछ तो अटकेगी ही । वे अकेले रोने के लिये झाड़ी की शरण लेते हैं—'रात को घर जाऊँगा । क्यों ?'

श्याम नहीं तो तनिक श्यामता,
संध्या में आ जावे ।

संध्या की प्रतीक्षा का सारा दर्द-रूपी रंग श्यामता की इस 'कारी कामरि' पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाता । वेदना को वेदना के रूप में भी शीतलता प्रदान करना बड़ी महान आत्मा के ही द्वारा संभव है ।

नंद गोधूली का स्वागत करके उसे पलकों पर यों ही लगाना नहीं चाहते, उन्हें पलकों में उसे लगाने का अतीत-अनुभव प्राप्त है । पर उन्हें ध्यान है—'तू अब उन अलकों पर नहीं बैठ सकेगी ।" गायें रंभाती हुई इधर-उधर ताक रही हैं—अपने प्यारे गोपाल को—और नंद झाऊ की झाड़ी की आड़ ले रहे है :—

तनिक आड़ में हो जाऊँ मैं,
इस झाऊ में झुक कर ।
ताक रही बां बां कर गायें,
इधर-उधर रुक-रुक कर ।

नंद को मथुरा में देवकी से होने वाली बातें याद हैं :—

रोने लगी देवकी दुखिया,
जब वह मुझसे भेटी—
"बेटा कैसे लूँ, लौटाये,
बिना तुम्हारी बेटी ?"
मैं भी रोने लगा देखकर,
उसकी दारुण बाधा—
"शुभे, शांत हो, ब्रज में बैठी,
मेरी बेटी राधा।"

राधा को नंद का इतना उज्ज्वल एवं शीतल प्रेम-वात्सल्य कृष्ण-काव्य में कदाचित् पहली बार ही मिला है।

कुब्जा को कृष्ण-काव्य में अधिकतर व्यंग्य-विद्रूप ही मिले हैं। सहृदय मैथिलीशरण ने उसके नारीत्व का बड़ा प्रशस्त एवं प्रवाहपूर्ण रूप दिखलाया है। मथुरा से द्वारिका जाने वाले मनमोहन की स्मृति उसने पूरी भावुकता और आस्था के साथ की है। उनके प्रेम तथा मिलन का स्मरण कर उसने काव्य में पहली बार ही आत्म-विभोर होने का गौरव पाया है। उसकी आहों की सर्दी बड़ी गहराई तक जाती है :—

आया नहीं विसासी अब भी,
बस ये आँसू आये।
अहा! उसी लावण्य-सिंधु का,
रस ये आँसू लाये।
पी पीकर मैं इन्हें, भाग्य को,
अब भी कैसे कोसूँ ?
पर अजान इस आतुर उर को,
कब तक पालूँ-पोसूँ ?

प्रेम अपने तलस्पर्शी रूप में एक महायोग है। योग का शाब्दिक अर्थ है जोड़। प्रेम भी दो को जोड़कर तत्वतः एक कर देता है। जब दो जुड़ कर सारतः एक हो जाते हैं, तब प्रेम अपनी समग्रता प्राप्त कर लेता है। योग की भाँति प्रेम का लक्ष्य भी कैवल्य है। प्रेम-योग चित्त-वृत्तियों को निरुद्ध कर लेता है, पंतजलि के 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' को सार्थक कर लेता है; प्रेम की वेदना सभी स्थितियों में

समत्वं का वरण करने की शक्ति पा लेती है, कृष्ण के 'समत्वं योग उच्यते' का प्रमाण बन जाती है। द्वैत का मिटना ही प्रेम का पाना है। मैथिलीशरण की कुब्जा को कृष्ण से मिलने के लिये अपने आप से बिछुड़ना पड़ता है, तो आश्चर्य ही क्या है :—

अहोरात्र के पंख लगा कर,
सुध-सी उड़ती हूँ मैं।
तुझसे मिलने को अपने से,
आप बिछुड़ती हूँ मैं।

प्रिय से मिलने के लिये अपने आपसे बिछुड़ना पड़ता ही है। कितना बड़ा और गम्भीर सत्य है। दुर्वासा के आने पर शकुन्तला अपने आप से बिछुड़ी प्रिय से ही तो मिल रही थी। सूफी संत-कवि रूमी की साधक के दरवाजा खटखटाने और खुलने पर 'मैं' की असफलता और 'तू' की सफलता भी यही लक्ष्य प्रकट करती है।

मैथिलीशरण के उद्धव सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियों के उद्धव के समान हास्यास्पद ज्ञान का प्रदर्शन करने वाले संदेशवाहक नहीं हैं। वे योग एवं निराकार के प्रतिपादक होते हुये भी प्रेम के बिगलित रूप से पूरी तरह परिचित हैं। उनके यशोदा के प्रति प्रकट किये गये उद्गार कितने मर्मस्पर्शी हैं :—

मैं भविष्य में भी सुनता हूं,
यही टेक मन-भाई—
"दूध-पूत पाया तो तूने,
धन्य यशोदा माई।

द्वापर का गोपी-प्रकरण अपने छोटे-से कलेवर में भ्रमरगीत का एक लघ्वाकार अभिनव संस्करण है, जिसकी प्रेरणा के स्रोत सूर, नंददास और रत्नाकर हो सकते हैं, पर फिर भी जो एक स्वतन्त्र एवं उत्कृष्ट रचना है। प्रारम्भ में विरहिणी गोपियों के लिये उपमाओं की जो विशद माला गूँथी गयी है, वह हिन्दी में अपने ढंग की अनोखी है, छायावादी मालोपमाओं की स्मृति दिलाती है।

द्वापर में मैथिलीशरण ने दीन सुदामा, भागवत के एक श्लोक में ही आबद्ध अनाम विधृता, उपेक्षित उग्रसेन एवं कुब्जा प्रभृति के प्रति पूरी सहृदयता प्रदर्शित की है। साथ ही प्रचलित तथा हिन्दी के कृष्ण-काव्य की अपनी निजी महान विभूति भ्रमरगीत-परम्परा को भी आगे बढ़ाया है। प्रश्न यह उठता है कि क्या भ्रमरगीत-जैसे प्रसंगों की बारम्बार अवतारणा आवश्यक है? क्या यह परम्परा-प्रेम मात्र नहीं है? हमारी समझ में उत्तर है, नहीं। भ्रमरगीत की रचना का मूल

उद्देश्य जीवन के प्रति विरक्ति की भावना को परास्त करके जीवन के प्रति अनुरक्ति की भावना की प्रतिष्ठा करना है। भ्रमरगीत जीवन के संवेदन की विजय का महागीत है, जीवन के सुख-दुःख सहने की शक्ति का पलायन के प्रति विद्रोह का महामन्त्र है। यह उद्देश्य इतना स्पृहणीय तथा चिरंतन है कि उस पर जितना लिखा जाये थोड़ा है। हाँ, स्रष्टा में शक्ति न होने पर नीरस पिष्ट-पेषण हो सकता है। पर वह बात और है तथा गुप्तजी एक समर्थ स्रष्टा हैं। सूर, तुलसी और नंददास से लेकर रत्नाकर, हरिऔध, सत्यनारायण कविरत्न, रामशंकर शुक्ल 'रसाल' तथा मैथिलीशरण तक किसी न किसी रूप में प्रसरित भ्रमरगीत-परम्परा हिन्दी की अमर सम्पत्ति है।

द्वापर में राधा 'मैं' भूलकर 'तू' बन जाती है। विद्यापति, सूर, बिहारी और देव की राधा के समान मैथिलीशरण की राधा भी हरि बन जाती है। बाहर से यह भी परम्परागत वस्तु प्रतीत होती है, पर इसके आभ्यंतर में जो प्रेमाद्वैतवाद अवस्थित है, वह परम्परागत विषय न होकर चिरंतन विषय है :—

राधा हरि बन गयी, हाय ! यदि,
हरि राधा बन पाते।
तो उद्धव, मधुवन से उलटे,
तुम मधुपुर ही जाते।

साकारोपासना का मंडन सूर इसलिये करते हैं कि 'रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति बिनु' निराकार की उपासना में मन निरालंब होकर भटकता रहता है। नंददास निर्गुण शब्द पर ही बड़ी ठोस शंका करते हैं—ऐसा प्रश्न करते हैं जिसका उत्तर देना कठिन है : 'जो उनके गुन नांहि और गुन भये कहाँ ते ?' इन स्थलों पर सूर और नंददास तर्क एवं दर्शन का पथ पकड़ते हैं। सहृदयवर रत्नाकर अपने अमर काव्य उद्धव-शतक में गोपिकाओं से गोपियों के अनुकूल प्रश्न ही कराते हैं :—

कर बिनु कैसे गाय दुहिहै हमारी वह,
पद बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहै।
कहै रत्नाकर बदन बिनु कैसे चाखि,
माखन, बजाय बेनु, गोधन गवाइहै।
देखे-सुने कैसे दृग स्रवन बिना ही हाय,
भोरे ब्रजवासिन की विपद बराइहै।
रावरो अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म,
ऊधो कहौ कौन धौं हमारे काम आइहै॥

मैथिलीशरण तर्क-दर्शन एवं भावुकता-भोलापन समन्वित रूप में प्रस्तुत करते हैं :—

ज्ञान-योग से हमें हमारा,
यही वियोग भला है।
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण,
नाट्य, कवित्व, कला है।

गोपिकायें कृष्ण के अतीत या व्रज-संबद्ध सरस-सहज जीवन तथा वर्तमान या मथुरा-संबद्ध राजनीति-व्यस्त जीवन में साकार तथा निराकार का जो भावारोपण करती है, वह विनोद-गर्भित होते हुये भी अत्यन्त गम्भीर, सच्चा तथा महान है, पूर्णत मौलिक है :—

गायें यहाँ घेरनी पड़ती,
नाच नाचना पड़ता।
वह रस-गौरस कभी चुराना,
कभी जाचना पड़ता।
राजनीति का खेल वहाँ है,
सूक्ष्म बुद्धि पर सारा।
निराकार-सा हुआ ठीक ही,
वह साकार हमारा।

प्रिय के साथ विपत्ति भी स्पृहणीय बन जाती है, राम के साथ सीता को भयानक वन सुरम्य उपवन प्रतीत होता था। आचार्य शुक्ल की प्रिय लोकगीत-पंक्तियाँ इस तथ्य को पूरे भावावेश के साथ समझाती हैं :—

आगि लागि घरु जरिगा अति सुख कीन।
पिय के संग घइलवा भरि-भरि दीन ॥

मैथिलीशरण की गोपिकायें इसे सूत्र-रूप में कहकर सत्य को ही प्रकट करती हैं :—

उद्धव, वे दिन भूलेंगे क्या,
तुम्हीं बता दो, कैसे ?
संकट भी जब हुये हमारे,
क्रीड़ा - कौतुक जैसे !

विरह-व्यथा प्रकृति के रूप को वेदना से परिपूर्ण कर देती है। गुप्तजी की

गोपिकाओं को भी सूर की गोपिकाओं के समान प्रकृति-वैभव दुःखद प्रतीत होता है, पशु-पक्षी, गोवर्द्धन पर्वत, कालिंदी, प्रभात, होली सभी दर्द-भरे प्रतीत होते हैं। इसके बाद वे अपने मूल विषय योग-संयोग-चर्चा पर उत्तर आती हैं। रत्नाकर ने उद्धव-शतक में मथुरा से योग सिखाने के लिये आने वाले उद्धव को वियोग की बातें कहने पर गोपिकाओं के माध्यम से रोका है। यमक, श्लेष एवं वक्रोक्ति का बड़ा सुन्दर संगम कराया है :—

> आये हो सिखावन को योग मथुरा तें तो पै,
> ऊधो ये बियोग के बचन बतरावौ ना।

मैथिलीशरण काव्य की दृष्टि ने वैसा ही चमत्कार उत्पन्न करने में तो समर्थ हुये ही हैं, दार्शनिक दृष्टि से बहुत गहरे उतरने में भी सफल हुये हैं :—

> वेद-मार्गियों में आ पहुँचा,
> यह निर्वेद कहाँ से ?
> लौटा ले जाओ हे उद्धव,
> लाये इसे जहाँ से।
> हम सौ वर्ष जियेंगी, अपनी,
> आशा लेकर उर में।
> वह प्रसन्नता से प्रमोदरत,
> रहे प्रतिष्ठित पुर में।

वेद और निर्वेद में जो यमक, श्लेष एवं प्रच्छन्न वक्रोक्ति का संगम है, वह योग और वियोग जैसा ही है, पर इसके कहाँ से आने का प्रश्न और लौटा ले जाने का अनुरोध भारत के पाँच-छः सहस्त्र वर्षों के इतिहास तक फैला है।

वेद का जिज्ञासामूलक प्रसन्न तथा सशक्त जीवन-दर्शन कर्म की कठोरता को पावन तथा शीतल बनाकर ऊर्जा एवं विक्रम का आह्वान करता है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' कहकर ही वह सतुष्ट नहीं होता, चाहता है कि व्यक्ति सौ वर्ष तक जीवे तो है ही, आँख, कान, मस्तिष्क इत्यादि इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न भी बना रहे, जीवेम शरदः शतम्। पश्येमः शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम्। प्रब्रवाम शरदः शतम्। अदीनाः स्याम शरदः शतम्। इत्यादि उद्गार बड़े सशक्त तथा प्रौढ़ जीवन-दर्शन की घोषणा करते हैं। कालांतर में महामानव बुद्ध के 'सर्वम्अनित्यम्' तथा 'सर्वम्अनात्मन्' की निराशा में यह सशक्त जीवन-दर्शन तिरोहित नहीं, तो तिरोहितप्राय अवश्य हो गया, और जीवन की क्षणभंगुरता तथा विश्व में माया-ही-माया की शास्त्रीय चर्चा के साथ भिक्षु-भिक्षुणियों की निष्क्रियता का वह

युग आया जो यूनानियों तथा उनसे भी पहले पारसीयों की दासता में आबद्ध कराके ही हमें शांति-गीत गाने की प्रेरणा दे सका। शीघ्र ही प्रतिक्रिया हुई। चाणक्य का युग आया, शक्ति का युग। फिर अशोक की अहिंसा का बोलबाला हुआ, जिसमें मृगादि पर दया होती थी, तथा कुणाल की आँखें निकाली जाती थीं। यूनानी इत्यादि फिर उठे, स्वाभाविक ही था। प्रतिक्रिया हुई। सशक्त गुप्त-युग आया। पर उसके पतन के बाद फिर हर्षबर्द्धन की अहिंसा का युग आया, जिसमें कभी-कभी पशु को कष्ट देने की हिंसा का दंड प्राण-दंड की अहिंसा द्वारा दिया जाता था। इसके बाद तो योग-ही-योग, निर्वेद-ही-निर्वेद का दौर रहा। शंकराचार्य का मायावाद 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहकर ही आगे बढ़ा। इधर सहायान और बज्रयान से होती हुई सहजयान की योग-साधना चली। परिणाम वही हुआ, जो होना चाहिये था। इस स्थिति में मध्य-काल के कतिपय महामानवों ने योग और निर्वेद के उक्त रूपों की मजाक उड़ायी, तो देश का कल्याण ही किया। कितना करुण तथा अर्थ-गर्भित प्रश्न है :—

वेद-मार्गियों में आ पहुँचा,
यह निर्वेद कहाँ से ?

फिर प्रेम में निर्वेद क्या ? प्रेम में तो प्रिय का वेद ही उपयुक्त है। स्व के निर्वेद की बात और है, क्योंकि वह तो तभी सम्भव है जब प्रिय का वेद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाये।

प्रेमी योगक्षेम की नहीं, प्रेम की साधना करता है। गोपिकाओं की विरह-व्यथा यही कामना करके सन्तुष्ट हो सकती है, हुई है :—

हो या न हो सुनों हे साधो,
योगक्षेम हमारा।
बना रहे उस निर्मोही पर,
है जो प्रेम हमारा।

सूर के समान मैथिलीशरण की गोपिकाएँ भी योग की निन्दा नहीं करतीं। अपनी स्थिति से योग की विषमता की चर्चा ही करती हैं। वे माधव तथा उद्धव को सच्चा मानती हुई अपने भाग्य को ही दोष देती हैं, जैसा कि निराश प्रेमी करते ही रहते हैं। पर अन्त में वे अपने सुदृढ़ प्रेम की अटलता की घोषणा भी करती हैं। उन्हें दुःखों की चिन्ता नहीं है, वे जानती हैं कि अब दुःख ही दुःख है। पर प्रेम का दुःख भी संसार के बड़े-से-बड़े सुख की अवहेलना कर सकता है। फिर वे तो सन्तुष्ट हैं :—

एक मूर्ति, आधे में राधा,
आधे में हरि पूरे।

कृष्ण-राधा का यह अभिनव-अर्द्धनारीश्वर रूप मैथिलीशरण की सहृदयता में चार चाँद लगा देता है ।

द्वापर का विरह-वर्णन शरीर की दृष्टि से नवीन नहीं है । पुत्र-विरही नंद, प्रिय-विरहिणी गोपिकायें तथा राधा, सभी पर बहुत-कुछ लिखा जा चुका है । पर मैथिलीशरण ने पुराने शरीर में नया जीवन डालने में पूरी सफलता पायी है । अनेक कवियों-महाकवियों के स्पर्श से सम्पन्न विषय को उन्होंने कथा-क्रम से न उठाकर कवि-कौशल का ही परिचय दिया है । उन्होंने भाव-क्रम के आधार पर ही द्वापर की सृष्टि की है, और इस दृष्टि से वे सर्वथा मौलिक हैं । उपेक्षिताओं के प्रति उनका सम्मान द्वापर में भी प्रकट हुआ है । कुब्जा और विधृता के प्रसंग इसी सम्मान की उपज हैं ।

यशोधरा मैथिलीशरण का अत्यन्त लोकप्रिय काव्य है, जिसका नाम प्रायः साकेत के बाद लिया जाता रहता है । कतिपय सहृदय पाठक और कलाकार इस कृति को गुप्तजी की सर्वोत्कृष्ट रचना मानते हैं, जिनमें सुमित्रानन्दन पंत का नाम चिर-स्मरणीय है । यशोधरा में बुद्ध के प्रारम्भिक अंतर्द्वन्द्व, महाभिनिष्क्रमण, कपिलवस्तु में महाप्रजावती, शुद्धोधन और सबसे बढ़कर यशोधरा के विरह, शिशु राहुल के बाल्य-काल एवं अंततोगत्वा बुद्ध के भिक्षु-रूप में कपिलवस्तु-आगमन की कथा का वर्णन किया गया है । काव्य के मध्य में एकांकी जैसी वस्तु के दर्शन भी होते हैं, जिसमें यशोधरा तथा राहुल की सामयिक जीवन-झाँकी बड़ी विदग्धतापूर्वक दिखलाई गयी है । कवि ने इसे खिचड़ी कहा है । पर यह खिचड़ी हिन्दी में अपने ढंग की अकेली है । विषय की नवीनता तथा कवि की वैचारिक प्रौढ़ता के कारण यशोधरा एक उत्कृष्ट रचना बन पड़ी है ।

बुद्ध-पत्नी का वियोग यशोधरा की सर्वप्रमुख घटना है । यों साकेत में उर्मिला के लिये भी यही कहा जा सकता है, पर यशोधरा में यशोधरा का अस्तित्व साकेत में उर्मिला के अस्तित्व से कहीं अधिक व्यापक, विशद तथा पूर्ण है । साकेत तथा यशोधरा के नामकरण ही इसका आभास देते हैं ।

साहित्यिक भाषा में यशोधरा को साकेत के नवम् सर्ग का एक विशद परिशिष्ट कहा जा सकता है, यद्यपि इस परिशिष्ट की कसावट तथा विचार-विभूति अपने मूल से कहीं अधिक संयत तथा तलस्पर्शी है । कवि ने स्वयं लिखा है, "भगवान बुद्ध और उनकी अमृत-तत्त्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल जननी के दो-चार आँसू ही तुम्हें इसमें मिल जायँ, तो बहुत समझना । और इसका श्रेय भी साकेत की उर्मिला देवी को है जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है ।'

बुद्ध का जीवन काव्य के बहुत उपयुक्त नहीं है, क्योंकि काव्य जीवन की सात्विक अनुरक्ति का विवेचक है, और बुद्ध का जीवन तात्विक विरक्ति से ओत-प्रोत रहा है। वे भारत के अद्वितीय महामानव थे, हमें उन पर सदैव गर्व रहा है, तथा रहेगा, पर उनका जीवन समग्रता की दृष्टि से इतना पूर्ण नहीं रहा कि उस पर प्रथम श्रेणी के महाकाव्य या विशाल प्रबन्ध की रचना की जा सके। महाकाव्य घटना-विशेष या. व्यक्ति-विशेष के माध्यम से राष्ट्रीय जीवन-संघर्ष का तलस्पर्शी विराट चित्र प्रस्तुत करते हैं, किसी महान संस्कृति का विश्व-कोष बनकर प्रकट होते हैं, जिसके अंगों के रूप में अनेक व्यक्तित्व तथा घटना-चक्र समाहित रहते हैं।

महानता की दृष्टि से बुद्ध का व्यक्तित्व राम और कृष्ण के व्यक्तित्व से पीछे नहीं है। यदि विश्व-दृष्टि से देखें तो कहीं आगे ही लगेगा। पर उनके जीवन में वह समग्रता नहीं है, जो राम और कृष्ण के जीवनों में है। उनका जीवन ईसा के जीवन से मिलता-जुलता है। ईसा पर भी कोई सफल महाकाव्य नहीं रचा गया, नहीं रचा जा सकता। 'दि लाइट आफ दी वर्ल्ड' काव्य का स्तर इस कथन का स्पष्टीकरण-सा है। भारतीय साहित्य में महाकाव्यों की बहुलता का कारण राम और कृष्ण का पूर्ण व्यक्तित्व है, जिसने मूलतः बाल्मीकि और व्यास तथा कालांतर में कंबन, पंप, कुमारव्यास, तुलसीदास तथा सूरदास जैसे कवियों को धन्य कर दिया है। भागवत एवं अध्यात्म-रामायण जैसे प्रयास भी असाधारण ही हैं। बुद्ध का जीवन महाकाव्य का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि केवल विरक्ति जीवन की समग्रता का स्थान नहीं ले सकती। विरक्ति दर्शन के अधिक उपयुक्त है। यही कारण है बुद्ध पर दार्शनिक तथा धार्मिक दृष्टि से अधिक विचार किया गया है। अश्वघोष या उनके आधार पर एडविन आर्नल्ड, रामचन्द्र शुक्ल और अनूप शर्मा इत्यादि के लिखे काव्यों के सामान्य साहित्य-स्तर का कारण यही है। मैथिलीशरण ने बड़ी चतुरता से बुद्ध के जीवन से संबद्ध केवल उसी घटना को अपना वर्ण्य-विषय बनाया है, जो काव्य के उपयुक्त है। यशोधरा की सफलता का यही कारण है। बुद्ध के अवतारों पर सृजित अनघ का साहित्यिक दृष्टि से साधारण स्तर हमारे उक्त विवेचन का प्रतिपादक है।

यशोधरा के सृजन की मूल प्रेरक शक्ति कवि की काव्य में उपेक्षिताओं के प्रति वह सहानुभूति ही है, जिसकी प्रेरणा से साकेत की रचना हुई है। कवि ने स्पष्ट लिखा है: हाय! यहाँ भी वही उदासीनता। अमिताभ की आभा में ही उनके भक्तों की आँखें चौंधिया गयीं और उन्होंने इधर देखकर भी न देखा। सुगत का गीत तो देश-विदेश के कितने ही कवि-कोविदों ने गाया है, परन्तु गर्विणी गोपा की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देखकर मुझे शुद्धोधन के शब्दों में यही कहना पड़ा है :—

गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको।

मैथिलीशरण हिन्दी में तुलसी के बाद सबसे बड़े सांस्कृतिक व्याख्याता के रूप में सतत स्मृत किये जाते रहेंगे। पर उनका नाम काव्य में उपेक्षिताओं को स्थान देने वाले भावुक कलाकार के रूप में भी सदैव लिया जाता रहेगा। उर्मिला, कैकेयी (अपने नये रूप में), मांडवी, श्रुतिकीर्ति, यशोधरा तथा द्वापर की अनाम विधृता से हम सबको गुप्तजी ने ही सम्यक् प्रकार से परिचित कराया है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ? प्राय: महाकाव्य की विशाल आयोजना में कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व छूट जाया ही करते हैं। मैथिलीशरण ने उन्हीं छूटे हुये व्यक्तित्वों पर ही सबसे अधिक ध्यान दिया है। यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि महाकाव्यों में कर्मठ पुरुष तो किसी न किसी रूप में सामने आ ही जाता है, उसे आने से रोकना सरल नहीं है। पर संकोचशीला नारी, वह यदि कवि ध्यान न दे, तो नहीं आ पाती। यह ध्यान वे अब भी देते आ रहे हैं। जयभारत में योजनगंधा और हिडिंबा पर स्वतन्त्र सर्ग विद्यमान हैं। अभी हाल में चैतन्य महाप्रभु की विरहिणी प्रिया पर भी उन्होंने अपनी आस्था की श्रद्धांजलि चढ़ायी है—विष्णुप्रिया शीर्षक काव्य की सृष्टि की है। हिन्दी में पं० बल्देवप्रसाद मिश्र कृत साकेत-संत की मांडवी का उज्ज्वल चरित्र तथा पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' कृत उर्मिला की उर्मिला का विशद तथा करुणा-कलित चित्र काव्य मे उपेक्षिताओं को उपेक्षितायें न रहने देने के शुभ अनुष्ठान के परिणाम ही हैं। इस अनुष्ठान के मूल में मैथिलीशरण का व्यक्तित्व ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह हिन्दी को उनकी एक अमर देन है, जिसका प्रभाव चिर-काल तक चलता रहेगा, बना रहेगा।

विरह यशोधरा की आत्मा है। पर इस रचना में वर्णित उसका रूप परम्परागत न होकर नवीन है। इसमें न षड्ऋतु-वर्णन है, न दूत-विधान, न निरे आँसू-ही आँसू हैं, न कोरा विलाप ही विलाप। इसमें एक आदर्श पतिव्रता नारी का समग्र 'रूप-कुलिसदु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि' रूप-चित्रित किया गया है, जिसमें आँसुओं की आर्द्रता भी है, मान की कठोरता भी; वेदना की विकलता भी है, आत्म-सम्मान का तेज भी; प्रिय के व्यवहार का क्षोभ भी है, उसके प्रति सहज अनुराग भी। यही कारण है कि यशोधरा में भारतीय नारी की संक्षिप्त, पर-पूर्ण, रूपरेखा-सी दृष्टिगोचर हो जाती है।

यशोधरा के विरह-वर्णन में हिन्दी में पहली बार नारी का आहत स्वाभिमान जागृत होकर मुखरित हुआ है। दुर्भाग्य से हिन्दी का प्रारम्भ, विकास तथा उत्थान कुछ ऐसी विषम परिस्थितियों में हुआ कि "गृहिणी सचिव सखी शिष्या" का उसका रूप आच्छन्न ही बना रहा, वह या तो अपमानित की जाती रही या विलासिनी के रूप में चित्रित की जाती रही। आधुनिक काल में इस प्रवृत्ति का उच्छेद हुआ तथा

नारी के प्रति उज्ज्वल अभिव्यक्तियाँ दृष्टिगोचर हुईं। हमारे काव्य में नारी को पवित्र उज्ज्वल तथा शीतल रूप में चित्रित करने का कार्य आधुनिक युग के हमारे सर्वश्रेष्ठ कविद्वय मैथिलीशरण और प्रसाद के द्वारा सम्पन्न हुआ है। यशोधरा में गुप्तजी ने नारी को अपने मूल संवेदनात्मक पर ऊर्जस्वित रूप में प्रस्तुत किया है।[१] निराला, पंत तथा नवीन प्रभृति श्रेष्ठ कवियों ने नारी के आभ्यंतर तथा बाह्य को पवित्रता के साथ इतना स्पष्ट कर दिया है कि आधुनिक कविता में नारी के प्रति दृष्टिकोण हमारे साहित्य का एक उज्ज्वल विषय बन गया है।

सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् यशोधरा के विरह का वर्णन प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ के छन्द शिथिल हैं। एक स्थल पर —

सखि, वे कहाँ गये हैं !
मेरा बायां नयन फड़कता है।
पर मैं कैसे मानूँ ?
देख यहाँ यह हृदय धड़कता है।

प्रिय के प्रस्थान पर यशोधरा के बाँयें नयन का फड़कना उनका भविष्य में बहुत आगे की ओर दौड़ना है। रस-निष्पत्ति की सफलता के लिये ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान-उपाख्यान के प्रकरण-विशेष को उसके सीमित रूप में ही चित्रित करना अधिक समीचीन होता है, विशेषकर बीसवीं शती में। प्रिय साधना के लिये गये हैं, सफल होंगे; शुभकार्य के लिये गये हैं इसलिये बायां नयन फड़कता है। इतनी दूर जाने के बजाय यदि सीधे हृदय धड़क जाता, तो अधिक स्वाभाविक रहता। दायाँ नयन फड़कता, तो बात और थी !

गुप्तजी की भाषा में शब्दों के भावानुरूप प्रयोग की दृष्टि से पाठकों को यत्र-तत्र निराशा की अनुभूति होती रहती है। विशेषतः तुकों में, शब्द-मैत्री का निर्वाह बहुत बार ठीक से नहीं हो पाता। खास कर प्रेम-प्रकरणों में टवर्ग-तवर्ग के कर्कश वर्णों की भरमार जी उबाने लगती है। साकेत में ऐसा कुछ अधिक हुआ है, पर यशोधरा में भी कम नहीं हुआ। भाषा में कर्कश वर्ण-युक्त शब्दों के अधिकाधिक प्रयोग ने रस-निष्पत्ति के बाह्य आकार को अनेक बार बाधा पहुँचायी है।

साकेत के प्रथम तथा दशम सर्ग इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। यशोधरा के अनेकानेक पदों में भी ऐसा हुआ है। इसका कारण कुछ तो सृजन की त्वरा प्रतीत

---

१ — अब कठोर हो वज्रादपि, ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी॥

होती है, कुछ कवि की जन्मभूमि। सृजन की त्वरा से हमारा अर्थ यह है कि गुप्तजी जो भी लिखते हैं, छपा देते हैं; प्रतीक्षा या अनुशीलन कम, या नहीं करते हैं। इसका कारण प्रकाशन की सुविधा तो है ही, उनकी ख्याति एवं लोकप्रियता भी है। जन्मभूमि से हमारा तात्पर्य झाँसी के प्रदेश-भाग से है। बुन्देलखण्ड उत्तर-प्रदेश का मेवाड़ है, हमारे प्रदेश की गौरव पूर्ण वीर-भूमि है। आल्हा, ऊदल, मलखान, हरदौल, सारंधा, छत्रसाल, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई इत्यादि कितने ही वीर-वीरांगनाओं की वीरता के आख्यान सुनते-सुनते, पर्वतों की कठोरता से वज्र-सुदृढ़ बनते-बनते तथा बेतवा के कठोर नाद से अविचलित रहते-रहते यदि बुँदेला वीरों की वाणी मेवाड़ी की तरह कुछ कठोर-वर्ण-प्रिय हो गयी हो, तो आश्चर्य ही क्या है! हिन्दी में बुंदेलखण्ड के प्रतिनिधि साहित्यकार श्री वृन्दावनलाल वर्मा का गद्य अपने क्षेत्र में इसी बात को स्पष्ट करता है। फिर भी हमारे कान व्रजभाषा के उस पारस को भूले नहीं हैं—भगवान करे, कभी न भूलें—जो अपने स्पर्श से फड़कता, धड़कता—जैसा लोहा भी फरकत, धरकत के स्वर्ण में बदल देता है।

यशोधरा के विरह में नारी का आहत स्वाभिमान अपनी समग्र विनम्रता के साथ बड़े स्वाभाविक रूप में मुखरित हुआ है। गोपा इसलिये दुःखी नहीं है कि उसके प्रिय सिद्धि के लिये गृह-त्याग कर गये हैं, उसका दुःख तो इस कारण है कि वे छुपकर गये हैं! क्या ही गौरवपूर्ण अवसर होता यदि वह स्वयं उनके ललाट पर तिलक लगाकर बिदा करती! यह गौरव उन्होंने उसे नहीं दिया। दुर्भाग्य! वह क्षत्राणी है, क्षत्राणियाँ अपने प्रियतम को रणभूमि के लिये सज्जित करके भेजती हैं, तब क्या वह उन्हें सिद्धि के लिये भी न जाने देती? उन्होंने उसका आदर तो किया, पर उसे समझा नहीं, अन्यथा उस पर ऐसा अत्याचार न करते, उसके नारीत्व की ऐसी अवहेलना न करते। उसके शब्दों में नारी की ऊर्जस्वित वाणी साकार प्रकट हो जाती है :—

सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।

सखि वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना।
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

कतिपय समीक्षक यशोधरा के ऐसे उद्‌गारों में कुछ अक्खड़ता की गंध का अनुभव करते हैं। वे शायद यह नहीं जानते कि नारी के अंतःकरण में शीतलता के साथ उष्मा भी रहती है और शीतलता तथा उष्मा दोनों मिलकर ही उसे मानव बनाती हैं। यशोधरा के पदों में इस शीतलता तथा उष्मा का सुन्दर समन्वय हुआ है। यही कारण है कि उसकी नारी-भावना जीवन नारी-भावना है, स्वाभाविक नारी-भावना है, पिष्ट-पेषणजन्य एवं परम्परागत नारी-भावना नहीं। गोपा प्रियतम को ठीक ही निष्ठुर कहती है। बुद्ध ने उसका परित्याग जिस तथा जैसी स्थिति में किया था, वह उनके जीवन के लिये सबसे कलंकपूर्ण प्रकरण की सूचक है। जिसके लिये उन्हें अब दंड भी मिल रहा है और श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रभृति कलाकार उनके चरित और चरित्र की प्रत्यालोचना भी प्रस्तुत कर रहे हैं।[1] फिर भी, गोपा एक भावनामयी, प्रेममयी नारी है, उसका समर्पण-भाव, उसकी आस्था प्रियतम के लिये कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेती है—"मेरे आँसुओं पर तरस खाकर ही वे छिपकर गये हैं, सदय हृदय !"

> नयन उन्हें है निष्ठुर कहते,
> पर इनसे जो आँसू बहते,
> सदय हृदय वे कैसे सहते ?
> गये तरस ही खाते।

जब वह उनकी सिद्धि की कामना करती है, अपने दुःख से उनके दुखी न होने की कामना करती है, तब भारत का चिरंतन नारीत्व बोलता प्रतीत होता है, वह नहीं। जब पास थे, तब कुछ स्थूलता तो थी ही, अब तो वे पूर्णतः सूक्ष्म हैं। जब पास थे, तब रूठना-बिगड़ना भी चलता था, अब तो एकांत प्रेम मात्र है। अब वे अधिक स्पृहणीय, प्रिय, मोहक लगते हैं। मैं उलाहना कैसे दूँ ?

> जायं, सिद्धि पावें वे सुख से,
> दुखी न हों इस जन के दुख से,
> उपालंभ दूँ मैं किस मुख से ?—
> आज अधिक वे भाते।

प्रेम के तल तक केवल नारी ही पहुँच सकती है, क्योंकि प्रकृति ने उसके निर्मल अंतःकरण को वह धैर्य दिया है, जो तल तक पहुँचने की प्रतीक्षा कर सकता है, कर लेता है। नारी स्व को प्रिय में समाहित कर देती है, आत्म-लय कर देती है। प्रत्येक पुरुष उसके चरणों के निकट अनेक रूपों में ऋणी रहता है। उसका

१—वत्सराज (नाटक) की भूमिका।

प्रेम अपनी वेदना को पीकर भी प्रिय के कल्याण की कामना करता है, क्योंकि प्रिय का कल्याण ही उसका कल्याण है। कवियों ने नारी की आत्मा के इस सत्य को भलीभाँति समझा भी है:—

आमि निज सुख-दुख किछु न जानि।
तोमार कुशले कुशल मानि॥

—चंडीदास

जहं-जहं रहौ राज करौ तहं-तहं धरौ कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु न्हात खसै जाति बार॥

—सूरदास

मोहिं भोग सों काज न बारी।
सौंह दीठि की चाहनहारी॥

—जायसी

प्यारे जीवें जगहित करें गेह चाहे न आवें।

—हरिऔध

हा स्वामी! कहना था क्या-क्या,
कह न सकी कर्मों का दोष।
पर जिसमें संतोष तुम्हें हो,
मुझे उसी में है संतोष।

—मैथिलीशरण

कुछ लोगों को ऐसे उद्‌गारों में आदर्शवाद का आभास मिलता है, यथार्थ की अवहेलना प्रतीत होती है। निवेदन है कि मानवात्मा आदर्श तथा यथार्थ का समन्वित रूप ही है और इन दोनों की सृष्टि का कारण भी यही है। आदर्श और यथार्थ के बीच में कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती, नहीं खींची जा सकी। फिर यह तो नारी-हृदय का सत्य है, शुद्ध सत्य। आदर्श की अति ही काव्य और कला को धक्का पहुंचाती है, उसकी स्वाभाविक स्थिति नहीं।

प्रेम विश्वास पर जीता है। वह जानता है कि बिसासी लौटेगा अवश्य। आशा कम हो, तो भी वह विश्वास अधिक रखता है। यशोधरा प्रिय के आने का विश्वास किये है। पर वह यह भी जानती है कि उसके प्राण-प्रिय को आसानी से न पा सकेंगे—

गये, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे।
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते गाते?

कितना मर्म-द्रावक प्रश्न है ? कितना भोला, कितना कठिन ?

स्मृति की भाव-पूर्ण झलकियों के लिये साकेत का नवम सर्ग स्मरणीय है। यशोधरा में भी कुछ स्थलों पर ऐसी झलकियाँ मिलती हैं यद्यपि उनमें साकेत की सी भाव-प्रवणता नहीं है।

हम पहले लिख आये हैं कि मैथिलीशरण का विरह-क्षेत्र व्यापक है, केवल दाम्पत्य जीवन या प्रिय-प्रिया में ही आबद्ध नहीं। यशोधरा में बुद्ध को पालने-पोसने वाली मातृवत् महाप्रजावती तथा शुद्धोदन के पुत्र वियोग-विगलित उद्गार भी दृष्टिगोचर होते हैं। पर वे मर्मस्पर्शी नहीं हैं। दशरथ, नंद और यशोदा के तुलसी, सूर और हरिऔध-प्रणीत वात्सल्य-वियोग के अमर वर्णनों से सम्पन्न हमारे साहित्य में महाप्रजावती के 'मैंने दूध पिलाकर पाला' या शुद्धोदन के 'चला गया रे चला गया'-जैसे सिनेमा की तर्ज का स्मरण कराने वाले कथन निस्सार-से लगते हैं। इसके बाद गोपा और शुद्धोदन का संवाद है, जिसमें प्रकृत स्थिति को दर-किनार करते हुए मैथिलीशरण ने गोपा को शुद्धोदन को गोपा बना दिया है। गोपा उनकी विकलता को शांत करने के सिलसिले में उन्हें उनके पुत्र से भी अधिक भोला देखने लगती है :—

शुद्धोदन—भूला वह भोला, उठा रक्खूँ क्या उपाय मैं ?
यशोधरा—उनसे भी भोला तुम्हें देखती हूँ हाय मैं !

यहाँ 'हाय' का प्रयोग बिल्कुल वाहियात है। भारतीय परिवार में पुत्र के लुक-छिपकर चले जाने पर स्वशुर पुत्र-वधू को समझाते हैं, पुत्र-वधू स्वशुर को नहीं। स्वाभाविक भी यही है। सुख-दुःखों को झेलकर प्रौढ़ रूप पाने वाला मनुष्य अल्प-वय के भावुक हृदय को सांत्वना दे भी सकता है। पर मैथिलीशरण गोपा के तेजस्वी रूप की अवतारणा में आवश्यकता से अधिक सचेष्ट होकर अपने साहित्य की मर्यादा और स्वाभाविकता को भूल गये। यह असफल प्रसंग केशवदास के राम-वन-गमन के अवसर पर कौशल्या के प्रति राम के उपदेश वाले प्रसंग-जैसा ही भोंडा है।

पुरजनों के वियोग पर भी गुप्तजी ने एक पृष्ठ लिखा है। पर यह लिखना व्यर्थ ही गया है, क्योंकि हाय-हाय-वाद के अतिरिक्त इसमें कोई गम्भीर भाव प्रकट नहीं हो सके। दूसरे हम वियोगी अवध-वासियों तथा व्रजवासियों के उदात्त वियोग से भलीभाँति परिचित भी हैं। फलतः साधारण स्तर के ऐसे वर्णन साधारणतर स्तर के लगने लगते हैं।

छंदक, जो बुद्ध को रथ पर बैठाकर ले गया था, लौटकर अपनी वेदना प्रकट करता है। इस छोटे से प्रकरण को लिखते समय मैथिलीशरण के मस्तिष्क में राम को वन की ओर लगाकर अयोध्या लौटने वाले सुमंत्र का चित्र अवश्य खिंच गया होगा। पर तुलसी की तुलना में वे यहाँ बहुत ही साधारण धरातल पर खड़े प्रतीत होते हैं :—

> कहूँ और क्या भाई।
> आना पड़ा मुझे, मैं आया, मुझको मृत्यु न आई ।।
> मारो तुम्हीं मुझे, मर जाऊँ सुख से राम दुहाई।
> झूठ कहूँ तो सुमति न देवे मुझको गंगा माई ।।

भाषा-गत हास्यास्पद असफलता देखिये, जिसमें 'कच्चे' शब्द की व्यर्थता पर ध्यान अनायास ही चला जाता है :—

> हाय ! काट डाले वे केश !
> चिकने, चुपड़े, कोमल-कच्चे, सच्चे सुरभि-निवेश।

इसके पश्चात् यशोधरा की विरह-व्यथा का वर्णन है। वह अपनी आली से केश काट डालने के लिये कर्तरी माँगती है। पता नहीं, यह लिखने की आवश्यकता मैथिलीशरण को क्यों पड़ी। भारत में केश केवल विधवायें ही काटती-कटाती हैं। दूसरे, पाठक को यशोधरा के प्रारम्भिक धैर्य और इस भावुकता की संगति लगाने में दिक्कत होती है। यह तर्क भी यशोधरा की स्थिति में काम नहीं करता कि वेदना का अतिरेक व्यक्ति को सनकी-सा बना देता है—कभी मोम, कभी पत्थर।

यशोधरा में ज्यादातर जहाँ मैथिलीशरण कथा-क्रम की ओर उतरते हैं, वहाँ उन्हें असफलता मिलती है, जहाँ भाव-क्रम की ओर बढ़ते हैं, वहाँ असफलता। उदाहरणवत् यहाँ यशोधरा अपनी बात को दुहरा अवश्य रही है, पर इस दुहराने में भी मर्मस्पर्शिता विद्यमान हैं :—

> मिला न हा ! इतना भी योग,
> मैं हँस लेती तुझे वियोग !
> देती उन्हें विदा मैं गाकर,
> भार झेलती गौरव पाकर,
> यह निःश्वास न उठता हा कर,
> बनता मेरा राग न रोग,
> मिला न हा ! इतना भी योग।

× × ×

पहुँचाती मैं उन्हें बजाकर,
गये स्वयं वे मुझे लजाकर ।
लूँगी कैसे ? वाद्य बजाकर,
लेंगे जब उनको सब लोग ।
मिला न हा इतना भी योग ।।

जब वे मुझे उन्हें वाद्य बजाकर भेजने का गौरव प्रदान कर नहीं गये, तब मैं वाद्य बजाकर उनके आगमन पर कैसे जा सकूँगी ? इस कथन में गोपा के रूठने का तर्क निरसंदेह बहुत गम्भीर है। अंत में जब बुद्ध कपिलवस्तु आये, तब सारी आस्था के होते हुए भी, मानिनी गोपा उनका स्वागत करने नहीं गयी, उन्हें स्वयं उसके निकट आना पड़ा। उसका मान धन्य हो गया।

यशोधरा का वज्रादपि कठोर बनने का निर्णय परिस्थिति को देखते हुए अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। स्वाभाविक-अस्वाभाविक के बीच की वस्तु भले ही कहा जा सके। आदर्श की अति ने उसके अंतस् की कोमलता को आक्रांत अवश्य किया है। जोश और होश के संतुलन में ढिलाई आ गयी है।

प्रिय ही यहाँ आयेंगे, वह उनके पास नहीं जायेगी, यह कथन रूपांतर के साथ बार-बार आकर अनाकर्षक बन जाता है :—

भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान,
यशोधरा के थे, हैं अब भी यह अभिमान ।

कभी-कभी खीझ कर वह जीने-मरने की चर्चा करती है, पर कर्त्तव्य की गुरुता के मान के साथ। संतुलित भावावेश सर्वथा स्पृहणीय होता है, यहाँ भी है :—

स्वामी मुझको मरने का भी दे न गये अधिकार,
छोड़ गये मुझ पर अपने उस राहुल का सब भार ।

यहाँ 'उस' चरण की मात्राओं को पूरा करता है, पर कवि को जो कहना है, वह मर्मस्पर्शी है।

वियोग प्रेम के करुण पक्ष का उद्घाटक है। प्रायः सभी कवियों के वियोग ने प्रेम के दर्द का स्पष्टीकरण किया है। मैथिलीशरण की गोपा का वियोग भी जानता है :—

जलने को ही स्नेह बना,
उठने को ही वाष्प बना है ।
गिरने को ही मेह बना ।।

प्रायः वियोग में प्रकृति का करुण चित्र ही दृष्टिगोचर होता है, हो पाता है। यशोधरा में भी ऐसा है। पर साकेत में प्रकृति के संवेदनशील रूप का जो स्वागत हुआ है, वह संक्षिप्त रूप में यहाँ भी विद्यमान है। कोयल और पपीहे के प्रति परम्परा से हटकर संवेदनमूलक उद्‌गार प्रकट किये गये हैं। हिन्दी के विरह-काव्य को मैथिलीशरण की यह एक देन है।

'यशोधरा' के वात्सल्य-वर्णन पर दो शब्द कह लेना अप्रासंगिक न होगा। हिन्दी में पहली बार प्रिय-वियोग की वेदना तथा वात्सल्य-भाव का उल्लास समन्वित होकर यशोधरा में ही प्रकट हुआ है। वैदेही-वनवास में ऐसा होना सम्भव था, पर उसमें हरिऔध की उपदेश-वृत्ति व्यवधान बन गयी। कामायनी में भी ऐसा हो सकता था। पर वहाँ विरह को अधिक स्थान ही नहीं दिया गया। पुत्र के संयोग-सुख पर पति के वियोग-दुःख का छाया रहना किस रस के अन्तर्गत होगा ? यह एक विचारणीय विषय है। संयोग-वात्सल्य और वियोग-शृङ्गार एक साथ किस रस के अन्तर्गत होंगे, प्रेममहारस या प्रेमरस ही इस विषय का सम्यक् स्पष्टीकरण कर सकता है। प्रेम की दोनों आँखें आँसू बहाती हैं, पर एक रोती है, एक हंसती है, केवल रोना या केवल हंसना, शायद प्रेम यह नहीं जानता :—

चेरी भी वह आज कहाँ, कल थी जो रानी,
दानी प्रभु ने दिया उसे क्यों मन यह मानी ?
अबला-जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी—
आंचल में है दूध और आँखों में पानी।
मेरा शिशु संसार वह, दूध पिये, परिपुष्ट हो,
पानी के ही पात्र तुम, प्रभो रुष्ट या तुष्ट हो।

प्रेम, विकलता-वेदना और वात्सल्य की यह त्रिवेणी प्रेममहारस द्वारा ही विवेचित हो सकती है।

यशोधरा का वात्सल्य शृङ्गार-वियोग से संपृक्त है, सम्पूर्णतः संपृक्त है। लोरी गा-गा कर राहुल को सुलाने वाली विरहिणी गोपा उसके सो जाने पर ही क्रन्दन करने का अवसर पा सकती है, उसकी जागृति में वह रोकर उसे नहीं रुला सकती :—

तेरी सांसों का सुस्पंदन,
मेरे तप्त हृदय का चंदन।
सो, मैं करलूँ जी भर क्रन्दन,
सो, उनके कुल-नन्दन, सो।
सो, मेरे अंचल-धन, सो ॥

यहाँ दो भावों का समन्वय हुआ है। और दोनों अपनी एक-दूसरे से विपरीत स्थिति में आकर समन्वित हुए हैं, संयोग-वात्सल्य, वियोग-शृङ्गार। ऐसे स्थलों के अनुकूल रस-समन्वय की व्याख्या हमारे आचार्यों ने शायद नहीं की, अन्यथा शकुन्तल् एवं उत्तर-रामचरित प्रभृति अमर कलाकृतियों में इस रस-समन्वय के उत्कृष्ट उदाहरण सरलता से मिल सकते थे।

निशा को नाटक की यवनिका देने वाला रूपक बहुत मर्मस्पर्शी है। प्रभात का वर्णन साकेत की याद दिलाता है। पवन, पुष्प तथा इन्दुकला के प्रति यशोधरा के उद्गार भी उर्मिला की याद दिलाते हैं, पर अपनी संक्षिप्ता के गुण से सम्पन्न भी हैं।

यशोधरा के मध्यांतर भाग में एकाँकी जैसी चीज बड़ी हृदयद्रावक है। यहां भी बड़ा विदग्धतापूर्ण रस-समन्वय हुआ है। वेदना और करुणा के सम्मान के गान भवभूति, शैली, पंत और प्रसाद ने गाये हैं, साकेत में भी ऐसे गान के स्वर विद्यमान हैं, यहाँ भी :

रुदन का हँसना ही तो गान।
गा गा कर रोती है मेरी हृतंत्री की तान।

यशोधरा रोती है, 'मरने से बढ़कर यह जीना' कह कह कर आँसू पीती है, पर जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण बहुत उज्ज्वल और सशक्त है।

निज बंधन को संबंध सयत्न बनाऊं।
कह मुक्ति, भला, किसलिये तुझे मैं पाऊं॥

× × ×

माना, ये खिलते फूल सभी झड़ते हैं,
जाना, ये दाड़िम, आम सभी सड़ते हैं।
पर क्या यों ही ये कभी टूट पड़ते हैं ?
या काँटे ही चिरकाल हमें गड़ते हैं ?

कवि ने परंपरानुरूप स्वप्न तथा बाम अंग फड़कने का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। रोहिणी नदी के प्रति उद्गारों को कृष्ण-काव्य के कालिंदी से संबंधित उद्गारों से प्रेरणा मिली होगी। यशोधरा का विगलित नारी-भाव बड़े उज्ज्वल, पवित्र तथा स्निग्ध रूप में तब प्रकट होता है, जब वह कहती है,---(कितना सत्य कहती है।)—

चाहे तुम संबंध न मानो,
स्वामी, किंतु न टूटेंगे ये, तुम कितना ही तानो ।
पहले तुम हो यशोधरा के,
पीछे होगे किसी परा के,
मिथ्या भय है जन्म जरा के,
इन्हें न उसमें सानो,
चाहे तुम संबंध न मानो ।

किसी परा के स्थान पर यदि निखिल धरा होता तो अधिक मर्मद्रावक तथा सत्य होता, किंतु परा में परा-विद्या की व्यंजना की गंभीरता कितनी सच बात है ?—

देखूं एकाकी क्या लोगे ?
गोपा भी लेगी, तुम दोगे ।
मेरे हो, तो मेरे होगे,
भूले हो, पहचानो ।
चाहे तुम संबंध न मानो ।

पर अंत में बेमेल आदर्शाधिक्य रंग में भंग कर देता है । प्रगीत-योजना में अंत की शक्ति का ध्यान हिन्दी के बहुत कम कवियों ने दिया है, बड़े कवियों में गुप्तजी ने कदाचित सबसे कम ।

वधू सदा में अपने वर की,
पर क्या पूर्ति बासना भर की ?
सावधान ! हाँ, निज कुलधर की
जननी मुझको जानो ।
चाहें तुम संबंध न मानो ।

यहाँ वासना की चर्चा का प्रश्न ही नहीं उठता था । अतः सुन्दर भाषण के अंत में खोंस देना जैसा ही रहा ।

अंततोगत्वा बुद्ध कपिलवस्तु पधारते हैं और उन्हें मानिनी गोपा के निकट स्वयं जाना पड़ता है । उनके आगमन पर यशोधरा का मान कितना द्वन्द्वपूर्ण बन गया होगा, इसका अनुमान कवि की समर्थ वाणी शक्ति के साथ करा देती है :

रे मन, आज परीक्षा तेरी ।
विनती करती हूँ मैं तुझसे, बात न बिगड़े मेरी ।

अब तक जो तेरा निग्रह था,
बस अभाव के कारण वह था,
लोभ न था, जब लाभ न यह था,
सुन अब स्वागत-भेरी।
रे मन आज परीक्षा तेरी।

रे मन, अभाव-दशा में किया गया तेरा निर्णय भाव-दशा में लड़खड़ा रहा है। वे आ गये हैं। आज तेरी परीक्षा है। गोपा अपनी इस परीक्षा में सफल हुई, राहुल का दान अपने महानतम भिक्षु को देकर धन्य हुई, प्रिय का सम्मान पाकर अमर हुई। प्रिय के इन शब्दों ने 'क्लेशः फलेन हि पूनर्नवतां विधत्ते' को सार्थक कर दिया होगा :

मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान।
दानिनि, आया स्वयं द्वारा पर यह तवतत्रभवान।

यशोधरा निसन्देह एक उत्कृष्ट कलाकृति है, जिसकी स्वस्थ एवं शुभ नारी-भावना हिन्दी में अपने ढंग की अकेली है, वरेण्य एवं श्रेयष्कर है। यत्र-तत्र आदर्शातिरेक ने सहज भाव-धारा को व्यवधान पहुंचाये हैं, पर कुल मिला कर यह कृति एक श्रेष्ठ स्तर की कृति है। यशोधरा की नारी-भावना भविष्य में भी हिन्दी को प्रभावित करती रहेगी, क्योंकि वह एक सबल तथा स्वस्थ भावना है।

× × × ×

साकेत : कामायनी एवं प्रिय-प्रवास के साथ-साथ आधुनिक काल के प्रमुख प्रबन्ध-काव्यों में गिना जाता है। यों इस युग में प्रबन्ध-काव्यों की भरमार रही है, पर उत्कृष्टता की दृष्टि से अब तक उक्त तीन काव्य ही प्रसिद्ध हैं। दिनकर का कुरुक्षेत्र इतना विचार-प्रधान है कि उसमें काव्य-तत्त्व दब गया है, उनका रश्मि-रथी अवश्य एक उत्कृष्ट काव्य है, जो उक्त तीन काव्यों की परम्परा को आगे भले ही न बढ़ा पाया हो, पर आधुनिक प्रबन्ध-परम्परा को अपनी परिधि में ही सही, गतिशील अवश्य कर सका है। नवीन का बृहदाकार प्रबन्ध-काव्य ऊर्मिला हिन्दी की एक अमर रचना है, पर उसमें कथातत्त्व की इतनी न्यूनता है कि वह एक भाव-प्रबन्ध मात्र ही रह गया है। सच पूछा जाय, तो कथा के प्रति भयभीत आधुनिक काल के अधिकांश उत्कृष्ट प्रबन्ध भाव-प्रबन्ध ही हैं, समग्र रूपों में प्रबन्ध नहीं। मीरां, प्रेमचन्द, पार्वती, दमयंती, गांधी प्रभृति पर रचे गये बृहत् प्रबन्ध अच्छे तो हैं, पर वे खड़ी-बोली की प्रबन्ध-परम्परा को कोई नूतन शक्ति नहीं प्रदान करते। ठीक भी है, प्रत्येक प्रबन्ध-काव्य से हम यह आशा नहीं कर सकते, न

करना उचित ही है, कि वह हमारी प्रबन्ध-परम्परा को आगे बढ़ाये ही। संक्षेप में, इस काल की सर्वश्रेष्ठ कला-कृति कामायनी तथा इस काल की सबसे अधिक भाव-विगलित-रचना प्रिया-प्रवास के साथ-साथ साकेत अभी अब अपना अप्रतिम स्थान सुरक्षित किये हुये है।

सामान्यतः कामायनी, प्रियप्रवास तथा साकेत इत्यादि ग्रंथों के साथ विशेषण के रूप में महाकाव्य शब्द का प्रयोग होता है। महाकाव्य संस्कृति-विशेष का व्याख्याता होता है, विश्व-कोष होता है, किसी जाति-विशेष के सुख-दुःख, उत्थान-पतन तथा उसके जीवन-संग्राम का विवेचक होता है, जिसमें चिरन्तन मानवत्व के लिये चिरन्तन भाव-विभूति या आदर्श-विधान का अक्षय भण्डार संनिहित होता है। इस दृष्टि से सम्पन्न भारतीय वाङ्मय में रामायण, महाभारत तथा रामचरितमानस, ये तीन महाकाव्य विद्यमान हैं। संसार के किसी भी एक राष्ट्र के साहित्य में इस स्तर के तीन महाकाव्य नहीं हैं। स्पष्ट है कि महाकाव्यों की दृष्टि से हमारा राष्ट्र संसार का सर्वाधिक सम्पन्न राष्ट्र है।

किन्तु आचार्यों ने वर्णन-वैविध्य तथा आकार के विधान पर आश्रित महाकाव्य की जो परिभाषायें प्रस्तुत की हैं, वे इतर श्रेणी के रघुवंशम्, कुमारसंभवम् किरात, नैषध, शिशुपालवध प्रभृति उत्कृष्ट कृतियों को महाकाव्य का विशेषण प्रदान कर चुकी हैं। इस दृष्टि से कामायनी, प्रियप्रवास तथा साकेत को भी महाकाव्य कहा जा सकता है। हमारी समझ में कामायनी कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष या माघ के महाकाव्यों से कम उत्कृष्ट या कम महान रचना नहीं है। इस दृष्टि से उसे तथा उसके अनन्तर उत्तम श्रेणी के अन्य प्रबन्धों को महाकाव्य कहा जा सकता है। पर यह स्पष्ट है कि महाकाव्य दो प्रकार के होते हैं —

(१) राष्ट्रीय महाकाव्य, जो समग्र राष्ट्र की संस्कृति के व्याख्याता, उद्गाता तथा यत्र-तत्र निर्माता तक होते हैं, हमारी मानवजाति की अमर सम्पति होते हैं, जैसे रामायण, महाभारत, इलियड, रामचरितमानस इत्यादि।

(२) सामान्य महाकाव्य, जो अपने विशद एवं कलापूर्ण कलेवर में मानव-जीवन के कुछ पहलुओं या राष्ट्रीय जीवन की कतिपय विशिष्टताओं की झांकी दिखाते हैं, तथा साहित्य की उत्कृष्ट विभूति होते हैं, जैसे कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष के महाकाव्य, मेघनाद-वध, पद्मावत, कामायनी, प्रियप्रवास, साकेत इत्यादि।

पर प्रत्येक वृहदाकार प्रबंध इस स्तर का भी नहीं माना जा सकता, जैसा कि आजकल बलात् माना जा रहा है। अतः जो लोग आधुनिक महाकाव्यों की

मानस इत्यादि से तुलना करते हैं, वह मूलाधार की दृष्टि से अस्पष्ट रह जाती है। साथ ही ऐसे उत्कृष्ट काव्यों का एकार्थ काव्य[1] कहा जाना भी समीचीन नहीं हैं। वे अपने बाल तथा आभ्यंतर के अनुरूप अपने स्तर के महाकाव्य हैं, ऐसा मानना न्यायसंगत ही है। हम श्री नवीन जी के इस कथन से भी सहमत नहीं हैं कि इधर सहस्त्राब्दियों से प्रथम श्रेणी के वृहद्दाकार महाकाव्य रचे ही नहीं गये।[2] शाहनामा, रामचरितमानस तथा पेंराडाइज लास्ट प्रभृति रचनायें निस्संदेह प्रथम श्रेणी के महाकाव्यों की पंक्ति में आने वाली रचनायें हैं। यदि नवीन जी 'सहस्त्राब्दियों' के स्थान पर 'शताब्दियों' लिखते तो बात और थी।

साकेत का महत्व हिन्दी ही क्या, कदाचित भारतीय काव्य में पहली बार काव्य में उपेक्षिताओं को न्यायसंगत स्थान देने के कारण ही है। उर्मिला तथा कैकेयी से संबंधित अंश साकेत से हटा दिये जायें, तो उसका साहित्यिक स्तर तृतीय श्रेणी पर चला जायेगा। वाल्मीकि, कालिदास, तथा तुलसीदास जैसे भारत ही नहीं, विश्व के प्रथम श्रेणी के महाकवियों के द्वारा चमत्कृत अमर वर्णनों को अब शायद ही आगे बढ़ाया जा सके। अतः यदि साकेत के उन वर्णनों में कवि को कोई उल्लेख्य सफलता नहीं मिली, जिनका स्पर्श वाल्मीकि और तुलसीदास कर चुके हैं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं हैं। साकेत की अमरता एवं महत्ता तो अपनी नूतनता, विशेषतः ऊर्मिला के चरित्र की अवतारणा करने में है। ऊर्मिला के चरित्र का सर्वस्व उसका विरह है, जो साकेत का प्राण है,। अतः यदि यह कहा जाये कि साकेत की आत्मा विरह में रमती है, तो यथार्थ होगा।

साकेत के कथानक में ऊर्मिला की स्थिति पर विचार प्रकट करते हुये सुप्रसिद्ध समीक्षक श्री नंददुलारे बाजपेयी लिखते हैं : 'उर्मिला की चरित्र सृष्टि और साकेत के आख्यान में भी वस्तु-विन्यास समरस नहीं है। उर्मिला नवम सर्ग से काव्य के नायिका पद पर आती है और अंत (१२वें सर्ग) तक रहती है। इसके पूर्व के आठ सर्गों का आख्यान राम के नायकत्व को लेकर ही चला है। इस प्रकार साकेत में दो खंडकाव्यों का संग्रथन-सा कर दिया गया है।'[3] हमारी सम्मति में साकेत के पूरे प्रथम सर्ग में उर्मिला की प्रधानता है। काव्य का आरम्भ ऊर्मिला से ही होता है। द्वितीय सर्ग में लक्ष्मण-उर्मिला के भरत-विषयक वार्तालाप की रचना शायद कवि ने इसलिये ही की है कि उर्मिला कथा-क्रम पृथक् न हो जाये। तृतीय सर्ग में उर्मिला का कोई वर्णन नहीं है।

१—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत 'वाङ्मय-विमर्श।

२—उर्मिला, भूमिका।

३—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १८।

आसन्न राम बन-गमन की व्यथा में कवि उर्मिला पर दृष्टिपात नहीं कर पाया। किंतु उसने यह कभी चतुर्थ सर्ग में पूरी कर दी है, जिसमें ऊर्मिला के अंतस् की आसन्न-विरह के प्रति वेदना का हृदय-द्रावक वर्णन बहुत ही सफल हुआ है। पंचम सर्ग में रामबन गमन का वर्णन है। अतः कवि ने इस सर्ग में उर्मिला का समावेश नहीं किया। षष्ठ सर्ग के प्रारंभ में ऊर्मिला की दयनीय दशा का मर्मस्पर्शी चित्र देखने को मिलता है। अन्त में दशरथ स्वर्गलोक-गमन के अनन्तर फिर उसकी एक हल्की-सी झाँकी देखने को मिलती है, जब वह कैकेयी से पूछती है, 'मां, कहाँ गये वे पूज्य पिता ?' सातवें सर्ग में यद्यपि महर्षि वसिष्ठ ने ऊर्मिला की ओर कुछ संकेत अवश्य किया है, फिर भी ऊर्मिला का अस्तित्व नहीं के बराबर ही है। इसका कारण कवि का भरत-शत्रुघ्न की तीव्र व्यथा का सम्यक् चित्रण करने की चेष्टा है, जिसके लिये ऊर्मिला का अध्याहार में रखा जाना आवश्यक है। आठवें सर्ग में सीता के प्रसिद्ध गान 'मेरी कुटिया में राजभवन मनभाया' में ऊर्मिला का बड़ा ही हृदय द्रावक चित्र देखने को मिलता है, जिसे सीता ने देवर के शर की अनी को टाँकी बनाकर निर्मित किया है। कैकेयी के पश्चाताप निवेदन के प्रकरण में भी कवि ने ऊर्मिला को प्रवेश दिलाया है। और इस हृदयहारी सर्ग के अन्त में ऊर्मिला और लक्ष्मण की क्षणिक भेंट तो अमर ही बन चुकी है। सच पूछा जाये, तो साकेत के पुरुषचरित्रों में कोई ऐसा नहीं है कि जिसके साथ 'नायकत्व' शब्द का प्रयोग किया जाये। नायक का अस्तित्व पाश्चात्य प्रभाव के कारण कतिपय महान ग्रन्थों में भी विवाद का विषय बन गया है। पाश्चात्य नाटकों में अनेक महान रचनायें ऐसी हैं, जिनमें नायक पर विवाद है। शेक्सपियर का 'जूलियस सीजर' नाटक इसका उदाहरण है। पाश्चात्य नाटकों तथा काव्यों में नायक की अपेक्षा घटना के चित्रण पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इस स्थिति में नायक पर विवाद होना स्वाभाविक है। मेघनाद-वध भारत में पाश्चात्य साहित्य से सवाधिक प्रभावित प्रबंध है। उसमें भी नायक विवाद का विषय है। साकेत में नायक या नायिका शब्दों के लिये अवकाश बहुत कम है। घटना-क्रम पर अधिक ध्यान देते हुये कवि ने सभी पात्रों का सम्यक् चरित्र-चित्रण किया है। इस स्थिति में यह कहना कि साकेत के प्रारंभिक आठ सर्गों की कथा राम के नायकत्व को लेकर चलती है, ठीक नहीं है। और यह कहना कि ऊर्मिला काव्य के नवम सर्ग से नायिका के रूप में आती है, सर्वथा असंगत है, क्योंकि प्रथम सर्ग में ऊर्मिला की प्रधानता है तथा बाद के सर्गों में भी, कारण विशेष से तृतीय तथा पंचम सर्गों में छोड़ कर उसका उल्लेख किसी न किसी रूप में अवश्य हुआ है। कवि का उद्देश्य साकेत का घटना-क्रम प्रस्तुत करना है, केवल ऊर्मिला का चित्र प्रस्तुत करना नहीं, इस स्थिति में यह कहना कि काव्य में दो खण्डकाव्यों का संग्रथन सा किया गया है, अग्राह्य है, क्योंकि

प्रारंभ से अन्त तक साकेत या साकेत के निवासियों को ही केन्द्रित कर कथा आगे बढ़ी है। नायिका शब्द का प्रयोग ऊर्मिला के साथ भी करने की आवश्यकता नहीं, इसके स्थान पर 'प्रधान पात्रा' शब्द अधिक उपयुक्त है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है। वास्तव में ऊर्मिला ही इस महाकाव्य की प्रधान स्त्री-पात्र है। साकेत में होना भी ऐसा ही चाहिये।[1] कवि को यदि ऊर्मिला पर ही सारा काव्य लिखना होता, तो वह नवीनजी की तरह काव्य का शीर्षक उसके नाम पर ही रख सकता था। ऐसा करने से कथानक सीमित हो जाता। कवि को यह इष्ट न था। फिर प्रत्येक सर्ग में कोई पात्र या पात्रा चित्रित ही हो, तभी वह प्रधान पात्र या पात्रा अथवा नायक या नायिका का गौरव पायेगी, यह कहना भी अब समीचीन नहीं हो सकता। व्यक्ति पर अब कवि उतना केन्द्रित नहीं रह सकता, जितना पहले रहता था। कामायनी में तो शीर्षक ही श्रद्धा से सम्बद्ध है, पर उसके कई सर्गों में श्रद्धा का कोई चित्रण नहीं किया गया है।

स्पष्टतः साकेत की कथा का एक सुनिर्दिष्ट क्रम है तथा ऊर्मिला ही काव्य का प्रमुख आकर्षण है। उसे हटा देने पर काव्य का मूल्यांकन करना कठिन हो जायगा।

साकेत में विरह का क्षेत्र, राम-काव्य से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों के समान ही, अत्यन्त व्यापक है। पर ऊर्मिला से असंबद्ध अधिकांश वर्णन सफल नहीं उतरे। राम, सीता और लक्ष्मण के वन-प्रस्थान की वेला में दशरथ, कौशल्या, सुमित्रा, वशिष्ठ एवं नगर-निवासियों के विरह की वेदनायें तुलसीदास की तुलना में बहुत साधारण स्तर की उतरी हैं। दशरथ-मृत्यु के प्रकरण के लिये भी यही बात कही जा सकती है। सुमंत्र का चित्र भी तुलसीदास की तुलना में बहुत मामूली दर्जे का है। राम के बन जाते समय अवध निवासियों का पथ पर लेट जाना हमारे कुछ आलोचकों की दृष्टि में कवि के युग में प्रचलित सत्याग्रह का प्रभाव है, जिसके लिये कठोर शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। पर प्रिय प्रवास के कृष्ण के मथुरा प्रस्थान के अवसर पर भी कुछ बहुत ऐसा ही दृश्य देखने को मिलता है। प्रियप्रवास के सृजन के समय तक सत्याग्रह एवं असहयोग की आंधी न आयी थी। सच तो यह है कि इस प्रकार की भावुकता मानव का भाव-भरा अन्तस्तल प्रिय-वियोग की वेला में करता ही रहता है। अतः कोई चलता कारण देकर कवि की प्रत्यालोचना करना ऐसे स्थलों पर समीचीन नहीं कहा जा सकता। हां, अन्यत्र जब वैदिक काल में समाजवाद का विवेचन हो, तब बात और है। अपने युग से कवि साधारणतः कहाँ बच पाता है? कामायनी हो या कुरुक्षेत्र, प्रियप्रवास हो या साकेत, ऊर्मिला हो या तुलसीदास अपना युग सब पर

१—विचारधारा, पृष्ठ १८२।

छाया है। वह चातुर्य, जिसमें अपना युग ऐसे रूप में छाता है कि छाने पर भी प्रतीत नहीं होता, चिरंतन मानवत्व में समाहित होकर बोलता है एक बड़ी दूरी तक तुलसी को छोड़ कर हिन्दी में अन्यत्र नहीं दृष्टिगोचर होता। 'एक बड़ी दूरी तक' प्रयोग जान-बूझकर किया गया है, क्योंकि तुलसी के राम भी कभी-कभी मध्यकालीन आभूषण एवं टोपी धारण किये हुए दृष्टिगोचर होते हैं तथा उनके राम-रावण-युद्ध में 'विविध विधि गोला' चलते हैं।

वन की ओर प्रस्थान करने के पूर्व पंचम सर्ग में राम का जन्मभूमि के प्रति व्यथा-निवेदन बड़ा मर्मस्पर्शी है। राम कहाँ जा रहे हैं, यह निश्चित न होने के कारण यह निवेदन और भी आत्म-द्रावक हो गया है।

बाद में बंधु-विरही भरत-शत्रुघ्न के चित्र खींचने में मैथिलीशरण को अच्छी सफलता मिली है, यद्यपि तुलसीदास की तुलना में वह साधारण ही प्रतीत होती है। बात यह है कि तुलसीदास की अलौकिक प्रतिभा ने अपनी अपूर्व साधारणीकरण क्षमता के द्वारा राम-काव्य के प्रख्यात कथानकों और उपाख्यानों को इतना व्यापक रूप प्रदान कर दिया है कि हम उनको तुलसी के धरातल पर देखने के आदी हो गये हैं। रामचंद्रिका इसीलिए विशेष प्रत्यालोचना का विषय बन जाती है। साकेत में कुशल कवि ने सामान्यतः प्रत्यालोचना का अवसर नहीं आने दिया, यह बहुत बड़ी बात है। पर स्तर का अंतर तो बना ही है।

साकेत का महत्त्व परंपरागत राम-चरित का गान करने में नहीं, अपनी नवीनता में है। ऐसी नवीनता का नाम लेते ही ऊर्मिला का चित्र सम्मुख आ खड़ा होता है। उसी का विरह अपने में अनेक परंपरायें तथा नवीनतायें लेकर प्रकट हुआ है।

साकेत की रचना के प्रेरक तत्त्व पर विचार करते हुए किंचित् व्यंग्यपूर्वक "आचार्य शुक्ल लिखते हैं:—साकेत की रचना तो मुख्यतः इस उद्देश्य से हुई कि ऊर्मिला काव्य में उपेक्षिता न रह जाय। पूरे दो सर्ग (९ और १०) उसके वियोग-वर्णन में खप गये हैं।"[१] यह ठीक है कि साकेत की रचना का मूलाधार ऊर्मिला है या यों कहिये, उसका वियोग ही है।

पर इसमें व्यंग्य की कोई बात नहीं। हम साकेत के आवश्यकता से अधिक लम्बे विरह-वर्णन पर ऊंघने की सच्ची शिकायत भले ही करें, पर कोई व्यंग्य नहीं कर सकते। राम-काव्य के चिरकाल से प्रचलित वर्ण्य-विषयों पर अब अधिक नहीं

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५६५।

लिखा जा सकता, और इससे भी बढ़ कर, लिख कर महान सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। हृदय-युग के वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, कंबन और तुलसीदास इत्यादि के सामने मस्तिष्क-युग के आधुनिक कवि यों ही टिक पाने में स्वाभाविक कठिनाई का अनुभव करते हैं, क्योंकि कविता हृदय का व्यापार रही है एवं अभी तक बनी है। पता नहीं वह मस्तिष्क का व्यापार कब बन पायेगी? फिर उक्त कवियों के द्वारा वर्णित विषयों को ही वर्ण्य-विषय बना कर सफलता प्राप्त करना तो असंभव-सा ही है। प्रश्न उठता है—'तब राम-काव्य पर सृजन ही क्यों हो ?' उत्तर है—राम-काव्य में समाहित वर्ण्य-विषय-विस्तार सदसद के संघर्ष तथा जीवन की समग्रता को इतनी कसावट से लेकर चला है कि वह चिरंतन विषय बन चुका है। चिरंतन विषयों पर सृजन सतत हो सकता है और होना भी चाहिये। पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक नैतिक, आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से जो समग्रता रामकाव्य में प्राप्त होती है, वह अन्यत्र नहीं, शायद अन्यत्र सम्भव भी नहीं है। अतः पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सभी दृष्टियों से रामकाव्य की रचना अब भी उपयोगी हो सकती है। पर कवि का लाभ इसी में है कि वह नवीन रस से पुराने पात्र को सज्जित-भरित करे। मेघनाद-वध, साकेत, वैदेही-वनवास, साकेत-संत, ऊर्मिला प्रभृति रचनायें हमारे उक्त कथन का प्रमाण हैं। यदि इन रचनाओं में राम-कथा वाल्मीकि या तुलसी की राम-कथा का रूप ही लेकर उतरती, तो अधिक से अधिक राधेश्याम रामायण का साहित्यिक वैभव से सम्पन्न रूप मात्र बनकर रह जाती, नवीन प्रेरणा तथा भाव-विभूति से चमत्कृत न हो पाती। पता नहीं, कौशल्या, सुमित्रा, दशरथ तथा रावण के अन्तर्द्वन्द, बालि, कुम्भकर्ण तथा हनुमान की वीरता, सुलोचना की वेदना, शवरी तथा शरभङ्ग की विगलित भक्ति-भावना और लक्ष्मण की अनेकमुखी साधना पर कितने छोटे-बड़े प्रबन्ध-काव्य भविष्य में लिखे जायेंगे। रामकाव्य प्रबन्धकारों के लिये वर्ण्य-विषयों का अक्षय कोष है—

राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय सहज, सम्भाव्य है।

महात्मा गांधी ने रामकाव्य में ऊर्मिला के समावेश पर मैथिलीशरण को जो कुछ लिखा था, वह उल्लेख्य है। गाँधीजी ने यह लिख कर कि अपने प्रमुख वर्ण्य विषय की रक्षा के लिये तुलसीदास इत्यादि ने ऊर्मिला को अध्याहार में रख कर कवि-कौशल का परिचय दिया है, अपने गंभीर साहित्यानुशीलन का परिचय दिया है। पर उनकी यह आशा कि साकेत मानस के रूप में होता, कवि के हित में न होती, इसका विवेचन हम कर आये हैं। यरवदा सेंट्रल जेल से ५ अप्रैल, १९३२ ई० को लिखे गये पत्र में गाँधी जी ने लिखा है ....'तुलसीदास ने ऊर्मिला के बारे में बहुत

कुछ नहीं कहा है, यह दोष माना गया है। मैंने इस अभाव को दोष दृष्टि से नहीं देखा। मुझे उसमें कवि की कला प्रतीत हुई है। मानस की रचना ऐसी है कि ऊर्मिला-जैसे योग्य पात्र का उल्लेख अध्याहार में रखा गया है, और उसी में काव्य का और उन पात्रों का महत्त्व है। ऊर्मिला इत्यादि के गुणों का वर्णन सीता के गुण-विशेष बताने के लिये ही आ सकता था। परन्तु ऊर्मिला के गुण सीता से कम न थे। जसी सीता, वैसी ही उसकी भगनियां। मानस एक धर्मग्रन्थ है। प्रत्येक पृष्ठ में और प्रत्येक वाक्य में सीताराम का ही जप जपाया है। साकेत में भी मैं वही चीज देखना चाहता था। इसमें कुछ भंग उपरोक्त कारण से हुआ।[१] भक्ति मध्य-युग की राष्ट्रीयता थी। धर्म आधुनिक काल के पूर्व तक विश्व का मानवत्व बना बैठा रहा है। अब वह युग नहीं रहा। अतः गाँधी जी का साकेत में मानस जैसी चीज पाने की आशा करना बहुत उपयुक्त नहीं है। हाँ, यहाँ पर भी उनकी धर्म-निष्ठा बोलती है, पर यह और बात है। गुजराती के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार कन्हैयालाल मणिकलाल मुन्शी ने जब अपने एक प्रारम्भिक उपन्यास में भोज के चाचा मुंज का स्वतन्त्र, एवं अभिनव दृष्टि से मनोवैज्ञानिक चित्रण किया था, तब गाँधी जी संतुष्ट न हुये थे। पर गाँधी जी को वह महान आत्मा प्राप्त हुई थी, जो अपना प्रकाश फैला कर भी दूसरों की सुनना जानती थी। मुन्शी पर उनकी कृपा बनी ही रही और मैथिलीशरण के द्वारा उक्त वाक्यों के उत्तर में लिखे गये वृहत् पत्र का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया :

भाई मैथिलीशरण जी,

आपका पत्र मिल गया। यह पत्र पत्र नहीं है, परन्तु काव्य है। आपने मुझ को हरा दिया है। मैं आपकी बात को समझ गया हूं और उस दृष्टि से ऊर्मिला को स्थान है। बात यह है कि मुझको कुछ भी कहने का अधिकार नहीं था।

हमारे शास्त्रों का मेरा ज्ञान यत्किंचित् है, साहित्य का उससे भी कम, भाषा का वैसा ही। यह सब अपनी त्रुटियों को जानते हुये भी मैंने, जो असर मेरे दिल पर हुआ, बता दिया। मित्रवर्ग मेरी अपूर्णता जानते हैं। तो भी, क्योंकि मैं सत्य का पुजारी हूं, और मेरा अभिप्राय कैसा भी हो, चाहते हैं। ऐसे प्रेम के वश होकर मैं ने आपको अभिप्राय भेज दिया था। उसके उत्तर में आपके सुन्दर पत्र की, काव्य की प्रतीक्षा कभी नहीं कर सकता था। इसे मैं रखूँगा, दुबारा पढ़ूँगा। और अब आपने जो दृष्टि दी है, उस दृष्टि से साकेत फिर पढ़ना होगा।

१—श्री कन्हैयालाल सहल कृत 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव' में परिशिष्ट, पृष्ठ १३६-४०।

साकेत एवं मैथिलीशरण के अननुकूल आलोचकों ने गाँधी जी के प्रथम पत्र का तो बारंबार उल्लेख किया है, पर मैथिलीशरण के पत्र तथा प्रातःस्मरणीय गाँधीजी के द्वितीय पत्र या अद्वितीय उत्तर का नहीं। पूर्वग्रह महान को भी अपने अनुकूल बना कर ही मानता है। संक्षेप में, साकेत में ऊर्मिला की स्थिति तथा उसके विरह से ही काव्य का महत्त्व है।

ऊर्मिला का वियोग साकेत के चतुर्थ सर्ग से प्रारम्भ होता है। उसके आसन्न-वियोग का वर्णन कवि ने बड़े वैदग्ध्य के साथ किया है। ऊर्मिला का प्रवत्स्यत्पतिका-रूप बड़ा ही करुण है। उस पर अचानक विपत्ति पड़ी है। अभी रात्रि में पति के संभाषणों का नारी के लिये संसार का सबसे बड़ा सुख सहसा उस नववधू के लिये चौदह वर्ष के लम्बे समय के प्रिय-वियोग के सबसे बड़े दुःख में बदल गया है। वह अधिक नहीं बोलती, नहीं बोल सकती। पर---

उठी न लक्ष्मण की आँखें, जकड़ी रही पलक-पाँखें।
किन्तु कल्पना घटी नहीं, उदित ऊर्मिला हटी नहीं।
खड़ी हुई हृदयस्थल में, पूछ रही थी पल पल में
मैं क्या करूँ? चलूं कि रहूँ? हाय! और क्या आज कहूँ?
आः! कितना सकरुण मुख था, आर्द्र-सरोज-अरुण मुख था।
लक्ष्मण ने सोचा कि जहाँ, कैसे कहूँ चलो कि रहो।
यदि तुम भी प्रस्तुत होगी, तो संकोच-सोच दोगी।
प्रभुवर बाधा पावेंगे, छोड़ मुझे भी जावेंगे।
नहीं, नहीं यह बात न हो, रहो, रहो, हे प्रिये! रहो।
यह भी मेरे लिये सहो, और अधिक क्या कहो, कहो?
लक्ष्मण हुए वियोगजयी, और ऊर्मिला प्रेममयी।
वह भी सब कुछ जान गई, विवश भाव से मान गई।
श्री सीता के कंधे पर, आँसू बरस पड़े झर-झर।
पहन तरल-तर हीरे से, कहा उन्होंने धीरे से -
'बहन धैर्य का अवसर है' वह बोली 'अब ईश्वर है।'

ऊपर की पंक्तियों में भाषा भाव की तीव्र शक्ति तथा गम्भीर भार को सम्यक् रूप से बहन नहीं कर सकी, छन्द भी भाव के बहुत अनुकूल नहीं है, तथापि एक चित्र-सा मानस चक्षुओं के सामने खिच जाता है। लक्ष्मण की द्विविधा, उनका मानस-निवेदन और ऊर्मिला का मूक उत्तर सभी कुछ बड़ा मर्मभेदक है। सारी क्रिया नारी-सुलभ वेदना से विगलित तीन शब्दों में प्रतिक्रिया बनकर निकल पड़ी है---अब ईश्वर है। सच भी है, ईश्वर की कल्पना मनुष्य ने यों ही नहीं की।

विपत्ति में दृश्य मानव का स्वार्थ नहीं, अदृश्य ईश्वर का परमार्थ ही काम आता है। तीन शब्द पर्याप्त हैं।

वन-गमन के अवसर पर ऊर्मिला के द्वन्द्व का चित्रण कवि और भी मार्मिक कर सकता था। पर उसने जानबूझ कर ऐसा नहीं किया। राम-काव्य की मर्यादायें सीमा में ही सन्तुष्ट रहती हैं। इतना ही काफी है—

'कहा ऊर्मिला ने हे मन ! तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन।' प्रिय ने सेवा-पथ अपनाया है। मैं साथ जाने का हठ करूँगी, तो एक तो ज्येष्ठ राम प्रस्तुत न होंगे दूसरे यदि हुये भी, तो मेरे प्रिय का सेवा-धर्म गार्हस्थ्य-धर्म में परिणित हो जायेगा।

ऊर्मिला का चुप या चुप-सी रहना बड़ा सार्थक एवं पूर्ण है। उस पर वह स्वयं नहीं, सीता बोलती हैं। सीता कितना बड़ा सत्य प्रकट करती है।

सास-ससुर की स्नेहलता बहन ऊर्मिला महाव्रता,
सिद्ध करेगी वही यहाँ, जो मैं भी कर सकी कहाँ ?

ऊर्मिला के लिए इससे बड़ी श्रद्धांजलि और क्या हो सकती है। ऊर्मिला के हतचेत हो गिर जाने पर व्यंजन करती हुई सीता फिर कहती है—

—मर्मभेदक शब्द।

"आज भाग्य जो था मेरा, वह भी हुआ न हा ! तेरा।" उसके प्रति सीता, कौशल्या, सुमित्रा, लक्ष्मण, राम सभी को तीव्रतम सहानुभूति है। यदि वह स्वयं बोलकर अपनी स्थिति स्पष्ट करती, तो इस अमूल्य सहानुभूति के लिये अवकाश कम रह जाता अथवा वह उतनी मूल्यवान न हो पाती। इस प्रसंग में साकेत के विद्वान आलोचक डा० नगेन्द्र ने गम्भीर तथ्य प्रकट किया है कवि ने दूसरों की कातरता के द्वारा वियोगिनी की कातरता की अभिव्यक्ति की है। उक्त भावनायें ऊर्मिला की दयनीयता को पुष्ट करती हैं। वह सबसे अधिक निराधार है। परन्तु यदि वह स्वयं ही उक्त भावनाओं को शब्दों में व्यक्त करती, तो वे ईर्ष्या का रूप धारण कर लेतीं इसलिये कवि ने राम और सीता के द्वारा उनकी ओर संकेत कराया है। यह उसका कौशल है। इससे नायिका की गौरव-गरिमा की संरक्षा हुई है।[1]

छठवें सर्ग में ऊर्मिला का चित्र एक ऐसी विरहिणी का चित्र है, जिसका जीवन-सर्वस्व चौदह वर्ष तक देखने को भी नहीं मिल सकता। आसन्न-वियोग की

१—साकेत एक अध्ययन, पृष्ठ ४३।

वेदना मूक रहती है, क्योंकि तब प्रस्तुत वस्तु अप्रस्तुत बनने वाली होती है। किन्तु प्रिय के प्रवास की स्थिति में पूर्ण वियोग की वेदना मुखर रहती है, क्योंकि तब अप्रस्तुत ही अप्रस्तुत का बोलबाला होता है। सबसे बड़ा देखने वाला नहीं है, तब बोले बिना कैसे रहा जा सकता है। यही कारण है कि प्रवत्स्यत्पतिकायें रोती अधिक हैं, प्रोषित-पतिकायें बिसूरती और बोलती अधिक हैं। ऊर्मिला का—

'नव वय में ही विश्लेष हुआ, यौवन में ही यति-वेष हुआ।' पर उसकी विकलता के पीछे उच्चादर्श की अद्वितीय शक्ति विद्यमान है—

आने का दिन है दूर सही, पर है, मुझको अवलंब यही।
आराध्य युग्म के सोने पर, निस्तब्ध निशा के होने पर।
तुम याद करोगे मुझे कभी, तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।

वियोग की सबसे बड़ी शक्ति है प्रिय के प्रेम में विश्वास। विरही साकार प्रिय से मिल नहीं सकता। पर सूक्ष्मतः वह स्मृति में प्रिय से स्वयं तो मिल ही लेता है, यह चाहता है कि वह भी स्मृति में उससे मिले। एक स्मृति पर्याप्त है। यहाँ वह स्मृति कर्त्तव्य की शक्ति से समन्वित होने के कारण बड़ी ही पवित्र है।

साकेत का आठवाँ सर्ग अपने अग्रगामी नवम् सर्ग के साथ-साथ काव्य का सर्वश्रेष्ठ सर्ग है। हम नवम सर्ग का कला पर मुग्ध होते हैं, आठवें सर्ग की अनुभूति प्रवणता पर रो-रो पड़ते हैं। रस की व्यावहारिक दृष्टि से यह सर्ग अद्वितीय है। चित्रकूट-प्रसङ्ग, विशेषत: कैकेयी के पश्चाताप के आँसुओं से पूर्ण चित्र, समग्र राम-काव्य की एक स्थायी, नवीन तथा महान सम्पत्ति है। इस मनोहारी सर्ग में ऊर्मिला की तीन हल्की, पर हृदय वेधक झाँकियाँ देखने को मिलती हैं।

सीता अपनी पर्णकुटी के सामने की बाटिका सींचती हुई गा रही हैं, वे पूर्ण प्रफुल्ल हैं। पर सहसा उन्हें ऊर्मिला का ध्यान आ जाता है। जैसे नवम सर्ग की भूमिका के कुछ प्रारम्भिक शब्द हों—

देवर के शर की अनी बना कर टाँकी,
मैंने अनुजा की एक मूर्ति है आँकी।
आँसू नयनों में, हँसी बदन पर बाकी,
काँटे समेटती, फूल छींटती झाँकी।
निज मन्दिर उसने यही कुटीर बनाया।
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

"आँसू नयनों में हँसी बदन पर बाँकी" यह सात्विक विरह का मार्मिक चित्र है, जो ऊर्मिला पर बहुत ही ठीक बैठता है, क्योंकि उसने अपने प्रियतम को सेवा-धर्म-पालनार्थ जाने से रोका तो दूर, टोका भी नहीं है। 'कांटे समेटती 'फूल छीटती झाँकी' ऊर्मिला का पूर्ण स्पष्टीकरण है। उसने फूलों से नहीं, कांटों को सहेजने का कार्य ही अपनाया है।

मैथिलीशरण साकेत में ऊर्मिला को मौका मिलते ही स्थान देते हैं, यह उचित ही है। उनकी सीता अपनी अनुजा का सबसे अधिक ध्यान रखती हैं। 'पंचवटी' में भी वे उसकी स्मृति पर आँसू बहाती हैं। पुरुषार्थ के वक्ता लक्ष्मण के प्रति उनका ललित परिहास ऊर्मिला की स्मृति से विगलित होकर मूक बन बैठता है :

'रहो, रहो, पुरुषार्थ यही है, - 'पत्नी तक न साथ लाये;
कहते कहते वैदेही के नेत्र प्रेम से भर आये।

कैकेयी आपना पश्चाताप प्रकट कर रही है, राम से लौटने का प्रबलतम अनुरोध कर रही है। राम इस आज्ञा को मानने के लिये प्रस्तुत हैं, पर पहले इससे पूर्व की आज्ञा बनवास का पालन करने के बाद, क्योंकि जिस सत्य की रक्षा पर पिता ने प्राण-त्याग किया, उसका पूर्ण होना आवश्यक है। कैकेयी राम से कहती है :

पर मुझको तो परितोष नहीं है इससे,
हा ! तब तक मैं क्या कहूँ सुनूँगी किससे।

पर उत्तर उसे ऊर्मिला से मिलता है :

जीती है अब भी अंब, ऊर्मिला बेटी,
इन चरणों की चिरकाल रहूँ मैं चेटी।

यहाँ बेटी-चेटी का अंत्यानुप्रास भले ही खटके, पर ऊर्मिला की शांत वेदना प्रभावशाली है, इसमें संदेह नहीं। कैकेयी और क्या कहती ?—

रानी, तूने, तो रुला दिया पहले ही,
यह कह कांटों पर सुला दिया पहले ही,
आ मेरी सबसे अधिक दु:खिनी, आ जा,
पिस मुझसे चंदनलता मुझी पर छा जा।

ऊर्मिला की व्यथा पर कैकेयी को छोड़ कर साकेत के अन्य सभी प्रमुख चरित्र आँसू बहा चुके हैं या दुःख प्रकट कर चुके हैं, वन-प्रस्थान के अवसर पर ही। पर कवि ने उस पर कैकेयी के आंसू तब न बहा कर, जब बहाये हैं, यह बहुत उपयुक्त है। उस समय कैकेयी भरत को राजपद दिलाने के लिये इतनी उतावली थी कि उसे भूत, वर्तमान और भविष्य कुछ भी नहीं सूझ रहा था। तब वह चाहती तो सब कुछ नहीं, तो बहुत कुछ कर सकती थी। पर तब वह चाहती कैसे ? उसकी भावना में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन तो तब आया, जब पति की मृत्यु हुई तथा पुत्र की वेदना देखने को मिली।

अतः उसके आंसू यदि आठवें सर्ग में बहे, तो ठीक ही बहे। ऊर्मिला के चरित्र का राम, सीता और लक्ष्मण से लेकर कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी, भरत, मांडवी, शत्रुघ्न एवं श्रुतिकीर्ति तक किसी-न-किसी रूप में पड़ने वाला प्रभाव गुप्तजी के कौशल का सूचक है, जो उसे अपने-आप काव्य की प्रमुख पात्रा बना देता है।

आठवें सर्ग के अंत में लक्ष्मण और ऊर्मिला की एक घड़ी से भी कम की मुलाकात बड़ी हृदय-बेधक तथा करुण है। पारिवारिक जीवन के कुशल शिल्पी मैथिलीशरण की सीता दोने लाने के बहाने से लक्ष्मण को कुटीर के अन्दर भेजती है। यह बहाना मर्मस्पर्शी है, जो भारतीय परिवार की मर्यादा और साथ ही साथ, सरल तरलता से भी परिपूर्ण है। कुटीर के अन्दर जाने पर लक्ष्मण को कोणस्थ ऊर्मिला-रेखा दीख पड़ी। विरह-जर्जर ऊर्मिला के स्थान पर ऊर्मिला-रेखा का प्रयोग बड़ा ही गंभीर है। ऊर्मिला नहीं, ऊर्मिला रेखा ! कवि स्पष्ट करता है :

> यह काया है या शेष उसी की छाया,
> क्षण भर उनकी कुछ नहीं समझ में आया।

वे इसी द्विविधा में पड़े हैं, किंकर्त्तव्यविमूढ़-दशा में पड़े हैं कि सुनाई पड़ता है :

> मेरे उपवन के हरिण आज बन चारी,
> मैं बांध न लूँगी तुम्हे, तजो भय भारी।

इन दो पंक्तियों की व्याख्यायें हमने पढ़ीं हैं, पर ये दो पंक्तियाँ स्वयं ही अपनी व्याख्या हैं, अन्य पंक्तियां, चाहे वे स्वयं मैथिलीशरण की ही लिखी हों, इनकी व्याख्या नहीं कर पायेंगी।

इस आश्वासन का लक्ष्मण क्या उत्तर दे सकते थे ? वे ठीक ही ऊर्मिला के चरणों पर गिर पड़े। और ऊर्मिला को इससे अधिक वे वनवासी दे ही क्या

सकते थे, नहीं, इससे अधिक एक श्रेष्ठ पुरुष अपनी महान नारी को दे ही क्या सकता है ?

हिन्दी में अब तक सनातनी ढंग की मध्यकालीन कलेवर-संपन्न आलोचना होती रहती है। कतिपय विवेचक और पाठक लिखित या मौखिक रूप से लक्ष्मण के ऊर्मिला के पैरों पर गिरने का प्रत्याख्यान करते हैं। निवेदन है कि काव्य में जब वास्तविक जीवन के ही समान पत्नी पति के चरणों पर वारंबार गिरती है, तब यदि पति गिरता है तो क्या बुरा करता है ? क्या कालिदास के शिव पार्वती से अपने को उनका तपः-क्रीत दास कह कर अपमानित होते हैं ?

क्या भास के उदयन अपनी प्रिया वासवदत्ता पर पूरी आस्था प्रकट करके, समग्र नम्रता प्रदर्शित करके हीन बन जाता है ? क्या पत्नी की ऊँचाई देखकर पति का उसके चरण पकड़ लेना जीवन की दृष्टि से अस्वाभाविक या हेय है ? स्पष्ट है कि ऐसी प्रत्यालोचना पोंगापंथी प्रत्यालोचना तो है ही, सांस्कृतिक दृष्टि से भी अध-कचरी है।

लक्ष्मण पैरों पर गिरने के बाद जो कहते हैं, वही उस परिस्थिति में वे कह भी सकते थे, कुछ और कहते तो उपयुक्त होता या नहीं, कौन कह सकता है ? —

वन में तनिक तपस्या करके
बनने दो मुझ को निज योग्य।
भाभी की भगिनी, तुम मेरे
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।

तुम केवल उपभोग्य नहीं, साधना का विषय भी हो। बन में तप कर अपने योग्य बन लेने दो, लक्ष्मण इससे अधिक ऊर्मिला से क्या कह सकते थे ? क्या कहा जा सकता है ? यहाँ 'भाभी की भगिनी' के बिना भी काम चल सकता था।

इतनी बड़ी सम्पत्ति पा कर ऊर्मिला का यह कहना सर्वथा समीचीन है :

हा स्वामी कहना था क्या-क्या
कह न सकी, कर्मों का दोष।
पर जिसमें संतोष तुम्हें हो,
मुझे उसी में है संतोष।

बहुत-कुछ कहने के लिये सोचा था, पर तुमने अवकाश ही कहाँ दिया। कुछ कहने की स्थिति कहाँ आने दी।

साकेत के आठवें सर्ग की विरहिणी ऊर्मिला से संबंधित पद, विशेषतः अन्तिम पद, मानों उसके नवम सर्ग की भूमिका हैं। सारे नवम सर्ग के वर्ण्य-विषयों की कुंजी यहीं पर है। ऊर्मिला के विरह में उच्चादर्श तथा विगलित वेदना का जो समन्वय नवम सर्ग में हुआ है, उसका संकेत भी यहाँ मिल जाता है।

साकेत का नवम सर्ग उसकी महत्ता का प्रथम प्रतीक है। इस सर्ग में छंद-वैविध्य रामचंद्रिका का स्मरण कराता है। पर यह स्मरण स्मरण मात्र है, और कुछ नहीं। रामचंद्रिका में छंद-वैविध्य आचार्यत्व-मूलक है, साकेत के नवम सर्ग में भावना-मूलक। विरही हृदय की नाना वेदनाओं को एक ही छंद में प्रकट करने का बन्धन इस युग में भी माना ही जाये, यह आवश्यक नहीं। पर हमारी समझ में छंद-वैविध्य का एक बहुत बड़ा कारण यह है कि नवम सर्ग के पदों की रचना भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न रूपों में हुई है और बाद में वे एक साथ जमा दिये गये हैं। नवम सर्ग का छंद-वैविध्य भाव के साधारणीकरण में व्याघात नहीं डालता, प्रत्युत रोचकता उत्पन्न करता है। अतः इसे रामचंद्रिका के समान छंदों का अजायबघर न कह कर नाना सुमनों की एक महामाला कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। साकेत के नवम सर्ग के अधिकारी अध्येता, हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक श्री कन्हैयालाल सहल ने ठीक ही लिखा है :— साहित्य-दर्पण में कहा गया है 'नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।' अर्थात् महाकाव्य के किसी एक सर्ग में कहीं-कहीं अनेक छंद भी मिलते हैं। साकेत के नवम सर्ग में भी कवि ने अनेक छंदों का प्रयोग किया है। विविध छंदों में ऊर्मिला के विरहोद्गारों का चित्रण करना एक मनोवैज्ञानिक उद्भावना है, जिसके लिये कवि की प्रशंसा की जा सकती है। संभवतः कथा-प्रवाह को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये आचार्यों ने एक सर्ग में एक ही छंद के प्रयोग का विधान किया होगा, किन्तु विरह-वर्णन में कथा-प्रवाह का प्रश्न नहीं उठता, वहाँ तो विरह की अभिव्यक्ति अपने लिये कितने टेढ़े-सीधे प्रकार ढूँढ सकती है, इसी की ओर कवि की दृष्टि जाती है। अनेक रूपमयी विरह-विह्वलता को अनेक वृत्तमयी बना देना कवि के कौशल का परिचायक है। दूसरी बात यह है कि वृत्तों की विविधता के कारण पाठक का जी भी नहीं ऊबता। इस सर्ग में कहीं घनाक्षरी की छटा है तो कहीं सवैया अपना सौंदर्य लूटा रहा है, संस्कृत के सुललित वर्णिक वृत्त हैं, तो कहीं सुन्दर दोहे बिखरे पड़े हैं।[1] इस सर्ग के वर्ण वृत्त तुकांत रूप में आने के कारण हिन्दी की रुचि में पूर्णतया खप गये हैं। हरिऔध अनूप, रामनरेश त्रिपाठी इत्यादि कवियों ने अपने प्रबन्धों तथा मुक्तक काव्यों में वर्ण

१—साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृष्ठ १०-११।

वृत्तों का प्रयोग अतुकांत रूप में किया है। इस प्रयोग में वे सफल तो हुये हैं, पर उनकी छंद-योजना हिन्दी में पूरी तरह खपती नहीं दिखायी पड़तीं। कारण स्पष्ट है, तुक हिन्दी-कविता का प्रमुख धर्म है। कम-से-कम अभी तक तो तुक का राज्य रहा ही है। गुप्त जी ने वर्ण वृत्तों को तुकांत रूप प्रदान कर उन्हें हिन्दी की छंद-योजना में पूरी तरह खपा दिया है। केशवदास के बाद यह अपनी तरह का अनूठा सफल प्रयास है।

नवम सर्ग कथात्मक न होकर प्रगीतात्मक है। यों तो दशम सर्ग में भी ऊर्मिला के विरह का ही वर्णन हुआ है, पर वह कथात्मक रूप में है। इस सर्ग की सम्यक् रूप से समीक्षा करते हुये सुप्रसिद्ध विद्वान डा० धीरेन्द्र वर्मा लिखते हैं : नवम सर्ग में आकर कथा रुक जाती है। महाकाव्य का साधारण रूप भी बदल जाता है। इस गीतकाव्यात्मक वृहत् सर्ग में उर्मिला के हृदय का चित्रण अनेक प्रकार से कवि ने किया है—एक नया गोपिका-विरह सामने आ जाता है। इस सर्ग में साधारण छंदोबद्ध रचना के साथ-साथ अनेक गीत जड़ दिये गये हैं, जिनमें से अधिकांश अत्यन्त सुन्दर हैं। एक साधारण महाकाव्य की रचना की दृष्टि से यह सर्ग भले ही उपयुक्त न समझा जाय, किन्तु काव्य-कला की दृष्टि से इस सर्ग की रचना अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक है। यह सर्ग कदाचित् एक काल की रचना नहीं है। इसे एक नन्हा-सा सूर-सागर समझना चाहिये।"[1]

सच पूछा जाय तो हिन्दी-काव्य का विकास संस्कृत के नियमों में आबद्ध रह कर नहीं हुआ। तुलसी ने अपने मानस में एक कांड के भीतर अनेकानेक छंदों की आयोजना की है, जिससे काव्य-श्री संवर्द्धित ही हुई है। रामचन्द्रिका, उपलब्ध रूप में पृथ्वीराजरासो तथा प्रियप्रवास भी 'एक छंद' के बंधन का सिद्धांत मान कर नहीं बढ़े। पद्मावत अवश्य चौपाई तथा दोहा में ही रचा गया है। अतः हिन्दी-प्रबन्ध परंपरा की दृष्टि से भी साकेत के नवम सर्ग की अनेकमुखी छंद-योजना अनुकूल ही है। जहां तक कथा का सम्बन्ध है, यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सर्ग में कथा हो ही। मानस के उत्तरकांड में कथा की अपेक्षा तुलसी ने अपने भक्ति-सिद्धांत का प्रतिपादन ही अधिक किया है और कामायनी के अधिकांश सर्ग कथात्मक न होकर मनोभावों के द्वन्द्व के विश्लेषक हैं।

प्राचीन और नवीन का साकेत के नवम सर्ग में जो सुन्दर समन्वय हुआ है, वह अनूठा है। भोजन अच्छा न लगना, क्षीर इत्यादि लौटा देना, कृशता, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता, अश्रुपात इत्यादि अनेक वस्तुयें परम्परागत हैं। पर यह जीवन

१—विचारधारा, पृष्ठ १८२-८३।

भी तो बहुत दूर तक परंपरागत है, वियोग में भूख कम लगती है, अच्छे-अच्छे व्यंजन नहीं भाते, शरीर दुर्बल हो जाता है। वियोग के ये सहजात अंग प्राचीन और नवीन की छान-बीन से परे हैं। अब रहा षड्ऋतु वर्णन, जिससे नवीनतावादी रुष्ट हैं। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी हरिऔध के साथ मैथिलीशरण के भी परम्परा प्रेम पर अप्रसन्न हैं : "पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय जैसे कवि भी अपने प्रियप्रवास में पवन-दूत की योजना करते हैं, जो मेघदूत की छाया लिये हुये हैं, और मैथिलीशरण जी साकेत के नवम सर्ग में भी ऋतु-वर्णन की पुरानी परिपाटी और पुराने भाव संकेतों को नहीं छोड़ पाये हैं।"[1]

हमारी समझ में पुराने से आधुनिक युग का शायद ही कोई कवि अप्रभावित रहा होगा। रत्नाकर तो शुद्ध परम्परावादी थे ही, हरिऔध भी कम न थे। प्रसाद के आंसू का नखशिख-वर्णन तथा श्रद्धा का रूप वर्णन परम्परानुमोदित है। और पुराने से इतना डर क्यों हो ? पुराना आखिर बेकार ही हो, ऐसा तो नहीं है। हां, हम उसकी नकल ही न उतारें, उसमें नवीन जीवन-संचार करते चलें, यह आवश्यक है। सभी महाकवि ऐसा करते हैं। मैथिलीशरण ने भी ऋतु-वर्णन के प्रसंग में यही किया है। पुराने ऋतु-वर्णन में मौसम के परिवर्तन के आधार पर विरहिणी के शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों का अत्युक्तिपूर्ण चित्रण किया जा रहा है। मैथिलीशरण ने ऐसा बहुत कम किया है ? बिल्कुल नहीं क्यों नहीं किया ? उत्तर स्पष्ट है, ऋतु-परिवर्तन विरही के शरीर तथा मनोजगत पर प्रभाव अवश्य डालता है, अतः उसका उल्लेख सर्वथा स्वाभाविक है। साकेत का नवम सर्ग आखिर कोई प्रगीत या गीत काव्य तो है नहीं, वह एक प्रबन्ध काव्य का भाग है, जो गीतकाव्यात्मक होने पर भी एक कथा में बंधा है, चौदह वर्षों की वियोग-व्यथा का चित्र प्रस्तुत कर रहा है। उसमें ऐसे चित्र आना अस्वाभात्रकि कतई नहीं है। फिर मैथिलीशरण का ध्यान ऋतुगत शारीरिक परिवर्तनों की अपेक्षा ऊर्मिला के मानसि क परिवर्तनों की ओर अधिक है। वह प्रत्येक ऋतु के सौंदर्य का अवलोकन कर जन-मङ्गल की कामना करती है। साथ ही उसे ऋतु-परिवर्तन के साथ ही अपने प्रिय का आभास भी मिलता है, जो ऋतु-परिवर्तन को उसके हित में भी सार्थक बना देता है। एक उदाहरण दे देना उचित होगा। शरद ऋतु भारत की सबसे महान ऋतु है। वेदों में इसी ऋतु को सर्वाधिक सम्मान मिला है। आज-कल बसन्त का अधिक सम्मान है, पर वैदिक ऋषि जीवेम शरदः शतम्, पश्येम शरदः शतम् ही बोलते थे। हमारे महान पर्वों में से अधिकांश इसी ऋतु में पड़ते हैं। हमारी सबसे महत्वपूर्ण फसल इसी ऋतु में बोई जाती है। इस ऋतु में प्रकृति बड़ी

१—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ५८।

शांत एवं सौम्य लगती है, बसन्त जैसी मादक एवं चंचल नहीं। बसंत यदि ऋतुराज है, तो शरद ऋतु-गुरु। ऐसी शरद ऋतु का स्वागत ऊर्मिला केवल इसलिये नहीं कर रही कि उसके कवि की ऋतु--वर्णन को परंपरा पूरी करती है। यह शरद का स्वागत इसलिये कर रही है कि ऋतु-परिवर्तन उसे प्रिय का आभास दे रहे हैं, उसका सबसे बड़ा उपकार कर रहे हैं। असंगति का चमत्कार अनुभूति का तीव्रता में लुप्त हो जाता है—

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मनभाये।
फैला उनके तन का आतप, मन-से सर सरसाये,
घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये,
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये,
फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बंधूक सुहाये।
स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो, यह अश्रु अर्घ्य भर लाये।

ऊर्मिला ऋतु-परिवर्तन का स्वागत व्यर्थ ही नहीं करती, एक राजरानी के रूप में भी करती है। ऋतु का सम्बन्ध जनता, विशेष कर कृषकों, से बड़ा गहरा होता है। वह प्रत्येक ऋतु से जन-मङ्गल का निवेदन भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में करती रहती है, क्योंकि उसके दुख ने उसे दुख के रूप से परिचित करा दिया है। वह जानती है कि उसके प्रिय चौदह वर्ष बाद ही आयेंगे। पर बादलों से अपनी कामना व्यक्त करती है—

आज भीगते ही घर पहुँचे, जन जन के जन, बरसो !

ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट हो जाता है कि साकेत के नवम सर्ग षड्ऋतु-वर्णन परम्परागत मात्र न होकर परंपरा को गतिशील करने वाला एक नूतन विधान है। डा० नगेन्द्र ने ठीक लिखा है। षट्ऋतु की परम्परा प्राचीन है, परन्तु साकेत में उसका प्रयोग नवीन ढङ्ग से हुआ है। कवि ने उसका उपयोग उद्दीपन की दृष्टि से तो अवश्य किया है, परन्तु वह उद्दीपन शारीरिक ताप का अनुमान लगाने के लिए, अथवा उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति का चमत्कार दिखाने को नहीं है। ऊर्मिला को तो अपना समय काटना था, अतः कवि ने परिवर्तित ऋतुओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप जो भावनायें विरहिणी के हृदय में जागृति हुई अथवा ऋतु-परिवर्तन के साथ परिवर्तित दिनचर्या का उसके मन पर जो प्रभाव पड़ा, वह ही सर्वत्र व्यक्त किया है।[1]

१—साकेतः एक अध्ययन; पृष्ठ ५० ।

अतः परंपरा ऋतु-वर्णन या कृशता-वर्णन इत्यादि में एक चिरन्तन वस्तु के रूप में प्रस्तुत होने के कारण खटकने वाली वस्तु नहीं प्रतीत होती। पर जहाँ लेपादि उपचार का विधान होने लगता है, वहाँ सम्भावना का तर्क होते हुये भी जी ऊबने लगता है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है 'श्री मैथिलीशरण गुप्त के साकेत में भी कुछ ऐसी रूढ़ियों का अनुसरण जी उबाता है।'[1] उशीर की आड़ या अवनि-गर्भ में ग्रीष्म ताप मिटाने का प्रस्ताव इत्यादि उत्तर वैदिक काल के अनुकूल हैं या नहीं, यह प्रश्न भी उठ सकता है।

पर इतना स्पष्ट है कि गुप्तजी की ऊर्मिला एक सजग राज-वधू है, जिसे अपनी बाह्य स्थिति का पूरा ध्यान है, वह जायसी की रानी नागमती की तरह छानी-छप्पर की फिकर नहीं करती। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र के विचार पठनीय हैं। उर्मिला राजवधू है, अतः उसके उपचार साधन सभी रईसी हैं, उसी के उपयुक्त हैं। जायसी ने नागमती के विरह में छान और बिछौनी का वर्णन किया है, और आचार्य शुक्ल ने उसकी दाद देते हुए कहा है रानी नागमती विरह-दशा में अपना रानीपन बिल्कुल भूल जाती है, और अपने को साधारण स्त्री के रूप में देखती है— नागमती की उक्ति में मार्मिकता असंदिग्ध होते हुये भी उसकी स्वाभाविकता अवश्य संदिग्ध है। आचार्य ने भी यहाँ मनोवैज्ञानिक भूल की है। जायसी पात्र की स्थिति को भूल गये हैं और उनका अपना व्यक्तिगत अनुभव मुखर हो उठा है। अतः उनके कथन में हृदय स्पर्शिता अवश्य आ गयी है, परन्तु फिर भी वह अस्वाभाविक रहेगा ही।[2] संक्षेप में, मैथिलीशरण ने ऊर्मिला का चित्रण परंपरागत और स्वतन्त्र दोनों रूपों में करते हुये भी उसकी स्थिति का पूरा ध्यान रखा है।

उर्मिला के वियोग-वर्णन की कदाचित् सबसे बड़ी विशेषता उसकी सृष्टि-कल्याण-कामना है, जो गुप्तजी की हिन्दी-विरहकाव्य को एक देन है। वियोग-दशा दुःख-दशा है और दुःख में मानव संवेदन का ग्राहक तथा वाहक दोनों बन जाता है। विरही जानता है कि दुःख का स्पर्श कितना विकलतापूर्ण तथा असह्य होता है, अतः वह चाहता है कि कोई दुखी न हो। मैं अन्धा हूँ, इसलिये सभी अंधे हो जायें, यह कथन शायद ही कोई करता हो, और यदि करता भी हो, तो वह बहुत स्थूल बात कहता है। मैं अन्धा होकर देख रहा हूँ कि अन्धा होना कितना बड़ा अभिशाप है। भगवान करे शत्रु भी अंधा न हो! यह कथन प्रायः सभी अन्धे करते हैं, क्योंकि यह सूक्ष्म एवं तलस्पर्शी कथन है। सभी अंधे होंगे, तो मुझे रास्ता कौन बतलायेगा?

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास; पृष्ठ ६१३।
२—साकेत: एक अध्ययन, पृष्ठ ५१।

मेरी लाठी कौन पकड़ेगा ? भगवान, कोई अन्धा न हो ! यही मानव के दुःख की प्रकृति पद्धति है ।

ऊर्मिला दुःख को समझ चुकी है, समझ रही है । वह प्रोषित-पतिकाओं को इसलिये निमंत्रित करना चाहती है कि समदुखिनी नारियाँ मिलकर सांत्वना-लाभ कर सकें । सचमुच दो दुखी मिलकर एक दूसरे से सांत्वना पाते हैं । वह चाहती है कि बरसात में सबके जन भीगते हुए ही घर लौटें । इस चाहना के मूल में कितना दर्द भरा है । वह कृषकों का कल्याण चाहती है, क्योंकि वे कठिन परिश्रम करते हैं । यही नहीं, वह कोक को भी तात कह कर उससे शोक न करने की प्रार्थना करती हैं, उसके सुख की कामना करती है ।

उसे मकड़ी तक का ध्यान है, क्योंकि वह जाल-गता है । वह सृष्टि के प्रति अपने उद्‌गार प्रकट करती है :

रह चिरदिन तू हरी भरी
बढ़ सुख से बढ़ सृष्टि-सुन्दरी,
सुध प्रियतम की मिले मुझे,
फल जीवन दान का तुझे ।

× × × ×

प्रकृति, तू प्रिय की स्मृति-मूर्ति है,
जड़ित चेतन की त्रुटि पूर्ति है ।
रख सजीवन मुझे मन की व्यथा,
कह सखी, कह, तू उनकी कथा ।

सच पूछा जाये तो सृष्टि-कल्याण-कामना या दुःख में डूबे व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति विरही-हृदय में स्वभावतः उत्पन्न हो सकती है, दुखियों को और अधिक दुखी देख कर उसे अपने भविष्य पर ही शंका या भय प्रतीत हो सकता है । अतः सृष्टि के कल्याण एवं दुखियों के सुख की कामना विरही के लिये एक मनोवैज्ञानिक सत्य है ।

इसका यह अर्थ नहीं कि गोपिकाओं का मधुवन के प्रतिकोप और 'तू जल न मरा, कृष्ण के वियोग में'—जैसे उद्‌गार अनुचित हैं । वे खीझ मात्र हैं । प्रेम के दर्द में खीझ का स्थान सदा काफी गहरा रहा है और रहेगा । साकेत में भी वियोग में ऊर्मिला को प्रकृति परिवर्तित प्रतीत होती है । हां, वह उसके प्रति खीझती नहीं है ।

साकेत में उक्त प्रकार का विरह-वर्णन बड़े उत्साह तथा स्वाभाविक ढंग से

किया गया है। श्री कन्हैयालाल सहल ने इस संबंध में ठीक ही लिखा है: इस तरह का विरह-वर्णन मेरी दृष्टि में, हिन्दी-साहित्य को गुप्तजी की देन है। पुराने कवियों की परिपाटी से यह सर्वथा भिन्न है और मानव-जीवन के एक प्रकृत तथ्य पर आवित है। भुक्तभोगी जानते हैं कि जीवन के नभोमन्डल में जब काले बादलों की घटा घिर आती है, उस समय मनुष्य का अभिमान विनम्र रूप धारण कर लेता है और उसकी वृत्ति में कारुण्य-भाव जागृत होने के कारण उसे इच्छा होने लगती है कि मैं भी किसी का दुःख बंटा पाता।[1]

सृष्टि-कल्याणमूलक विरह-वर्णन द्विवेदी-युग की हिन्दी को एक बड़ी प्रभाव-भरी देन है। यों तो कालिदास का यक्ष भी मेघ के लिये कभी भी बिजली से वियुक्त न होने की कामना करता है, पर वहाँ कवि की संयोगात्मक रुचि काम करती है, कोई निश्चित विचारधारा नहीं। हिन्दी में सृष्टि-कल्याण-मूलक विरह-निवेदनों का प्रारम्भ प्रिय-प्रवास से प्रारम्भ होता है। हरिऔध की राधा सृष्टि-कल्याण एवं दुखियों की सेवा की कामना ही नहीं करती है, उसे क्रियात्मक रूप भी प्रदान करती है। पर हरिऔध जी की राधा की सृष्टि-कल्याण-भावना एवं व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति किसी पूर्व सुनियोजित क्रम के आधार पर न होकर युग-प्रभाव के रूप में प्रकट हुई है। मैथिलीशरण की ऊर्मिला में वह सुनियोजित एवं सुसंबद्ध रूप लेकर प्रकट हुई है। प्रसाद के आँसू में वह अपने पूर्ण विकसित एवं दार्शनिक रूप में प्रकट हुई है।

यह निश्चित है कि सृष्टि-कल्याण-मूलक किंवा सहानुभूतिपूर्ण विरह-वर्णन का मूल हरिऔध में है। तब प्रश्न उठता है—क्या मैथिलीशरण और प्रसाद ने हरिऔध का अपने-अपने अनुकूल रूपों में अनुकरण किया है? उत्तर है—प्रियप्रवास खड़ी बोली का प्रथम वृहत् प्रबंध है; वृहत् ही नहीं, उत्कृष्ट प्रबंध भी है। उसका प्रभाव ज्ञात या अज्ञात रूप से मैथिलीशरण और प्रसाद पर ही नहीं, पन्त और महादेवी तक फैला है तथा अन्यान्य कवियों में भी मिल सकता है। पर ज्ञात रूप में मैथिलीशरण या प्रसाद ने उसका अनुकरण नहीं किया, क्योंकि मैथिलीशरण एवं प्रसाद में वह बहुत भिन्न रूप में दृष्टिगोचर होता है।

सच पूछा जाय, तो दुःख में सृष्टि या राष्ट्र के कल्याण की भावना तथा दुखियों के प्रति सहानुभूति की भावना का द्विवेदी-युगीन-काव्य में समावेश उस युग की स्थिति के कारण हुआ है। यह स्थिति एक बड़ी दूरी तक स्वातंत्र्य-प्राप्ति के समय तक बनी रही, अब भी कुछ-न-कुछ है। अतः आँसू एवं अन्यान्य कृतियों में

१—साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव पृष्ठ १४।

भी ऐसे वर्णन मिल जाना अस्वाभाविक नहीं है। हम पहले कह आये हैं कि द्विवेदी-युग भी भारतीय राष्ट्र सहस्त्रों वर्ष की निद्रा के बाद जागृति की अंगड़ाइयां ले रहा था। राष्ट्र दुखी तो था, पर उत्थान का मूल शिवं तथा संवेदन का भाव उसे हस्त-गत हो चुका था, हो रहा था। दयानन्द, विवेकानन्द, गांधी, तिलक, मदनमोहन मालवीय इत्यादि त्याग एवं सहन-शक्ति का निदर्शन प्रस्तुत कर चुके थे, कर रहे थे।

सैंकड़ों देशभक्तों के कारावास-प्रसंग में उनकी वीर पत्नियों आंखों से आँसू तथा मुख से राष्ट्र-कल्याण के वचन लुटा रही थीं। इस स्थिति में विरह में सृष्टि-कल्याण, राष्ट्र-कल्याण और दुखियों के प्रति सहानुभूति के भावों का काव्य में समावेश ज्ञात या अज्ञात रूप में अनिवार्य था। हुआ भी ऐसा ही। प्रियप्रवास, साकेत, पथिक, प्रेम-पथिक इत्यादि के विरह-वर्णन किसी-न-किसी रूप में उक्त भावों से संपन्न हैं। जो लोग ऐसे भावों को नीरस समझते हैं, उनका सरस क्या है, यह वे स्वयं नहीं जानते।

साकेत का विरह-वर्णन अपने उच्चादर्शों में परम्परागत भारतीय विरह-वर्णन, विशेषता हिन्दी-काव्य में विरह-वर्णन के सर्वथा अनुकूल है। जो ऊंचा आदर्श तुलसी, जायसी और हरिऔध के विरह-वर्णनों में दृष्टिगोचर होता है, वही अपनी परिस्थिति के अनुरूप मौलिक रूप में साकेत में भी। ऊर्मिला केवल प्रिय की स्मृति, प्रेमी हृदय के लिये सबसे बड़ा उपहार स्मति, चाहती है, पर कब? जबकि प्रिय आराध्य-युग्म के सोने पर निस्तब्ध निशा में प्रहरी का कार्य कर रहे हों :

> आराध्य युग्म के सोने पर,
> निस्तब्ध निशा के होने पर,
> तुम याद करोगे - मुझे कभी,
> तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।

उसे प्रिय-प्राप्ति की लालसा है, पर कर्त्तव्य-पूर्ति के बाद ही :

> भूल अवधि सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी - आओ।
> किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोल कर - जाओ।

यहां स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि गुप्तजी ने प्रियप्रवास—जैसा आदर्शातिरेक साकेत में नहीं दिखाया, जिसमें राधा आश्रम इत्यादि खोलती हैं और स्वयंसेविकाओं का दल संगठित कर जन-सेवा का व्रत लेती हैं। उन्होंने ऊर्मिला के मानस का कर्त्तव्य तथा प्रेम में होने वाला द्वन्द्व चित्रित किया है। रघुकुल

का आशीर्वाद प्रसिद्ध है। पर साकेत में वह मनोवैज्ञानिक रूप में प्रकट हुआ है, केवल 'आदर्श के लिये आदर्श' के रूप में नहीं। आओ का मूल प्रेम है, जाओ का कर्त्तव्य। यह अंतर्द्वन्द्व राम-काव्य की एक स्थायी विभूति है। नवम सर्ग के अन्त में कवि ने ऊर्मिला की प्रलाप-स्थिति में इस आओ को आवश्यकता से अधिक विस्तार दे दिया है। पर उसे भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। वियोग के अनेक मास बीत जाने पर 'आओ - जाओ का संघर्ष भी लंबा हो सकता है।

विरह में आदर्श को अत्यन्त प्राचीन काल से ही स्थान मिलता आया है। सच पूछा जाये तो पवित्र प्रेम स्वयं अपने में सबसे बड़ा एवं चिरन्तन आदर्श है। विरह इस आदर्श का भी आदर्श है। इस स्थिति में विरह में उच्चादर्शों की अवतारणा स्वाभाविक ही है। पर द्विवेदी-युगीन काव्य में देश की परिस्थिति ने विरह में जिस सेवावृत्ति का चित्रण किया, वह मनोवैज्ञानिक मापदंड से बहुत ऊपर उठी हुई थी। पथिक, प्रेमपथिक तथा प्रियप्रवास में यही दिखायी पड़ता है। साकेत में मध्यम पथ अपनाया गया है। ऐसा आवश्यक भी था। राम काव्य आदर्शमूलक काव्य है। आदर्श-प्रधान युग से सम्बन्धित कथानक में आदर्श को कुछ-न-कुछ स्थान देना ही समीचीन है, अन्यथा माइकेल मधुसूदन के मेघनाद-वध की जैसी असाहित्यिक भूलें हो जाने की निश्चित संभावना रहती है। इस स्थिति में जो आलोचक साकेत पर इस दृष्टि से प्रहार करते हैं, वे बहुत तल-स्पर्शी विचार नहीं प्रस्तुत करते।

ऊर्मिला बन में प्रिय की स्थिति की मधुर कल्पना में भी कर्त्तव्य का समावेश करती चलती हैं। उदाहरणार्थ यदि वह चित्र बनाना चाहती है, तो उसमें प्रिय को अपने चिन्तन में मग्न या करुणा-कलित रूप में चित्रित करना उसे अभीष्ट नहीं, क्योंकि प्रिय बनवासी निरुद्देश्य ही नहीं बना, सोद्देश्य बना है। अतः ऐसी कल्पना भी वह बड़ी शालीनता से करती है :

> कौन-सा दिखाऊं दृश्य बन का बना मैं आज ?
> हो रही है आलि, मुझे चित्र-रचना की चाह,
> नाला पड़ा पथ में, किनारे जेठ जीजी खड़े,
> अंबु अवगाह आर्यपुत्र ले रहे हैं थाह।
> किंवा वे खड़ी हों घूम प्रभु के सहारे आह,
> तलवे से कंटक निकालते हों ये कराह ?
> अथवा झुकाये खड़े हों ये लता और जीजी
> फूल ले रही हों, प्रभु दे रहे हों, वह वाह ?

उक्त पंक्तियों में कवि ने चित्रमयता का सुन्दर परिचय दिया है। सीता के

पैर से कंटक निकालने में कराहें लक्ष्मण ! यहाँ असंगति अलंकार कितना संगत तथा मर्म-द्रावक है ?

संचारियों तथा कामदशाओं का जो व्यापक एवं प्राय: पूर्ण चित्र साकेत के नवम सर्ग में दृष्टिगोचर होता है, वह आधुनिक हिन्दी के विरह-वर्णन में शास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्री सहल तथा श्री नगेन्द्र उक्त विषयों पर अच्छा प्रकाश डाल चुके हैं। अत: यहाँ उन पर कुछ अधिक लिखना अनावश्यक है। पर जैसा कि हम पहले कह आये हैं, स्मृति संचारियों का राजा या कामदशाओं की रानी है। आधुनिक युग में स्मृति पर सबसे अधिक भाव-चित्र बने हैं, जिसका कारण मनोवैज्ञानिक है। विरह में प्रिय की स्मृति सबसे प्रबल प्रवृति बन जाती है। मैथिलीशरण ने स्मृति के कतिपय अत्यन्त भव्य चित्र प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से एकाध में विशद पारिवारिक जीवन का बड़ा ही मधुर रूप भी घुला-मिला है। पारिवारिक जीवन का सहज एवं उत्कृष्ट चित्रण करने में मैथिलीशरण, संस्कृत के भवभूति की तरह, हिन्दी के अद्वितीय कवि हैं। स्वयं बड़े तथा सम्मिलित परिवार के सदस्य होने के कारण उन्हें ऐसे चित्र प्रस्तुत करने का पूरा अधिकार भी है। इस क्षेत्र में वे बहुत सफल भी हुये हैं।

अधिकतर स्मृति के चित्र वैयक्तिक संयोग से ही सम्बद्ध हैं, जो स्वाभाविक भी है, क्योंकि यौवन से सम्बन्धित दाम्पत्य विरह में प्रिय-मिलन की विशेष स्मृतियाँ ही हृदय को अधिक सालती हैं। ऐसे चित्र में कहीं-कहीं प्रिय के हैं-हैं कह कर 'बाहर से संकुचित भीतर से फूले से' की दशा में प्रिया से लिपट जाने वाला तथा कर्ण-फूलों को बड़े कौशल के बाद लाल करने वाले चित्र सम्मिलित हैं, जिनकी स्वाभाविकता पर कोई संदेह न करने पर भी आपत्ति प्रकट की जाती रहती है। हमारी समझ में, दाम्पत्य जीवन में प्रत्येक पुरुष पुरुष रहता है, प्रत्येक नारी नारी, इससे अधिक कुछ नही। दाम्पत्य जीवन, विशेषत: यौवनगत दाम्पत्य जीवन, जीवन की महानता से न तो प्रभावित होता ही है और न उसे बहुत अधिक होना ही चाहिए। पति और पत्नी के बीच कुछ भी अश्लील नहीं होता, नहीं हो सकता, ऐसा भारत के एक विद्वान न्यायाधीश ने कहा है। इस स्थिति में साधारण संयोग-चित्रों पर हमारी आपत्ति आम्डबरपूर्ण ही कही जायेगी। हाँ, यदि कवि शिष्टता की सीमा लाँघ कर सामाजिक जीवन में व्यतिक्रम उत्पन्न करने का प्रयास करे, तो वह अवश्य विगर्हणीय है। पर गुप्तजी जैसे कवियों पर ऐसी आशंका नहीं की जा सकती।

नवम सर्ग के कतिपय स्मृति-चित्र बड़े ही भव्य एवं स्वाभाविक हैं। बटलोई का एक चावल परख के लिये काफी होगा :

मैं निज अलिंद में खड़ी थी सखि, एक रात,
रिमझिम बूंदे पड़ती थी घटा छाई थी,
नमक रहा था केतकी का गंध चारों ओर,
झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी।
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
चंचला थी चमकी, घनाली घहराई थी,
चौंक देखा मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय,
माई, मुख-लज्जा उसी छाती में छिपाई थी।

नवम सर्ग के विरह-वर्णन में विगलित नारी-हृदय का बड़ा ही मर्मस्पर्शी रूप देखने को मिलता है। कहीं ऊर्मिला उन दिनों की स्मृति करती है, जब वह रसोई बना कर सबको खिलाती थी, पर आज वह सब कहाँ है, वह अलोना-सलोना किसे खिलाये ?

बनाती रसोई, सभी को खिलाती,
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।
रहा किंतु मेरे लिये एक रोना,
खिलाऊँ किसे मैं अलोना-सलोना ?

कितना करुणा-कलित प्रश्न है ? नारी हृदय का दर्पण।

कहीं वह पिंजड़े में बंद पक्षियों को उड़ा देने के लिये अपनी सखी सुलक्षणा से प्रार्थना करती है, क्योंकि अब वह जानती है कि पिंजड़े में बंद रहने की दशा कितनी दयनीय होती है। प्रिय बन में हैं, पहले भी तो जाते थे। अतः पक्षी बतला देता है मृगया में। कितना अधिक रुलाने वाला प्रश्न है।--

कह विहग, कहाँ है, आज आचार्य तेरे ?
विकच बदन वाले वे कृती कांत मेरे ?
सचमुच मृगया में तो अहरी नये वे,
यह हत हरिणी क्यों छोड़ यों ही गये वे ?

कहीं वह अपनी सखी के इस कथन की सार्थकता को स्वीकार करती है कि यह शरीर तो प्रियार्पित है, अतः इसे गेह से सदृश ही संभाल कर ही रखना उचित है :

ठीक कहा तूने सखी, अर्पित है यह देह,
तू संभाल कर रख इसे रखती है ज्यों गेह।

साकेत में विरहिणी ऊर्मिला के प्रति कवि की अगाध श्रद्धा बारंबार प्रकट हुई है। वह उसके वियोग के आगे योग को भी तुच्छ समझता है, उसकी व्यथा को रघुकुल का एक गौरव बताता है, उसके सामने योगिनी को भी तुच्छ कहता है। बारंबार ऐसा कहना कुछ भोंडा-सा लगता है, भले ही वह सत्य हो।

नवम सर्ग के कुछ गीतों में युवती ऊर्मिला प्रिय-रहित होने के कारण अपने शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख भी करती है। कामदेव से फूल न मारने का आग्रह करती है तथा चपल यौवन-बाल को अचल-अंचल में पड़े-पड़े सोने का निर्देश देती है। इस प्रसङ्ग में प्रसिद्ध आलोचक पं० नंददुलारे वाजपेयी लिखते हैं। नवम सर्ग के ऊर्मिला-गीतों में भावना की जो उन्मुक्ति गति है, वह उसके साथ ऊर्मिला की उदात्त और संयमपूर्ण चारित्रिक विशेषताओं का मेल नहीं बैठता। इन ऊर्मिला-गीतों की भावना कहीं-कहीं ऐसे साधारण स्तर पर पहुँच जाती है, जिसकी साकेत की नायिका से किसी प्रकार अपेक्षा नहीं की जाती। एक स्थान पर ऊर्मिला कहती है—

मेरे चपल यौवन-बाल।

अचल अंचल मे पड़ा सो, मचल कर मत साल।

इन पंक्तियों का संकेत ऊर्मिला को विषय-वासना की सीमा-रेखा के इतने समीप पहुंचा देता है कि अन्य अवसरों पर उसके द्वारा दी गयी वीर रमणी के अनुरूप वीर-व्यवहार की शिक्षा (जैसे ऊर्मिला द्वारा दिया गया सैनिकों को उपदेश) ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ रह जाती है।[1] हमारी समझ में वियोग पूर्णतः शरीर-निरपेक्ष हो ही, यह अनिवार्य नहीं। कालिदास और जायसी के दांपत्य विरह-वर्णन में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं।

किन्तु नवम सर्ग के सम्बन्ध में गांधी जी को लिखे गये अपने पत्र में मैथिली-शरण ने योगजन्य तथा रामजन्य शब्दों का जो प्रयोग किया है, उस दृष्टि से फूल न मारो तथा चपल यौवन-बाल का मचलना समीचीन नहीं बैठता। कवि ने बापू को लिखा था 'साकेत में मैंने कालिदास की प्रेरणा से उस प्रेम की एक झलक देखने की चेष्टा की है, जो भोग से प्रारंभ होकर, वियोग झेलता हुआ, योग में परिणत हो जाता है। प्रथम सर्ग में ऊर्मिला और लक्ष्मण का प्रेम भोगजन्य किंवा कामजन्य है। उसी को योगजन्य अथवा रामजन्य देखने के उद्योग में साकेत की सार्थकता है।[2]

१—आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १०३।

२—साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृष्ठ १५०-५१।

हमारी समझ में प्रथम सर्ग का प्रेम तो भोगजन्य किंवा कामजन्य है, पर नवम सर्ग का प्रेम योगजन्य न होकर वियोगजन्य है और रामजन्य न होकर लक्ष्मण-जन्य है, होना भी ऐसा ही चाहिए। कवि ने स्वयं जो व्याख्या प्रस्तुत की है, वह समीचीन नहीं है, और यदि है तो पं० नंददुलारे जी का अभियोग ठीक हो सकता है। क्योंकि योग की दशा में फूल मारने या यौवन-बाल के मचलने की चर्चा भ्रष्टोन्मुख स्थिति की सूचक हीं मानी जायेगी। बात यह है कि जिस समय (सन् १९३२) में मैथिलीशरण ने उक्त पत्र लिखा था, उस समय भारत में मौखिक आध्यात्मिकता अपने चरम उत्कर्ष पर थी। रवि ठाकुर मेघदूत और शांकुतल की आध्यात्मिक व्याख्या करते थे, गीत-गोविंद और सूर-सागर में रहस्यवाद की खोज चालू थी, विद्यापति के भक्त होने पर निबन्ध लिखे जा रहे थे और हिंदी के रहस्यदर्शी युवक-कवि तथा कवयित्रियों द्वारा उपनिषदों तथा संहिताओं के उद्धरण बटोरे जा रहे थे। इस स्थिति में यदि ऊर्मिला के वियोग-प्रकरण में मैथिलीशरण 'योग' शब्द पर बेतरह रीझे, तो क्या आश्चर्य! पर अब यह निश्चित हो गया है कि राष्ट्र का कल्याण योग से नहीं, संयोग (संगठन) से होगा। अतः सौभाग्यवश उक्त प्रकाश की आध्यात्मिकता की चर्चा कम हो चली है।

नवम सर्ग अपने प्रगीतों के लिये प्रसिद्ध है। इन प्रगीतों में अनेक संगीतात्मकता, क्षिप्रता, आत्माभिव्यक्ति, भावैक्य, कोमलता तथा अभीप्सित सरसता इत्यादि के आवश्यक गुणों से भली भाँति सम्पन्न हैं। वेदना का संवेदन इन गीतों में बड़े मनोहारी रूप में प्रकट हुआ है। 'दोनों ओर प्रेम पलता है' शीर्षक प्रतिनिधि प्रगीत तो इस युग के सर्वाधिक लोकप्रिय एवं उत्कृष्ट प्रगीतों में स्थान भी पा चुका है। इन गीतों में कहीं दुखी व्यक्तियों, जीवों तथा वस्तुओं के प्रति विरहिणी की मार्मिक सहानुभूति प्रकट हुई है, कहीं प्रकृति का वर्णन हुआ है, कहीं वेदना-व्यथा का स्तवन-विवेचन है, कहीं शारीरिक मानसिक पीड़ा का व्यक्तिकरण है। छायावाद के सूक्ष्म उपमा-विधान तथा कोमल शब्द-चयन से मैथिलीशरण ने इन प्रगीतों में अपने अनुकूल, या मौलिकता के साथ, अच्छा लाभ उठाया है।

'दोनों ओर प्रेम पलता है' शीर्षक प्रगीत नवम सर्ग का हृदय है। ऊर्मिला का पूर्ण समर्पण, उसकी सहनशक्ति, उपेक्षितों और पीड़ितों के प्रति उसकी सहानुभूति तथा उसका करुणा-विगलित प्रेम सभी इस छोटे-से प्रगीत में समाया हुआ है। यह गीत नवम सर्ग की कुँजी है। दीपक और पतंग दोनों जलते हैं। पर वणिवृत्तमय संसार दीपक के जलने से प्रकाश पाता है, पतंग के जलने से कुछ क्षणों का प्रकाश-व्यवधान और असुविधा। अतः वह दीपक के जलने का स्तवन और पतङ्ग के जलने की उपेक्षा करता है।

ऊर्मिला को यह खलता है। एक बात और। प्रेम, यदि वह तलस्पर्शी एवं सम्पन्न है तो, दोनों ओर सवर्द्धित होता है। पतंग के जलने की चर्चा सभी करते हैं और दीपक के जलने की कोई नहीं, यह अनुचित है। इस प्रगीत में ऊर्मिला का प्रिय के प्रति अपना या अपने प्रति प्रिय का अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त विश्वास धन्य है।

नवम सर्ग की भाषा पर भी दो शब्द कहना उचित होगा। हम पहले भी कह आये हैं कि खड़ीबोली में हिन्दी-क्षेत्र की मातृभाषाओं के ही नहीं, राष्ट्र की अन्य भाषाओं के भी सहस्त्रों शब्दों का समावेश होना सर्वथा उचित है, यही नहीं, विदेशों के भी शत-शत शब्द हम ग्रहण करेंगे। पर 'ग्रहण के लिये ग्रहण' कहीं भी उचित न होगा। हमें खड़ीबोली की अनुकूलता का ध्यान भी रखना पड़ेगा। नवम सर्ग में जहाँ माई, आली जैसे सर्वथा स्पृहणीय ब्रजभाषा-शब्द प्रयुक्त हुये हैं, वहाँ आपत्ति नहीं की जा सकती। पर जहाँ केवल तुक के लिये तल्ली, मल्ली, तत्ती, दीजो, लीजो, चक्खी, लक्खी, इत्यादि को भिड़ाया गया है, वहाँ आपत्ति ही नहीं, चिंता भी प्रकट की जा सकती है। एक महान कवि की यह सृजन-त्वरा भावी पीढ़ियों के कवियों पर खराब असर भी डाल सकती है। साकेत में विशेषतः दशम सर्ग में कर्ण-कटु वर्णों की भरमार बड़ी ही बेहूदी लगती है। हूल, अवार, तड़क-फडक-धड़क-भड़क, घूड़े इत्यादि प्रयोग उच्च स्तर की कविता में भद्दे लगते हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

साकेत के दशम सर्ग में भी ऊर्मिला का विरह - वर्णन ही है। पर यहाँ वह नवम सर्ग की भाँति गीतकाव्यात्मक न होकर प्रबन्धात्मक या कथात्मक है। इस सर्ग में विरह से दुर्बल हुई ऊर्मिला अपने बाल्य-काल, माता-पिता के वात्सल्य, लक्ष्मण के प्रथम दर्शन तथा उसकी प्रतिक्रिया, तज्जन्य स्वप्न, धनुर्भङ्ग, परशुराम-प्रसङ्ग, विदाई तथा अपने छोटे-से प्रिय-संयुक्त जीवन के संस्मरण-से सुनाती है। सरयू के प्रति उसकी सहानुभूति है, क्योंकि सरयू भी अपने प्रिय सागर से वियुक्त है तथा भटक रही है, दौड़ी जा रही है। उसी से वह सब कुछ कह जाती है। पता नहीं क्यों, नदियों और पहाड़ों इत्यादि से बहुत-कुछ कहने का रिवाज बीसवीं सदी में भी इतने जोर-शोर के साथ फैला हुआ है ?

दशम सर्ग का वियोग-वर्णन अनुभूत्यात्मक न होकर कथात्मक है। कवि का लक्ष्य कथा कहना है, ऊर्मिला तो जैसे निमित्त मात्र है। जनकपुर से सम्बन्धित राम-चर्चा या लक्ष्मण-चर्चा साकेत में यदि ऊर्मिला करती है, तो सर्वथा उचित ही है। इसमें कवि का कौशल ही है।

छंद तथा भाषा, विशेषकर वर्ण-प्रयोग की दृष्टि से दशम सर्ग एक असफल

सर्ग है। कर्ण-कटु शब्दावली का ऐसा असामयिक प्रयोग हिन्दी के किसी श्रेष्ठ कवि ने नहीं किया, जैसा मैथिलीशरण ने साकेत के दशम सर्ग में। पर कथा का अनुभूति, विशेष कर वेदना से संबंधित अनुभूति का अंश बहुत मार्मिक है।

साकेत के विरह-वर्णन का विस्तार उबाने वाला है। पचपन पृष्ठों का नवम सर्ग तथा उन्नीस पृष्ठों का दशम सर्ग दोनों ऊर्मिला के विरह से ही भरे हैं। यों तो समूचे प्रियप्रवास में विरह ही विरह भरा पड़ा है, पर वहाँ कहीं पुत्र-विरह है, कहीं पुत्र वत के प्रति विरह है, कहीं मित्र-विरह है, तो कहीं प्रिय-विरह। अतः जी नहीं ऊबता। पर साकेत के चौहत्तर पृष्ठों में केवल प्रिय-बिरह दृष्टिगोचर होता है, जिससे पाठक के धैर्य की कठिन परीक्षा होने लगती है। एक बात और। यद्यपि नवम सर्ग जटिल नहीं है, तथापि मैथिलीशरण के काव्य का वह सबसे अधिक अलंकृत एवं गूढ़ अंश है। अतः उसमें सर्वत्र सरलता एवं प्रसन्नता विद्यमान हो, ऐसा नहीं है। कुछ स्थलों पर तो अलंकारों का इतना तलस्पर्शी समावेश हुआ है तथा मुहावरों का इतना ध्वनिपूर्ण समावेश हुआ है कि विशेषज्ञ भी 'यह अर्थ भी लग सकता है' की शरण लेने को विवश हो जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसा है, तो अनुचित है।

नवम सर्ग के विरह-वर्णन में रस के प्रश्न पर भी कुछ कह देना अनुचित न होगा। 'करुणे! क्यों रोती है?'—को ही पकड़ कर नवम सर्ग का विरह-वर्णन करुण रस का नहीं घोषित किया जा सकता। करुण रस का स्थायीभाव शोक है, जिसके पीछे कोई आशा नहीं रहती। स्पष्ट है कि करुण रस वहीं होता है, जहाँ प्रिय व्यक्ति का देहावसान हो गया हो। जहाँ पर अवसान या विकटतम परिस्थिति होने पर भी आशा हो, वहाँ करुण-विप्रलंभ माना जाता है। नवम सर्ग में ऐसा कुछ भी नहीं है। लक्ष्मण चौदह वर्ष बाद प्रिया को मिलेंगे, इस स्थिति में प्रवास-विरह ही है, करुण रस अथवा करुण-विप्रलंभ नहीं, क्योंकि ऊर्मिला के उद्‌गारों का स्थायीभाव रति या प्रेम है, शोक नहीं और प्रिय एक निश्चित अवधि के पश्चात आने वाला भी है। करुणा शब्द का प्रयोग शास्त्रीय अर्थ में शोक-संपृक्त रहता है, जनता की भाषा में दयनीयता-संपृक्ता। उक्त 'करुणे, क्यों रोती है' इत्यादि में करुणा शब्द का प्रयोग जनता की भाषा में ही हुआ है। फिर भी भवभूति इत्यादि ने जो कथानक उठाया है, वह मैथिलीशरण के कथानक से बहुत भिन्न है। अतः मैथिलीशरण की करुणा भवभूति की करुणा नहीं बन सकती, उसे वैसा बनना भी न चाहिये।

इसीलिये कवि ने दूसरी पंक्ति में 'मेरी विभूति है जो उसको भवभूति क्यों

कहे कोई' का स्पष्टीकरण भी दे दिया है। फिर भी, करुणा, उत्तररामचरित एवं भवभूति के ओर जो संकेत गुप्त जी ने यहाँ किये हैं वे अनुभूति, परिस्थिति और रस की दृष्टि से निरर्थक हैं, उनकी सार्थकता केवल श्लेष में ही है। ऊर्मिला का विरह साधारण प्रवास-विरह नहीं है, पर वह साहित्यदर्पण इत्यादि में दी गयी करुण-विप्रलम्भ की परिभाषा के अनुसार करुण-विप्रलम्भ के अन्तर्गत भी नहीं आ सकता और करुण रस का तो वहाँ पर कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः ऊर्मिला का विरह विशेष व्यथासंपृक्त होते हुये भी प्रवास - वियोग के अन्तर्गत ही माना जायेगा।

प्रियप्रवास की राधा और साकेत की ऊर्मिला पर तुलनात्मक विवेचन भी जब-तब होता रहता है। राधा और ऊर्मिला दोनों वियोग-व्यथा से संतप्त हैं। पर दोनों के वियोग के रूपों में अन्तर है। राधा का वियोग ऊर्मिला के वियोग से अधिक दर्द-भरा है, क्योंकि ऊर्मिला को अवधि का आश्वासन प्राप्त है, राधा को नहीं। निराशा मानव में सेवा-भाव, देश-प्रेम इत्यादि जागृत करती देखी जाती रहती है। इस स्थिति में राधा भी अपने वैयक्तिक प्रेम से ऊपर उठ कर जन-सेवा करती दृष्टिगोचर होती हैं, भले ही हरिऔध के युग ने इस जन-सेवा की झोंक में उनके वियोग को दर-किनार ही कर दिया हो। ऊर्मिला का विरह आशान्वित है, वह जन-सेवा के नहीं, प्रिय-स्मृति के पथ पर चलता है। हरिऔध ने राधा का जो चित्रण प्रियप्रवास में किया है, वह विरहिणी का कम, मैत्री का अधिक है। साकेत की ऊर्मिला का चित्रण प्रारंभ से अन्त तक एक विरहिणी का ही चित्रण है। स्पष्टत एक में पूर्वग्रह-युक्त आदर्श की प्रधानता है, दूसरे में भावमय मनोवृत्ति-चित्रण की; एक उपदेशात्मक हो गया है, दूसरा काव्यात्मक ही है; एक में अपने युग का आवश्यकता से अधिक प्रभाव है, दूसरे में आवश्यकता के अनुरूप ही। राधा तो आदर्शवाद पर्दे के भीतर से ऊर्मिला पर प्रभाव भले ही डालता रहे, पर उसका चित्र एक स्वतन्त्र चित्र है, अधिक काव्यत्वपूर्ण चित्र है।

गुप्तजी की ऊर्मिला और प्रसादजी की श्रद्धा की भी कोई-कोई अध्येता तुलना करते रहते हैं। पर ऐसी तुलना के लिये अधिक अवकाश है नहीं। ऊर्मिला को ऐसा प्रेमी पति मिला है, जो कर्त्तव्य की वेदी पर अपने सुख की बलि देते हुये भी प्रेम को पूरी तरह सुरक्षित रखे हुए है। अतः ऊर्मिला की व्यथा विश्वास की शक्ति से सम्पन्न है। वह एक महान व्यक्ति की परिणीता प्रिया है। उसके रोने में भी एक अमूल्य रस है, शक्ति है। उधर श्रद्धा को ऐसा पति मिला है जो उससे शारीरिक सुख पा कायर की तरह गर्भिणी छोड़ कर भाग खड़ा होता है। उसका प्रेम बहुत दूर तक एक टांग पर खड़ा प्रेम है, जिसमें जो कुछ है वह उसी का है, पति या प्रेमी का

कुछ नहीं। यदि प्रसाद कामायनी का विरह-वर्णन करते भी, तो वह साकेत के वर्णन से बहुत भिन्न होता।

मैथिलीशरण की ऊर्मिला और नवीन की ऊर्मिला

सन् १९५८ में हिन्दी के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का वृहदाकार प्रबन्धकाव्य ऊर्मिला प्रकाशित हुआ।[1] ग्रन्थ-रचना का विवरण देते हुये कवि ने लिखा है। सन् १९२१'-२३ के डेढ़ वर्ष के कारावास काल में मैंने इसे लिखना प्रारम्भ किया। मैंने १९२२ ई० के नवम्बर के अन्त में या दिसम्बर के आरम्भ में ऊर्मिला लिखनी प्रारम्भ की। सन् १९३४ के फर्वरी मास में मैं जब बाहर निकला तो ऊर्मिला समाप्त कर चुका था। प्रथम सर्ग और बाद के सर्गों के लिखे जाने में प्राय: बारह वर्षों का व्यवधान है।" कवि ने व्यवधान की चर्चा के साथ ही यह भी लिखा है कि बीच के छूटे वर्षों को हटा देने पर ग्रन्थ सवा या साढ़े-चार महीनों में लिखा गया। संक्षेप में, ऊर्मिला की रचना सन् १९२२ में प्रारम्भ हुई, सन् १९३४ में समाप्त हुई, सृजन में सवा या साढे चार महीने लगे, गणतन्त्र दिवस सन् १९५७ को भूमिका लिखी गयी एवं अन्ततोगत्वा सन् १९५८ में उसका प्रकाशन हुआ। हिन्दी के सहृदय पाठक एवं अध्येता काव्य के प्रकाशन की एक लम्बे अर्से से प्रतीक्षा कर रहे थे। वह पूरी हुई।

ऊर्मिला का आकार-प्रकार बहुत बड़ा है। जब तक प्रकाशित खड़ी बोली के प्रबन्धकाव्यों में सबसे बड़ा। पर उसका कथा-विस्तार बहुत व्यापक नहीं है। आजकल बहुत जोर-शोर से चलने वाली फैशन, अपने काव्य को महाकाव्य बनाना कवि को इष्ट नहीं, अतः उसने ग्रन्थ में छह सर्ग ही रखे हैं और उसे प्रबन्ध-काव्य ही कहा है। महाकाव्यकार बनने की अनावश्यक धुन के रोगियों को इस प्रवृत्ति से लाभ उठाने की आवश्यकता है।

प्रथम सर्ग में मिथिला-वर्णन, जनक एवं उनकी सीता और ऊर्मिला दोनों पुत्रियों का वर्णन तथा पारस्परिक वार्तालाप; द्वितीय सर्ग में अयोध्या की राजसभा, बधुओं का प्रवेश, सभी, विशेषकर नर-नारियों की प्रशंसा और लक्ष्मण-ऊर्मिला के दांपत्य जीवन का बहुत ही विशद एवं विस्तृत वर्णन; तृतीय सर्ग में राम, सीता और लक्ष्मण का बन-प्रस्थान एवं ऊर्मिला लक्ष्मण की आसन्न वियोग-व्यथा, चतुर्थ सर्ग में विरह-मीमांसा; पंचम सर्ग में वियोग के उद्‌गार और अंतिम या षष्ठ सर्ग में राम की बनवास-कथा, विभीषण के अभिषेक, अयोध्या आने एवं अंततोगत्वा लक्ष्मण-

१—प्रकाशक—अत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्स, देहली।

ऊर्मिला के मिलन का वर्णन, यही ६१६ पृष्ठों के इस विशालकाय काव्य का विषय-विस्तार है। कवि ने प्रत्येक वर्णन को अनुभूति-प्रवण-शैली में बहुत विस्तार दे दिया है, पर उसकी प्रौढ़ कला जी नहीं ऊबने देती। द्वितीय सर्ग का दाम्पत्य जीवन हिन्दी में अनूठा एवं सर्वोत्तम है, साकेत का प्रथम सर्ग उसकी समता में नहीं टिक सकता। तृतीय सर्ग में लक्ष्मण-ऊर्मिला के वियुक्त होने के पूर्व की दशा का निरूपण और उनके आत्म-निवेदनों का बहुत ही विस्तृत रूप में चित्रण किया गया है। साकेत में ऐसा नहीं के बराबर हुआ है। आसन्न - विरह का जितना सुन्दर वर्णन ऊर्मिला के तृतीय सर्ग में हुआ है, उतना हिन्दी में तो कहीं हुआ ही नहीं, शायद संसार भर के काव्य में कहीं न हुआ हो। किन्तु कवि ने वन-गमन का कारण चिरप्रचलित कैकेयी-कांड नहीं माना। उसने कल्पना की है कि विवाह के बाद वर्षों अयोध्या में रह कर राम, लक्ष्मण और सीता दक्षिण भारत की ओर सांस्कृति-प्रसारार्थ गये थे, मानव के कल्याण के लिये गये थे। राम-काव्य में यह कारण कहीं नहीं दिया गया, हालांकि साकेत में ऐसी कुछ झलक अवश्य मिलती है। पर ऐसा कारण दिया जाना अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। राम महर्षि अगस्त्य के बाद वैदिक संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रचारक थे, ऐतिहासिक दृष्टि से यह सत्य है। हमारा मत है कि यदि राम का महान व्यक्तित्व न हुआ होता, तो भारत रूस-विरहित यूरोप के समान एक महाद्वीप होता, राष्ट्र नहीं, क्योंकि आकार, भाषा, रक्त तथा वर्ण का रूसेतर यूरोप के समान ही यहाँ भी बड़ा भारी वैविध्य सदैव रहा है। राम भारतीय राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ निर्माता थे, राष्ट्रीय ऐक्य के सर्वोत्तम प्रतीक थे, हमारी संस्कृति के सूर्य थे। उनके वन-गमन का कारण कुछ भी रहा हो, पर उनके जीवन का सबसे बड़ा कार्य वैदिक संस्कृति को पूर्ण क्रियात्मक रूप प्रदान करना तथा भारतीय राष्ट्र का निर्माण करना ही रहा है।

अपनी महान वीरता, सहनशीलता, संगठन-शक्ति, त्याग तथा सबसे बढ़ कर निष्काम प्रेम के बल पर वे इस राष्ट्र के निर्माता बने, भगवान बने। कुछ वर्ष पूर्व आचार्य विनोबा भावे ने वाल्मीकि की राम के लिये समुद्र से अधिक गंभीर तथा हिमालय से भी अधिक ऊँचे या महान अलंकार की व्याख्या करते हुये कहा था कि महर्षि ने एक ही उपमा में आसेतु हिमाचल सारा राष्ट्र राम में समाहित कर दिया। पुराणों के ऐक्य-सूचक प्राचीन मन्त्र यूरोप के कुछ विद्वानों के विभाजक तत्वों की भर्त्सना न कर पाते, यदि अगस्त्य एवं राम न हुये होते—

(१) उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तत् भारतं नाम भारती यत्र संततिः॥

(२) अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिका॥

(३) गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वती ।
नर्मदे सिंधु कावेरी जलेऽस्मिन संनिधुरु ।।

अतः नवीन की उक्त स्थापना निरी निराधार नहीं है। राष्ट्र की अभिनव-दशा की दृष्टि से तो वह वरेण्य एवं स्तुत्य भी है। दक्षिण में श्री रामास्वामी नायकर जैसे नेता राम पर जो निराधार आक्रमण कर रहे हैं। उनका संतुलित तथा सच्चा उत्तर ऐसी रचनायें हीं दे सकती हैं।

ऊर्मिला में विरह-वर्णन बहुत अधिक हुआ है। पर साकेत के विरह-वर्णन से वह भिन्न है। गुप्तजी और नवीन की ऊर्मिलाओं में बड़ा अन्तर है। गुप्त की ऊर्मिला के विरह के समय एक नव वधू है, नवीन की आठ-दस वर्षों तक प्रिय के साथ सुख-संतोष के साथ रह चुकने वाली गम्भीर पत्नी; गुप्त की ऊर्मिला पर आकस्मिक वज्रपात होता है, नवीन की ऊर्मिला का पति सुनियोजित उद्देश्य के लिए दक्षिण की ओर जाता है। दोनों की व्यथाओं में भी अन्तर होना स्वाभाविक है।

गुप्त जी के आसन्न-विरह-वर्णन में ऊर्मिला की व्यथा अधिक तीव्र दिखलाई गयी है, नवीन जी के विरह वर्णन में लक्ष्मण की। नवीन के वर्णन की समता गुप्त का वर्णन नहीं कर सकता, न विस्तार में, न गुण में। विरही होने वाले लक्ष्मण एवं ऊर्मिला का जो चित्र नवीन ने खींचा है, वह देव और रत्नाकर से प्रभावित होने पर भी स्वतन्त्र एवं बहुत अधिक उत्कृष्ट अपने ढंग का समूची हिन्दी में सर्वोत्तम है।

अकुलानी, अरुझानी वाणी,
पानी-पानी हृदय हुआ,
आँखों की बूंदों के मिस यह
हिय का संचित प्यार हुआ,
भाषा थकी, हृदय धड़के ओ
फड़के अधरों के पुट वे,
कंठ रुद्ध मन क्षुब्ध हुआ है,
रहे शब्द सब घुट घुट वे,
आंखें मिची, खिचीं आहें, ओ
सिहरी तन-रोमावलियां,
श्री ऊर्मिला नयन की ढरकीं,
लखन-चरण में अंजलियाँ।

× × ×

रह-रह एक दूसरे को यों
लखते वाटिकायें बीतीं,
गिरी शिथिल ये भुज लतिकायें
ऊपर की उठ उठ रीतीं।

× × ×

मौन वेदना बही आह से,
औ नयनों से अरुण व्यथा,
रुद्ध हिचकियों से निकली अति
करुण वर्णनातीत कथा।

× × ×

प्यार पगे, अनुराग रंगे,
निश्शब्द ठगे प्रिय भाव जगे,
त्रास भरे, निश्वास भरे, अति—
प्यास भरे, हिय-घाव लगे,
श्रमित, भ्रमित, कंपित, अति शंकित,
रंजित, संचित शब्द हुए,
थर थर सिहर-सिहर झर-झर कर
हिय-मुक्ता उपलब्ध हुए
तार बंधा हिचकी का, फूटा—
स्वर पीड़ा के पंचम का,
देख ऊर्मिला की गति, टूटा—
बाँध लखन के संयम का।
करुण कहानी हिय-अरुझानी,
छानी-मानी नहीं रही,
अकुलाती आंखड़ियों से वह—
पानी-पानी बनी, बही।
कहाँ श्रवण की तृप्ति ? औ कहां
अभिव्यक्ति हिय-भावों की ?
यहाँ मौन भाषा ने दे दी
साक्षी गहरे घावों की।

इस विस्तृत, पर सुगठित एवं सरस, निवेदन की चित्रमयता, गंभीरता

सरलता, कोमलता एवं अद्वितीयता किसी भी महान साहित्य के लिये गर्व का विषय बन सकती है। कवि ने नववधू ऊर्मिला एवं लक्ष्मण को कुछ प्रौढ़ायु का बना कर चित्रित किया है, फलत: उसके वर्णन में भावावेश भी गंभीर है। लक्ष्मण ऊर्मिला से जाने के लिये हाँ करा रहे हैं।

> तुम क्या जानों देवि, तुम्हारी—
> हाँ हाँ में कितना बल है:
> तुम क्या जानों कि इस तुम्हारी—
> स्वीकृति में कितनी कल है ?

कवि की ऊर्मिला का लक्ष्मण के प्रति निवेदन साधारण स्तर का ही है। कारण यह है कि वहाँ कवि अनुभूति को छोड़ कर आदर्श के पीछे जा पड़ा है। सीता और ऊर्मिला के वियुक्त होते समय का भी बड़ा ही हृदय-द्रावक वर्णन इसी सर्ग में हुआ है।

वियोग-मीमांसा स्वतंत्र रूप से रची गयी पदावली है, जो काव्य में जोड़ कर फिट कर दी गयी है। वियोग पर दर्शन तथा भावना की दृष्टि से नवीन ने जो विश्लेषण किया है, वह संसार-साहित्य की वस्तु है। पाँचवें सर्ग में ब्रजभाषा के ७०४ दोहों में जो वियोग-वर्णन है, वह रहस्य गर्भित है तथा प्रबंध की दृष्टि से ग्रंथ में स्वतंत्र अस्तित्व रखता प्रतीत होता है। यदि यह सर्ग नवीन-सतसई के रूप में प्रस्तुत किया जाता, तो सतसई-परंपरा की एक मनोरम कड़ी बनता। प्रबंध में यह मुक्त दोहावली जमती नहीं है। फिर भी, उसके भाव-सौंदर्य की अद्वितीयता असंदिग्ध है। अँतिम सर्ग में लंका-विजय को शस्त्र की नहीं, शास्त्र की विजय कह कर कवि ने अपने चिंतन का सुन्दर परिचय दिया है, पर भौतिकवाद, अध्यात्मवाद या साम्रा-ज्यवाद एवं प्रजावाद का विवेचन सृष्टा के राजनैतिक नेता होने की सूचना ही देता है।

गुप्तजी तथा नवीन की ऊर्मिलाओं में बड़ा अन्तर है। मैथिलीशरण को सबसे अधिक ध्यान ऊर्मिला का है, पूर्ण नियोजित, योजनाबद्ध। ग्रन्थ का शीर्षक फिर भी 'ऊर्मिला' नहीं है, क्योंकि कवि विषय का विस्तार चाहता है। नवीन का ध्यान ग्रन्थ का शीर्षक 'ऊर्मिला' होने पर भी, अपने विरह-सम्बन्धी विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति पर अधिक है, भौतिकवाद-अध्यात्मवाद के विवेचन-विश्लेषण पर अधिक है। स्पष्टत: मैथिलीशरण की ऊर्मिला अधिक संवेदनमयी, अधिक भावुक, अधिक जीवन्त एवं अधिक पूर्ण है। अपनी कोमल पदावली, अपनी गम्भीर विचार-धारा तथा अपनी मनोहर भाव-राशि के कारण कुल मिला कर नवीन की 'ऊर्मिला' की कृतित्व 'साकेत' के कृतित्व से पीछे भले ही न हो, यही क्यों, कामायनी

के बाद खड़ी बोली के किसी भी प्रबन्ध से पीछे भले ही न हो, पर ऊर्मिला की दृष्टि से मैथिलीशरण की समता नवीन नहीं कर सकते। जो पारिवारिकता, जो सुख-दु:ख का संगम, जो अन्तर्द्वन्द्व 'साकेत' की ऊर्मिला में दृष्टिगोचर होता है, वह 'ऊर्मिला' की ऊर्मिला में नहीं। इसका कारण स्पष्ट है। साकेत एक शुद्ध प्रबन्ध-काव्य है, ऊर्मिला एक भावात्मक विचारात्मक काव्य है, प्रबन्ध तो तथाकथित ही।

ऊर्मिला का सम्यक् मूल्यांकन एक सुविस्तृत निबन्ध का विषय है, यहां पर हमारी सीमा से बाहर। फिर भी इतना स्पष्ट है कि अपनी आर्द्र तथा उच्च भाव-राशि एवं अपनी पुष्ट तथा सुश्रृंखलित विचार-विभूति में 'ऊर्मिला' आधुनिक काल की ही नहीं, समग्र हिन्दी-साहित्य की एक अत्यन्त महान एवं अमर रचना है। पर इस अमरता का कारण कवि की अनुभूति एवं विचारधारा है, ऊर्मिला का चित्र नहीं, जबकि साकेत की अमरता का कारण ऊर्मिला ही है। साकेत, साकेत होने पर भी ऊर्मिलामय है, ऊर्मिला ऊर्मिला होने पर भी ऊर्मिलामय नहीं है।

साकेत का ऊर्मिला पर क्या प्रभाव पड़ा है, यह विषय पृथक् अनुसंधान से सम्बद्ध है। बाह्यतः ऊर्मिला पर साकेत का कोई प्रभाव नहीं दृष्टिगोचर होता, पर हो सकता है कि प्रेरणा उधर से भी मिली हो। नवीन ने ग्रन्थ मैथिलीशरण को ही समर्पित किया है।

× × × ×

साकेत का विरह-वर्णन हिन्दी का एक अमर विरह-वर्णन है। आधुनिक युग के विरह-काव्य पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा है। मैथिलीशरण ने ऊर्मिला के चरित्र को राम-काव्य का एक आवश्यक अंग बना दिया है। यह साधारण बात नहीं है। अब चाहे कोई हरिऔध वैदेही-बनवास लिखे, या कोई बल्देवप्रसाद साकेत-सन्त, ऊर्मिला राम-काव्य में आयेगी ही। नवीन की ऊर्मिला इस दिशा का सबसे महान प्रयास है।

(४) जयशँकर प्रसाद का विरह-वर्णन

प्रसाद निर्विवाद रूप से आधुनिक काल में हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। कवि के रूप में हरिऔध, रत्नाकर और मैथिलीशरण के साथ-साथ उनका नाम सदैव लिया जायगा। यही नहीं, उनकी नवीनता तथा मौलिकता हरिऔध एवं रत्नाकर में दुर्लभ है, उनकी कोमलता एवं दार्शनिकता मैथिलीशरण

से अप्राप्य है। फिर भी, कुल मिला कर हरिऔध, रत्नाकर एवं मैथिलीशरण प्रसाद के स्तर के कवि हैं, भले ही उक्त महाकवियों की कोई एक कृति कामायनी की समता न कर सके। नाट्यकार के रूप में प्रसाद का स्थान कदाचित् सर्वश्रेष्ठ ही बना हुआ है, यद्यपि उनके नाटकों के द्वारा आधुनिक मस्तिष्क को रस-पिपासा शांत नहीं होती। उनके उपन्यास बहुत उच्च कोटि का कथानक, भाव-भूमि, विचार-भूमि तथा जीवन-दर्शन नहीं रखते—संसार में ऐसे उपन्यास हैं ही कितने ! ..., फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बड़ा महत्व है। उनकी भावनामूलक कहानियां हिन्दी की चिर-संपति बन चुकी हैं, जो सरलता से रवीन्द्र की कहानियों की समता कर सकती हैं। उनके निबन्ध, अपनी विवादास्पद निष्पत्तियों के होते हुये भी, अत्यन्त उच्चकोटि के हैं, आचार्य शुक्ल के निबन्धों के स्तर के। एक विचारक-कवि के रूप में रवीन्द्र को छोड़ कर आधुनिक भारत का शायद ही कोई कवि उनकी समता कर सके। बहुमुखी प्रतिभा की दृष्टि से हिन्दी ही नहीं, समग्र आधुनिक भारतीय वाङ्मय में बंगला के सीमांत रवीन्द्र और उड़िया के अद्वितीय साहित्य-सेवी फकीरमोहन सेनापति को छोड़कर उनकी तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती।

प्रेमचन्द कथा के क्षेत्र में प्रसाद से अधिक विशद एवं उत्कृष्ट हो सकते हैं, पर एक तो उनका क्षेत्र मुख्यतः कथा तक ही सीमित है, दूसरे उनका अध्ययन भी साधारण स्तर का ही प्रतीत होता है। जीवन के प्रति कोई तलस्पर्शी, एकरूप तथा गम्भीर दर्शन प्रेमचन्द में नहीं है। उनकी सामाजिक चेतना बहुत ऊपर की चीज़ है, उनकी विचार विभूति स्थूल है। प्रसाद का जीवन-दर्शन निवृत्ति-परक एवं वैयक्तिक स्तर पर असामयिक है, पर वह गंभीर एवं तलस्पर्शी है, प्रेमचन्द से अधिक ठोस एवं चिरंतन। मैथिलीशरण का महत्व भारतीय संस्कृति के व्याख्याता के रूप में है। अतः प्रसाद से उनकी तुलना एक कलाकार के रूप में कदाचित् वैसी ही की होगी जैसी व्यास और कालिदास की तुलना। आचार्य शुक्ल विचार एवं विवेचन के क्षेत्रों में जितना गहरे उतरे हैं, उतना प्रसाद कविता को छोड़ कर अन्य किसी क्षेत्र में नहीं उतर सके, यह ठीक है, पर एक तो प्रसाद कलाकार थे, साहित्य का साहित्य लिखने वाले विवेचक नहीं, दूसरे उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी, यही नहीं, सर्वत्र कुछ-बहुत सफल भी।

आचार्य द्विवेदी का गुरु निर्माण-कार्य एवं युग-निर्माण आधुनिक काल ही नहीं, विश्व-साहित्य में अतुलनीय है, पर स्रष्टा के रूप में उनको अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। संक्षेप में, प्रसाद का कवि, उनका कथाकार, उनका विवेचक, उनका विचारक एवं उनका निर्माता मिल कर उन्हें इस काल का ही नहीं, तुलसी

सूर और कबीर के बाद समूचे हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्तित्व घोषित करता है।

प्रसाद का उपनाम उसके काव्यगत गुण की दृष्टि से नितांत अननुकूल है। उनकी श्रेष्ठ स्तर की कविता में उच्च कोटि का लालित्य है, गंभीर कला है, तलस्पर्शी मौलिकता है, पर उसमें प्रसाद गुण नहीं है। उनके विरह-काव्य में भी यही बात है। वह दुरूह है।

अधिकांश विरह-वर्णन करने वाले महाकवि केवल विरह के कवि ही नहीं हैं, विरह उनके सृजन का एक महत्वपूर्ण अंग मात्र है। वाल्मीक, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर, जायसी, मैथिलीशरण इत्यादि इस तथ्य के निदर्शन हैं। प्रसाद के लिए भी यही बात है।

प्रसाद की कविता में किया गया विरह-वर्णन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, (१) प्रबन्धगत विरह-वर्णन, (२) मुक्तक विरह-वर्णन। अपने प्रबन्ध-काव्यों में प्रसाद ने प्रेम-पथिक तथा कामायनी में विरह का भी वर्णन किया है। मुक्तक विरह-वर्णन झरना की कतिपय कविताओं, आंसू तथा लहर के कुछ प्रगीतों में हुआ है।

हिन्दी-साहित्य में वैयक्तिक स्वच्छंदतावादी काव्य-धारा का जो प्रवर्तन घनानन्द ने किया था, आधुनिक काल में प्रसाद उसके सबसे प्रबल वाहक थे। घनानन्द का स्वच्छंदतावाद प्रेम एवं वियोग तक ही सीमित रहा। भक्ति भी तो प्रेम का ही एक रूप है। पर प्रसाद कुछ और आगे बढ़े। प्रसाद आधुनिक हिन्दी-काव्य में स्वच्छंदतावाद के सूत्रधार थे। उनकी प्रतिभा शास्त्रीय न होकर स्वच्छंद थी। उनके काव्यों, नाटकों तथा कलाओं में शास्त्रीयता का विवेचन हुआ अवश्य है, पर वह मूलगत रूप में समीचीन नहीं है। प्रसाद के प्रबन्धों में भी यद्यपि स्वच्छंदता विद्यमान है, तथापि वह परंपरागत अधिक है, नवीन एवं उन्मुक्त कम। इसका कारण है। मुक्तक के क्षेत्र में स्वच्छंदता के लिए जितना व्यापक अवकाश रहता है, उतना प्रबन्ध के क्षेत्र में नहीं। दूसरे प्रसाद आधुनिक कविता में स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तक थे, प्रथम व्यक्ति थे, अतः उनमें पूर्व-संस्कारों का कुछ-न-कुछ समावेश अप्रतिवार्य है।

जो स्वच्छंदतावाद निराला में दृष्टिगोचर होता है; मुक्तक काव्य में भी, प्रबन्ध-काव्य अर्थात् तुलसीदास में भी, वह प्रसाद में नहीं हो सकता।

प्रसाद अपने प्रबन्धों के विरह-वर्णन में परंपरा से आगे नहीं बढ़ सके, पर वे इतने परंपरावादी भी नहीं हैं कि दूत-विधान षड्ऋतु-वर्णन या कामदशाओं के

चित्र खींचते रहें। साथ ही प्रसाद के कवि ने द्विवेदीयुग के आदर्शप्रधान वातावरण में अपनी प्रारंभिक सांसें ली थीं, विकास पाया था, जिसका प्रभाव उस पर किसी-न किसी रूप में अन्त तक पड़ता रहा।

प्रसाद के प्रबन्धों में प्रेमपथिक तथा कामायनी में विरह-वर्णन अच्छा हुआ है। प्रेमपथिक की रचना सं० १९६२ में ब्रजभाषा में हुई थी। जिसका परिवर्तित, परिवर्द्धित, अतुकाँत खड़ीबोली रूपांतर सं० १९७० में किया गया। इस समय द्विवेदी-युग अपने उत्कर्ष पर था। राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संघर्ष भी अपने प्रारंभिक रूप में प्रकट हो रहा था। चारों ओर आदर्श एवं त्याग का बोलबाला था। प्रेमपथिक के नवोदित कलाकार पर यह प्रभाव खूब उभर कर पड़ा है। प्रेम की चिर-प्रचलित त्याग-मूलक एवं आदर्श-बोझिल परिभाषाओं को खड़ीबोली में रूपांतरित करने में प्रसाद को अच्छी सफलता मिली है। विरह-वर्णन की दृष्टि से इस खंड-काव्य में कोई नवीनता नहीं है। सच पूछा जाए तो, इसमें विरह का वर्णन नहीं, उसकी आदर्शमूलक रूपरेखा प्रस्तुत की गई है :

पथिक, प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है
घनी छांह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए,
प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-बिहारी होने का फल पाओगे,
इसका निर्मल विधु नीलांबर-मध्य किया करता क्रीड़ा
चपला जिसको देख चमककर छिप जाती है घनपट में।
प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्तिमात्र में बना रहे
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप मैं जहाँ कि सबको समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना
किन्तु पहुंचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं
अथवा उस आनंद-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं।

× × × ×

इसका है सिद्धान्त-मिटा देना अस्तित्व सभी अपना
प्रियतम-मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत् जग भर में,
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है,

हो जब ऐसा वियोग तो संयोग वही हो जाता है
यह संज्ञाएँ उड़ जाती हैं, सत्य तत्व रह जाता है ।[१]

कहना न होगा कि प्रेम एवं वियोग की उक्त रूपरेखा जन-साधारण एवं काव्य में प्रचलित एक रूढ़ि-सी है । प्रेमजन्य व्यथा के अतिरेक में सेवा-व्रत या जनमङ्गल-कामना मनोवैज्ञानिक एवं यथार्थ आधार भी रखती है, पर विश्व को प्रियतम-मय देखना केवल शाब्दिक इन्द्रजाल है, और कुछ नहीं । द्वैत-भावना के बिना प्रेम नहीं टिक सकता, उन्माद या आत्म-विस्मरण की स्थिति में स्व का कुछ समय के लिए मिट-सा जाना और बात है । पर एकदम से विश्व को प्रियतम-मय देखना मानवीय प्रेम का विषय नहीं, योग तथा दर्शन का विषय है । प्राकृतिक तत्त्वों में प्रियतम के आभास की कल्पना, कुछ क्षणों के लिए स्व का तिरोधान-सा, दूसरों की कल्याण-कामना द्विवेदी-युगीन विरह-वर्णन की कतिपय विशिष्ट प्रवृत्तियाँ हैं, जो प्रियप्रवास में आश्रम खोलने तक की स्थिति में पहुंच गई हैं । पर प्रेमपथिक का उक्त उपदेश प्रियप्रवास, साकेत तथा पथिक के आदर्शवाद का भी अतिक्रमण कर गया है । प्रेम-पथिक के वियोग में अश्रुओं की आर्द्रता का स्थान उपदेश की शुष्कता ने ले लिया है, वैयक्तिक कामना की स्पृहणीय ज्वलनशीलता का स्थान प्रचलित दार्शनिक सूक्तियों की कृत्रिम शीतलता ने ले लिया है, मिलन की तीव्र स्पृहा का स्थान वियोग-स्तवन की निवृत्तिमूलक स्थापना ने छीन लिया है । छात्रों के लिए प्रेरणा तथा उपदेश के चिर-प्रचलित तत्व उसमें चाहें भरे पड़े हों, पर प्रेम एवं विरह की तीव्र व्यथा का जैसा सजीव वर्णन उसी दशाब्दी में रचित पंत की ग्रन्थि में हुआ हैं, वैसा प्रेमपथिक में नहीं हो सका । कवि के प्रेम-पथिक की प्रेमिका का आदेश हैं ।

प्रकृति मिला दो विश्वप्रेम में, विश्व स्वयं ही ईश्वर है । ऐसा लगता है जैसे कोई धर्म-गुरु अपने चंचल-चित्त वाले शिष्य को उपदेश दे रहा है । सारी व्याख्या प्रेम के स्वरों में न बोल कर उपदेश के स्वरों में बोलती है, जिसमें उज्वल एवं ऊँचा आदर्श तो है, पर स्वाभाविकता, मार्मिकता, सजीवता एवं नवीनता नहीं । इसके लिए हम कवि को कोई विशेष दोष नहीं दे सकते । जिस युग में प्रेम-पथिक की रचना हुई, वह युग काव्य में यथार्थ का युग कम, आदर्श का युग अधिक था । सिद्ध-हस्त तथा प्रौढ़ कवि तक आदर्श से आक्रांत हो रहे थे । इस स्थिति में अल्प-विकसित तरुण प्रतिभा का आदर्शातिरेक निरा अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । तरुण प्रतिभा अतिरेक का सदैव सम्मान करती आई है, चाहे वह नग्नता का अतिरेक हो या शिष्टता का, यथार्थ का अतिरेक हो या आदर्श का, आस्तिकता का अतिरेक हो या नास्तिकता का ।

१-- प्रेम-पथिक, पृष्ठ २२-२३ ।

कामायनी में विरह-वर्णन कथानक के अनुरोध-रक्षणार्थ हुआ है, कवि की रुचि एवं लगन से अनुप्राणित होकर नहीं। गर्भिणी श्रद्धा को छोड़कर मनु के भाग जाने पर कामायनी में विरह-वर्णन की अपेक्षा एक स्वाभाविक अपेक्षा है, जो कवि ने पूरी नहीं की।

कवि की कामना थी कि कामायनी में विरह-वर्णन किया जाए, पर कदाचित् जीवन की व्यस्तता, व्यथा तथा अस्वस्थता ने उसे पूर्ण नहीं होने दिया। श्री विनोद-शङ्कर व्यास ने लिखा है। प्रसाद जी का विचार था कि आँसू को ही कामायनी का एक सर्ग रखें, किन्तु कथानक की कठिनाई के कारण उन्होंने वैसा न करके आँसू को स्वतन्त्र ही रखा।"[1] आँसू को स्वतन्त्र रखना सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि प्रसाद के विगलित अनुभव श्रद्धा के करुण अनुभवों का स्थान ग्रहण करने में सफल न हो सकते थे। अपनी स्वतन्त्र सत्ता में ही उनका महत्त्व है। पर कामायनी में विरह का को रूप है, वह ग्रन्थ की महिमा के अनुरूप नहीं है। उसमें श्रद्धा के व्यक्तित्व के अनुरूप उदात्तता और कोमलता तो है, पर वेदना की तीव्रता, स्वाभाविकता तथा नवीनता नहीं है। परिस्थिति के अनुकूल व्यथा का जो तीव्र प्रवेग कामायनी के विरह-वर्णन में होना चाहिए था, वह नहीं दृष्टिगोचर होता।

कामायनी में विरह का प्रारम्भ इड़ा सर्ग से होता है। मन की परवशता को महादुःख घोषित करने वाले मनु सहज-लब्ध सुखों की खोज में ईर्ष्या सर्ग में ही गर्भिणी श्रद्धा को छोड़कर भाग खड़े होते हैं। तीन अरब आबादी वाले आधुनिक विश्व में भी पुरुष का मन अपनी सन्तान, विशेषतः पहली संतान, को देखने के लिए व्याकुल रहता है। जिस आदिमानव ने सृष्टि के विकास का समारम्भ किया था, उसके अंतस् में आत्मज के दर्शन की कितनी तीव्र अभिलाषा रही होगी, इसकी कल्पना कठिन नहीं है। पर प्रसाद कामायनी की कथा का निर्धारण करने में इस सहज मानव-प्रवृत्ति की अवहेलना कर गए हैं। मनु यदि यह न जानते होते की श्रद्धा गर्भिणी है, उसके सन्तान उत्पन्न होगी और भाग खड़े होते तो उनके चरित्र की कुछ संरक्षा हो जाती और उनका चरित्र सदोष होते हुए भी नल के चरित्र जैसा बन जाता। पर कवि ने इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार नहीं किया। प्रसाद के मनु का श्रद्धा को गर्भिणी छोड़कर भाग खड़ा होना मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक दोनों दृष्टियों से सदोष है। प्रसाद में चरित्रों के उदात्तीकरण की वह क्षमता न थी जो कामी दुष्यन्त को धीरोदात्तनायक बना देती है, क्रोधी लक्ष्मण को संयत एवं स्वाभाविक रूप में चित्रित कर देती है।

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृष्ठ १९६।

मनु के ज्वलनशील अन्तर का जो चित्र ईर्ष्या सर्ग में प्राप्त होता है, वह बहुत गम्भीर नहीं है। उनके जाते समय श्रद्धा की शांति निरी अस्वाभाविक एवं काव्यत्वहीन है। केवल चार पंक्तियों में कवि ने छुट्टी पाली है।

> कह, ज्वलनशील अन्तर लेकर
> मनु चले गए, था शून्य प्रांत,
> रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही !
> वह कहती रही अधीर श्रांत।

नारी का पुरुष जब कुछ समय के लिए परदेश जाता है, तब उसकी जो दशा होती है, वैसी दशा भी यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होती। यदि प्रबन्धकार का सबसे बड़ा कौशल मार्मिक स्थलों की पहचान है, तो प्रसाद यहाँ असफल हुए हैं। यदि कोई कहे कि प्रसाद का लक्ष्य यहाँ विरह-वर्णन नहीं है, तो भी उक्त असफलता पर पर्दा नहीं पड़ सकता। मानस में सीता-हरण के बाद राम का वास्तविक लक्ष्य सीता की खोज करना था। पर लक्ष्य की धुन में तुलसीदास ने स्वाभाविकता की उपेक्षा नहीं की और राम के विरह का सुन्दर निवेदन प्रस्तुत कर दिया है।

मनु का उक्त प्रकार का भागना बड़ा ही कायरतापूर्ण है। मिल्टन के आदिमानव की तुलना में प्रसाद का आदिमानव निम्न स्तर का ठहरता है। आदम ईव के प्रेम के लिए ज्ञान-तरु का फल खाकर, ईश्वर के आदेश की अवहेलना कर अमरत्व तक को ठुकराने का साहस करता है। उसका प्रेम धन्य ही नहीं, स्वाभाविक भी है, क्योंकि प्रेम अपने में ही सबसे बड़ा स्वर्ग है, जिससे बड़ा कोई और स्वर्ग हो ही नहीं सकता। पर प्रसाद के मनु कायरता का प्रदर्शन करते हैं, जिसका कोई बहुत ठोस कारण भी कवि नहीं दे सका। नल ने दमयन्ती को वन में अकेली छोड़ा था पर उसका कारण उनकी अपनी असमर्थता की ग्लानि थी, जो उनके साहस पर प्रश्नवाचक चिन्ह भले ही लगाती हो, पर अस्वाभाविक नहीं है। फिर दमयन्ती गर्भिणी न थी और नल ने उसे सोती छोड़ा था। यही नहीं, कहीं-कहीं यह भी मिलता है कि उन्होंने दमयन्ती के वस्त्र पर अपने रुधिर से लिख दिया था। वट वृक्ष से दक्षिण दिशा मे विदर्भ के रास्ते चली जाना, फिर बाईं दिशा में कोशल को चली जाना। जहाँ तुम्हारी रुचि हो, उधर जाना।

> बड़-रूक्खह दाहिण दिसिहिं जाइ विदब्भहिं मग्गु,
> वाम-दिसिहिं पुण कोसलिहिं जहिं रुच्चइ लहिं लग्गु।[1]

१—साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृष्ठ ३३।

इन स्थितियों में नल की कायरता उतनी गर्हित नहीं लगती, जितनी कामायनी की स्थितियों में मनु की कायरता लगती है। मनु का नायकत्व प्रसाद ने जितने निम्न धरातल पर प्रस्तुत किया है, उतना कदाचित् भारत के किसी भी अन्य उत्कृष्ट काव्य में नहीं प्रस्तुत किया गया।

इड़ा सर्ग में श्रद्धा-विहीन मनु के नीरस जीवन का चित्रण अच्छा है, पर उनके हृदय में श्रद्धा को छोड़ कर भाग खड़े होने का क्षोभ चित्रित नहीं किया गया। हाँ, उन्हें काम अवश्य धिक्कृत करता है :

मनु ! तुम श्रद्धा को गए भूल,
उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल,

तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की,
समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।

और—

जब गूँजी यह वाणी तीखी कंपित करती अंबर अकूल,
मनु को जैसे चुभ गया शूल।

यदि मनु स्वयं अपने किये पर पश्चात्ताप करते, तो अच्छा होता, उनका चरित्र ऊँचा उठ गया होता। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है : यदि मनु पश्चात्ताप करते, तो उन्हें श्रद्धा के पास लौटने की तीव्र इच्छा ही उठती, जिससे कथा-क्रम का प्रवाह सम्यक् रूप से न गतिशील हो पाता।" पर यह प्रश्न तलस्पर्शी नहीं है। पश्चात्ताप करने के बाद भी मनु की ग्लानि और लज्जा उन्हें श्रद्धा की ओर जाने से रोककर कथा को गतिशील कर सकती थी "मैं कौन-सा मुँह लेकर श्रद्धा के पास जाऊँ" इतनी ही कथा को गतिशील करने के लिए पर्याप्त होता।

स्वप्न सर्ग में श्रद्धा के विरहोद्गारों के दर्शन होते हैं। वह शलभ-हीन दीपक की भाँति अकेली जल रही है। कभी उसे विरह की दशा में प्रकृति परिवर्तित प्रतीत होती है, कभी स्मृति के झोंके आते हैं, कभी विस्मरण को आमंत्रित करने की चेष्टा होती है। नया कुछ भी नहीं है, पर प्रभावशाली सब कुछ है :

आज सुनूँ केवल चुप होकर, कोकिल जो चाहे कह ले
पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले,
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या,
कामायनि, तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सह ले।
विरल डालियों के निकुंज सब ले दुख के निश्वास रहे,
उस स्मृति का समीर चलता है मिलन-कथा फिर कौन कहे ?

आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना,
किन चरणों को धोऐंगे जो अश्रु पलक के पार बहे।

अरे मधुर हैं कष्टपूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ,
जब निस्सँबल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियां,
वही एक जो शून्य बना था चिर-सुन्दरता में अपनी,
छिपा कहीं, तब कैसे सुलझे ऊलझी सुख-दुख की लड़ियां।

विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमें कुछ सार नहीं,
वह जलती छाती न रही अब वैसा शीतल प्यार नहीं.
सब अतीत में लीन हो चली, आशा, मधु, अभिलाषाएँ,
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं।

उक्त छन्दों में पहले जैसी परागों की भीड़ का अभाव जितना भोला-भाला है, पलक के पार बहने वाले आँसुओं का किन चरणों के धोने का प्रश्न उतना ही शीतल एवं पवित्र भी है, प्रिय की निष्ठुर विजय होने पर भी श्रद्धा की हार का न होना भी बड़ा स्वाभाविक है, सात्विक है। किन्तु एक बात खटकती है। श्रद्धा ने कहीं भी मनु के प्रति खीझ नहीं प्रकट की। परिस्थिति का अनुरोध तो ऐसा था कि वह मनु पर क्रोध भी प्रकट कर सकती थी। पर यह उसके रूप, नाम तथा गुण के अनुकूल न होता। पर खीझ का भी न होना उसके चरित्र को, अपनी सीमा में अजातशत्रु की मल्लिका की सी, अस्वाभाविकता प्रदान करता है, जिसमें कवित्व का अभाव ही प्रतीत होता है। प्रसाद के नारी-चित्र ज्यादातर दो छोरों पर खड़े मिलते हैं। एक छोर पर मल्लिका, देवसेना, मालविका, कोमा, श्रद्धा इत्यादि खड़ी कर दी गई हैं, दूसरे पर छलना, विजया, अनंतदेवी इत्यादि। प्रसाद की नारियां मध्यमा प्रतिपदा का सम्मान नहीं करतीं। वे दाएँ या बाएँ ही चलती हैं। सड़क पर चलने वालों को दृष्टि में रखते हुए आलोचकों को यह किनारे चलने की प्रवृत्ति बहुत रुचिकर है, जो स्वाभाविक ही है। श्रद्धा दाएँ किनारे पर चलती है। उसमें सूर की गोपिकाओं की खीझ दिखाने पर प्रसाद का हृदय-पक्ष कमजोर हो जाता। कालिदास और भवभूति की पति के द्वारा निर्वासित सीता स्वयं अपने प्राण-प्रिय के प्रतिकूल कुछ भी नहीं कहती। राम-काव्य की मर्यादा को देखते हुए ऐसा उचित भी ठहराया जा सकता है। फिर भी, कालिदास के वाल्मीकि और भवभूति के जनक राम पर क्रुद्ध होते हैं। यह क्रोध कालिदास और भवभूति का मानव-हृदय के प्रति, उसका सहजात राग-द्वेष के प्रति सम्मान का भाव प्रकट करता है। पर प्रसाद का हृदय-पक्ष इधर

नहीं जाता। फिर भी, प्रसाद के हृदयपक्ष की मनोवैज्ञानिकता का एकांतस्तवन ही अधिक सुनाई पड़ता है।

श्रद्धा के विरहोद्गारों में कहीं-कहीं प्रसाद का कंठ भी स्वर छेड़ देता है, पर ऐसे स्वर अस्वाभाविक कहीं नहीं होने पाए। निम्नलिखित पंक्तियों में लहर के 'मुझको न मिला रे कभी प्यार' के कवि के—

पागल रे ! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब—

स्वर श्रद्धा के अनुकूल रूप बनाकर उसके स्वर बनने का प्रयास कर रहे हैं—

विनिमय प्राणों का वह कितना भय-संकुल व्यापार अरे !
देना हो जितना दे दे तू, लेना कोई यह न करे।

यहाँ भय शब्द के प्रयोग पर यदि कोई चाहे, तो आपत्ति प्रकट कर सकता है। प्रेम भयङ्कर है, यह कभी-कभी सच भले ही हो जाता हो, पर ऐसा कहने को जी नहीं चाहता। जहाँ तक हृदय के लेने और देने का सम्बन्ध है प्रसाद अधिकांश उर्दू-शायरों की तरह "देने और केवल देने" के कवि थे। अतः यदि श्रद्धा का रुझान भी हृदय के देने की ओर अधिक है, तो स्वाभाविक ही है।

"तेहि नौ दिवसा गताः" की स्मृति दिलाने वाले लहर के 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे'—स्वर श्रद्धा को जिस प्रकार छलते हैं, वह छलना बहुत ही मर्मस्पर्शी है, हृदय-द्रावक है, उच्च कोटि का है—

वे कुछ दिन जो हँसते आए अन्तरिक्ष अरुणाचल से,
फूलों की भरमार स्वरों का कूजन लिए कुहक बल से,
फैल गई जब स्मिति की माया, किरन-कली की क्रीड़ा से,
चिर प्रवास में चले गए वे आने को कह कर छल से।

यहाँ 'चिर' शब्द का प्रयोग रस की दृष्टि से अनुचित एवं कथा की दृष्टि से अस्वाभाविक है। नारी-हृदय की वियोग-व्यथा 'चिर' के विशेषण का सम्मान कभी नहीं करती, परिस्थिति चाहे कैसी भी हो। फिर श्रद्धा की परिस्थिति निराशा के गर्त में गिरकर ही सन्तुष्ट होने की दशा में थी भी नहीं।

श्रद्धा की प्रतीक्षाजन्य आकुलता का शब्द-चित्र प्रसाद ने बहुत ही सजीव खींचा है, जिसकी सार्थकता को 'परदेसी' शब्द कई गुना अधिक बढ़ा देता है। कभी-कभी एक शब्द ही पूरे छन्द को चमका देता है, 'घन घुमडि नभ गरजत घोरा।

प्रियाहीन डरपत मन मोरा ।।' की अर्द्धाली में 'डरपत' शब्द का प्रयोग ऐसा ही है। प्रसाद के निम्नलिखित छंद से 'परदेसी' शब्द का प्रयोग भी ऐसा ही है :

बनबालाओं के निकुञ्ज सब भरे वेणु के मधुस्वर से,
लौट चुके थे आने वाले सुन पुकार अपने घर से,
किन्तु न आया वह परदेसी युग छिप गया प्रतीक्षा में,
रजनी की भीगी पलकों से तुहिन-विंदु कण-कण बरसे ।

कामायनी के स्वप्न सर्ग में संयोग-वात्सल्य एवं वियोग-शृङ्गार का मिश्रण भी दृष्टिगोचर होता है, पर वह यशोधरा-जैसा पुष्ट एवं विगलित नहीं है । प्रिय से विरहित पुत्रवती का वात्सल्य भी व्यथा-विगलित होता है, क्योंकि पुत्र के, प्रिय के प्रतिनिधि पुत्र के, प्रतिक्षण सुख के लिए विरहिणी रोती नहीं, चिल्लाती नहीं, ऐसा करने पर उसका पुत्र भी अनुकरण करेगा, रोएगा, चिल्लाएगा । अतः वह तभी रोती है, जब पुत्र सो जाता है, फिर भी धीरे-धीरे, समझ-समझ कर, क्योंकि उसके रोदन मे भी मातृत्व का उत्तरदायित्व मिला रहता है । यशोधरा में ऐसा हुआ है ।

पर कामायनी में ऐसा नहीं हुआ है । इसका कारण है । प्रसाद का वात्सल्य रस में प्रवेश साधारण स्तर का ही है । इसे ध्यान में रखने पर वर्णन सजीव ही प्रतीत होगा ।

श्रद्धा-विहीन मनु कभी-कभी जीवन के द्वन्द्वों से आक्रांत होकर अपनी प्रिया की चलती हुई स्मृति कर लेते हैं ।

श्रद्धा का अधिकार समर्पण दे न सका मैं,
प्रतिपल बढ़ता हुआ भला कब कहां रुका मैं ।

पर ऐसी स्मृति प्रासंगिक है, हार्दिक नहीं । इसे स्मृति कहना ही उचित न होगा, यह तो प्रसङ्गवश निकल पड़ने वाले उद्गार हैं । पता नहीं, कैसे आँसू का सफल विरही कवि मनु को इतना हृदयहीन चित्रित कर गया !

स्वप्न में मनु को विपत्ति में पड़ा देख श्रद्धा अपने पुत्र मानव को लेकर उसे ढूँढ़ने निकल पड़ती है । वह पूछती फिरती है कि मेरा प्रवासी कहाँ है ? उसके उद्गारों में नारी का चिरंतन प्रेम, विश्वास तथा समर्पण का भाव अत्यन्त उदात्त रूप में प्रकट हुआ है—

अरे बता दो मुझे दया कर,
कहाँ प्रवासी है मेरा ?

इसी बावले से मिलने को,
डाल रही हूँ मैं फेरा।
रूठ गया था अपनेपन से
अपना सकी न उसको मैं,
वह तो मेरा अपना ही था
भला मनाती किसको मैं।
यही भूल अब शूल-सदृश हो
साल रही उर में मेरे,
कैसे आऊँगी उसको मैं
कोई जाकर कह दे रे!

यहाँ 'बावले' का प्रयोग तथा शब्दावली की ध्वनि प्रिय के प्रति वियोगोद्गारों के अनुकूल नहीं है। पुत्र के प्रति वियोग होता, तो बात और थी। श्रद्धा के प्रति कवि की आवश्यकता से अधिक आस्था यत्र-तत्र स्वाभाविकता का अतिक्रमण कर जाती है। प्रसाद ने अजातशत्रु में मल्लिका का भी ऐसा ही, या इससे भी अधिक, विचित्र चित्र प्रस्तुत किया है। उपर्युक्त पद्यों का आभ्यंतर सर्वथा उदात्त है, पर बाह्य प्रसङ्ग के अनुकूल नहीं बन पड़ा।

परंतु श्रद्धा अपनी जिस भूल की चर्चा करती है, वह बड़ी गहरी चीज है। वियोग में हमें प्रिय के गुणों का स्मरण अधिक आता है, दोषों का नहीं। वियोग की दशा में अपनी भूलों पर ध्यान अधिक जाता है। यही स्वाभाविक प्रवृति श्रद्धा से भूल शब्द का प्रयोग करवा रही है अन्यथा उसने कोई भूल की ही नहीं थी।

निर्वेद सर्ग के अंत में मनु ग्लानि एवं संकोचवश सारस्वत नगर तथा श्रद्धा इत्यादि को छोड़ कर फिर भाग खड़े होते हैं। पता नहीं, कवि को मनु को बार-बार भगाने में क्यों इतनी रुचि है। जो शाँति मनु को आनंद सर्ग में मिली, उसकी प्राप्ति के लिए वे श्रद्धा से अनुरोध कर सकते थे, बिना भागे भी काम चल सकता था। पर कवि मनु को भगाए बिना नहीं मानता। मनु के भाग जाने पर श्रद्धा फिर उन्हें खोजने निकल पड़ती है। निकलते समय वह एक बहुत बड़ा त्याग करती है, अपने पुत्र मानव को इड़ा को दे देती है। इस प्रदान का चित्रण यदि सम्यक् रूप से किया गया होता, तो बहुत हृदय-द्रावक होता। मानव को इड़ा को देते समय, उसे छोड़ कर मनु की खोज के लिए प्रस्थान करते समय उच्च कोटि के वात्सल्य-वियोग की निष्पत्ति हो सकती थी, हम तो कहेंगे कि होनी चाहिए थी। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। मार्मिक स्थलों की पहचानने का प्रसाद कितना कम प्रयत्न करते थे, यह इसका एक बड़ा निदर्शन है। वात्सल्य रस में उनका

प्रवेश बहुत साधारण स्तर का था, यह भी यहाँ स्पष्ट हो जाता है। यदि कोई यहाँ कहे कि कथा-प्रवाह की तीव्रता में ऐसे प्रसंग छूट गए हैं, तो काम नहीं चलेगा। शकुंतला से गंधर्व-विवाह करके तथा उसे गर्भिणी छोड़ कर दुष्यंत अपनी राजधानी को लौट गए। कण्व ऋषि के आगमन पर शकुंतला प्रिय के घर चली। कथा-क्रम यहाँ तीव्रता का अनुरोध कर रहा है। पर मर्मस्पर्शी स्थलों के अद्वितीय पारखी कालिदास ने शकुंतला के प्रस्थान के अवसर का हृदय-द्रावक वर्णन करने में पूरा उत्साह दिखलाया है। इससे उसके महान ग्रंथ का मूल्य घटा नहीं है, बढ़ा ही है। जब कालिदास कथा-क्रम की तीव्रता पर कलात्मक-भावात्मक नियंत्रण एक नाटक में कर सकता है, तब प्रसाद एक महाकाव्य में क्यों न कर सकते थे ?

मनु को खोजने के लिए प्रस्थान करते समय भावनामयी श्रद्धा जो प्रेमोद्गार प्रकट करती है, वे विश्वास एवं आस्था की विभूति से भली भाँति संपन्न हैं, 'जापर जाकर सत्य सनेहू। सो तेहि मिले न कछु संदेहू' का स्मरण दिलाने में भलि-भाँति सफल हुए हैं।

मैं अपने मनु को खोज चली,
सरिता, मरु, नग या कुंजगली,
वह भोला इतना नहीं छली,
मिल जाएगा, हूँ प्रेम-पली।

हम पहले लिख आए हैं कि प्रसाद के प्रबन्धगत विरह-वर्णन में कोई विशिष्टता, नवीनता या स्वच्छन्दता नहीं दृष्टिगोचर होती। बात यह है कि प्रबन्ध-काव्य चिरन्तन मानव-जीवन की व्याख्या का जो महान उद्देश्य लेकर चलता है, उसकी पूर्ति परंपरा की उपेक्षा करके हो भी नहीं सकती, कम-से-कम अब तक नहीं हो सकी। फिर भी नूतनता की यत्किंचित अपेक्षा सर्वत्र की जाती है। प्रेम-पथिक के विरह में यदि कोई नवीनता नहीं है, तो हमें आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि वह प्रसाद की प्रारंभिक कृति है। पर कामायनी के विरह में भी अंतर्द्वन्द्व एवं नूतनता का अभाव खटकता है, उसमें आवश्यकता से अधिक आदर्शवाद अस्वाभाविक एवं नीरस प्रतीत होता है। द्विवेदी-युग का आदर्श-प्रेम प्रसाद पर अंत तक प्रभाव बनाए रहा, यह आँसू के जनमङ्गलवाद एवं कामायनी में श्रद्धा की अस्वाभाविक हार्दिकता से स्पष्ट हो जाता है।

प्रसाद का वास्तविक विरह-वर्णन उनके गीतिकाव्य, विशेषतः आँसू में प्राप्त होता है, जिसमें उनकी हृदय-वीणा के तार झंकृत होते हैं, प्रत्येक शब्द में उनका आत्मसंगीत मुखरित होता है। प्रबन्ध-क्षेत्र में उनका विरह प्रासंगिक एवं साधारण

है, महत्त्वपूर्ण नहीं। वस्तुतः प्रसाद मुक्तक के कवि हैं, प्रबन्ध के नहीं। आँसू के मुक्तकों में भले ही उनमें प्रबन्ध के अदृश्य प्रायः तार विद्यमान हों—एवं लहर तथा नाटकों के प्रगीतों में उन्हें जो सफलता मिली है, वह प्रबंधों में नहीं। कामायनी मूलतः मुक्तक एवं प्रबन्ध का समन्वित रूप है, निरा प्रबन्ध नहीं।

प्रसाद के वैयक्तिक विरह-गान झरना की कुछ कविताओं, आंसू, तथा लहर के कतिपय प्रगीतों में प्राप्त होते हैं। कानन-कुसुम के थोड़े-से पद्यों में भी विरह एवं प्रेम का वर्णन हुआ है, पर वह अन्तर्बाह्य दोनों रूपों में परम्परागत है, नवीन नहीं। उसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अलौकिक प्रियतम के प्रति व्यक्त विरह भाव से सम्बद्ध अनेक पदों की छाया काफी स्पष्ट है तथा भाषा के अहो, कहो—जैसे अंत्यानुप्रासों में मैथिलीशरण और द्विवेदी-युग के कवियों का प्रभाव बहुत खुल कर पड़ा है।

ये पद्य सामान्यतः अच्छे हैं, इनमें कवि के भोले-भाले प्रेम तथा विरह के उद्गार भक्ति का आभास लेकर प्रकट हुए हैं, जिनकी सरलता तथा स्पष्टता चित्त को आकर्षित करती है। फिर भी न तो उनमें प्रसाद की आत्मा अपने शुद्ध वैयक्तिक स्तर से बोलती ही प्रतीत होती है, न स्वाभाविक वेदना ही उभरती दृष्टिगोचर होती है। इन दृष्टियों से प्रसाद का विरह-वर्णन झरना, लहर और सबसे बढ़ कर आँसू में ही हुआ है। हिन्दी-संसार यह स्वीकार भी कर चुका है।

झरना से लेकर लहर के कुछ प्रगीतों तक प्रसाद का वैयक्तिक प्रेमाख्यान एवं तज्जन्य विरह-वेदना अपने क्रमगत रूपों में स्पष्ट लक्षित होती है। इस क्रमगत प्रेम एवं विरह को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने अपने जीवन में किसी अद्वितीय सुन्दर व्यक्ति से प्रेम किया था, भरपूर निवेदन किए थे, प्रिय ने भी उस तथा उसके निवेदनों पर यत्किंचित ध्यान दिया था, इससे उसे ऐसा आभास हुआ था कि प्रिय प्रेम प्रदान करेगा, उसने प्रिय का संयोग-सुख भी पाया था, पर वह प्रेम तलस्पर्शी न था, उसमें छलना और माया की छाया विद्यमान थी, जिसने कवि का हृदय विदीर्ण करके उसे भरपूर रुलाया था, व्यथा से भर दिया था, फिर भी कवि का प्रेम अपरिवर्तित ही बना रहा, क्योंकि वह सच्चा था। फलतः उसके आँसुओं में प्रिय के प्रति आक्रोश नहीं रहा और वह वेदना को जनमङ्गल के लिए प्रेरित कर सकने का धैर्य रख सका, पंत की तरह प्रेम, जगत तथा विरह पर उपालम्भात्मक उद्गार नहीं प्रकट करता रहा। इस सारी करुण कहानी का प्रत्येक शब्द एक हृदय-द्रावक इतिहास भरे हुए है। यदि भारत में कवियों के लिए यूरोप-जैसा वातावरण विद्यमान होता, तो यह कहानी स्पष्ट होकर सामने आ जाती और प्रसाद को हिंदी का कीट्स घोषित करती, क्योंकि कीट्स भी असमय मरा था, प्रसाद भी। कीट्स भी प्रेम-विरह के कारण मरा था—आलोचनाओं से घुट-घुट कर मरने की बात

प्रासंगिक-मात्र है—प्रसाद भी, और दोनों ही प्रायः एक ही रोग से दिवंगत हुए थे। प्रसाद को हिन्दी का कीट्स कहने से हमारा प्रयोजन कलागत तुलना से नहीं है, क्योंकि प्रसाद की बहुमुखी प्रतिभा कीट्स में न थी तथा वह प्रसाद जैसा निर्माता तथा दार्शनिक कलाकार न होकर एक भावुक कवि मात्र था। कौन कह सकता है कि प्रसाद की राग-यक्ष्मा के मूल में उनका विरह समाहित नहीं रहा है ? आँसू के प्रत्येक चरण में जो रुलाने वाली शक्ति भरी है, वह कल्पना-मात्र की वस्तु कदापि नहीं हो सकती।

प्रसाद की उक्त विरह गाथा पर विवेचन करने के पूर्व हम उनके विरह-गान में प्रतिपादित रहस्यवाद पर भी दो शब्द कह लेना उचित समझते हैं। श्री विनोद-शङ्कर व्यास ने लिखा है—"यह स्पष्ट है कि प्रसाद के आँसू उसी वेदना के परिणाम हैं जिसने कबीर के रहस्यवाद को जन्म दिया था और जिसने दरद होकर दादू को हैरान किया था।"[1] पर उन्होंने इस सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण नहीं किया। कोई ठोस आंतरिक एवं बाह्य साक्ष्य भी नहीं दे सके, प्रत्युत स्वयं ही, उसी स्थल पर, अपना ही खण्डन भी कर दिया है। हाँ, एक बात ध्यान में रखी जाय, आंसू की रचना के प्रसाद लगभग एक सयोजात रहस्यवादी हैं। उन्हें अपने प्रिय का, इस विश्व के आधारभूत तत्व का, आंशिक और क्षणिक ही दर्शन प्राप्त हुआ है। और इसलिए अब तक उनकी वेदना निश्चित और स्थिर सुख में परिवर्तित नहीं हुई है। अपनी नई भूमिका का उन्हें भान तो होता है, किंतु वे निश्चियपूर्वक उसकी उपादेयता की घोषणा करने में सकुचाते हैं। 'या जग अन्धा मैं केहि समुझावौं' कह सकने के लिए एक निश्चित और स्थिर स्थिति की आवश्यकता है।"[2] श्री विनोदशङ्कर व्यास का उक्त कथन स्वयं अपने में ही अपना खण्डन करता है वह प्रसाद के रहस्यवाद की अनिश्चितता तथा अस्थिरता से भी अधिक अनिश्चितता तथा अस्थिरता स्वयं अपने में ही भरे हुए है। एक ओर अनिश्चितता एवं अस्थिरता की चर्चा और दूसरी ओर कबीर और दादू की चर्चा बड़ी अस्वाभाविक एवं अव्यावहारिक है।

एक बात और। छायावादी काव्य-युग में रहस्यवाद की बड़ी धूम रही, जो समीक्षा के क्षेत्र में अब भी थोड़ी-बहुत बनी ही है। कोई समय था, जब फैशन की धुन में प्रत्येक कवि या तथाकथित कवि रहस्यवादी कहलाने के लिए बेतरह परेशान था। वह भूल गया था कि कवि का महत्त्व जीवन की जीवंत एवं सरस समीक्षा प्रस्तुत करने में है, रहस्यदर्शी बनने में नहीं। दार्शनिक एवं कवि तत्वतः भले ही एक हों, पर

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृष्ठ १९४।

२—वही।

बाह्यतः वे दो हैं । संसार-साहित्य के महानतम निर्माताओं वाल्मीकि, व्यास, होमर, वर्जिल, कालिदास, फिरदौसी, दांते, तुलसीदास, शेक्सपियर, गेटे इत्यादि में कोई भी रहस्यवादी नहीं है । तब क्या बिना रहस्यवादी कहलाए कवि सार्थक हो ही नहीं सकता था ? अवश्य हो सकता था, हुआ था । पर समय की झोंक में न पड़ना बड़े धैर्य की अपेक्षा रखता है । अतः विभिन्न वेदनाओं को उपनिषदों तथा कबीर-दादू की उक्तियों में लपेट कर रहस्यमय सिद्ध करने का प्रयास बहुत दिन तक चलता रहा, जो आज मूल्यरहित सिद्ध हो चुका है ।

कबीर और दादू के साधनात्मक-प्रेमात्मक अनुभवों को कल्पनामूलक रहस्यावाद में लपेटना ही सर्वथा अनुपयुक्त है । कबीर ने ईश्वर से प्रेम के संबन्ध में जो कुछ कहा है, उस में कोई रहस्य है ही नहीं, वह तो "अनुभव-सांच -पंथी" की 'आँखिन देखी" है, वह शुद्ध हरिरस है, जिसे पीकर कबीर में 'थाकि' बाकी ही नहीं रहती और वे 'पाका कलस' बन कर 'चाकि' में फिर फिर चढ़ने से मुक्त हो जाते हैं । वहाँ पर रवींद्र, प्रसाद या महादेवी का जैसा रोदन नहीं है, कल्पनात्मक रहस्याभास नहीं है, सच्ची पीर है, जिसके पीछे जीवन की साधना है, केवल तर्क एवं अध्ययन नहीं । आधुनिक रहस्यवाद निरा अभारतीय भले ही न हो, पर उसे उपनिषदों या कबीर की साधना से जोड़ना तर्क के आधार पर वास्तविकता की अवहेलना करना होगा ।

अब यह सिद्ध एवं प्रायः सर्वमान्य हो गया है कि प्रसाद के विरह में रहस्यवाद ढूँढ़ना समीचीन नहीं है । श्री विनयमोहन शर्मा ने आँसू के सौंदर्य को "लौकिक का अलौकिक सौंदर्य"[1] कह कर विषय की गंभीरता पूर्वक स्पष्ट कर दिया है । क्या अलौकिक-तत्व लोक-निरपेक्ष तत्व है ? नहीं, अलौकिक तत्व सर्वथा लोक-सापेक्ष तत्व है । लोक-निरपेक्षता की स्थिति में अलौकिकता की कल्पना ही नहीं हो सकती । जो लौकिक तत्व हमें चमत्कृत करता है, वह प्रायः विशिष्ट होता है, साधारण नहीं । हम उसमें अलौकिकता की प्रतिष्ठा करके मनोवैज्ञानिक संतोष प्राप्त कर लेते हैं । यदि प्रसाद के आँसू लौकिक के अलौकिक सौंदर्य से अनुप्राणित होकर बहते हैं, तो क्या उनका बहना अस्वाभाविक या अनुचित है ?

प्रसाद के प्रेम में भक्ति का आभास प्राप्त करने की चेष्टा निराधार है । कानन-कुसुम तथा झरना की कुछ कविताओं में भक्तिपरक उद्गार प्रकट अवश्य हुए हैं, पर वे सर्वथा परंपरानुमोदित हैं, सामान्य हैं, उनमें आत्म-प्रवण-जन्य नवीनता या विशिष्टता का अभाव है । अन्यत्र कहीं भी भक्ति का आभास नहीं

१—कवि प्रसाद, आंसू तथा अन्य कृतियां, प्रारंभिक, पृष्ठ २ ।

होता है। रही लौकिकता एवं लोकोत्तरता की बात। यह स्पष्ट है कि लौकिकता एवं अलौकिकता एक-दूसरे से असंपृक्त नहीं हैं, हो भी नहीं सकतीं। उदात्त लौकिकता ही अलौकिकता बन जाती है, पुष्ट अलौकिकता लौकिकता से परांमुख नहीं होती। घनानंद की मूलत: लौकिक प्रेमानुभूति उदात होकर अलौकिक बन गई है। तुलसी राम को वैसा ही प्रेम करना चाहते हैं, जैसा कामी पुरुष स्त्री से करता है, लोभी व्यक्ति धन से।

इसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक उदात्त लौकिकता अलौकिकता है अथवा प्रत्येक पुष्ट अलौकिकता लौकिकता है। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि हमसे लौकिकता-अलौकिकता को पहचानने में बाल-प्रभाव-जन्य द्विविदा न होनी चाहिए।

प्रसाद की विरह से सम्बन्धित कविता में रहस्यवाद ढूँढ़ने का एक कारण उनकी शैली की वक्रता एवं लाक्षणिकता है। श्री गुलाबराय ने ठीक ही लिखा है—आधुनिक कविता में लाक्षणिकता और उपचार-वक्रता इतनी अधिक है कि सामान्य मानव-अनुभूतियाँ भी आध्यात्मिक संकेत-सा करती हुई प्रतीत होती है। इस तथ्य की पुष्टि में प्रसाद-द्वारा रचित आँसू को प्रस्तुत किया जा सकता है। अब यह बात प्राय: सभी समझदार आलोचक मानते हैं कि आँसू लौकिक प्रणय-काव्य है, उसे आध्यात्मिक विरह-काव्य नहीं माना जाना चाहिए। किन्तु आँसू में कुछ पंक्तियाँ इतना सुन्दर आध्यात्मिक संकेत करती हैं कि उनको पढ़कर यह भ्रांति होने लगती है कि संपूर्ण काव्य आध्यात्मिक है।[१] कहा गया है कि प्रेम आध्यात्मिक वेश्वानर है। अत: उसके उदात्त रूप में ऐसी भ्रांति का हो जाना एक दूरी तक स्वाभाविक है। पर यह स्वाभाविकता रहेगी भ्रान्तिमय ही।

दर्शन जीवन के तल में इतने गहरे रूप में संपृक्त है कि जहाँ कहीं कुछ भी गंभीरतापूर्वक कहा जाता है, वहाँ दार्शनिकता आ ही जाती है। आँसू की दार्शनिकता ऐसी ही दार्शनिकता है। उसका सम्बन्ध रहस्यमय से न होकर रहस्यमय की सबसे दुरूह पर मनोरम रचना प्रेम से है। श्री विनयमोहन शर्मा ने लिखा है—'आँसू की दार्शनिकता प्रासंगिक है।'[२]

प्रसाद अपने विरह-काव्य में यदि कीट्स की तरह स्पष्ट रहते, तो उनका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता। प्रेम करना कोई अन्याय करना नहीं साहित्य एक श्रेष्ठ प्रेमी का सम्मान रहस्याभास का प्रदर्शन करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक करता है। पर प्रसाद का युग ऐसा युग था, जिसमें रहस्यवाद की शाब्दिक धूम मची

१—गुलाबराय तथा शंभूनाथ पांडे लिखित रहस्यवाद और हिन्दी-कविता, पृष्ठ १८६।

२—कवि प्रसाद, आंसू तथा अन्य कृतियाँ, पृष्ठ ७७।

थी। रवीन्द्र के काल्पनिक रहस्यवाद का अनुकरण जोरों पर था। रहस्यवादी कहलाना गर्व का विषय बन गया था या बना लिया गया था। इस स्थिति में यदि प्रसाद कुछ अस्पष्ट रहे, तो क्या आश्चर्य ! फिर भी, शायद उन्होंने यह कहीं नहीं कहा कि आँसू एक रहस्यवादी रचना है।

इतना होने पर भी निष्पक्ष एवं स्पष्टता के कुछ अधिक प्रेमी समीक्षकों को उक्त प्रवृत्ति से असंतोष ही रहा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनमें प्रमुख हैं। उन्होंने लिखा है—जीवन के प्रेमविलासमय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे उस प्रियतम के संयोग-वियोग वाली रहस्यभावना में, जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए, रमते प्रायः पाए जाते हैं। प्रेमचर्या के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, स्वेद, चुम्बन, परिरंभण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली इत्यादि), रंगरलियों और अठखेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती थी। इसी मधुमयी प्रवृत्ति के अनुरूप प्रकृति के अनन्त क्षेत्र में भी बल्लरियों के दान, कलिकाओं की मन्द मुसकान, सुमनों के मधुपात्र, मँडराते मिलिन्दों के गुञ्जार, सौरभहर समीर की लपक-झपक, पराग-मकरंद की लूट, ऊषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरंभ, रजनी के आँसू से भीगे अम्बर, चन्द्रमुख पर शरद-घन के सरकते अवगुण्ठन, मधुमास की मधुवर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी। अतः इनकी रहस्यवादी रचनाओं को देख चाहे तो यह कहें कि इनकी मधुचर्या के मानस-प्रसार के लिए रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यों कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूद कर असीम पर जा रही।'[1] आचार्य शुक्ल के शब्द कुछ कठोर हैं, अनुकूलता का आभास देते हैं, पर उनके तल में सत्य विद्यमान है।

प्रेम एवं मधु के गान गाने से किसी कवि का महत्व कम नहीं होता। बहुत दूर तक महाकवि कालिदास भी प्रेम एवं मधु के कवि ही हैं। प्रसाद ने भी प्रेम किया था। अपनी 'दिन रात' शीर्षक पुस्तक में उनके अन्तरंग मित्र श्री विनोदशङ्कर ने इसे स्पष्ट किया है। अन्यत्र भी व्यास जी इसे स्पष्ट करते हैं प्रसाद की प्रेमचर्या के सम्बन्ध में जो कुछ दिनरात में मैंने लिखा है उसके अतिरिक्त उनकी एक ऐसी प्रेयसी थी, जिसके प्रति उन्हें सच्चा अनुराग था। अन्त में वही भावनाएँ आध्यात्मिक प्रेम का रूप धारण कर लेती हैं और दांते की बेट्रिस की तरह वह भी प्रसाद की कविताओं में अपना पवित्र स्थान बना लेती है।'[2] प्रसाद प्रेम एवं सौंदर्य के कवि

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६२६।

२—प्रसाद और उनका साहित्य, पृष्ठ २४।

थे। पर उनकी अस्पष्टता, भले ही उसका कारण युग रहा हो, उन्हें हिन्दी का कालिदास नहीं बनने देती। और वह अस्पष्टता भी अब स्पष्टता में परिणत हो चुकी है, स्पष्ट अस्पष्टता बन चुकी है।

यदि हम रहस्यवाद, आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता ढूँढ़ने के स्थान पर प्रसाद में प्रेम की सहजात आकुलता, विरह की जीवन्त वेदना तथा वेदना के विगलित स्वर सुनना चाहें, तो प्रसाद विरह-क्षेत्र में भी एक महाकवि हैं। उनका विरह-काव्य, विशेषत: आँसू, उन्हें हिन्दी-साहित्य में विरह-वर्णन करने वाले सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में प्रतिष्ठित कर देता है। हम प्रसाद के विरह-काव्य को केवल विरह-काव्य के रूप में देखते हुए अपना विवेचन प्रस्तुत करेंगे, क्योंकि ऐसा करना ही समीचीन होगा।

प्रसाद के असफल प्रेम एवं वेदना का इतिहास झरना से लेकर लहर तक फैला है। झरना की प्रियतम, कहो, निवेदन, प्यास, पी! कहाँ? प्रत्याशा, स्वप्न-लोक, दर्शन, तथा मिलन शीर्षक कविताओं में उक्त प्रेम-कहानी की भूमिका लिखी मिलती है। प्रसाद ने प्रेम किया था। जब वे झरना की अन्तिम कवितायें लिख रहे थे, उस समय उस प्रेम का प्रारम्भ हो रहा था। कवि का पक्ष पूरी आस्था लेकर चल रहा था, पर प्रिय का पक्ष सुस्पष्ट न था। फिर भी, कवि अभी निराश न था, वह कभी निवेदन करता, कभी प्रार्थना, कभी-कभी उसे मिलन का सुख भी मिल जाता था। उसे यह ज्ञात न था कि यह प्रेम प्रिय के पक्ष से छलना तथा माया है, अतः उसके अन्तस् में हाहाकार न था। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि प्रसाद के प्रेम का प्रारंभ झरना से ही क्यों माना जाए? उत्तर स्पष्ट है। कानन-कुसुम के गीतों का प्रेम वह प्रेम है, जिसमें अनुभव की गहराई नहीं होती। झरना के प्रेम में प्रारम्भिकता का भोलापन है, यह ठीक है, पर उसमें अनुभव की गहराई भी मौजूद है। निम्नलिखित पद्यांश हमारे उक्त कथन को स्पष्ट कर देते हैं। इन चार पंक्तियों में कवि अपने प्रिय से याद कर लेने की चलती हुई प्रार्थना कर रहा है, स्पष्ट है कि कवि के प्रति प्रिय का प्रेम पूर्णतः संतोषजनक नहीं है, साथ ही वह कुछ अर्से से चल रहा है—

हो जो अवकाश तुम्हें ध्यान कभी आवे मेरा।
अहो प्राणप्यारे तो कठोरता न कीजिए।
क्रोध से, विषाद से, दया से या पूर्व प्रीति ही से,
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिए।[1]

१—'अनुनय' शीर्षक कविता से।

निम्नलिखित पंक्तियां यह स्पष्ट करती हैं कि प्रिय किसी और की ओर आकर्षित है। वह कवि को भुला रहा है, जिससे कवि का हृदय विदीर्ण हो रहा है, फिर भी उसे आशा है, वह प्रियतम से कहता है,

क्यों जीवन-धन ! ऐसा ही है न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र ?
लिखते हुए लेखनी हिलती, कंपता जाता है यह पत्र।
औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं।
जिसके तुम ही एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं।[१]

यहां एक बात ध्यान देने की है, जिसका संबंध हिंदी-संस्कृति मे है। उर्दू के शायर भी माशूक का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए बहुत-कुछ कहते हैं, पर उसमें अधिकतर रकीबों के प्रति अपशब्दों का ही प्रयोग रहता है। यहाँ कवि रकीब को बुरा-भला न कह केवल प्रिय से अपने लिए निवेदन करता है। उर्दू का थोड़ा-सा प्रभाव प्रसाद पर है अवश्य, जो ऐसे उद्‌गारों से लेकर आँसू के 'छिल छिल कर छाले फोड़े' इत्यादि तक फैला है, लहर के मायूसी-भरे इश्क तक दृष्टिगोचर होता है, पर वह अत्यंत शिष्ट रूप में हैं, उर्दू-जैसा भोंडापन उसमें नहीं आने पाया।

नीचे का निवेदन बहुत स्पष्ट है।

तेरा प्रेम हलाहल प्यारे, अब तो सुख से पीते है।
विरह सुधा से बचे हुए हैं, मरने को हम जीते हैं॥
डरो नहीं, जो, तुमको मेरा उपालंभ सुनना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुंबन इस मुख को चुप कर देगा।[२]

निवेदन पर तुरंत सुनवाई नहीं हुई, यह बाद की कविताओं की विकलता और व्यथा स्पष्ट कर देती है। पर कवि की प्रार्थनायें तथा चेष्टायें निष्फल नहीं गईं, उसे मिलन का रस भी प्राप्त हुआ :

इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल गया।[३]

इस मिलन की स्मृति कवि ने आंसू में विस्तार से की है और यह स्पष्ट कर दिया है कि यह सब छलना थी, पर माया की छाया में उसे कुछ-कुछ सच्चा बना-सा लगा था।

१—प्रियतम शीर्षक कविता से।
२—निवेदन शीर्षक कविता से।
३—मिलन शीर्षक कविता से।

झरना के प्रेम-वियोग-गीत आँसू की प्रणय-कथा की भूमिका हैं। इन गीतों में एक रस प्रेम के उद्गारों का न होना प्रिय-पक्ष की ओर से शंका उत्पन्न करता है। आंसू उस शंका का समाधान है। इतना स्पष्ट है कि झरना के कवि का प्रेम एक भावुक एवं अल्हड़ युवक का मदमाता प्रेम है, वह आँसू के अपेक्षाकृत अधिक अनुभव-दग्ध प्रेमी का परिष्कृत एवं संतुलित प्रेम नहीं है, हो भी नहीं सकता था। अनुभव-दग्धता अनुभव एवं आयु के साथ ही आती है।

प्रसाद के प्रणय का इतिहास झरना से लेकर लहर तक फैला मिलता है। झरना के प्रेम-विरह-गीत उस इतिहास की प्रस्तावना हैं, आँसू उसका मुख्य भाग है, तथा लहर के प्रेम-वियोग-गीत उसका परिशिष्ट है। प्रस्तावना या झरना के प्रेम-विरह-गीत, कहानी या आंसू, उपसंहार अथवा लहर के प्रेम-विरह-गीत। ये प्रसाद की प्रेम-कथा के सोपान हैं।

लहर के प्रेम-गीतों में झरना और आँसू की कहानी का स्पष्टीकरण अत्यंत मर्मस्पर्शी रूप में हुआ है। कवि अतीत की याद करता है :

> आह रे, वह अधीर यौवन !
> अधर में वह अधरों की प्यास,
> नयन में दर्शन का विश्वास,
> धमनियों में आलिंगनमयी—
> वेदना लिए व्यथा में नयी,
> टूटते जिससे सब बंधन,
> सरस-सीकर से जीवन-कन, —[1]

कोई समय था जब कवि ने कुछ सुन्दर दिन देखे थे। जब कवि की विरह-व्यथा की कादंबिनी में प्रिय-मिलन की चपला ने सुख का प्रकाश भर दिया था :

> चित्र खींचती थी जब चपला,
> नील मेघ पट पर वह विरला,
> मेरी जीवन-स्मृति के जिसमें—
> खिल उठते वे रूप मधुर ये।[2]

यहां विरला शब्द पर कुछ प्रकाश डाल देना अनुचित न होगा। कवि ने 'प्रथम यौवन मदिरा में मत्त' होकर केवल 'प्रेम करने की परवाह' का अनुभव किया

१—लहर, पृष्ठ २१।
२—वहीं।

था, जिसमें हृदय किसे देना है, यह ज्ञात न था। उस समय उसके हृदय पर लाखों लकीरें खिची थीं. पर एक लकीर ऐसी थी, जो लाखों में अलग रही। आंसू में इस विरला की व्याख्या दी हुई है :

प्रतिमा में सजीवता सी
बस गई सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में।[१]

पर अब यह सब "बीती बातें" हो चुकी हैं। अब तो आह और सांत्वना ही शेष है—

मुझको न मिला रे कभी प्यार।
× × ×
पागल रे वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन कन से गिन कर
यह विश्व लिये है ऋण उधार,
तू फिर क्यों उठता है पुकार ?
मुझको न मिला रे कभी प्यार।[२]

यहाँ 'सब' का अर्थ कवि से भले ही हो, पर उसके उद्गार में निराशाजन्य संतोष विद्यमान है। आदान में निराश होकर प्रेमी प्रदान के गीत गाता है।

लहर के उपसंहार में झरना और आँसू की सारी कथा एक प्रश्न में प्रस्तुत कर दी गई है, जिसमें निराशा भी है, दर्द भी; व्यथा भी है, वेदना भी—

अरे कहीं देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को ?
मेरी आँखों में आकर फिर
आँसू बन ढरने वाले को ?[३]

कलाकारों को प्रायः प्रेम में निराश होते देखा जाता है। यह निराशा बाहर से अभिशाप होकर भी अन्दर से वरदान बन जाती है। इस निराशा के कारण प्रायः

१—आँसू, पृष्ठ २०।
२—लहर, पृष्ठ ३५-३६।
३—लहर, पृष्ठ ३८।

दो होते हैं। एक तो कलाकार भावुक होता है, संसार की तुला पर वह बहुत ठीक नहीं तुलता, संसार का प्रेम भी उसके प्रेम को 'भावुकता' की संज्ञा देता है। फलतः उसका प्रेम-पिपासु हृदय इधर-उधर भटकता रहता है। दूसरे कलाकार का जीवन अपनी फाकेमस्ती में अधिकतर अभावों का जीवन रहता है और इस 'भावों के प्रेमी' संसार में प्रेम प्रायः अभाव की कद्र नहीं करता।

हमारा निश्चित अनुमान है कि प्रसाद पर राजयक्ष्मा का प्रकट प्रकोप 'लहर' के रचना-काल में ही हुआ होगा, भले ही उसका प्रारम्भ आँसू के रचनाकाल में हुआ हो। लहर के प्रेम-प्रगीत बड़ा गहरा दर्द प्रकट करते हैं, बड़ी गंभीर प्रणय-वेदना व्यक्त करते हैं। बरफ से ढका एक ज्वालामुखी देखिए, जिसमें स्मृति की कसक अपनी असह्य ज्वाला को बड़ी शीतलता से व्यक्त करने का प्रयास करती है—

मधुर माधवी संध्या में जब रागारुण रवि होता अस्त,
बिरल मृदुल दलवाली डालों से उलझा समीर जब व्यस्त,
प्यार भरे श्यामल अम्बर में जब कोकिल की कूक अधीर,
नृत्य शिथिल बिछली पड़ती है बहन कर रहा उसे समीर,
तब क्यों तू अपनी आँखों में जल भर कर उदास होता ?
और चाहता इतना सूना कोई भी न पास होता ?
बंचित रे यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम,
किसी नयन की नील निशा में क्या कर चुका क्षणिक विश्राम ?
क्या झंकृत हो जाते हैं उन स्मृति किरणों के टूटे तार—
सूने नभ में स्वर तरङ्ग का फैला कर मधु पारावार ?
नक्षत्रों से जब प्रकाश की रश्मि खेलने आती है,
तब कमलों की सी तब सन्ध्या क्यों उदास हो जाती है ?[1]

यहाँ कवि की निराशा प्रौढ़ हो चली है। आँसू में उसमें विश्वास करने की शक्ति थी कि—

इस शिथिल आह से खिंच कर
तुम आओगे, आओगे
इस बढ़ी व्यथा को मेरी
रो रो कर अपना ओगे।[2]

१—लहर, पृष्ठ ४४।
२—आँसू, पृष्ठ ५२।

पर अब उसे लगता है जैसे सन्ध्या कमलों-सी उदास हो जाती है। यहाँ 'क्यों' का प्रयोग प्रासंगिक ही है। कौन जाने प्रसाद स्वयं इस प्रगति में अपनी जीवन-सन्ध्या की उदासी को ही देख रहे हों ?

पर प्रसाद का प्रेम अटूट था। सन्ध्या उदास बीतती है, एकांत में मन प्रिय की स्मृति में खोया रहता है; प्रभात में, जब अधिकाँश व्यक्ति सोए पड़े रहते हैं, कवि का प्रेम-भिखारी अपना टूटा प्याला या भग्न हृदय लेकर करुण स्वर या विरह-रागिनी छेड़ने के लिए निकल पड़ता है —

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।
सोता तारक किरन पुलक रोमावलि मलयज वात,
लेते अंगड़ाई नीड़ों में अलस विहग मृदुगात।
रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।[1]

कवि का प्रभात प्रेम-वेदना से प्रारम्भ होता है, उसके करुण स्वर केवल उसी की रागिनी छेड़ते हैं, जगने वाले तो अपने सुख के सपने को जगकर देखते हैं या स्वप्न मिलन को प्रत्यक्ष मिलन का रूप देते हैं। इस गीत के अन्त की करुणा स्पष्ट कर देती है कि कवि भी अपने करुण स्वर छोड़कर बढ़ने वाला है, प्रसाद के जीवन का इतिहास इसका साक्षी है—

तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना,
सोने वाले जग कर देखें अपने सुख का सपना।[2]

हिन्दी के एक प्रसिद्ध विद्वान इस गीत के भिखारी को सवेरे राम-नाम की रट लगा कर, गा-गा कर माँगने वाला भिखारी मानने का हठ बड़े समारोह से करते रहते हैं। पर न तो चार बजे सवेरे भिखारी बिना किसी अवसर विशेष के, लोगों की नींद तोड़ कर मार खाने के लिए निकलता ही है, न उसके लिए प्रसाद को मधुबाला और मधुशाला का आयोजन करने की जरूरत ही पड़ती। निराला की तरह वे भी 'पछताता पर आता' इत्यादि लिख सकते थे, पेट पीठ का मिला चित्र खींच सकते थे। एक बात और। प्रसाद का मधुवाद इस गीत में बहुत उभर कर उतरा है। कौन जाने बच्चन की मधुबाला और मधुशाला का प्रत्यक्ष या परोक्ष मूल प्रसाद के मधुप्रेम में ही हो !

१—लहर, पृष्ठ ४५

२—वही।

प्रसाद के विरह का प्रमुख तथा महत्तम प्रतीक उनका उत्कृष्ट तथा अमर काव्य आँसू है। श्री रामकुमार वर्मा ने ठीक ही झरना लहर, आँसू तथा कामायनी को प्रसाद के काव्य-सृजन के चार सोपान कहा है।[1] अपनी उत्कट वेदना, अपनी अनूठी मधुरता, अपनी तीव्र अनुभूति तथा अपनी प्रौढ़ कला में आँसू आधुनिक काल की श्रेष्ठतम कलाकृतियों में एक है। कामायनी को छोड़कर प्रसाद की अन्य कोई भी काव्य-कृति आँसू की समता नहीं कर सकती।

आँसू के वियोग का विवेचन करने के पूर्व उसके रूप पर कुछ चर्चा अप्रासंगिक न होगी। आँसू के पद्य सामान्य दृष्टि से देखने पर मुक्तक-से प्रतीत होते हैं। कहीं कवि ने अपनी व्यथा का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है, कहीं प्रिय की स्मृति एवं उसका सौंदर्य-वर्णन करता है, कहीं मिलन का चित्र उपस्थित करता है, कहीं अपने वर्त्तमान नीरस जीवन को सरस बनाने के लिए प्रेम को आमंत्रित करता है, कहीं विश्व-मङ्गल की कामना करता है, कहीं वेदना का स्तवन करता है, बीच-बीच में सौंदर्य की व्याख्या भी करता चलता है। फलतः पाठक को उसमें कोई तारतम्य दृष्टिगोचर नहीं होता, भले ही वह उसके काव्य-कौशल का प्रशंसक हो। आचार्य शुक्ल ने लिखा है—

'आँसू वास्तव में हैं तो शृङ्गारी विप्रलम्भ के, जिनमें अतीत संयोग-सुख की खिन्न स्मृतियाँ रह-रह कर झलक मारती हैं, पर जहाँ प्रेमी की मादकता की वेसुधी में प्रियतम नीचे से ऊपर जाते हैं और संज्ञा की दशा में चले जाते हैं जहाँ हृदय की तरंगें 'उस अनन्त कोने' को नहलाने चलती हैं, वहाँ वे आँसू उस 'अज्ञात प्रियतम' के लिए बहते जान पड़ते हैं। फिर जहाँ कवि यह देखने लगता है कि ऊपर तो—

> अवकाश असीम सुखों से
> आकाशतरंग बनाता
> हँसता सा छायापथ में
> नक्षत्र समाज दिखाता।

पर।

> नीचे विपुला धरणी है
> दुखभार वहन सी करती

१—साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'आधुनिक काव्य-संग्रह' के प्रसाद के परिचय में।

अपनी खारे आँसू से,
करुणा सागर को भरती ।

और इस 'चिर दग्ध दुखी वसुधा' को, इस निर्मल जगती को, अपनी प्रेम-वेदना को कल्याणी शीतल ज्वालामय उजाला देना चाहता है, वहाँ वे आँसू लोकपीड़ा पर करुणा के आँसू जान पड़ते हैं । पर वहीं पर जब हम कवि की दृष्टि अपनी सदा जगती हुई अखण्ड ज्वाला की प्रभविष्णुता पर इस प्रकार जमी पाते हैं कि 'हे मेरी ज्वाला !

तेरे प्रकाश में चेतन
संसार वेदनावाला
मेरे समीप होता है
पाकर कुछ करुण उजाला ।

तब ज्वाला या प्रेम-वेदना की अतिरंजित या दूरारूढ़ भावना ही, जो शृङ्गार की पुरानी रूढ़ि है, रह जाती है । कहने का तात्पर्य यह है कि वेदना की कोई एक निर्दिष्ट भूमि न होने से सारी पुस्तक का कोई एक समन्वित प्रभाव नहीं निष्पन्न होता ।"[१]

यह एक दूरी तक ठीक है कि कवि ने आँसू के मूलभाव-विन्यास को बहुत शृङ्खलित रूप में प्रस्तुत करने में पूरी सफलता नहीं पाई, पर यह कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता कि सारी पुस्तक का कोई एक समन्वित प्रभाव नहीं निष्पन्न होता, क्योंकि आँसुओं के बरस पड़ने की पूरी कथा ग्रन्थ में दी हुई है और जनमङ्गल की कामना के मूल में कवि की पीड़ा विद्यमान है । किन्तु कवि जनमङ्गल पर व्याख्यान नहीं दे रहा—हरिऔध परोक्षतः ऐसा करते हैं, अतः वह बीच-बीच में अपनी पीड़ा या ग्रन्थ के मूल विषय की ओर संकेत करता चलता है । यह उसका कौशल है । तुलसीदास राम के ईश्वरत्व का निरूपण कथा-क्रम में व्यवधान तक डाल कर करते रहते हैं, इसका कारण उनका अपने मूल विषय का बारम्बार स्मरण दिलाते रहने का प्रयास है, फिर आँसू का कवि यदि भाव-तरंग में भी अपने मूल विषय की ओर संकेत करता चलता है, तो क्या अनुचित करता है ? आँसू कोई उपदेशात्मक कृति नहीं है, वह कलाकार के व्यक्तिगत प्रणय एवं तज्जन्य असफलता-निराशा की करुण कहानी है, यह बात हम न भूलें, तो उसमें तारतम्य के दर्शन स्पष्ट रूप से हो सकते हैं ।

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६२६-२७ ।

किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि आँसू कोई खण्ड-काव्य है और उसमें कोई कथा क्रमबद्ध रूप से वर्णित है। श्री विनोदशङ्कर व्यास ने लिखा है—'यदि आरम्भ से अन्त तक के पद्यों को क्रम से पढ़ा जाय, तो आँसू की पूरी कथा तैयार हो जाती है। यद्यपि सभी पद्य मुक्तक हैं, तथापि उनका क्रम-बन्ध उनके प्रबन्धार्थ की ओर संकेत करता है। यह १९० पद्यों का कोष नहीं, खण्डकाव्य है, इसमें आदि और अन्त की व्यवस्था है, आँसू के सर्गप्रलय की कथा है, मानव-हृदय के चढ़ाव-उतार की एक झाँकी है।'[1] किन्तु उन्होंने अपने कथन के प्रमाण में कोई ठोस या ग्राह्य विवेचन प्रस्तुत नहीं किया। सच पूछा जाए तो, आँसू न तो निरा तारतम्यहीन मुक्तक ही है, न निरा क्रमबद्ध खंडकाव्य ही, वह मुक्तक एवं प्रबन्ध दोनों के तत्वों से समन्वित होते हुए भी दोनों से कुछ भिन्न है। वस्तुतः वह मध्यस्थ काव्य है, प्रबन्ध और मुक्तक दोनों के मध्य में स्थित, जिसमें भावतत्व के नेतृत्व में कथातत्व चलता है, कथातत्व के नेतृत्व में भावतत्व नहीं। श्री विनयमोहन शर्मा लिखते हैं" आंसू की आत्मा को देखने पर उसमें तारतम्य जान पड़ता है। अतः वह 'प्रबन्धमय' है। पर आंसू के अनेक पथ ऐसे भी हैं कि उन्हीं पर मन को केन्द्रित करने से वे प्रत्येक अपने में पूर्ण प्रतीत होते हैं। इस तरह आंसू उस मोतियों की लड़ी के तार में गुंथ कर भी आब देता है। वस्तुतः उसमें मुक्तत्व और प्रबन्धत्व दोनों हैं।'[2]

आंसू की रचना के दृष्टिकोण पर कई प्रकार के विचार प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

(१) लौकिकता की ओर कुछ देर ठहर कर पारलौकिकता की ओर उन्मुख होने वाले प्रेम तथा विरह-वेदना का गान करना। हमारी समझ में आंसू में पारलौकिकता का अन्वेषण करना व्यर्थ है। कवि ने अपनी प्रणय-गाथा का गान किया है। पारलौकिक संकेतों को उस गान में ढूंढना बुद्धि का विलास मात्र होगा।

(२) आंसू रहस्यवादी कृति है और उसमें कवि की आत्मा परमात्मा के प्रति अपनी विरह वेदना व्यक्त करती है। इस सम्बन्ध में हम पहले ही कह आए हैं। आंसू में रहस्य के दर्शन करने की प्रकृति का परिहास हिन्दी के निष्पक्ष विद्वान तक कर चुके हैं।

(३) इसके ठीक विपरीत कतिपय अध्येताओं की धारणा है कि आंसू मांसल प्रणय-व्यापार की उपज है। आंसू में मांसलता विद्यमान है, पर वह निरी

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृष्ठ १८२।

२—कवि प्रसाद, आंसू तथा अन्य कृतियां, पृष्ठ ८६-८७।

स्थूल नहीं है, उसमें विरही-हृदय की पवित्रता अपनी सारी आस्था के साथ संचरित होती रहती है ।

(४) आंसू मानव-जीवन के प्रकर्ष का गान है । इस दृष्टिकोण के प्रतिपादक श्री रामनाथलाल 'सुमन' ने लिखा है—'आंसू एक श्रेष्ठ विरह-काव्य है । पर विरह के अन्तर्गत भी यह एक श्रेष्ठ स्मृति-काव्य है । इसमें कवि जीवन के मृदुल एवं अतीत का स्मरण करता है, उसमें रोता है, पर रोकर ही जीवन का अन्त नहीं कर देता । इस अभाव को संसार के एक कठोर सत्य के रूप में स्वीकार करके जीवन से समझौता करता है ।' इस कवि के सम्पूर्ण काव्य में मानव-जीवन के उत्कर्ष की जो धारा है, वह आंसू में धुल कर निखर गई है और अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रकट हुई है । आंसू मानव-जीवन के प्रकर्ष का गान है ।'[1] यहां सुमन जी मानव-जीवन के प्रकर्ष से क्या तात्पर्य रखते हैं, यह स्पष्ट नहीं हो पाता । सच पूछा जाए तो आंसू प्रेम के प्रकर्ष का गान है, जो असफलता में रो-रोकर भी भयभीत नहीं होता तथा अपने आँसुओं से उसे उज्जवल करता रहता है । प्रेम साश्रु-दशा में प्रियतर हो जाता है—आंसू इस प्रसिद्ध उक्ति का विवेचन है । इस विषय का इतना रमणीय एवं विशद विवेचन कदाचित अन्यत्र कहीं नहीं हुआ । आँसू का कलेवर समग्र जीवन तक नहीं फैलता, उसका संबंध केवल प्रेम से है ।

(५) अभी हमने कहा है कि आंसू का आधार-विषय प्रेम है । प्रसाद जी स्वयं आँसू के विषय का स्पष्टीकरण इन शब्दों में करते हैं :

हे मेरे प्रेम, बता दे
तू स्त्री है या कि पुरुष है ?
दोनों ही पूछ रहे हैं
तू कोमल है या कि पुरुष है ?
इनको कैसे समझाऊँ
तेरे रहस्य की बातें
जो जान चुके हैं तुझको
अपने विलास की घातें । [2]

१—'प्रसाद की काव्य-साधना' में आंसू पर विवेचन ।

२—प्रस्तुत पंक्तियाँ हमें हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान पं० कृष्णशंकर शुक्ल के द्वारा प्राप्त हुई हैं, जो उन्हें स्वयं प्रसादजी ने लिखकर दी थीं । सुना है कि प्रस्तुत पंक्तियाँ अन्यत्र भी प्राप्त हैं ।

उपर्युक्त पंक्तियां आँसू के आधार-विषय का स्पष्टीकरण कर देती हैं। हम इनका क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत करना समीचीन समझते हैं।

(१) आँसू में प्रिय के प्रति संबोधन पुल्लिग में ही हुआ है, क्रियाओं का प्रयोग प्रिय को पुरुष घोषित करता प्रतीत होता है। साथ ही, नखशिख वर्णन प्रिय को नारी भी बतलाता है। कई अध्येता नखशिख के अतिरिक्त प्रिय के पुरुषत्व के कारण शंका करते हैं, भले ही वह मौखिक हो, कि कवि का प्रिय उर्दू के कुछ शायरों के माशूक की तरह पुरुष तो नहीं है ? जो कुछ अधिक संवेदनशील हैं, वे प्रश्न उठाते हैं "स्त्री या पुरुष ?" कवि स्पष्ट करता है कि उसका विषय प्रेम है, जो स्त्री या पुरुष अथवा कोमल या पुरुष-मात्र में आबद्ध न होकर व्यापक रूप ग्रहण कर चुका है। आँसू का प्रेम व्यापक है।

(२) कवि ने उक्त दृष्टिकोण में रहस्यमय की ओर कोई स्पष्ट संकेत नहीं किया। प्रेम को विलास की घातें समझाने वालों पर क्षोम प्रकट करने से यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि प्रेम रहस्यमय है। अतः यह स्पष्ट है कि आँसू में कवि का प्रेम ईश्वर के प्रति नहीं है, अथवा वह संकेत कर सकता था।

(३) प्रेम के विलासमय रूप पर सात्विक विरह नहीं रीझता। कवि उन व्यक्तियों से क्षुब्ध है, जो प्रेम को 'अपने विलास की घातें' समझते हैं। स्पष्ट है कि कवि का प्रेम उदात्त एवं सात्विक है, स्थूल एवं तामसिक नहीं। अतः जो लोग विद्रुपात्मक रूप में आंसू को मांसल प्रणय-व्यापार की उपज कहते हैं, वे पूर्ण सत्य का स्पर्श नहीं प्राप्त कर पाते।

संक्षेप में, आंसू रहस्य-भावना से मुक्त, सात्विक लौकिक प्रेम एवं विरह का काव्य है, जिसका विराट् प्रेम पुरुष और नारी की सीमित भावना से मुक्त होकर अत्यन्त विशद हो चुका है। अपनी वैयक्तिक निराशा से कवि कुण्ठित नहीं है, वह सच्चे प्रेमी की भांति वेदना की ज्वाला में भी प्रेम की शीतलता का अनुभव करता है, जन-मङ्गल की कामना करता है। सारी विकलता के बावजूद भी आंसू में एकरस शीतलता एवं पवित्रता विद्यमान है और उसे एक प्रौढ़ कलाकृति बना देती है।

आंसू की रचना का विवरण देते हुए प्रसाद के अन्तरङ्ग श्री विनोदशङ्कर व्यास लिखते हैं—'उन दिनों कवि की आत्मा आकुल थी। वर्षा के दिन थे। प्रसाद जी सदैव नोटबुक और फाउन्टेनपेन अपने साथ रखते थे। कभी नाव पर अथवा एक्के पर बैठे वह आंसू की पंक्तियां लिख कर सुनाते। आंसू की रचना में लगभग एक वर्ष का समय लगा है। वह इसी तरह फुटकर पंक्तियां ही लिखते गए। किसी दिन दो-

चार पंक्तियों से अधिक उन्होंने नहीं लिखीं।'[१] जिस 'विनोद के लिए' प्रसाद ने 'तितली' का सृजन किया, उसके उपर्युक्त शब्द आंसू की कुञ्जी हैं। 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' की स्मृति आती है। लगभग पंद्रह-सौ वर्ष पूर्व महाकवि कालिदास का विरही-हृदय बरसती बूँदों का अनुकरण कर यक्ष के माध्यम से स्वयं बरस पड़ा था। आंसू के कवि का हृदय भी वैसे ही बरसा। 'मेघाच्छिन्नेद्धि दुर्दिन' में पीड़ा आंसू बन कर बरस पड़ी। 'दुर्दिन' की कहानी विनोद के शब्दों में भी कितनी करुण है !

आंसू हिन्दी का मेघदूत है। मेघदूत जैसी कसावट, संक्षिप्तता, मधुरता, कोमलता। मेघदूत का विराट् प्रकृति-चित्र एवं उल्लंग ऐन्द्रिय पर्व आंसू में नहीं है, पर इससे उसकी विषयबद्धता का गुण सम्बर्द्धित ही हुआ है। जहाँ तक संगीतमयता का सम्बन्ध है, दोनों कृतियाँ महान हैं। भले ही कालिदास का चमत्कारपूर्ण एवं अद्वितीय अप्रस्तुत विधान प्रसाद में न दृष्टिगोचर होता हो, पर प्रसाद की वेदना कालिदास की वेदना से अधिक द्रवीभूत तथा करुण है।

आँसू के अध्ययन की सुविधा के लिए यदि उसके कुछ स्थूल विभाग कर दिए जाएँ तो उपयुक्त होगा। हमारी समझ में आँसू की भाव-कथा निम्नलिखित भागों में बँटी हुई है—

(१) प्रिय-विरह तथा तज्जन्य करुण-दशा।

(२) प्रिय-मिलन की स्मृति तथा उसके रूप की झाँकी। मिलन का अंत एवं विशेष दयनीय दशा। स्मृति-रोदन।

(३) संतुलन चिंता के बाद आशा और सुख दुःख, मिलन-वियोग इत्यादि से युक्त समन्वित जीवन की ओर।

(४) विश्वास और शुभाशा—आशा के बाद आस्था या श्रद्धा।

(५) वेदना के प्रति सजगता का आह्वान, वेदना की ज्वाला के प्रति विदग्ध एवं हृदय-द्रावक उद्गार।

(६) मङ्गलमय प्रेम के प्रति उद्गार। वेदना-विगलित जीवन को रस प्रदान करने के लिए प्रेम का आह्वान।

(७) शुभवेदना का स्तवन। मङ्गलेच्छा।

आंसू के प्रारम्भ में कवि उस जीवन की विगलित, पर अप्रत्यक्ष, स्मृति करता

१—प्रसाद और उनका साहित्य, पृष्ठ १९५।

है, जिसमें उसे उल्लास का सङ्गीत सुनने को मिला था, तथा प्रत्यक्ष रूप में बतलाता है कि वह उल्लास समाप्त हो चुका है। अब उल्लास-संगीत के स्थान पर निस्सीम वेदना हाहाकार पूर्ण स्वरों में गरजती रहती है। असीम व्यथा के बावजूद भी कवि यह संकेत स्पष्ट रूप से कर देता है कि करुणा उसके हृदय को कलित ही बनाए है। प्रेम की व्यथा भी मधुर होती है। करुणा-कलित के अलङ्कार-निर्देश में अलङ्कार थक जाता है। 'इस' शब्द में 'उस' शब्द स्वतः समाहित है, 'अब' में 'तब' की तरह। अभी तक बिहारी गागर में सागर भरने के लिए प्रसिद्ध थे, पर आँसू की बूँदों ने अपने खारेपन की मिठास से उन्हें पद-च्युत कर दिया है। आखिर सागर का जल खारा होता है, आँसू की तरह बिहारी के सुखवाद में खारा-पन कहाँ ?

कवि कहता है कि उसका हृदय निस्सीम व्यथा से भर गया है, चीत्कार करता है; पर उसके चीत्कार की ध्वनि शून्य से टकरा कर लौट आती है, उसकी व्यथा पर कोई ध्यान देने वाला नहीं। फिर भी, उसकी चेतना की सरिता, विराट-चेतना-सरिता, मृदुल हिलोरें ही लेती हैं। प्रेम में अमृदुल कुछ भी नहीं होता।

अपनी मानसिक ज्वाला का विशद एवं अलंकृत चित्र प्रस्तुत करने के पश्चात् कवि उस समय का स्मरण करता है, जब प्रिय से उसका आशा-निराशा से पूर्ण सम्पर्क होता रहता था, जब उसके अभाव में निराशा के बादल छा जाते थे, पर साथ ही जब आशा-साफल्य के विद्युत-माल धारण कर प्रिय उसके मन में रस-बूँद बरस जाता था। कवि प्रिय-मिलन के लिए कितनी मनौतियाँ, कितनी कामनाएँ करता था, उसे याद है। वह मानता है कि प्रिय महान था, वह तुच्छ; अतः जब प्रिय मिलने आया था, तब वह इठला उठा था। उसे याद है कि चैत की मदमाती पूर्णिमा की संध्या के उपरान्त का काल था, जब उसने प्रिय को पहली बार देखा था। मधु-राका उस समय मुस्करा ही रही थी, शाम ही थी; खिलखिला कर तो वह अर्द्धरात्रि में हँसती है। प्रिय के प्रथम दर्शन में ही वह प्रेम-विभोर हो उठा था; प्रथम दर्शन में ही उसे ऐसा लगा, मानो प्रिय और उसका जन्म-जन्मांतर का परिचय है—

मधुराका मुसक्याती थी
पहले देखा जब तुमको
परिचित-से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको।

कामायनी के वासना सर्ग की 'पूर्वजन्म कहूँ कि था स्पृहणीय मधुर अतीत पंक्ति याद आ जाती है।

प्रिय तुम महान, मैं तुच्छ ! मेरा तुम्हारा मिलन—

परिचय राका-जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से
ऊपर से किरणें आतीं
मिलती हैं गले लहर से।

हे प्रियतम, जब तुम मिलते थे, मैं अपलक तुम्हारा अलौकिक सौंदर्य देखा करता था। मेरे पास तुम-जैसे महान एवं अद्वितीय को देने के लिए क्या था ? प्रतिमा थी। उसकी डाली या उपहार लगाकर मैं तुम्हारी निराली छवि-सुछवि को दान कर देता था। मिलन के अवसर पर मेरी चेतना खो जाती थी, मैं सुध-बुध खो बैठता था। निराशा के शिशिर में पत्रहीन एवं शुष्क शरीरावयत्र व्यर्थ प्राय हो रहे थे, हृदय का उद्यान सूख चला था, हे प्रियतम, तुम उसमें नूतन किसलय तथा सुमन-विभूति लेकर आए थे, मुझे याद है—

पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
सूखी-सी फुलवारी में
किसलय नवकुसुम बिछा कर
आए तुम इस क्यारी में।

तुम अपने चन्द्रमुख पर अवगुण्ठन डाले तथा हृदय में मेरे लिए आशा का दीप लिए, उल्लास का दीप लिए, ईषत्-दर्शन देते हुए आए थे। जीवन में सुख के दिन की गोधूली की धूमिलता फैल चली थी, तुम अपने दीपक से उसके लिए प्रकाश का संदेश लेकर आए थे। मुझे तुम कौतूहल-से आए प्रतीत हुए थे, क्योंकि तुम्हारा आगमन तुम्हारी अप्रत्याशित एवं आकस्मिक कृपा का परिणाम था !

तुम्हारा अलौकिक सौन्दर्य ! मेरे जीवन की निराशा के बादल में बिजली-सा। नहीं, बिजली की चंचल चमक सा। बिजली में कठोरता-कर्कशता सम्भव है, तुम उसकी चमक-जैसे मधुर, उज्ज्वल। फलतः आँखों की पुतली, नहीं, उसमें भी श्याम गोलक-जैसे स्पृहणीय, प्रिय। आँखें सबसे अधिक प्रिय, आँखों में भी पुतली अधिकाधिक प्रिय, पुतली में भी श्याम गोलक अधिकतम प्रिय। प्रियतम ! तुम कितने प्यारे लगे थे मुझे ? प्रतिमा में जीवन-तत्व की भाँति। तुम्हारी अलौकिक शोभा मेरी आँखों में बस गई। इस भाव-भरे हृदय पर बहुतों के भले-बुरे प्रभाव पड़े, पर तुम्हारा प्रभाव अद्वितीय, अतुलनीय रहा।

घन में सुन्दर बिजली-सी
बिजली में चपल चमक-सी
आँखों में काली पुतली
पुतली में श्याम झलक-सी ।
प्रतिमा में सजीवता-सी
बस गई सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में ।

तुम्हारे परिचय के बाद केवल एक लकीर—सबसे अलग, अद्वितीय। उस स्थिति में मैंने विश्व की समग्र सौन्दर्य-राशि को, लावण्य-शैल को तुम पर राई-सा वार दिया था ।

उपर्युक्त कतिपय छन्दों के लघुतम आकार में जिस विशालतम अनुभूति की विभूति प्रसाद ने भरी है वह कालिदास, तुलसीदास, बिहारी, गालिब और रवीन्द्रनाथ के सर्वोत्तम छन्दों की अनुभूति से पीछे नहीं है। यदि रहस्यवाद की धूम न मचती और अंग्रेजी का आतंक हम पर न होता, तो वह स्वीकार करने में कोई कठिनाई न हो सकती थी कि आँसू कुल मिलाकर गीतांजलि से कम महत्त्वपूर्ण सृष्टि नहीं है ।

इसी प्रकरण में कवि ने प्रिय के सौंदर्य का वर्णन किया है। अप्रस्तुत पुराने हैं, पर अभिव्यक्ति का कौशल सर्वथा नवीन ही नहीं, महान भी है। प्रसाद हिन्दी के आधुनिक काव्य में स्वच्छन्दता वाद तथा नवीनता के सूत्रधार होने पर भी परम्परा से अपने को कितना सशक्त कर सकते थे, यह वर्णन इस बात का एक प्रमाण है। इस वर्णन में कवि प्रिय के बात न सुनने की प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है—

मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलय-से पुरइन के
जलविन्दु-सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किनके ?

पर उसे प्रिय के सौंदर्य की पवित्रता का ध्यान है। प्रसाद का सौंदर्यचित्र कितना उदात्त रहता है, इसे इन पंक्तियों में भरपूर देखा जा सकता है :

चंचला स्नान कर आवे
चंद्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी ।

यदि बिजली अपनी उत्तेजना एवं तुर्शी को पूनम की चाँदनी में नहा-नहा कर धो दे और शांत, स्निग्ध सौन्दर्य की मूर्ति बन कर खड़ी हो जाए, तो उसके आलोक एवं माधुर्य में जो मनोरमता, रमणीयता एवं शीतलता होगी, वैसी ही उस सौंदर्य में थी। प्रसाद का यह उत्तेजनाहीन, पवित्र तथा उदात्त सौंदर्य-चित्र संसार के किसी भी सौंदर्य-चित्र से गरिमा में पीछे नहीं पड़ सकता।

कवि अब बतलाता है कि वह सब छलना थी, माया थी, पर मेरे लिए सत्य एवं विश्वास से परिपूर्ण। उलझनें बढ़ रही थीं, पर मुझे उनमें भी शांति मिल रही थी। प्रेम की क्रान्ति भी शांति से परिपूर्ण होती है—

ज्यों-ज्यों उलझन बढ़ती थी
बस शांति विहंसती बैठी
उस बंधन में सुख बंधता
करुणा रहती थी ऐंठी।

इसके बाद प्रकृति का संयोगात्मक वर्णन करके कवि ने संयोग का स्पष्ट चित्र खींचा है, जिसमें उसने परिरंभण, श्रम-जल तथा उससे भीगे वस्त्रों तक का वर्णन करने का साहस दिखलाया है। यह साहस आधुनिक हिन्दी के बड़े साहसों में है।

किन्तु यह मिलन ! वह सुख !! चला गया !!!

छिप गईं कहाँ छूकर वे
मलयज की मृदुल हिलोरें
क्यों घूम गई हैं आकर
करुणा कटाक्ष की कोरें।

यहाँ "घूम गई हैं आकर" में "घूम गई" का अर्थ है "लौट गई"। प्रसाद की रचनाओं पर जब बनारसी या पूरबी का प्रभाव देखा जायगा, तब इन पंक्तियों को छोड़ा न जा सकेगा।

अब प्रिय में विस्मृति है; कवि में मिलन सुख का नशा, उसके राग में मिलन की गमक। अब वह सोचता है कि वह अल्पकाल का मिलन था, या स्वप्न; जो हो, मिलन का राग प्रकृति में अब भी गूँज रहा है। कवि ने अपनी व्यथा तथा दयनीय दशा का बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। मानसिक भावों के अनुरूप प्रकृति को व्यथित रूप में बड़ी विदग्धता से देखा है। नए-पुराने अप्रस्तुतों को सर्वथा नवीन शैली में प्रयुक्त किया गया है।

प्रिय स्मृतियाँ छोड़ कर चला गया। उसकी स्मृति में कवि आँसुओं के मोतियों की ढेरी बरसाता रहता है। पर वह प्रिय को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता, नहीं देख सकता। अब भी प्रकृति के विभिन्न क्रिया-कलापों में उसे प्रिय का स्मरण हो आता है :

शीतल समीर आता है
कर पावन परस तुम्हारा
मैं सिहर उठता करता हूँ
बरसा कर आंसू धारा।

अब भी वह प्रिय की प्रतीक्षा में अंबर के तारे गिनता रहता है। परिस्थिति प्रेम को परास्त नहीं कर सकती। कवि की दीनता अपनी दयनीयता में दर्प बन बठती है, वह भी मन ही मन रूठ लेता है, पर उसका प्रेम अविचलित है, उसकी कोमलता तथा विनम्रता में कोई अन्तर नहीं आया। विरह की दशा में हृदय असंख्य परिचित-अपरिचित व्यक्तियों से भरे इस संसार में एकांकीपन, असह्य एकांकीपन का अनुभव करता है। कवि ने इस एकाकीपन की वेदना का बहुत ही हृदय-द्रावक चित्र खींचा है। वह अपने नाविक प्रेम या अदृश्य शक्ति या नियति—से प्रश्न करता है कि जो व्यथा उसे मिल रही है, क्या वह और किसी को भी कभी मिली थी ?—

नाविक ! इस सूने तट पर
किन लहरों में खे लाया ?
इस बीहड़ बेला में क्या
अब तक था कोई आया ?

निराशा के तिमरोदधि में कवि की मानस-नौका तिर रही थी, पर प्रिय के मुखचन्द्र की किरणों का आकर्षण पाकर इसे लगता था, जैसे धरणी-मिलन-निकट आ रही है :

तिरती थी तिमिर-उदधि में
नाविक ! यह मेरी तरणी
मुखचन्द्र किरण से खिंचकर
आती समीप हो धरणी।

वैज्ञानिक युग का कवि जायसी की नागमती से भी आगे बढ़ कर प्रिय से कहता है।

चमकूँगा धूल कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा

पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
ग्रह पथ में टकराऊँगा

साथ ही उसे अपने स्नेह की ज्वाला में शीतलता भी प्रतीत होती है, "ऊधो, विरहो प्रेमु करै !"—

है चन्द्र हृदय में बैठा
उस शीतल किरण सहारे
सौन्दर्य-सुधा बलिहारी
चुगता चकोर अंगारे ।

चन्द्र, सुधा, चकोर, अंगारे—पुराना पात्र ! पर रस, नया !!

विरही कवि में आवेग धीरे-धीरे कम हो रहा है । उसे ऐसा लगने लगा है जैसे दुख,सुख और विरह-मिलन इत्यादि एक-दूसरे के पूरक परस्पर मिल कर ही जीवन को पूर्ण करेंगे । वह संतुलित हो रहा है । विरह-मिलन आंखों का खेल ही तो है, देखा तो गद्गद, न देखा तो विगलित । दुख-सुख मन का खेल ही तो है; कभी हर्ष-विह्वल, कभी शोक-विह्वल । जीवन की पूर्णता समन्वय और संगति में है :

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
दुख सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आंख का, मन का ।

पर उसे प्रिय का स्मरण है, अपने दुख के प्रति वह सजग है । यही तो उसका कौशल है । वह दुःख का विस्मरण नहीं कर सकता, वह सुख का विस्मरण नहीं कर सकता । वह दोनों से जीवन का मेल कराना चाहता है । वह समरस जीवन चाहता है, जहाँ—

चढ़ जाय अनन्त गगन पर
वेदना-जलद की ज्वाला
रवि तीव्र ताप न जलाए
हिमकर का हो न उजाला

कवि दार्शनिक बनता जा रहा है । दुःख मनुष्य को दार्शनिक बना देता है । पर उसे प्रिय कहीं भूला । आँसू में विभिन्न भावनाओं एवं विचारों की अभिव्यक्ति के बीच कवि प्रिय को कहीं भूला । यही उसकी कलात्मक संगति है, कृति का गुण है । उसे विश्वास है :

इस शथल आह से खिचकर
तुम आओगे, आओगे
इस बढ़ी व्यथा को मेरी
रो रो कर अपनाओगे ।

अपने दुःख को देखकर वह जगती को सुखी देखना चाहता है। यही दुःख का सात्विक पक्ष है। कवि चाहता है कि जगती पर करुणा-कण बरसें, वह सहानुभूति का रस पाए, सुखी हो। वह स्वयं सुख और दुख में संगति स्थापित कर चुका है, वह जानता है कि इन व्यथाओं के ग्रहण में भी, इस ग्रहण के तल में, रंजक तत्व विद्यमान हैं, पर वह प्रिय को भूला नहीं है :

वह हंसी और यह आंसू
घुलने दे मिल जाने दे
बरसात नई होने दे
कलियों को खिल जाने दे ।
चुन चुन ले रे कन कन से
जगती की सजग व्यथाएँ
रह जायँगी कहने को
जन रंजनकारी कथाएँ ।

अपनी ज्वाला की सजगता के प्रति कवि विश्वस्त है। वह जानता है कि इस ज्वाला से ही, दुःख की ज्वाला से ही इस जग के कलुष धुलेंगे। सच भी है, संसार का इतिहास दुःखों ने बनाया है, सुखों ने नहीं।—

जीवन-सागर में मानव
बड़वानल की ज्वाला-सी
यह सारा कलुष जलाकर
तुम जलो अनल-बाला सी।

करुणा की ज्वाले !

निर्मम जगती को तेरा
मंगलमय मिले उजाला
इस जलते हुए हृदय की
कल्याणी शीतल ज्वाला ।

कवि बहुत गहरे उतर कर, बहुत व्यापक परिधि तक जाकर चिन्तन कर चुका है। पर उसका प्रेम उसे विस्मृत नहीं हुआ। विरह- व्यथा ने, चिन्तन ने

जीवन को कुछ रूखा कर दिया है। कवि प्रेम को आमन्त्रित करता है कि वह आकर उसके जीवन को पुनः सरस कर दे

जिसके आगे पुलकित हो
जीवन है सिसकी भरता
हाँ मृत्यु नृत्य करती है
मुसक्याती खड़ी अमरता।

वह मेरे प्रेम बिहँसते
जागो मेरे मधुबन में
फिर मधुर भावनाओं का
कलरव हो इस जीवन में।

जीवन प्रेम का शिशु है, वह उसके आगे, उसकी गोद पाकर, आनन्दित होकर, आनन्द-विभोर होकर सिसकियाँ भरने लगता है; चिर-परिचित पर सामान्यतः निगूढ़-सा प्रेम जब प्राप्त होता है, तब जीवन हर्ष-विभोर हो अपना मधुर रोदन छिपा नहीं पाता। पर प्रेम को पाकर मृत्यु नृत्य भी करती है। मृत्यु भयानक न लगकर नर्तकी-सी कलामयी लगती है; प्रेम मृत्यु से दृढ़तर है। प्रेम में बलिदान के लिए सतत प्रस्तुत रहना पड़ता है। और जब इतना हो गया, तब ? अमरता सामने खड़ी होकर मुस्कराने लगती है! प्रेम अमरत्व है!! कवि को लगता है, जैसे व्यथा तथा चिंतना ने उसके जीवन को नीरस कर दिया है। अतः वह सरसकारी प्रेम को आमंत्रित कर रहा है। यहाँ पर भवभूति की प्रेम-मीमांसा "अद्वैतम् सुख-दुःखयो" इत्यादि का प्रभाव प्रसाद पर पड़ा है, पर प्रसाद भवभूति की स्वाभाविक सरलता न ला पाने पर भी अभिव्यक्ति की दृष्टि से अधिक बँकिम तथा कलापूर्ण हैं। हिन्दी-साहित्य में प्रेम पर इतना गंभीर विचार, इतना कलापूर्ण विचार शायद किसी कवि ने नहीं प्रस्तुत किया।

कवि अपनी वैयक्तिक गाथा को भूला नहीं है, यह उपर्युक्त पदों से स्पष्ट है। पर अब वह केवल अपना दुखड़ा ही रोना पसन्द नहीं करता, अपने दुःख-दधि का नवनीत, अपने वेदनांबुधि का पीयूष भी सबको देना चाहता है। वह आँसू के दर्द भरे पहलू पर बहुत कुछ कह चुका है, अब उसके उल्लासमय पक्ष पर भी बहुत-कुछ कहना चाहता है। सार में—

आँसू वर्षा से सिंच कर
दोनों ही कूल हरा हो
उस शरद प्रसन्न नदी में
जीवन द्रव अमल भरा हो।

यहाँ "दोनों ही कूल हरा हो" का व्याकरण-दोष विचार एवं भाव की सरलता में डूब जाता है ।

प्रेम के प्रति कवि का निवेदन बहुत उच्च कोटि का है । वह प्रेम से विश्व के कलुष को धोने का अनुरोध करता है, निर्मलता लाने का आग्रह करता है ।

हे जन्म जन्म के जीवन
साथी संसृति के दुख में
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलस के सुख में ।
जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे ।

'विरह अनिल में जरि गए मन के मैल विकार' का अभिनव संस्करण निस्संदेह अधिक रमणीय है ।

कवि प्रेम को अत्यन्त विराट रूप में देखता है, उसके लिए प्रेम, करुणा, चेतना, वेदना, विश्वानुभूति सब एक बन जाते हैं । प्रेम के प्रति कवि का यह विराटवादी दृष्टिकोण हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है । आंसू को रहस्यवाद में खींचने पर यह सशक्त-दृष्टिकोण उतना जीवनोपयोगी न रह जायगा । साथ ही, उसे निरी माँसल प्रणय-व्यापार की कृति कहने से कवि के साथ न्याय भी न हो सकेगा । प्रसाद का प्रेम आँसू से धुलकर, चमक कर, सर्वथा पवित्र एवं उदात्त बन गया है । प्रेम के प्रति कवि का विशद निवेदन आँसू का सर्वोत्तम अंश है। यहाँ पर कवि का प्रेम उसे वेदना के विराटतम रूप की ओर अग्रसर करता है । उसे प्रकृति तथा मानवता के दुःख और दर्द से सहानुभूति होती है । जो आंसू व्यष्टिगत व्यथा से प्रादुर्भूत हुए थे, वे विचार-पुष्ट हो विश्व-सदन में बरसने का आग्रह कर धन्य हो जाते हैं :

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन सा
आंसू इस विश्व सदन में ।

यहाँ 'हिमकन सा' में आँसू को एक वचन में प्रस्तुत किया गया है । पता नहीं क्यों ? पर सुख से सूखे जीवन में आँसू बरसे और उसे हरा कर दे, यह आग्रह अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवं सच्चा है ।

आँसू प्रसाद की एक महान कलाकृति है । छायावाद की पूर्ण प्रतिष्ठा आँसू के द्वारा ही हुई । छायावादी काव्य-रचना के प्रारम्भ में जो विरोधजन्य कृत्रिमता यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती थी, वह आँसू ने धो दी । उसमें न तो स्वच्छन्दता का आवश्यकता से अधिक प्रदर्शन है, न नएपन बेढंगी झोंक । वस्तुतः आँसू में सब-कुछ ऐसा है, जिससे हम परिचित हैं । फिर भी वह सब कुछ नया लगता है, यही नहीं, नया है भी । आँसू के रचना-विधान में इतनी अधिक गहराई एवं कलात्मकता है कि इसका अध्ययन अनेक दृष्टिकोणों से हुआ । किसी ने इसकी रहस्यवादी व्याख्या की, किसी ने अर्द्धरहस्यावादी, किसी ने निरी माँसल, किसी ने निरी अमाँसल । एकाध अध्येता ने तो सृष्टि के सर्ग-प्रलय की कथा से भी आँसू का संबंध जोड़ा ।

आँसू के पीड़ावाद या वेदनावाद का महादेवी पर गहरा प्रभाव पड़ा है, यद्यपि उन्होंने उस पर आवश्यकता से अधिक रहस्यावरण डालकर रमणीयता को चिन्तन से बोझिल बना दिया है । आँसू के नियतिवाद का बच्चन पर प्रभाव पड़ा है । उसमें जो निराशा का आभास है, उसे पकड़कर नीरज ने अपना मृत्युवाद पनपाया है । पर उसमें वह पुष्ट विचारधारा नहीं है, जो आँसू में भरी पड़ी है । सैकड़ों साधारण कवियों के प्रेम और वियोग पर आँसू की छाप पड़ी है । इसका कारण आँसू की स्वाभाविक वेदना, उसकी अनूठी कला तथा उदात्त दर्शन है । फलतः यदि प्रसाद ने अट्ठाइस-अट्ठाइस मात्राओं के दो चरणों वाले आनंद छंद को आँसू छंद ही बना दिया, तो क्या आश्चर्य ! सृष्टा क्या नहीं कर सकता ! वह आनंद को आंसू में परिणत कर सकता है, कर चुका है !

आँसू में साँग रूपक, उपमा, अनुप्रास इन तीन अलंकारों की बहुत ही पुष्ट एवं सुरम्य झाँकिया बारम्बार देखने को मिलती हैं । पर विरोधाभास की छटा के सामने वे फीकी पड़ जाती हैं । प्रायः पग-पग पर विरोधाभास का जो सुन्दर प्रयोग आँसू, विशेषता उसके पूर्वार्द्ध, में मिलता है, वह आधुनिक हिन्दी-कविता में अतुलनीय है । प्रसाद विरोधाभास के सम्राट थे, घनानन्द की तरह । विरह की दशा बाह्यता विरोध की दशा ही रहती है, सुख में दुःख, दुःख में सुख, विरह में मिलन, मिलन में विरह, आकुलता में शाँति, शाँति में आकुलता । फलतः सच्चे विरही कवियों की कृतियों में विरोधाभास अलंकार के दर्शन बारंबार होते रहते हैं । घनानंद, प्रसाद और महादेवी इसके निदर्शन हैं । यद्यपि कुल मिलाकर घनानन्द प्रसाद की समता नहीं कर सकते, पर विरही कवि के रूप में दोनों में बड़ी समानता है । अनुभूति की द्रवणशीलता, अभिव्यक्ति की गंभीरता, विरोधाभास की छटा दोनों कवियों में असाधारण रूप लेकर प्रकट हुई है । दोनों कवियों ने जीवन में प्रेम किया था, असफल प्रेम । दोनों को विरह की सच्ची और पवित्र अनुभूति थी ।

घनानन्द का विरह-काव्य परिमाण की दृष्टि से प्रसाद के विरह-काव्य की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है, गुण की दृष्टि से भी वे पीछे नहीं है। इसका कारण है कि घनानन्द एक बड़ी दूरी तक केवल विरह के कवि हैं, प्रसाद का कवि अधिकाधिक व्यापक क्षेत्र में फैला है। दोनों कवियों ने परम्परा से बहुत कुछ लिया है, साथ ही उसे नवीनता भी प्रदान की है। दोनों की भाषा अनूठी है—मधुर, ललित. प्रांजाल, दोनों की अभिव्यक्ति में वंकिमता का आधिक्य है। प्रसाद की कसावट और दार्शनिकता घनानंद में नहीं है, घनानंद, की विशदता तथा एकरसता प्रसाद में नहीं। दोनों ही महान कवि हैं।

× × × ×

विरह-वर्णन की दृष्टि से प्रसाद का क्षेत्र हरिऔध और मैथिलीशरण के समान व्यापक नहीं है। हरिऔध और मैथिलीशरण की विरह-दृष्टि प्रिय-प्रिया से आगे बढ़कर अन्य प्रेम-सम्बन्धों तक गई है। प्रसाद की दृष्टि अपने वैयक्तिक प्रेम पर ही अधिक रीझी है। इस दृष्टि से आधुनिक काल में महादेवी और बच्चन उनके अधिक निकट हैं। महादेवी अपने दार्शनिक अवगुंठन में भी विरह-गान की दृष्टि से प्रसाद से पीछे नहीं हैं, पर उनमें वह कसावट नहीं है जो प्रसाद में है। उनमें मीरा-जैसा एक भाव को अनेक रूपों में व्यक्त करने का आग्रह ऊब पैदा कर देता है। बच्चन का विस्तार प्रसाद तक नहीं जा सकता। अतः प्रसाद से उनकी तुलना समीचीन नहीं होगी, भले ही सरलता, अकृत्रिमता एवं अनुभूतिगत ऋजुता में वे बेजोड़ हों।

प्रसाद विरह-वैतालिक के रूप में भी हिन्दी-साहित्य में अपना ऊँचा स्थान रखते हैं—जायसी, सूर, मीरा, घनानन्द, हरिऔध मैथिलीशरण और महादेवी के साथ-साथ। हरिऔध और मैथिलीशरण की क्षेत्र-गत व्यापकता का स्पर्श वे भले ही न कर सके हों, पर अपनी सीमा में वे उनसे अधिक कलात्मक, स्वाभाविक तथा मनोरम हैं। आँसू अपने आकार में आधुनिक काल की सर्वोत्तम विरह-कृति है।

(५) महादेवी का विरह वर्णन

मीरा के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री महादेवी की प्रतिभा ने अपनी सहजात सजलता तथा मधुर वेदना से हिन्दी-काव्य के शत-शत शृङ्गार किए हैं। हरिऔध, रत्नाकर, मैथिलीशरण, प्रसाद, निराला और पंत के बाद आधुनिक काल के स्रष्टाओं में उनका अमर स्थान बन चुका है। आधुनिक काल की कवयित्रियों में उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। तोरुदत्त की प्रतिभा असमय काल-क्वलित होगई, सरोजिनी नायडू की प्रतिभा पर राजनीति का प्रभाव पड़ता रहा,

एक सीमा तक यही बात सुभद्राकुमारी चौहान के लिए भी कही जा सकती है, अमृता प्रीतम की अनुभूति को पाश्चात्य साहित्य के आवश्यकता से अधिक ने आक्रान्त कर दिया है। जो एकरस प्रवाह, तन्मयता, उदात्तता, मौलिकता तथा तीव्रानुभूति महादेवी में है, वह तोरुदत्त, सरोजिनी, सुभद्राकुमारी तथा अमृता में नहीं है। महादेवी आधुनिक भारत की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री हैं। आधुनिक विश्व में उनके स्तर की कोई कवयित्री हुई है या नहीं, यह प्रश्न उठाना भी असंगत नहीं कहा जा सकता।

मीरा और महादेवी की तुलना भी प्रायः होती रहती है। यह तुलना अनुचित नहीं कही जा सकती। दोनों महाकवयित्रियों में अनेक समताएँ हैं। पर अनुभूति की तीव्रतम सत्यता—जो श्रेष्ठ काव्य की कदाचित सबसे बड़ी कसौटी है—की दृष्टि से मीरा का स्थान महादेवी से श्रेष्ठ मानना ही पड़ता है। महादेवी की कला और चिंतना मीरा में नहीं है, पर कला और चिन्तना काव्य में अनुभूति के पश्चात ही अपना स्थान रखती है। मीरा की वाणी का जो पावन, कल्याणकारी तथा व्यापक प्रभाव इस राष्ट्र की कोटि-कोटि जनता पर शताब्दियों से पड़ता आ रहा है तथा जिसमें सतत वृद्धि होती चली आ रही है, वह उन्हें हिन्दी ही नहीं, संसार की सबसे अधिक लोकप्रिय कवयित्री बना चुका है। महादेवी केवल कवयित्री हैं, मीरा कवयित्री तथा महात्मा दोनों। व्यक्तित्व की दृष्टि से मीरा का स्थान महादेवी से बहुत ऊँचा है। साथ ही, यह भी निश्चित है कि कलागत उत्कृष्टता तथा मौलिकता में महादेवी मीरा से बहुत आगे हैं। हिन्दी के एक विख्यात आलोचक ने लिखा है कि महादेवी की मीरा से तुलना करना उन्हें पाँच सौ वर्ष पीछे खींच ले जाना है। यह कथन महत्त्वपूर्ण लगता है। पर है अधूरा। इसे पूर्ण इन शब्दों में किया जा सकता है। मीरा की महादेवी से तुलना करना उस महान मध्यकालीन नारी-प्रतिभा को पाँच सौ वर्ष आगे खींचने का प्रयास करना है। पूर्ण हो जाने पर भी यह कथन तलस्पर्शी नहीं है। दोनों कवयित्रियों में बहुत-कुछ तुलनीय है तथा दोनों ही महान हैं। तुलसी और सूर की तरह मीरा और महादेवी का युग्म हमारे साहित्य का शृङ्गार है, गर्व है।

महादेवी के काव्य का प्रमुख विषय विरह है। इधर कुछ वर्षों से वे वेदों के काव्यात्मक अंशों के अनुवाद की ओर भी सचेष्ट हैं। पर इस क्षेत्र में उन्हें महत्त्वपूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। यदि वे अनुवाद न करके छायानुवाद करतीं, वेदों की काव्यात्मक अभिव्यक्तियों के आधार पर अपनी स्वतंत्र रचनाएँ प्रस्तुत करतीं, तो उन्हें अधिक सफलता मिल सकती थी। उनकी सृजनात्मक प्रतिभा अनुवाद के बहुत अनुकूल नहीं है। दूसरे संस्कृत में एक दूरी तक निष्णात होने पर भी वे ऐसे वातावरण में नहीं रहीं, जो उन्हें ऋग्वेद के मन्त्रों के अनुवाद से उपयुक्त अवसर प्रदान करता। फलतः कुछ अनुवादों (जैसे उषा के प्रति ऋग्वेद के प्रसिद्ध मन्त्रों का

सुन्दर एवं मनोरम अनुवाद) को छोड़कर शेष क्लिष्ट एवं मूल विषय से दूर हो गए हैं। महादेवी की महत्ता में ऐसे अनुवाद कुछ जोड़ नहीं सके हैं। उनकी महिमा उनके मौलिक गीतों के कारण है जो नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत तथा दीपशिखा में संकलित हैं। यत्र-तत्र क्वासि का चिरंतन प्रश्न भी कवयित्री ने उठाया है, भारत तथा भारती इत्यादि विषयों का स्पर्श करने की चेष्टा भी की है, पर इस क्षेत्र में वह अधिक सफल नहीं हो सकीं। उनकी महिमा का कारण उनका विरह-काव्य ही है। इस विरह-काव्य पर रहस्य का आवरण डाल दिया गया है, पर यह आवरण अपने वैयक्तिक एवं यथार्थ स्तर को छिपा नहीं पाया। हाँ, इस आवरण ने यथार्थ के रूप को उदात्त अवश्य कर दिया है।

महादेवी विरह की कवयित्री हैं। इस दृष्टि से समग्र हिन्दी-साहित्य में उनका विशिष्ट स्थान है। जायसी, सूर, मैथिलीशरण और प्रसाद विरह के क्षेत्र में महान हैं, पर ये केवल विरह के कवि नहीं हैं। [मीरा और घनानन्द विरह के क्षेत्र में महान हैं, पर उन्होंने भी भक्तिमूलक, प्रेममूलक एवं विरक्तिमूलक पद बड़ी तन्मयता से लिखे हैं] बच्चन विरह के कवि हैं, पर उन्होंने भी हाला, गाँधी और बंगाल के अकाल पर बहुत कुछ लिखा है, भले ही महत्त्व की दृष्टि से वह बहुत-कुछ न हो। हरिऔध प्रमुखतः विरह के कवि रहे हैं, पर उनका ध्यान भी लोकसेवा, जातीयता, हिन्दूजाति इत्यादि की ओर गया है। महादेवी केवल विरह की कवयित्री हैं, उनके सृजन का प्रायः सब गुण और परिमाण की दृष्टि से विरहमय है। यों कवयित्री ने अनेक क्वासिमूलक रहस्यवादी गीत लिखे हैं, देश-प्रेम इत्यादि पर भी एकाध बार दृष्टि फेरी है, पर ऐसे गीतों में उनकी आत्मा का पूर्ण उत्साह प्रकट नहीं हो पाया। [उनका विरह सूर, तुलसी, हरिऔध और मैथिलीशरण के विरह की तरह व्यापक क्षेत्र में नहीं फैला। मीरा के विरह से भी वह भिन्न है। मीरा के विरह के आलम्बन कृष्ण हैं, जिनके विरह के गीत अनेक कवियों ने गाए हैं। उनके विरह में भक्ति भी घुली-मिली है। महादेवी का विरह बाह्यतः रहस्याभास-युक्त प्रतीत होते हुए भी, वस्तुतः शुद्ध वैयक्तिक विरह है। वह टेरेसा, राबिया, गोदा या आँडाल, मीरा, या ताज बेगम के विरह से भिन्न है]। उसमें अपार्थिव पार्थिवता का उल्लेख तो हुआ है पर वस्तुतः उसके प्रेरक तत्त्व पार्थिव अपार्थिवता से संगठित हुए हैं। अपने विरह में महादेवी घनानन्द, प्रसाद और बच्चन के अधिक निकट हैं। इनके समान महादेवी का विरह वैयक्तिक है, अनुभूत है।

नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत एवं दीपशिखा ऐसे सार्थक सोपान अन्यत्र शायद ही मिलें। नीहार (अश्रु) का जन्म तिमिरमय रजनी (निराशाजन्य वेदना) में होता है; रश्मि (आशा की किरण) नीहार को प्रकाशित करती है, उज्ज्वल करती है, रश्मि के पश्चात् ही नीरजा (रोदनोद्भूत गीत-पंक्तियाँ) का विकास

सम्भव है, यह विकास धूप में ही पुष्ट होता है और सन्ध्या तक होता रहता है; पर संध्या इस विकास को बन्द कर देती है, सांध्यगीत नीहार, रश्मि, नीरजा को पूर्णत्व प्रदान करते हैं; अन्ततोगत्वा दीपशिखा (जलना, पर प्रकाश देना) स्वाभाविक ही है। जीवन के प्रभात में प्रेम-वेदना के नीहार कणों ने चिन्ता के बाद आशा के आगमन की तरह रश्मि का आवाहन किया, इस रश्मि ने नीरजा को विकास प्रदान किया, पर इस विकास को सांध्यगीत के कलरव में बन्द हो जाना पड़ा। फिर अन्धकार ! पर उस अन्धकार या निराशा पर दीपशिखा का नियंत्रण ! यही महादेवी के विरह-काव्य के स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी सोपान हैं ! रचनाक्रम दिवस-क्रम के प्रतीकत्व में जीवन-क्रम को प्रस्तुत करने में जितना अधिक सफल यहाँ हुआ है उतना हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं ! 'यामा' में कवयित्री के द्वारा स्पष्ट रूप में लिखित प्रथम याम, द्वितीय याम, तृतीय याम इत्यादि सार्थक रहस्य रखते हैं !

×   ×   ×

महादेवी की प्रथम कलाकृति नीहार प्रारंभिक प्रतिभा की द्योतक होते हुए भी एक सफल रचना है, पंत की वीणा या प्रसाद के झरना से अधिक एकतान, समरस तथा प्रशांत। उसमें प्रारंभिक कृति के सारे गुण सरलता, निश्छलता, अकृत्रिमता (जितनी छायावाद में सम्भव हो सकती है) तथा दोष प्रतीकात्मकता के प्रति कुछ अधिक ललक, छायावादी मुहावरे गढ़ने का कुछ अधिक उत्साह, 'इस पार' और 'उस पार' का बार-बार उठ खड़ा होने वाला झमेला (जो छायावादी रहस्यवाद का प्राण है) पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। फिर भी नीहार के कणों (गीतों) में जो एकरूपता, सरसता तथा भाव की तलस्पर्शिता विद्यमान है, उसे देखकर सहसा यह विश्वास नहीं होता कि उसका स्रष्टा तरुणावस्था या नवयौवन से सम्बन्धित है।

नीहार से लेकर दीपशिखा तक महादेवी की कविता में पीड़ा की एक-रसता विद्यमान है। स्वर की कला में काल ने परिवर्तन किए हैं, अनुभूति में नहीं। महादेवी का पीड़ावाद उनके किशोर-काल से लेकर प्रौढ़काल तक सतत सृजन की प्रेरणा देता रहा है। सरसरी नजर से देखने पर यह पीड़ावाद 'एकोरसः करुण एव' या शैली के 'हमारे सबसे मधुर गान वे हैं, जो सबसे अधिक दर्दभरे विचारों को प्रकट करते हैं' का रूढ़ प्रयोग प्रतीत होता है, पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता दृष्टिगोचर होता है। कवयित्री के सबोध जीवन के प्रभात में स्नेह की स्वर्णाभा फूटी थी, जो चिरस्थायी न रह सकी। वह स्वर्णाभा तो एक अमर पुलक, एक सजीव उल्लास देकर चली गई, पर उसकी पीड़ा न जा

सकी। वह पीड़ा सारे जीवन भर रुलाती रही। नीहार में वह पीड़ा नूतन है, अतः उसके स्वरों में यथार्थता अधिक है। कालान्तर में उसका रूप सूक्ष्म होता गया।

भारतीय तथा हिन्दी-संस्कृति चिरकाल से स्रष्टा के शील को उसके जीवनगत प्रणय-भावों को प्रतीक-विधान के माध्यम से व्यक्त करने के लिए प्रेरित करती रही है। अनेक कवियों ने राधा-कृष्ण, एकाध ने शिव-पार्वती तथा अनेक ने आत्मा-परमात्मा के माध्यम से अपनी वैयक्तिक, प्रणयानुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। साधकों तथा भक्तों की बात और है, हालाँकि उन्होंने भी यत्र-तत्र स्वानुभूति को माध्यम के क्रोड़ में डाल ही दिया है। महादेवी ने जिस समय लेखनी उठाई थी, वह समय स्वानुभूतियों को रहस्यमय के माध्यम से व्यक्त करने का था। प्रसाद इत्यादि छायावादी कवि ऐसा ही कर रहे थे। अतः महादेवी को अपनी अनुभूतियाँ रहस्यमय की ओट लेकर व्यक्त करना ही अधिक समीचीन प्रतीत हुआ। रहस्य का माध्यम क्रमशः पुष्ट होते-होते माध्यम के स्थान पर आधार-वस्तु का आभास देने की शक्ति भी बटोरता गया। महादेवी में रहस्यवाद की खोज उसी शक्ति का परिणाम है। पर अपने वास्तविक रूप में रहस्यवाद महादेवी की अभिव्यक्ति का एक माध्यम ही रहा है, स्वतन्त्र वस्तु या आधार वस्तु नहीं। उसका आकार-प्रकार इस बात का प्रमाण है।

महादेवी की प्रणयानुभूति क्रमशः अधिक रहस्योन्मुख होती प्रतीत होती है। यदि उनके जीवन को साधना का क्रोड़ मिल जाता, तो सम्भव था कि पीड़ा उनमें सच्ची रहस्यानुभूति उत्पन्न कर देती। प्रायः रहस्य-भावना या भक्ति-भावना जीवन की अन्य भावनाओं के अतिरेक-शैथिल्य या निराशाओं से ही उद्भूत होती है। भर्तृहरि का वैराग्य 'यं चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता' इत्यादि में मूलभूत है, सूर के विषय में भी एकाध कहानियाँ प्रचलित हैं, तुलसी की विरक्ति भी अनुरक्ति से उत्पन्न हुई थी, नन्ददास का खत्राणी-प्रेम प्रसिद्ध है, रसखान को कृष्ण पर रीझने की प्रेरणा पार्थिव सौन्दर्य से ही प्राप्त हुई थी, नागरीदास ने भक्ति का संकेत पारि-वारिक विषमता से पाया था, घनानन्द का कृष्ण-प्रेम सुजान की अप्राप्ति पर पुष्ट हुआ था। पार्थिवता मानव का सहज धर्म है। यह सहज धर्म निराला, ग्लानि, प्रताड़ना इत्यादि से प्रेरित होकर अपार्थिवता की ओर उन्मुख हो जाता है। आधु-निक काल के दो प्रमुख प्रणयी कवि प्रसाद और महादेवी का तथाकथित रहस्यवाद भी पार्थिवता में मूलभूत है। महादेवी ने जिस 'अपार्थिव पार्थिवता' की चर्चा की है, वह केवल प्रासंगिक है, वस्तुतः वह 'पार्थिव अपार्थिवता ही है।

छायावादी रहस्यवाद की काल्पनिकता उसके स्रष्टाओं के जीवन से तो स्पष्ट

होती ही है, उनके स्वरों से भी प्रकट होती रहती है। छायावादी स्रष्टा 'उस दिन' 'उस मिलन' तथा 'उस पार' का जो बारंबार उल्लेख करता है, वह जीवन के अतीत से सम्बन्धित मिलन-पर्व का सूचक है, जो साधनात्मक या सच्चे रहस्यवादियों में नहीं प्राप्त हो सकता। जिस 'उस पार' या मिलन-दशा का उल्लेख छायावाद का रहस्यवादी बारंबार करता है, वह जीवन की पार्थिव निराशा के अतिरेक के कारण ही है। सच्चा रहस्यवादी 'उस पार' जाने की कामना तो दूर, 'मुक्ति' को भी ललकारता हुआ दृष्टिगोचर होता है। उसे अपने प्रेम, वियोग तथा रोदन—जो अन्त में मिलन तथा हास में अवसित होता है—में इतना सन्तोष प्राप्त होता है कि इनके आगे वह मुक्ति तक नहीं पसन्द करता। कबीर प्रेम में 'अघाय' कर इतना 'राते-माते' हो जाते हैं कि 'मांगै मुक्ति बलाय' की घोषणा करने लगते हैं, सूर की गोपिकाएँ मुक्ति की खिल्ली उड़ाती हैं, तुलसी 'जनम-जनम रघुनाथ-पद-रति' के लिए 'गति न चहौं निरबान' का ऐलान करते हैं, मीरा की प्रेम-बेलि उस पार' की ओर सचेष्ट न होकर इस धरती पर ही फैली थी। छायावाद का रहस्यवादी विरह का रोदन तो करता है, पर मिलन या मिलन के आभास का वह प्रसन्न गान नहीं, जो सच्ची रहस्यानुभूति का एक अनिवार्य तत्त्व है। कबीर का 'खचु पाया सुख अपना' तथा मीरा का 'अब तो बेलि फैल गई आनंद फल होई' का राग काल्पनिक नहीं है, यह आधुनिक भारत के महायोगी अरविन्द का वह कथन स्पष्ट कर देता है, जिसमें उन्होंने जेल-जीवन की आध्यात्म-साधना में कृष्ण के तीन बार दर्शन होने की चर्चा की है। ऐसा दर्शन यथार्थ-मूलक होता है या शुद्धाभास-मूलक, यह विषय भले ही विवादास्पद हो, पर इतना स्पष्ट है की सच्ची रहस्य-साधना कभी बेकार नही जाती।

महादेवी के रहस्य-गान माध्यभगत रहस्यगान हैं। नीहार में उनके जीवन का निराश प्रणय इसे स्पष्ट कर देता है। प्रसाद के आँसू के समान महादेवी का विरह-काव्य पार्थिव ही है। पर दोनों में उतना ही अंतर है जितना पुरुष और नारी में होता है। प्रसाद का प्रेम पुरुष का प्रेम है, जो निष्ठुर प्रिय पर सारी आस्था के बावजूद भी "उस मिलन" की "छलना" और "माया की छाया" पर रोना जानता है। महादेवी का प्रेम नारी का प्रेम है, जो प्रिय के प्रति आस्था में अपनी पीड़ा का रोदन करते हुए भी अपने पक्ष से संबद्ध प्रेम पर पूर्णतः आश्वस्त है। उसे दर्द है कि प्रिय का संयोग स्थायी न हो सका। पर वह उसके अस्थायित्व के सुख को सहेजने की शक्ति रखता है, रो-रो कर भी अपने प्रेम और प्रिय पर प्रत्यक्ष का परोक्ष आक्रोश प्रकट नहीं करता, यदि करता भी है जो बहुत दबी आवाज में ही। प्रसाद का आवेशयुक्त पौरुष अपने प्रेम का पार्थिवता का संगोपन आवश्यकता से अधिक सचेष्ट होकर नहीं कर पाता, महादेवी का सव्रीड नारीत्व एक बड़ी दूरी तक ऐसा करने का प्रयास बराबर करता रहता है। प्रसाद का पुरुष अपनी निराशा

को जन-मंगल की ओर प्रेरित कर लेता है, महादेवी का नारीत्व निराशा को सदा पीड़ा के रूप में अपनाता हुआ चलता है।

नीहार के गीतों में कवयित्री के प्रेम, स्मृति, विकलता, पीड़ा तथा वास्तविक इच्छा के स्वर अत्यन्त-विगलित रूप लेकर प्रकट हुए हैं, पर उनमें प्रारम्भिकता का कच्चापन भी है। देव के 'इस पार' आकर संगीत सिखा जाने तथा तबसे अनेक युग बीत जाने एवं उँगलियों के थक जाने आदि में रवीन्द्र का प्रभाव बहुत खुलकर पड़ा है। 'उस पार' जाने का विशेष आग्रह रूढ़ लगता है। छायावादी मुहावरे गढ़ने की ओर भी कवयित्री की तरुण प्रतिभा अधिकाधिक सचेष्ट है। शशि को छूने के लिए लहरों का मचलना, लहरों का चुंबन, तटिनी का आलिंगन, पल्लव के हिन्डोले पर सौरभ का कलियों में सोना, मधु से सींची गलियाँ, नवयौवन की लाली, सोने के सपने, संध्या की आँखों का राग, वेदनाओं का प्याला, प्राणों में रुंधी निश्वासें, आँखों की नीरव भिक्षा, आँसू के मिटते दाग, ओठों की हँसती पीड़ा, आहों के बिखरे त्याग, घायल मन, जीवन का ज्वार, छाया की आंख-मिचौनी, मेघों का मतवालापन, रजनी के श्याम कपोलों पर ढरकीले श्रम के कन, फूलों की मीठी चितवन, विधु की चाँदी की थाली, व्यथा में सोता आकाश, बादलों के डर से छलकता जाता अवसाद, शून्य का नीरव राग, पीड़ा का सार, प्राणों का आसव, फूलों के उच्छ्वास, नीरव भाषण, उच्छ्वासों की छाया, पीड़ा के आलिंगन, निश्वासों के रोदन, इच्छाओं के चुंबन, रजनी के अभिसार, नक्षत्रों के पहरे, ऊषा के उपहास, मीठी-सी पीड़ा (मीठी नहीं, मीठी-सी) आँसू की माला, उन्मादों का स्वप्नागार इत्यादि सभी छायावादी सजावट नीहार में दिखलाई पड़ती है। भाषा को निरर्थक या सार्थक रूप में तोड़-मरोड़ कर चलने में कवयित्रा की रुचि अधिक नहीं है, इस क्षेत्र में वह पंत के समान 'सायर, सिंह, सपूत' नहीं बन सकी या उसने स्वयं नहीं बनना चाहा। अंधाकार, कर्णाधार, हलाहल इत्यादि के चिन्त्य प्रयोग तुक या मात्राओं के आग्रह से हुए हैं जो बहुत कम हैं। कहीं-कहीं 'वह' का प्रयोग मात्राओं को पूरा करने के लिए हुआ है। इनके अतिरिक्त कवयित्री की भाषा प्रायः सर्वत्र एकरस, सरल तथा प्रवाहपूर्ण है।

नीहार की तरुण कवयित्री को अपने प्रणय की सरस स्मृति बारंबार आती है, उसे वह बड़ी विदग्धता से प्रकट करती है। पर रहस्यावरण यथार्थ का संगोपन नहीं कर पाता, क्योंकि 'इस पार' आने की चर्चा रहस्यमय के प्रति अपने वास्तविक रूप में संभव नहीं है। पहले गीत में ही कवयित्री गाती है :

> झटक जाता था पागल बात
> धूलि में तुहिनकणों के हार,

सिखाने जीवन का संगीत
तभी तुम आए थे इस पार ।

उसे याद है :

इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला,
उस चितवन ने पीड़ा का ।

'उस चितवन' की प्रतिक्रिया क्या हुई ।

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते,
आँखों के कोण हुए हैं,
मोती बरसा कर रीते ।

किन्तु कवयित्री को वह सबल आत्मा प्राप्त है, जो ज्वाला में भी दीवाली मानती है, प्रेम की पीर को स्पृहणीय समझती है, दीवानी चोटों में सर्वस्व छिपा लेती है ।

अपने इस सूनेपन की
मैं हूँ रानी मतवाली,
प्राणों का दीप जलाकर
करती रहती दीवाली,
मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में,
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में ।

कवयित्री अपने प्रेम पर आश्वस्त ही नहीं, विश्वस्त भी है । वह अपना प्रेम-दीप जलाए बैठी है, चाहती है कि वह जलता रहे । किन्तु यदि उसका प्रेम-दीप बुझ गया, तो हानि किसकी होगी ! प्रिय की ! उसकी पीड़ा का राज्य ही अन्धकार-पूर्ण हो जायगा । धन्य है वह प्रणय वेदना, जो कह सके कि 'हे प्रिय ! मेरे प्रेम के दीप को जलने दो, क्योंकि इस जलने में ही प्रेम पलता है । यदि यह बुझ गया, तुमने बुझा दिया, तो हे निष्ठुर ! केवल मेरी ही हानि न होगी, तुम्हारी पीड़ा के साम्राज्य पर भी अंधकार फैल जायगा !!—

चिन्ता क्या है, हे निर्मम !
बुझ जाए दीपक मेरा,

हो जायगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अंधेरा !!

कवयित्री उस 'मतवाले बालकपन' को नहीं भूलती, जिससे संबद्ध पीड़ा में उसका चंचल मन थक कर सोता है। वह नहीं चाहती कि उसकी बेसुध पीड़ा को कोई छुए, जब तक 'वे' न आकर जगाएँ, पीड़ा का सोता रहना ही उसे पसंद है :

मेरे अनन्त जीवन का
वह मतवाला बालकपन,
इसमें थक कर सोता है
लेकर अपना चंचल मन।
ठहरो बेसुध पीड़ा को
मेरी न कहीं छू लेना।
जब तक वे आ न जगाएँ
बस सोती रहने देना ।।

उसे 'जीवन की हारें' भूलकर भी नहीं भूलीं। उसकी 'छलनामय छाया' और अपनी 'अनन्त मनुहारों' को वह कलेजा थामकर सम्हाले हुए हैं :

इस अंचल में चित्रित हैं
भूली जीवन की हारें,
उनकी छलनामय छाया
मेरी अनन्त मनुहारें।

इतना ही नहीं; कवयित्री प्रिय के 'विदेश बसाने' पर प्रश्न भी करती है। यहाँ वैयक्तिक प्रणय रहस्य की श्रृङ्खलाओं को टूक-टूक कर देता है। रहस्यमय के लिए 'विदेश' का प्रश्न ही नहीं उठता :

बिखरते स्वप्नों की तस्वीर
अधूरा प्राणों का संदेश
हृदय की लेकर प्यासी साध
बसाया है अब कौन विदेश ?
रो रहा है चरणों के पास
चाह जिनकी थी उनका प्यार।

कवयित्री के करुण नयनों का संचित मौन कुछ अतीत की बात सुनाता है :

करुण नयनों का संचित मौन
सुनाता कुछ अतीत की बात,

प्रतीक्षा बन जाती अंजन
वहीं मिलता नीरव भाषण।

प्रतीक्षा अंजन या नेत्रों का श्रृङ्गार बन जाती है! कितना सूक्ष्म कथन है!! प्रतीक्षा से बढ़कर और कौन सा अंजन हो सकता है?

कवयित्री ने अपनी विकलता का हृदय-द्रावक गान किया है। उसका रिक्त मानव समग्र सृष्टि में सूनापन भर देता है :

आँखों की नीरव भिक्षा में
आँसू के मिटते दागों में,
ओठों की हँसती पीड़ा में
आहों के बिखरे त्यागों में,
कन कन में बिखरा है निर्मम।
मेरे मानस का सूनापन।

जिस दीपक को उसने आँसू की बूँदों से जलाए रखा है, विकलता के अतिरेक में वह उसके बुझ जाने का आह्वान तक करती है, करुणा से हृदय भर उठता है :

इस असीम तम में मिलकर
मुझको पल भर सो जाने दो,
बुझ जाने दो देव! आज
मेरा दीपक बुझ जाने दो।

किन्तु दीपक बुझता नहीं! वह दीपक शाश्वत है!! महादेवी का प्रेम-दीप अमर है!!!

कवयित्री मिलन-सुख की स्मृति बड़ी तन्मयता से करती है, पर उस तन्मयता में वर्त्तमान ने प्रश्न लगा दिए हैं :

नीरव तम की छाया में
छिप सौरभ की अलकों में,
गायक वह गान तुम्हारा
आ मंडराया पलकों में।
हाला सी, हालाहल सी,
वह गई अचानक लहरी,
डूबा जग भूला तन मन,
आँखें शिथिलाई सिहरीं।
बेसुध से प्राण हुए जब
छूकर उन झंकारों को,

उड़ते थे, अकुलाते थे
चुम्बन करने तारों को ।
उस मतवाली वीणा से
जब मानस था मतवाला,
वे मूक हुईं झंकारें
वह चूर हो गया प्याला ।
हो गई कहाँ अंतर्हित
सपने लेकर वे रातें ।
जिनका पथ आलोकित कर
बुझने जाती हैं आँखें ।

विकलता का अतिरेक जीवन की क्षण-भंगुरता का बोध कराता है, सहनशील बनाता है :

असंभव है चिर सम्मेलन
न भूलो क्षण-भंगुर जीवन !

× × × ×

तुम्हें करना विच्छेद सहन
न भूलो हे प्यारे जीवन !

यहाँ जीवन को यह समझाना कि उसे विच्छेद सहन करना है, निराशाजन्य है, जो रहस्य भावना से पृथक् है ।

विकलता का अतिरेक कवयित्री को पीड़ा-प्रिय बना देता है । पीड़ा के प्रति महादेवी की अनुभूति नितान्त मौलिक, सच्ची और गम्भीर है । उसकी चर्चा करते समय उन्हें वह अतीत याद आता है, जब 'वे' आए थे--

मूक प्रणय से, मधुर व्यथा से
स्वप्नलोक के से आह्वान,
वे आए चुपचाप सुनाने
तब मधुमय मुरली की तान ।
चल चितवन के दूत सुना
उनके पल में रहस्य की बात,
मेरे निर्निमेष पलकों में
मचा गए क्या-क्या उत्पात ।

प्रिय की चल चितवन ने कवयित्री की निर्निमेष पलकों में जो उत्पात मचाए, उन्होंने ही उसके जीवन में पीड़ा का साम्राज्य बसा दिया—

जीवन है उन्माद तभी से
निधियाँ प्राणों के छाले,
मांग रहा है विपुल वेदना
के मन प्यालों पर प्याले।
पीड़ा का साम्राज्य बस गया
उस दिन दूर क्षितिज के पार,
मिटना था निर्वाण जहाँ
नीरव रोदन था पहरेदार।

कवयित्री उस मिलन को 'सपना' नहीं मान सकती, अब तक उस मिलन के जीवंत तत्त्व उसके जीवन को आंदोलित करते रहते हैं—

कैसे कहती हो सपना है
अलि उस मूक मिलन की बात
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास।

'पीड़ा के राज्य' का महादेवी ने बारंबार उल्लेख किया है, सचमुच वे पीड़ा के राज्य की रानी हैं। उनका पीड़ावाद संसार की अन्य कवयित्रियों से उन्हें पृथक् कर देता है। प्रिय नहीं, पर उसके द्वारा दी गई पीड़ा विद्यमान है। अतएव कवयित्री पीड़ा को प्रिय की ही भाँति स्पृहणीय एवं पावन समझती हैं। उसे आँसुओं के व्यापार में एक अनोखा, नया संसार बसता प्रतीत होता है।

करे दृग आँसू का व्यापार,
अनोखा एक नया संसार।

उसे विश्वास है कि जब विश्व पीड़ा के राग में परिवर्तित हो जाएगा, तब निराशा आशा में परिवर्तित हो जाएगी, पतझड़ बसन्त बन जायगा। यहाँ कवयित्री दार्शनिक के स्वरों में बोल रही है, पर अन्त में प्रतीक्षा के मतवाले नयनों में उसका मूल कवि-स्वर ही सशक्त दृष्टिगोचर होता है—

विश्व होगा पीड़ा का राग
निराशा जब होगी बरदान,
साथ लेकर मुरझाई साध
बिखर जाएँगे प्यासे प्राण।
उदधि नभ को कर लेगा प्यार
मिलेंगे सीमा और अनन्त,

उपासक ही होगा आराध्य
एक होंगे पतझार वसन्त ।

× × ×

प्रतीक्षा में मतवाले नयन
उड़ेंगे जब सौरभ के साथ,
हृदय होगा नीरव आह्वान
मिलोगे क्या तब हे अज्ञात ?

यहाँ कवयित्री के स्वरों में अनुशीलनगत दार्शनिकता कबीर और रवीन्द्रनाथ के रहस्यवाद का समन्वित रूप-सत्यं एवं सुन्दरम् से युक्त रूप प्रस्तुत करती है। नीहार में, महादेवी की अन्य रचनाओं की भाँति, यत्र-तत्र सच्चे रहस्यात्मक गीत भी हैं, जिनका मूल अध्ययन में है, अनुभूति में नहीं। उनकी मर्मस्पर्शिता का कारण कवयित्री के अवचेतन में स्थित वैयक्तिक प्रणयानुभूति ही है।

कवयित्री की वेदना और पीड़ा कभी-कभी संसार से अपरिचित दशा में चुपके-से मिट जाने की कामना भी करती है। निराशा के स्वर महादेवी के काव्य में तभी प्रकट होते हैं, जब उन्हें पीड़ा का अतिरेक विह्वल कर देता है :

किसी अपरिचित डाली से
गिरकर जो नीरस वन का फूल
फिर पथ में बिछकर आँखों में
चुपके-से भर लेता धूल।
उसी सुमन-सा पल भर हँसकर
सूने में हो छिन्न मलीन
झर जाने दो जीवन-माली !
मुझको रहकर परिचय हीन।

प्रस्तुत पंक्तियाँ बिंबसार के कण्ठ से आने वाली प्रसाद की अनुभूतियों का स्मरण कराती हैं—'यदि मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती, पवन की लहर को सुरभित करके धीरे-से उस थाले में चू पड़ता, तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता।[1]

विकलता और उन्माद के अतिरेक में कवयित्री मिटने की बातें करती है,

१—अजातशत्रु (३।६), पृष्ठ १४२।

ऐसा स्वाभाविक है। पीड़ा का अतिरेक भावुक मानव-मन को मिटने की चर्चा करने के लिए विवश कर देता है। पर कवयित्री की मूल आकांक्षा मिटने की न होकर पीड़ा का रस लेने की है। वह पीड़ा से परेशान होती है, ऊबती नहीं। पीड़ा उसे प्रिय की प्रतीक लगती है। प्रिय और पीड़ा से वह अपना अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है, कर लेती है—

पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुझको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुममें ढूँढ़ूंगी पीड़ा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने महादेवी के इस पीड़ा-प्रेम को 'पीड़ा का चसका।'[१] पर वस्तुतः महादेवी का पीड़ा-प्रेम उनके हृदय की रागिनी है, तुलसी के राम-प्रेम की तरह। वह किसी फैशन की कृत्रिमता से नहीं, अंतस्तल की गहराई से उठती है, उसकी अमरता का कारण भी यही है।

नीहार के रहस्याभास के भीतर कवयित्री के जीवन की कहानी छिपी नहीं रह पाती। वह प्रकट होती रहती है :

जो बिखर पड़े निर्जन में
निर्भर सपनों के मोती
मैं ढूंढ़ रही थी लेकर
धुंधली जीवन की ज्योती,
उस सूने पथ में अपने
पैरों की चाप छिपाए
मेरे नीरव मानस में
वे धीरे-धीरे आए।[२]

इन पंक्तियों की रहस्यवादी व्याख्या करना कठिन नहीं है, पर वह व्याख्या

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६६५।
२—शशि मुख पर घुंघट डाले
अंचल में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए।
(आंसू)

वैसी ही होगी जैसी आँसू की रहस्यवादी व्याख्या। एक स्थान पर कवयित्री स्पष्ट कह देती है कि उसकी करुणा, विषाद, आँसू वियोग ही वेदना के कारण हैं, यदि प्रिय 'एक बार' भी आ जाते, तो उसका चिर-संचित विराग लुट जाता :

जो तुम आ जाते एक बार।
कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग भरा उन्माद राग,
आँसू लेते वे पद पखार।
हंस उठते पल में आर्द्र नयन
धुल जाता जीवन में वसन्त
लुट जाता गिर संचित विराग,
आँखें देतीं सर्वस्व वार।

नीहार महादेवी के काव्य-प्रासाद का प्राथम सोपान है। उसका रहस्य-भाव उसमें निहित पार्थिवता को वैसा नहीं छिपा पाया, जैसा कालान्तर की रचनाओं में। कवयित्री को पीड़ा का वरदान प्रणय ने ही दिया है, जिसे उसने रहस्य के माध्यम से व्यक्त किया है। उस युग में प्राय: सभी कवि ऐसा कर रहे थे।

महादेवी की रचनाओं में प्रेम का मूल पार्थिव स्वर अत्यन्त उदात्त रूप लेकर प्रकट हुआ है, अत: उसमें रहस्याभास छायावाद के अन्य कवियों, विशेषत: प्रसाद, के रहस्याभास की अपेक्षा अधिक विशद एवं उज्जवल है। इसका कारण नारी का प्रेम-पूत अंतकरण है, जो प्रेम को उसके उदात्त रूप में देख सकने की क्षमता पुरुष की तुलना में बहुत अधिक रखता है। नीहार के गीत, महादेवी की अन्य कृतियों के गीतों के सदृश्य ही, इस कथन के प्रतीक हैं।

× × × ×

'रश्मि' 'नीहार' की अपेक्षा कम मार्मिक पर अधिक गंभीर कृति है। नीहार-कणों (आँसुओं या नीहार के गीतों) में प्राय: सर्वत्र कवयित्री का स्वानुभूत प्रणय मुखरित होता है, जिसे रहस्यवादी आवरण छिपा नहीं पाता। कवयित्री की पीड़ा अपने अतिरेक से खिन्न होकर संतुलन की ओर अग्रसर होती है। भक्ति और आध्यात्मिक चिन्तन प्राय: पार्थिव जीवन में वेदना के अतिरेक के पश्चात प्रारम्भ होता है। रश्मि में कवयित्री ने अपने विगलित 'स्व' से ऊपर उठने की चेष्टा की है। उसने बाल प्रकृति को देखने का प्रयत्न किया है, चिरकाल से उठने वाले 'क्वासि' के प्रश्न को बारम्बार उठाकर मन बहलाने का प्रयत्न किया है।

नीहार की वेदना तथा निराशा का अतिरेक 'रश्मि' में अपना मार्ग ढूँढता दृष्टिगोचर होता है। चिन्ता के बाद आशा का आगमन जीवन में स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है। नीहार कणों या आंसुओं को रश्मि प्रकाशित करती है, पोंछने का प्रयास करती है। पर प्रणयगत स्वानुभूति रश्मि के आध्यात्मिक या रहस्यवादी गीतों के तल को करुणा के स्वर से निष्पन्न किए हुए हैं, उसके प्रकृति से संबंधित गीतों में करुणा का भावोद्दीपन करने में सफलता प्राप्त किए हुए हैं।

नीहार के प्रायः सभी सुन्दर प्रगीत विरहवेदनामूलक हैं। रश्मि में ऐसा नहीं है। उसमें अनेक गीत बड़ी सफलता के साथ प्रसाद के मनु तथा पन्त के 'मौन निमन्त्रण' का सा "वह कौन" का प्रश्न उठाते हैं, जिसका मूल उपनिषदों में है; पर यह रहस्यवाद अध्ययनमूलक ही है। साथ ही, यत्र-तत्र उसके तल में उस वेदना और पीड़ा के दर्शन भी होते हैं, जो पार्थिव विरह से संवद्ध हैं और नीहार की चेतना को गतिशील करते हैं। रश्मि के कुछ गीतों में प्रकृति की ओर भी दृष्टि डाली गई है, पर इस दृष्टि ने प्रकृति का जो करुण चित्र प्रस्तुत किया है, उसका कारण विरह-वेदना का मूलभूत तत्त्व हो है। अतः तत्त्व तथा गुण की तलस्पर्शी दृष्टि से रश्मि को भी एक विरह मूलक कृति कहा जा सकता है। फिर भी, हम रश्मि के विरह-गानों का ही विवेचन करेंगे।

रश्मि के विरह-गान नीहार के विरह-गानों की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं, पर आयु के साथ ही उनमें कवयित्री का स्वर अधिक गंभीर एवं चिंतनमय हो गया है। नीहार में पीड़ा और करुणा के आँसू-ही-आँसू दृष्टिगोचर होते हैं, रश्मि में प्रकाश की किरणें भी। अनुभूति की सत्यता एवं अभिव्यक्ति की अकृत्रिमता ने नीहार में जो भोलापन बरसाया है, वह उसके रोदन को रश्मि के चिन्तन की अपेक्षा अधिक कमनीय, कलात्मक और मनोरम बनाए है। पर रश्मि में जहाँ कवयित्री चिन्तन एवं रहस्य से मुक्त होकर अपनी कहानी कहती है, वहाँ वह नीहार से कम सफल नहीं है। उसे अपनी प्रणय-स्मृति, विकलता, पीड़ा तथा इच्छा का गान करने में यहाँ भी पूरी सफलता मिली है।

रश्मि के दूसरे गीत में कवयित्री ने अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण इस रूपक में किया है :

> किस सुधि-वसंत का सुमन-तीर
>   कर गया मुग्ध मानस अधीर।
> वेदना-गगन से रजत-ओस,
> चू-चू भरती मन-कंज-कोष,
>   अलि-सी मंडराती विरह-पीर।

मंजरित नवल मृदु देह-डाल,
खिल-खिल उठता नव पुलक जाल,
मधु-कन-सा छलका नयन-नीर ।
अधरों से झरता स्मित-पराग,
प्राणों में गूंजा नेह-राग,
सुख का बहता मलयज समीर ।

घुल-घुल जाता यह हिम-दुराव,
गा-गा उठते चिर मूक भाव,
अलि सिहर-सिहर उठता शरीर ।

कवयित्री ने स्पष्ट कह दिया कि स्मृति-बसंत का वैभव किसी प्रकार के 'दुराव' को स्थिर नहीं रहने देता, उसे हिम की भाँति पिघला देता है, चिर-मूक भावनाएँ गान कर उठती हैं ।

प्रस्तुत प्रगीत 'रश्मि' की कुँजी है । कवयित्री रो-रो कर थक चुकी है । वह प्रेम के पावन एवं उज्जवल रूप से भली भाँति परिचित हो चुकी है । उसने अपना रोदन अब प्रकाश की किरणों से संपृक्त कर दिया है । नीहार को रश्मि चमका रही है ।

कवयित्री प्रिय से जो प्रश्न करती है, उसके तल में अतीत वर्तमान में घुला-मिला बोलता है :

मेरे शैशव के मधु में घुल,
मेरे यौवन के मद में ढुल,
मेरे आँसू स्मित में घुलमिल,
मेरे क्यों न कहाते ?

तुम हो तो मेरे ही, पर मेरे कहाते क्यों नहीं हो ? यदि यह कथन रहस्यमय के प्रति होता, तो 'कहाते' का अस्तित्व व्यर्थ हो जाता, क्योंकि रहस्यमय सबका अपना 'कहाता' है ।

कवयित्री अपने मधुदिन की स्मृतियों को सहेज रखना चाहती है, स्वभाविक है । उसका प्रेम इतना पुष्ट एवं सच्चा है कि विस्मृति के बादल भी धुँधली स्मृतियों की रेखाओं के दबे मधु-दिनों को चमका ही सकेंगे ! व्यवधान प्रेम को शक्तिमान करते हैं !!—

वे मधुदिन जिनकी स्मृतियों की
धुँधली रेखायें खोईं,
चमक उठेंगे इन्द्र-धनुष से
मेरे विस्मृति के घन में ।

उसे याद है :

विहग शावक से जिस दिन मूक,
पढ़े थे स्वप्न नीड़ में प्राण
अपरिचित थी विस्मृति की रात,
नहीं देखा था स्वर्ण विहान ।

रश्मि बन तुम आए चुप चाप,
सिखाने अपने मधुमय गान,
अचानक ही वे पलकें खोल,
हृदय में बेध व्यथा का बान
हुए फिर पल में अन्तर्धान

पल का प्रयोग यहाँ आलंकारिक रूप में हुआ है । प्रिय थोड़े समय के लिए आए थे । उसकी स्मृति कसक बनी हुई है :

कहीं से, आई हूँ कुछ भूल ।

कसक कसक उठती सुधि किसकी ?
रुकती सी गति क्यों जीवन की ?
क्यों अभाव छाए लेता
विस्मृति सरिता के कूल ?

अभाव विस्मृति - सरिता के कूलों को छाए ले रहा है । अभाव में विस्मृति कहाँ ?

'उनकी' निष्ठुरता की ओर कवयित्री का ध्यान जाता रहता है, पर 'इस निष्ठुरता' में वह 'भूल न जाए' यह शंका भी बनी रहती है :

वे स्मृति बन कर मानस में,
खटका करते हैं निशिदिन,
उनकी इस निष्ठुरता को,
जिसमें मैं भूल न जाऊँ ।

प्रिय की निष्ठुरता भी जिस प्रेमी के लिए आत्म-विस्मृति का प्रश्न उठाती है, वह प्रेम सचमुच धन्य है । कवयित्री कहती है :

मुझे है उसकी धुँधली याद,
बैठ जिस सूनेपन के कूल,
मुझे तुमने दी जीवन-बीन,
प्रेम-शतदल का मैंने फूल ।

किन्तु उसे प्रिय से कोई शिकायत नहीं । प्रिय ने उसे सुख का साम्राज्य ही दिया है, जो वेदना दीखती है, वह तो उसका अपना अधिकार है, जिसे वह छोड़ना नहीं चाहती ।

दिया तुमने सुख का साम्राज्य,
वेदना का मैंने अधिकार ।

आज प्रिय प्रत्यक्ष नहीं दृष्टिगोचर होता, पर

नींद में सपना बन अज्ञात !
गुदगुदा जाते हो जब प्राण,
ज्ञात होता हंसने का मर्म

× × ×

अपने प्रिय तथा प्रेम के प्रति पूरी आस्था रखने पर भी कवयित्री विरह-वेदना से व्यथित है, विकल है। उसे प्रभात की रश्मि से भी सजल गानों के दर्शन होते हैं, अश्रु-हास की रंगाई दृष्टिगोचर होती है । यह कालिदास की तरह[1] मरण को जीवन की प्रकृति तथा जीवितावस्था को विकृति कहने का दार्शनिक प्रयास यों ही नहीं करती, गहरी विकलता में ही करती है :

अमरता है जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास ।

उसे अपनी पीड़ा की स्पृहणीयता ही ऐसा कहने को प्रेरित नहीं करती, वेदना का अतिरेक भी करता है । पर इतना स्पष्ट है कि उसकी चिन्तना सुख-दुःख में एक संतुलन स्थापित करने का प्रयास भी 'रश्मि' में ही प्रारम्भ करती है, जिसका विकास नीरजा तथा सान्ध्यगीत में हुआ है । इस संतुलन के तल में वेदना का साम्राज्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता रहता है :

चिर ध्येय यही जलने का
ठंडी विभूति बन जाना

१—मरणं प्रकृति : शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।
(रघुवंशम् ८।८७।१)

है पीड़ा की सीमा यह
दुख का चिर सुख हो जाना ।

'दर्द का हम से गुजर जाना है दवा हो जाना !' कवयित्री को अब अपनी अतृप्ति और रोदन में भी स्पृहणीयता प्राप्त होने लगी है, इस स्पृहणीयता का क्रमिक विकास नीरजा, सांध्यगीत और दीपशिखा में होता गया है और इसका मूल नीहार में है :

मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कण भर,
रहने दो प्यासी आँखें,
भरती आँसू के सागर ।

यह अश्रुवाद निराशाजनक भले ही हो, पर अस्वाभाविक नहीं है । पीड़ा का चिर परिचय उसमें भी आसक्ति उत्पन्न कर देता है । परिचय आसक्ति का मूल है । जब प्रिय पीर ही पीर देता रहता है, तब पीर प्रिय का प्रतिरूप बन जाती है, वह प्रिय से कम मादक नहीं लगती ।

एक स्थान पर कवयित्री ने अपनी कहानी भी लिख दी है—

किस भाँति कहूं कैसे थे
वे जग के परिचय के दिन,
मिश्री-सा घुल जाता था
मन छूते ही आँसू-कन ।

+ + ×

किसने अनजाने आकर
वह चुरा लिया भोलापन
उस विस्मृति के सपने से
चौंकाया छूकर जीवन ?

यहाँ 'जग' प्रिय का प्रतिनिधित्व करता है । काव्य में ऐसा उचित भी है । वस्तुतः जीवन में भी ऐसा होता है । तीन अरब मानवों से भरी धरती पर प्रत्येक व्यक्ति का 'संसार' 'कुछ' में बंधा होता है । 'किसने' का प्रश्न अपना उत्तर स्वयं ही है ।

एक गीत में कवयित्री ने अपने अतीत के मिलन का वर्णन किया है, साथ ही उस मिलन की स्मृति में वेदना भी प्रकट की है—

अलि, अब सपने की बात,
हो गया है वह मधु का प्रात ।

जब मुरली का मृदु पंचम स्वर,
कर जाता मन पुलकित अस्थिर,
कम्पित हो जाता सुख से भर,
नवलतिका-सा गात ।

जब उनकी चितवन का निर्झर,
भर देता मधु से मानस सर,
स्मित से झरती किरणें झर झर,
पीते दृग जलजात ।

मिलन इन्दु बुनता जीवन पर,
विस्मृति के तारों से चादर,
विपुल कल्पना का मंथर
बहता सुरभित बात ।

अब नीरव मानस अलि गुञ्जन,
कुसुमित मृदु भावों का स्पंदन,
विरह वेदना आई है बन
तम तुषार की रात ।

कवयित्री नीहार में प्रिय के एक बार आ जाने पर चिर-संचित विराम को लुटाने के लिए प्रस्तुत थी । पर विरह-वेदना के अतिरेक ने उसे पीड़ा-वादिनी बना दिया है । उसे प्रिय को पाने की अपेक्षा उसके पाने के लिए प्रयत्नों में अधिक रस मिलने लगा है । वह ऐसा प्रयत्न करना चाहती है, प्रिय चाहे भले ही न मिले । उसे प्रिय को पाने में खोना और खोने में पाना रुचने लगता है, वह चिर-अतृप्ति को ही जीवन बनाना चाहती है, मिट जाने को चिर-तृष्णा बनाना चाहती है । वह सुख-दुःख में प्रसाद और पंत की तरह सामंजस्य स्थापित करते हुए भी पीड़ा की ओर अधिकाधिक उन्मुख होने के कारण उनकी अपेक्षा अधिक सजल है —

(१) इस अचल क्षितिज-रेखा से
तुम रहो निकट जीवन के,
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके

(२) पाने में तुमको खोऊँ
खोने में समझूँ पाना,
यह चिर-अतृप्ति हो जीवन
चिरतृष्णा हो मिट जाना।

इतना सब होने पर भी उसका प्रेम-विगलित अन्तःकरण प्रिय का संस्पर्श पाने के लिए आशान्वित रहते ही हैं, अश्रु-शिक्त रज के द्वारा निर्मित की गई प्याली में वेदनाओं की मदिरा डाले कवयित्री इस आशा से उसमें अपने निष्फल सपने घोलते हुए बैठी है कि शायद कभी वे प्रिय के सस्मित अधरों को छूकर अनमोल बन सकें :—

इस आशा से मैं उसमें
बैठी हूँ निष्फल सपने घोल
कभी तुम्हारे सस्मित अधरों
को छूकर वे होंगे अनमोल।

रश्मि, नीहार और नीरजा को जोड़ने वाली कड़ी है। एक ओर वह नीहार के विगलित एवं सहजात आँसुओं को पकड़ती है, दूसरी ओर नीरजा के पुष्ट सुरभित पीड़ा-हासों को। महादेवी के एकतान, एकरस, पीड़ावाद को चिन्तना-सबल रूप की ओर ले जाने का कार्य रश्मि के गीत ही करते हैं।

× + +

नीरजा महादेवी की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति है। नीहार का पूर्ण-परिपक्व एवं विकसित रूप। नीहार में प्रारंभिकता का स्वाभाविक कच्चापन विद्यमान है, रश्मि के 'क्वासि' के प्रश्नों में कवयित्री की मूल अनुभूति छिप-सी गई है और किरण के स्वागत की चेष्टा में रोदन के स्वरों की शक्ति कुछ कम पड़ गई है। नीरजा में नीहार के स्वर पुष्ट एवं नवीन रूप लेकर प्रकट हुए हैं तथा 'क्वासि' के फेर में नहीं पड़े, रश्मि के प्रकाश का स्वागत करने के स्थान पर रोदन की उज्ज्वलता का अन्वेषण करने में उन्हें स्वाभाविक रूप से अधिक सफलता मिली है। नीरजा का अर्थ कमलिनी होता है, नीरजा कवयित्री के मानस की कमलिनी है, रोदनोल्लास से परिपूर्ण महादेवी के सजल हृदय की गीतिका। नीहार-कणों को समेटकर जो नीर कवयित्री ने बटोरा है, जिसे रश्मि ने उज्ज्वल किया है, वही अपनी प्रौढ़ समष्टि में नीरजा का रूप लेकर प्रकट हुआ है। नीरजा का नाम, उसकी सजलता, उसका समझौता सभी कुछ महादेवी के हृदय के सबसे अधिक निकट है। सांध्यगीत में वेदनानुभव-दग्धता अधिक है, चिन्तन अधिक है, करुणा अधिक है। निस्सन्देह सांध्यगीत महादेवी की

सबसे प्रौढ़ कलाकृति है। पर प्रौढ़तम और श्रेष्ठतम दो वस्तुएँ हैं। अपनी तीव्र अनुभूति की सत्यता के कारण नीरजा महादेवी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। दीपशिखा, स्नेह की जलन दीपशिखा,[1] में करुणा के स्वर कुछ अधिक निराश रूप लेकर प्रकट हुए हैं; फिर वे दीप के आस-पास ही अपनी बस्ती बसाए हुए हैं, विषय-विस्तार की दृष्टि से विशद नहीं हैं। अतः नीरजा की सर्वश्रेष्ठता असंदिग्ध है। कामायनी, प्रियप्रवास, साकेत, पल्लव, परिमल, उद्धव-शतक और ऊर्मिला के साथ-साथ नीहार समग्र आधुनिक हिन्दी-काव्य की श्रेष्ठतम कलाकृति है।

नीरजा में प्रकृति से सम्बन्धित कुछ स्वतन्त्र गीत भी हैं। प्रकृति से सम्बन्धित कुछ गीत ऐसे भी हैं, जिनमें प्रकृति-सौन्दर्य कवयित्री की विरह-वेदना का उद्दीपन करता है। ऐसे गीतों में प्रकृति पर स्वानुभूति का आरोप सुन्दर बन पड़ा है। ऐसे गीत वाह्यतः विरह से असम्बद्ध लगते हैं, पर वस्तुतः वे विरह से सम्बद्ध ही कहे जायेंगे। यत्र-तत्र रहस्यवादी गीत भी नीरजा में दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसे गीत दो प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार के गीतों में तुम और मैं (परमात्मा और आत्मा) के संबंध को अध्ययनमूलक एवं कल्पनाप्रवण शैली में व्यक्त किया गया है तथा दूसरे प्रकार के गीतों में मानसिक वेदना को रहस्यमय के साथ कुछ अधिक आग्रह के साथ बाँध दिया गया है। दोनों प्रकार के गीतों में महादेवी अत्यधिक सफल हुई हैं। किन्तु नीरजा की महत्ता का कारण उसके वे अधिकांश प्रगीत हैं, जिनमें नीहार की कवयित्री अपनी विरहानुभूतियों को मुखरित करती हैं। सरल भाषा, प्रवाहपूर्ण गीति-योजना एवं तीव्रानुभूति में ये गीत हिन्दी-कविता का अनुपम शृंगार करते हैं।

नीरजा का प्रथम गीत यदि अश्रुनीर से प्रारंभ होता है, तो स्वाभाविक ही है, नीरजा का अंत यदि प्यासे कणों से आपूर्ण है, तो अपने प्रारंभ को पूर्ण ही करता है, अधिकाधिक स्वाभाविक है। स्मृति, विकल्पता तथा विकलता में संतुलन, पीड़ा एवं इच्छा के सजल स्वर नीरजा में नीहार और रश्मि की अपेक्षा अधिक पुष्ट हैं। कवयित्री ने अपनी करुण कहानी भी यत्र-तत्र लिख दी है, जिसका मूल नीहार और रश्मि में है।

नीरजा तक आते-आते कवयित्री का विरह अधिकाधिक पुष्ट हो गया है। वह प्रिय की स्मृति की अपेक्षा प्रिय के द्वारा प्रदान की गई सलग अमोल निधि पीड़ा का गान अधिक करती है। सुख-दुःख या मिलन-वियोग में समरसता की स्थापना की ओर वह पहले से ही सचेष्ट है। नीहार में वह सचेष्टता पूर्णतः विकसित

१—'आधुनिक काव्य-संग्रह' के कवयित्री के परिचय में (श्री रामकुमार वर्मा)

है। पर कवयित्री की पीड़ा प्रधान रुचि विरह का अधिक सम्मान करती है, भले ही इसका कारण निराशाजन्य कुंठा हो :

एक करुण अभाव में चिर
तृप्ति का संसार संचित।

स्वभावतः मनुष्य सुखवादी होता है, पर परिस्थितियाँ उसे दुःखवादी भी बना देती हैं, कभी-कभी एकांत रूप से दुःखवादी।

कवयित्री को किसी ने बंदी बनाया था, किन्तु अब वह स्वयं कवयित्री का बंदी है, अपनी विजय में बंधा हुआ बंदी। प्रेम का विरोधाभास धन्य है।

कौन बंदी कर मुझे अब
बंध गया अपनी विजय में ?
कौन तुम मेरे हृदय में ?

इस बंदी ने कवयित्री को मिटने के स्थान पर बनने की विभूति दी है, वह निश्चित रूप से नहीं जानती कि उसने वरदान दिया है या अभिशाप। तभी तो वह अपने 'अभिमानी' से प्रश्न करती है—

चाहा था तुझमें मिटना भर,
दे डाला बनना मिट मिट कर,
यह अभिशाप दिया है या वर,
पहली मिलन-कथा हूँ या मैं
चिर विरह कहानी।
बताता जा रे अभिमानी।

कवयित्री को दुःख का अनंत राज्य मिल चुका है। पूरा इतिहास यों है—

पथ देख बिता दी रैन
मैं प्रिय पहचानी नहीं।

× × ×

इन श्वासों का इतिहास
आँकते युग बीते,
रोमों में भरभर पुलक
लौटते पल रीते,
यह ढुलक रही है याद
नयन से पानी नहीं।
मैं प्रिय पहचानी नहीं।

अलि कुहरा सा नभ, विश्व
मिटे बुदबुद् जल सा,
यह दुख का राज्य अनन्त
रहेगा निश्चल सा,
हूँ प्रिय की अमर सुहागिनि
पथ की निशानी नहीं।
मैं प्रिय पहचानी नहीं।

सचमुच महादेवी का दुःख का राज्य अनंत ही है और वे प्रिय की अमर सुहागिन ही हैं। पीड़ा की रानी !!

'गिरधर प्रेम दिवाणी' की मीरा विकलता से अपने 'अलबेले' प्रियतम के प्रेम में मतवाली महादेवी की विकलता भिन्न है। मीरा की 'बेल' फूली थी, महादेवी 'स्वप्न की हाट' ही लगाती रही हैं—

मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला-सा है।
मेरी आँखों में ढलकर
छवि उसकी मोती बन आई,
उसके घन प्यालों में है
विद्युत सी मेरी परछाई,
नभ में उसके दीप, स्नेह
जलता है पर मेरा उनमें,
मेरे हैं यह प्राण, कहानी
पर उसकी हर कंपन में
यहाँ स्वप्न की हाट वहाँ अलि छाया का मेला-सा है।

× × ×

मुझे न जाना अलि उसने
जाना इन आँखों का पानी,
मैंने देखा उसे नहीं
पदध्वनि है केवल पहचानी,
मेरे मानस में उसकी स्मृति
भी तो विस्मृति बन आती,
उसके नीरव मन्दिर में
काया भी छाया हो जाती,

क्यों यह निर्मम खेल सजनि ! उसने मुझसे खेला-सा है ?

यहाँ रहस्यवाद के परिच्छेद ने मूल अनुभूति को ढंक-सा दिया है, पर वह ढंकाव पार्थिव अपार्थिवता से ही सम्बन्धित है, अपार्थिव पार्थिवता से नहीं, क्योंकि उस अलबेले की मधुशाला में कवियित्री के मन की मादकता बिकती है और उसकी स्मृति कवयित्री के मधुवन की कलियों में लुटती है। इतना प्रगाढ़ परिचय होने पर भी 'देखा उसे नहीं' का राग असंगत प्रतीत होता है—

उसकी स्मित लुटती रहती
कलियों में मेरे मधुवन की,
उसकी मधुशाला में बिकती
मादकता मेरे मन की,
मेरा दुःख का राज्य मधुर
उसकी सुधि के पल रखवाले,
उसका सुख का कोष, वेदना
के मैंने ताले डाले।

पीड़ा तथा विकलता के स्वर नीरजा में बहुत स्वाभाविक हैं। कवयित्री अपने दर्द का पूरे जोश के साथ बयान करती है—

दीपक सा जलता अन्तस्तल,
संचित कर आँसू के बादल,
लिपटा है इसमें प्रलयानिल

× × ×

वह अपने निष्ठुर जीवन के वेदना-विगलित पक्षों को ही देखने का आग्रह करती है, क्योंकि वेदना ही उसका जीवन है—

मेरे हँसते अधर नहीं जग
की आँसू लड़ियाँ देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मन
मुर्झाई कलियाँ देखो।

× × ×

मिटने वालों की है निष्ठुर
बेसुध रंगरलियाँ देखो,
मेरे गीले पलक छुओ मत
मुर्झाई कलियाँ देखो।

सुख को दुःखमय और दुःखको सुखमय बनाने के प्रयास में वह अपने गायक से एक क्षण गा लेने का आदेश चाहती है, क्योंकि रोती तो वह सदा रहती ही है—

एक घड़ी गा लूँ प्रिय मैं भी
मधुर वेदना से भर अन्तर,
दुख हो सुखमय सुख हो दुखमय
उपल बने पुलकित से निर्झर,
महि हो जावे उर्वर गायक
गा लेने दो क्षण भर गायक !

प्रसाद ने 'आँसू' में प्रेम को अपने 'मधुवन' में जगाने की प्रार्थना की है, जिससे उनका व्यथासिक्त जीवन सरस हो उठे; महादेवी गान के लिए उत्सुक हैं, जिससे उपल पुलकित निर्झर बन जाएँ, मरु उर्वर हो जाए। अन्तर इतना ही है कि प्रसाद के पुरुष ने सीधे प्रेम से निवेदन किया है, महादेवी की नारी पहले अपने गायक का आदेश चाहती है।

कवयित्री ने जलने में जीवन पा लिया है, पर लोग उसे 'मतवाली' कहते हैं। मीरा गिरधर प्रेम दीवाणी लोग कहैं बिगरी ! कितना भोला भाला, कितना सरल तरल, कितना सच्चा गंभीर प्रश्न है—

क्यों जग कहता मतवाली ?
क्यों न शलभ पर लुट लुट जाऊँ,
झुलसे पंखों को चुन लाऊँ,
उन पर दीपशिखा अंकवाऊँ,
अलि मैंने जलने ही में जब
जीवन की निधि पाली।

जग जो चाहे कहे, कवयित्री अपने प्रिय की स्मृति की थाती सहेजे हुए है। वह साफ कहती है—

तेरी सुधि बिन क्षण क्षण सूना।

पर जीवन कितना ही व्यथापूर्ण क्यों न हो, पीड़ा और कसक की आँधी कितनी ही तेज क्यों न हो, कवयित्री अपने प्रदान का आदान नहीं चाहती। उसने प्रिय को केवल आँसू ही प्रदान कर पाने का अवसर पाया है, पर उसे कोई आदान अभीप्सित नहीं है।

आँसू का मोल न लूँगी मैं।
यह क्षण क्या ? द्रुत मेरा स्पंदन,

यह रज क्या ? नव मेरा मृदु तन,
यह जग क्या ? लघु मेरा दर्पण,
प्रिय तुम क्या ? चिर मेरे जीवन,
मेरे सब सब में प्रिय तुम,
किससे व्यापार करूँगी मैं ?
आँसू का मोल न लूँगी मैं ।

कवयित्री क्षण, रज, जग तक फैल कर भी जीवन की दृष्टि से प्रिय में बँधी है। उसके सब पर प्रिय छाया है। फिर व्यापार कैसा ? वह प्रिय से अपनी सबसे बड़ी विभूति—आँसू—का भी मूल्य लेने को प्रस्तुत नहीं है। एक नारी ही ऐसा कह सकती है। ईश्वर को हटा देने पर प्रेम की मूल वेदना की दृष्टि से महादेवी सैफो, मीरा और एलिजाबैथ बैरेट ब्राउनिंग की परंपरा को आगे बढ़ाने वाली विश्व की कुछ महानतम कवयित्रियों में है। महादेवी के सृजन में प्रेम नारी की सारी कोमलता, सजलता, पवित्रता और आस्था के साथ प्रकट हुआ है। उनकी पावन पीड़ा हिंदी-साहित्य में अमर रहेगी।

पुष्ट पीड़ा संतुलन और समझौते के बिना नहीं खड़ी हो सकती। चिन्तन एवं दर्शन पीड़ा को संतुलन और समझौता करने की शक्ति देता है। कवयित्री अपनी निराशा को समझाती है—

"विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।" उसके जीवन में जो कुछ है वह प्रिय का है। प्रिय को अधिकार है कि वह उसे सुख दे या दुःख। फिर कवयित्री उससे क्यों पूछे कि वह सुख दे रहा है या दुःख ? जो प्रिय देगा, उससे वह संतुष्ट है। धन्य है वह प्रेम जो प्रिय के दान पर कोई विचार न करे, ग्रहण पर ही संतुष्ट रहे। ऐसा प्रेम नारी ही कर सकती है, जिसका जीवन ही प्रेम है :

तेरा अधर विचुंबित प्याला,
तेरी ही स्मित मिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला,
फिर पूंछू क्या मेरे साकी।
देते हो मधुमय विषमय क्या ?

पीड़ा मनुष्य को दार्शनिक बना देती है। पीड़ा का अतिरेक मनुष्य के स्वरों में निराशा भर देता है। पर महादेवी अपनी निराशा में भी संतुलित रहती हैं, यह एक बड़ी बात है :

कैसा पतझर कैसा सावन,
कैसी मिलन विरह की उलझन,

कैसा पल घड़ियों मय जीवन,
कैसे निशिदिन कैसे सुद दुख
आज विश्व में तुम हो या तम।
टूट गया वह दर्पण निर्मल।

निराशा के स्वरों का मानव-हृदय से अनिवार्य संबंध है, आशा के स्वरों की तरह। महादेवी की पीड़ा एवं निराशा का यह अर्थ नहीं कि वे उनके अतिरेक में जो कुछ कह जाती हैं, वही चरम सत्य है। वह चित्र का एक पहलू है, दूसरा पहलू प्रिय का सान्निध्य चाहता है, चाहे वह स्वप्न में ही क्यों न हो। नीहार में कवयित्री प्रिय के आ जाने पर अपने सुखमय जीवन का चित्र खींचती थी, पर अब वैसा चित्र खींचना कठिन है। अब तो प्रिय सपने में ही बंध जाएं, यही बहुत है। पर यदि बंध गया, तो क्या कहना :—

तुम्हें बाँध पाती सपने में।
तो चिरजीवन प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में।
शाप मुझे बन जाता वर सा,
पतझर मधु का मास अजर सा,
रचती कितने स्वर्ग एक
लघु प्राणों के स्पंदन अपने में।

वह प्रिय के आगमन की कल्पना करके ही खुश हो लेती है। जब वह प्रसन्नता का अनुभव करती है, तब अपने-आप प्रिय के आगमन का प्रश्न उठ खड़ा होता है :

मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?

× × ×

"नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय आज हो रहे, कैसी उलझन ?
रोम रोम में होता री सखि एक नया उसका सा स्पंदन।"

पुलकों से भर फूल बन गए
जितने प्राणों के छाले हैं।
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?

जीवन अति का संतुलन करता है, अपनी रक्षा के लिए। पीड़ावादिनी महादेवी को प्रिय के आगमन-मिलन पर गाना पड़ता है, अपनी पीड़ा को जीवंत

रखने के लिए। साधारण स्तर के विचार को भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्गारों में विषमता दृष्टिगोचर होती है। पर वस्तुत: वह विषमता नहीं होती।

प्रिय नहीं आते। फिर भी कवयित्री का प्रेम डिगता नहीं। प्रेम डिगना नहीं जानता। डिगना शब्द प्रेम के शब्दकोष में नहीं है। वह उनसे दु:ख बनकर ही अपने जीवन-पथ में आने का अनुरोध करती है। दु:ख में प्रिय मिला रहता है, इसीलिए तो विरही दु:ख को छोड़ना नहीं चाहता। महादेवी का निम्नलिखित गीत उनके सर्वश्रेष्ठ गीतों में है, क्योंकि इसके प्रत्येक शब्द में उनकी वेदना-प्रवण आत्मा बोलती है, प्रयासपूर्वक कुछ भी नहीं ओढ़ती :

तुम दुख बन इस पथ से आना।
शूलों में नित मृदु पाटल सा
खिलने देना मेरा जीवन,
क्या हार बनेगा वह जिसने
सीखा न हृदय का बिंधवाना।
वह सौरभ हूं मैं जो उड़कर
कलिका में लौट नहीं पाता,
पर कलिका के नाते ही प्रिय
जिसको जग ने सौरभ जाना
नित जलता रहते दो तिल तिल
अपनी ज्वाला में उर मेरा
इसकी विभूति में, फिर आकर
अपने पद-चिह्न बना जाना
वर देते हो तो कर दो ना,
चिर आंख मिचौनी यह अपनी,
जीवन में खोज तुम्हारी है
मिटना ही तुमको छू पाना। -

सांध्यगीत महादेवी की प्रौढ़तम कृति है। नीरजा का निमीलन, संध्या का गीत। नीहार, रश्मि तथा नीरजा के साथ ही कवयित्री के सृजन का एक युग समाप्त हो जाता है। इस युग में कवयित्री अपने समग्र संतुलन के होते हुए भी एक आकुल विरहिणी के रूप में गाती रही है। सांध्यगीत और दीपशिखा में उसके सृजन का दूसरा युग दृष्टिगोचर होता है, जिसमें पीड़ा की सुदीर्घता तथा विषमता की ज्वाला ने उसके प्रेम को अधिकाधिक दमका कर और अधिक आदर्शप्रवण बना दिया है। मिलन की तीव्र स्पृहा यहाँ भी है। पर प्रिय के प्रति

कवयित्री की आस्था और भी अधिक बढ़ गई है, जो उसके उज्जवल एवं महान प्रेम की प्रतीक है । यही कारण है कि नीहार, रश्मि और नीरजा के स्वर एक-जैसे हैं एवं साँध्यगीत और दीपशिखा के एक-जैसे । यह होने पर भी कवयित्री की की मूल प्रेमानुभूति सर्वत्र एकरस है ।

साँध्यगीत में सजल दिवस के अवसान की वेदना भावी तम और दीपशिखा की करुणा तथा ज्वाला से मिल कर पीड़ा, निराशा तथा उज्ज्वलता का जो समन्वय प्रस्तुत करती है, वह हमारे साहित्य में अनूठा है । इस प्रौढ कृति में कवयित्री की विकलता, उसका संतुलन, उसकी इच्छायें सभी-कुछ बहुत ठोस हैं । रहस्यावरण के प्रति वह सांध्यगीत में अधिक सजग नहीं है, इसमें उसे अपनी पीड़ा का गान ही अधिक भाया है । यों, अन्य कृतियों के समान सांध्यगीत में भी एकाध रहस्यवादी कुछ रहस्याभास-युक्त पर अपनी पीड़ा में मूलभूत, एकाध प्रकृति पर तथा कुछ प्रकृति से भावोद्दीपन करने वाले गीत विद्यमान हैं। पर जो तन्मयता कवयित्री अपनी स्मृति, विकलता, संतुलन, पीड़ा, इच्छा इत्यादि को प्रदान करती है, वह अन्य विषयों को नहीं ।

कवयित्री की स्मृति अब छायालोक की स्मृति-सी बन चुकी है, पर उसकी सिहरती पलकों का शृङ्गार विहँसते गीले अधर करते हैं । रोदन जब पीड़ा को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है, तब साश्रुहास्य की शरण लेता है; हास्य जब उल्लास को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है, तब रोदन की शरण लेता है । कवयित्री की पीड़ा अब साश्रु हास्य के क्रोड़ में शांति पाने का प्रयत्न कर रही है, अपनी चरम सीमा का स्पर्श कर रही है—

कौन छायालोक की स्मृति,
कर रही रंगीन प्रिय के द्रुत पदों की अंक शंसृति,
सिहरतीप लकें लिकए
देतीं विहँसते अधर गीले ।......

विरहिणी को पीड़ा के अतिरेक ने हँसना—रोने का रोना या हँसना—सिखा दिया है, क्योंकि रोदन के सदृश ही हास भी जीवन के लिए एक आवश्यक तत्व है । किंतु उसकी हँसी में रोदन भी रोता है । कभी-कभी हास में रोदन भी रोता है, कभी-कभी रोदन में हास भी हँसता है । कवयित्री को मधु-ब्यार जाने किस जीवन की सुधि ला देती है । प्रसाद ने गाया था—

शीतल समीर आता है
कर पावन परस तुम्हारा

मैं सिहर उठा करता हूँ
बरसाकर आँसू धारा ।[1]

महादेवी गाती हैं—

जाने किस जीवन की सुधि ले
लहराती आती मधु बयार ।

रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला रजनीगंधा का पराग ।

यूथी की मीलित कलियों से
अलि दे मेरी कवरी संवार ।

पाटल के सुरभित रंगों से रंग दे हिम सा उज्वल दूकूल,
गुथ दे रशना में अलि गुञ्जन से पूरित झरते वकुल फूल,

रजनी से अंजन मांग सजन
दे मेरे अलसित नयन सार ।

तारक लोचन से सींच-सींच नभ करता रज को विरज आज.
बरसाता पथ में हर सिंगार केशर से चर्चित सुमन लाज,

कंटकित रसालों पर उठता
है पागल पिक मुझको पुकार ।
लहराती आती मधु बयार ।

स्वप्न में कवयित्री का 'कौन' उसे जगाने आया था, वह तो चला गया, पर कवयित्री को उसकी याद में युग बिताने हैं । उन जगाने वाली अंगुलियों के स्पर्श की पुलक न जाने कितना रुलाएगी—

कौन आया था न जाना
स्वप्न में मुझको जगाने,
याद में उन उंगलियों के
हैं मुझे पर युग बिताने ।

जो छोटा-सा पल स्पर्श की पुलक से भरा था, वह युगों की पीड़ा का भार सँभाले हुए है, पर उस स्पर्श के इतिहास छालों में परिणत हो चुके हैं ।

लघु पल युग का भार संभाले,
अब इतिहास बने हैं छाले ।

१—आँसू : पृष्ठ ३६ ।

स्मृति को उत्तेजित करने वाली कोयल से कवयित्री निवेदन करती है—

कोकिल, गा न ऐसा राग ।
मधु की चिरप्रिया यह राग ।
उठता मचल सिन्धु अतीत,
लेकर सुप्ति का ज्वार,
मेरे रोम रोम में सुकुमार
उठते विश्व के दुख जाग । [१]

कोकिल ! तू मधु की चिरप्रिया है , पर तेरा राग कितना पीड़ाकारी है ? तू मधुप्रिया है, पर राग ऐसा !

कवयित्री का प्रिय इस पार नहीं आता । इस पार का अर्थ रहस्यवादी कोष में चाहे जो हो, अनुभूति की यथार्थता के क्षेत्र में मिलन से आबद्ध है । कवयित्री विकल है :—

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं ?
शशि के दर्पण से देख देख,
मैंने सुलझाए तिमिर केश,
गूंथे चुन तारक पारिजात,
अवगुंठन कर किरणें अशेष,
क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव श्रृंगार नहीं ?
स्मिति से कर फीके अधर अरुण,
गति के जावक से चरण लाल,
स्वप्नों से गीली पलक आंज,
सीमंत सजा ली अश्रु माल,
स्पंदन मिस प्रतिपल भेज रही
क्या युग युग से मनुहार नहीं ?

---

१. सरोजिनी नायडू पपीहे को अपने प्रेम की कहानी कहने से रोकती हैं, क्योंकि वह अपने प्रेम की कहानी कह उनके आनन्दोल्लास-स्वप्नों को साकार कर पीड़ा प्रदान करता है :—

Tell me no more of thy love, Papeeha
Wouldst thou recall my heart, Papeeha
The dreams of delight that are gone.

रहस्यवाद को हटा देने पर कविता का सीधा-सादा भाव यह है कि स्थूल श्रृंगार से हटकर मैंने अब सूक्ष्म श्रृंगार, अनुभूति-श्रृंगार—करना प्रारंभ कर दिया है, पर क्या यह श्रृंगार भी प्रिय को नहीं रिझा पाया ? क्या मेरी पीड़ा के श्रृंगार ने भी प्रिय का हृदय द्रवीभूत नहीं किया ?

प्रिय के प्रति निवेदन करती हुई कवयित्री कहती है कि यदि तुम मेरी दयनीय दशा देख पाते, तो अवश्य द्रवीभूत हो उठते , यदि तुम मिल जाते, तो मैं अपनी विरह-कहानी सुना कर तुम्हारे हृदय को पिघला देती, तुम मेरी पीड़ा पर मुक्ति और निर्वाण को भी वार देते, मुझे स्वीकार करते । निवेदन में अपने प्रेम की दृढ़ता बोलती है, नारी का हृदय बोलता है ।

मेरा सजल मुख देख लेते ।
यह करुण मुख देख लेते ॥

× × × ×

शिथिल चरणों के थकित इन नूपुरों की करुण रुनझुन,
विरह का इतिहास कहती जो कभी पाते सुभग सुन,
चपल पद धर
आ अचल उर ।
वार देते मुक्ति को, खो
निर्वाण का संदेश देते ।

पर उसे प्रिय नहीं मिला । वह पपीहे से प्रश्न करती है, पी कहाँ है ? इस प्रश्न में प्रश्न तो है ही, निराशा भी है---पी कहां ? निराश होकर वह कहती है कि पिपासा ही जीवन है, विशेषकर मेरा जीवन । तृप्ति के उल्लास को मैं सहन नहीं कर सकूंगी, तृप्ति में मैं जी न सकूंगी । यदि मैं दीपक की तरह जलती न रहती, तो यह सजलता कहां से आती, हृदय के वाष्प नेत्रों के जल की सृष्टि कैसे कर पाते ?

रे पपीहे पी कहाँ ?
प्यास ही जीवन, सकूंगी
तृप्ति में मैं जी कहाँ ?
दीप सी जलती न तो यह
सजलता रहती कहां ?

पर यह निराशाजन्य आदर्श-प्रधान दृष्टिकोण पीड़ा के यथार्थ की चोट खाकर चकनाचूर हो जाता है और कवयित्री को अपने शलभ से 'शापभयवर' का प्रस्तुत करने पर भी कहना पड़ता है कि मैं वह निष्ठुर दीपक हूँ, जिसे किसी को जलाने का अवसर नहीं मिला, मेरा जन्म शून्य में हुआ, सवेरा मेरे लिए बुझने का

संदेश लाता है, मेरे आकुल प्राणों को यदि कोई साथी भी मिला, तो अंधकार—निराशा। इस विशद सांगरूपक में दीपशिखा के भावी सृजन का मंत्र छिपा है। सांध्यगीत में दीपक से संबंधित गीत अनेक हैं। दीपशिखा की भूमिका सांध्यगीत में ही है।

शलभ मैं शापमय वर हूँ !
किसी का दीप निष्ठुर हूँ !

मैं जलती हूँ, पर जलन का यह शाप स्मृति तथा आशा के वरदान से इतना अधिक संपन्न है कि वरदान अधिक है, शाप कम, अतः मैं वरमय शाप न होकर शापमय वर हूँ। मैं ऐसे 'किसी' प्रिय का निष्ठुर दीपक हूँ, जो बुझना नहीं जानता, जलाना नहीं जानता, जलना-भर जानता है, इसमें न कोई जलने ही आता है, न स्नेह डालने ही। कवयित्री अपने परिचय को वर से प्रारंभ करके 'विरह में चिर' पर समाप्त करती है, वह मिलन का नाम भी नहीं सुनना चाहती। इसका कारण निराशाजन्य पीड़ा का अतिरेक है, जो विरह में तृप्त रहने की घोषणा करता है, करता क्या है, उसे ऐसा करना ही पड़ता है।—

शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सबेरा,
प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अंधेरा,
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।

महादेवी के विरह ने उन्हें 'चिर' बनाया है, शक्तिपूर्वक घोषणा कर रही है। भले ही इस सत्य का मूल निराशा में हो। उसका हृदय दग्ध है, वह प्रेम के बंधन में बंधी जल रही है। अतः 'विरह में चिर' होते हुए भी वह प्रिय से अपने बंधन खोलने का हृदय-द्रावक निवेदन करती है।

कीर का प्रिय आज पिंजर खोल दो।

स्थूल दृष्टि से देखने पर "मिलन का मत नाम ले" तथा "पिंजर खोल दो' जैसे उद्गारों में विरोध प्रतीत होता है। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। निराशा से आक्रान्त हृदय 'विरह में चिर" का सहज गान करता है तथा वही निराशा के बोझ को न सम्हाल पाने पर "बंधन" खोल देने का निवेदन करता है। दोनों प्रकार के उद्गारों में एक संगति है। वे असंगति नहीं हैं।

विरहिणी जल रही है। वह युग-युग तक जलने को प्रस्तुत है—जले न तो करे क्या।—पर चाहती है कि बुझे प्रिय की फूंक से ही, बुझने पर क्षार उसका

पता दे। जायसी की नागमती 'यह तन जारों छार के' कहकर शताब्दियों-पूर्व नारी की आस्था का विवेचन कर गई थी, वही विवेचन महादेवी ने इस युग में प्रस्तुत किया है—

> दीप सी युग युग जलूं पर वह सुभग इतना बता दे।
> फूँक से उसकी बुझूं तब क्षार ही मेरा पता दे॥

यहाँ कवयित्री की विकलता धैर्य की श्रृंखलाओं को टूक-टूक कर देती है। पर श्रृंखलाओं के तोड़ने का कार्य "प्रिय चिरंतन है सजनि, क्षणक्षण नवीन सुहागिनी में" के रहस्यमंडित स्वरों से हुआ है। प्रेम एक आँख से हँसता है, एक से रोता है। वह न निरा हास है, न निरा रोदन।

मिलन और विरह तथा सुख और दुःख के मिलन से जीवन की पूर्णता का भावमय गान आंसू के कवि प्रसाद तथा गुंजन के कवि पंत कर चुके थे। महादेवी इस क्षेत्र में कुछ और अधिक आगे बढ़ी हैं। आँसू का प्रभाव उनपर पड़ा तो है, पर उसे उनकी पीड़ाप्रियता ने सजल रूप में ही अपनाया है। सुख-दुख के मिलन से जीवन का पूर्णत्व-गान दुःख ही कराता है, क्योंकि दुःख को सुख की आवश्यकता रहती है, सुख को और दुःख की आवश्यकता नहीं रहती। प्रसाद के समान महादेवी का पीड़ा-प्रेम और विरह-स्तवन निराशाजन्य ही है। प्रायः होता भी ऐसा ही है, बहुत दूर तक संभव भी यही है। यों तो महादेवी नीहार से ही पीड़ा के प्रति पूरी आस्था रखती आई हैं, पर सांध्यगीत में उनका पीड़ावाद तथा विरह-स्तवन अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है। संध्या-मूलक होती है, अतः महादेवी का सांध्यगीत में सुख-दुःख या मिलन-विरह का संधि-प्रतिपादन सार्थक भी है। ग्रंथ के प्रथम गीत में ही कवयित्री अपने जीवन को सांध्य-गगन बतलाती है :

> प्रिय सांध्य गगन
> मेरा जीवन।
> ... ...
> ... ...
> अब आदि अंत दोनों मिलते,
> रजनी दिन परिणय से खिलते,
> आँसू मिस हिम के कण ढुलते,
> ध्रुव आज बना स्मृति का चल क्षण।

... ...
... ...
घर आज चले सुख-दुःख विहग,
तम पौंछ रहा मेरा अग-जग,
छिप आज चला वह चित्रित मग,
उतरो अब पलकों में पाहुन ।

अंतिम पंक्ति में सांध्य बेला के गान में कवयित्री 'पाहुन' को पलकों में उतरने के लिए ठीक ही कह रही है, संध्या के बाद निद्रा में ही तो 'पाहुन' पलकों में उतर सकता है । यहाँ यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि कवयित्री दार्शनिक के कंठ से बोलती हुई भी मूल रूप से विरहिणी ही है तथा वह अपने प्रिय का किसी भी रूप में दर्शन प्राप्त करने के लिए आकुल है ।

कवयित्री का मंदिर सूना है । वह निश्चय करती है कि वह प्रिय की प्रतिभा बनेगी । रूमी जैसी सूफी 'तू' का प्रतिपादन करते हुए 'मैं' का तिरोधान चाहते हैं, कबीर "मैं" में हरि की 'नाहिं' की घोषणा करते हैं, विद्यापति की राधा 'माहव माहव' रटते-रटते स्वयं 'मधाई' हो जाती है, सूर, बिहारी और देव की राधा उसका अनुकरण करती है । महादेवी केवल प्रतिमा बनती है । दार्शनिकता से मुक्त कर देने पर भाव यह है कि हे प्रिय, आज शून्यता के चिर-दग्ध वातावरण को दूर करने के लिए मैं स्वयं तुम्हारा प्रतीकत्व करने का प्रयास करूंगी ; शायद इससे कुछ राहत मिले—

शून्य मंदिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी !

विरह-साधना में कवयित्री स्वयं प्रियमय बन जाती है । पर वह मुक्ति नहीं चाहती । उसे मुक्ति तभी स्पृहणीय लगेगी, जब वह बंधन की कामना लेकर आए । विरह-कथा तो उसे इसलिए मधुर लगती है कि उसमें प्रिय की भावना भरी है और प्रिय की भावना से युक्त सब कुछ उसके लिए मधुर है :

मैं सजग चिर साधना ले ।
× × ×
हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले ।
× × ×
आज वर दो मुक्ति आवे बंधनों की कामना ले ।
× × ×
मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले ।

प्रियमय बनकर कवयित्री अपने को किसी की छाया कहती हैं, पर जिसकी

छाया है, वह उसे पहचान नहीं पाती। यहां कवयित्री अपने स्व को प्रिय पर वार देती है। उसे प्रिय की छाया पर भी स्व को मिटाने में हर्ष होता है। ऊपर से देखने पर यहाँ रहस्यवाद प्रतीत होता है, पर वस्तुतः वहाँ यह है नहीं। रहस्यवाद में प्रिय के द्वारा प्रिया या आराधक के पहचाने न जाने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यहाँ कवयित्री का उच्चतम स्तर का वैयक्तिक प्रणय मुखरित होता है।

मैं किसी की मूक छाया हूँ न क्यों पहचान पाता।

किन्तु छाया बन जाने की कल्पना कितनी ही महान क्यों न हो, है तो कल्पना ही। कवयित्री की विकलता ज्यों-की-त्यों बनी है। यदि उसका विरह कबीर का-सा ईश्वर के प्रति विरह होता तो 'मैं' के वार देने पर "अब हरि हैं मैं नाहिं" का प्रसन्न राग मुखरित हो उठता। पर ऐसा नहीं है। विकलता विद्यमान है, भले ही वह प्रिय लगने लगी हो, प्रारम्भ से ही प्रिय रही हो। वह प्रिय की याद में प्रेम-पथ के शूलों को प्यार करने लगी है, विरह की आराधना करने लगी है, दार्शनिक बन गई है।

प्रिय पथ के यह शूल मुझे अति प्यारे ही हैं।
हीरक सी वह याद
बनेगा जीवन सोना,
जल-जल तप-तप किन्तु
खरा इसको है होना।
चल ज्वाला के देश जहाँ अँगारे ही हैं।
× × ×
अकुलता ही आज
हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य
द्वैत यह कैसी वाधा।
खोना पाना हुआ जीत वे हारे ही हैं।

प्रेम में खोना ही पाना होता है, पाना ही खोना। प्रिय जीत कर भी हार जाता है और हार कर भी जीत जाता है। कवयित्री का खोना पाना बन गया है और प्रिय की जीत हार बन गई है। इस स्थिति में उसे विरह की घड़ियाँ मधुर लगने लगती हैं :

विरह की घड़ियाँ हुई अलि मधुर मधु की यामिनी-सी।
× × ×

सजनि अंतर्हित हुआ है आज में धुंधला विफल कल,
हो गया है मिलन एकाकार मेरे विरह में मिल ।

पर यह सब क्रिया-कलाप निराशा-द्वारा ही संचालित हो रहा है, इसे कवयित्री नहीं छिपाती—

राह मेरी देखती
स्मृति अब निराश पुजारिनी सी ।

वह यह भी स्पष्ट कह देती है कि यह दुःख-सुख से युक्त राग वह नहीं गाती, उसका 'अलबेला' इनकी सृष्टि करता है—

यह सुखदुखमय राग
बजा जाते हो क्यों अलबेले ?

वह अपने मन को, जिसे बहुत दूर जाना है, समझाती है :—

कह न ठंडी साँस में अब भूल वह जलती कहानी,
आग हो उर में तभी दृग में सजेगा आज पानी
हार भी तेरी बनेगी मानिनी की जय-पताका,
राख क्षणिक पतंग की है अमर जीवन की निशानी ।
है तुझे अंगार-शैया पर मृदुल कलियाँ बिछाना ।
जाग तुझको दूर जाना ।

स्पष्ट है कि कवयित्री संतुलन एवं सामंजस्य के प्रति सतत सचेष्ट रहने पर भी अपनी पीड़ा को भूलती नहीं, भूलने का प्रयास भी नहीं करती ।

साँध्यगीत में पीड़ा के साथ उच्चादर्शों का मेल बड़ी विदग्धता से कराया गया है । कवयित्री प्रिय से अपने प्रेम-दीप की अजेयता को स्पस्ट कर देती हैं, यह प्रेम-दीप आँधी-पानी से बुझने वाला नहीं । यह बन-बन कर मिटेगा, मिट-मिट कर बनेगा । इसके ऐसा करने का कारण है, तुम्हारे पथको अंधकारयुक्त न होने देना ।—

यह न झंझा से बुझेगा,
बन मिटेगा मिट बनेगा,
भय इसे है हो न जाए,
प्रिय तुम्हारा पंथ काला ।

दीपशिखा में यह भावना और भी अधिक विशद है ।

साँध्यगीस में यत्र-तत्र कवयित्री अपनी मिलन-कहानी भी कहती चलती है, भले ही वह मिलन नींद से ही संबंधित हो—

अश्रु मेरे माँगने जब
नींद में वह पास आया।

× × ×

अनुसरण करता अमा का
चाँदनी का हास आया।

× × ×

माँगने पतझार से
हिमविन्दु तब मधुमास आया।

× × ×

अंक में तब नाश को
लेकर अनंत विलास आया।

वह जब पास आया—नींद में, स्वप्न-सा—तब सब कुछ उल्लासपूर्ण हो उठा। नयनों में प्रिय का हास जब सपनों की रज आज गया था, तब सारे कष्ट हर्ष में परिणत हो गए थे—

सपनों की रज आंज गया नयनों में प्रिय का हास।
अपरिचित का पहचाना हास
पहनों सारे शूल ! मृदुल
हंसती कलियों के ताज
निशि आ आँसू पोंछ
अरुण संध्या-अंशुक में आज
इन्द्रधनुष करने आया तम के श्वासों में वास।
सुख की परिधि सुनहली घेरे
दुख को चारों ओर,
भेंट रहा मृदु स्वप्नों में
जीवन का सत्य कठोर।
चातक के प्यासे स्वर में सौ-सौ मधु रचते रास।

उपर्युक्त पंक्तियों में अपरिचित का पहचानना हास छायावादी, रहस्यवाद की एक रूढ़ि है वस्तुतः यहां स्वप्न में प्रिय के हास का उल्लेख हुआ है।

सांध्यगीत का सबसे अधिक उज्जवल शृंगार करने वाला "मैं नीरभरी दुख की बदली" शीर्षक गीत महादेवी का सबसे अधिक लोकप्रिय गीत है। यह परिचय-गीत है। कवयित्री अपने को सजला कादंबिनी—नीरभरी दुख की बदली—कहती है

तथा विशद सांग रूपक में अपने कथन को स्पष्ट कर देती है। बदली के स्पंदन में बरस पड़ने की असमर्थता रहती है, मेरे जीवन स्पंदनों में आंतरिक निस्पंदता बसी हुई है ; बदली के क्रंदन पर ग्रीष्माहत विश्व हँसता है, मेरे क्रंदन में मेरा आहत अंतर्जगत हंसता रहता है ; बदली की दृष्टि विद्युत्-दीपक-सी जलती है, मेरी रोती लाल आँखें भी दीपक-सी जलती हैं ; बदली विद्युज्ज्वाला-संयुक्त होने पर भी जल बरसाती है, मैं अपनी आँखों के जलते रहने पर भी आंसू बरसाती हूँ :

मैं नीर भरी दुख की बदली ।
स्पंदन में चिर निस्पंद बसा,
क्रंदन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते,
पलकों में निर्झरणी मचली ।

यहाँ स्पंदन में चिर-निस्पंदन बसाने, क्रंदन में आहत-विश्व हंसाने तथा जिनमें दीपक-से जल रहे हैं,ऐसे नयनों की पलकों में निर्झरणी मचलवाने में विरोधाभास अलंकार धन्य हो गया है ।

इस महान गीत के अंत में कवयित्री ने गाया है—बदली विस्तृत आकाश में विचरती है, पर उसका एक कोना भी बदली का नहीं होता ; मैं इस जन-संकुलित विशाल विश्व में रहती हूँ, पर पूर्ण एकाकिनी हूँ, कोई मेरा होने वाला नहीं ! बदली की तरह मेरा परिचय और इतिहास केवल इतना रहेगा कि कल उमड़ी थी और आज मिट चली—

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली ।

अनुभूति की चरम तीव्रता, विरह की परम व्यथा तथा कला की ललित सीमा का सफल स्पर्श करने वाला, महादेवी के कलाकार तथा व्यक्ति को पूर्णतः स्पष्ट करने वाला, उनका यह सर्वश्रेष्ठ गीत हिन्दी-साहित्य के सर्वोत्तम प्रगीतों में है । पर अंत में कवयित्री थोड़ा-सा झूठ बोल गई हैं, जहां वह कहती हैं कि "परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली" वहां क्या वह सत्य कहती हैं ? महादेवी हिंदी-साहित्यांकाश की नीरभरी दुख की बदली हैं, पर ऐसी बदली नहीं, जो उमड़ कर मिट जाती हों । वे ऐसी बदली हैं, जिसकी छाया में हिन्दी कविता सदा शीतलता, पवित्रता तथा तीव्रानुभूति का अनुभव करती रहेंगी ।

अपना परिचय "मैं नीरभरी दुख की बदली" में देकर महादेवी "मेरी है पहली बात" शीर्षक गीत में अपने साथ ही अपने काव्य का भी सफल परिचय दे देती हैं। यहाँ वे झूठ नहीं बोलतीं। बड़े तर्कपूर्ण एवं कलापूर्ण ढंग से वे अपने को एक साथ ही रात-जैसी करुण, प्रात-जैसी मधुर और बरसात-जैसी सजल सिद्ध कर देती हैं। वस्तुतः महादेवी ओसों से भरी रात-जैसी करुण, उज्जवल और प्रात-जैसी मधुर एवं बरसात-जैसी सजल हैं भी। उनका समग्र काव्य इस कथन को स्पष्ट करता है। सारी कविता में अपना स्पष्टीकरण करते हुए भी कवयित्री ने प्रारंभ अपनी बात से किया है। ऐसा उचित है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए अपने को स्पष्ट कर देना सर्वथा उचित है। करुण, मधुर, सजल—एक साथ। पहेली है !! महादेवी का काव्य भी तो एक पहेली ही है !!! यह गीत उनके काव्य की कुंजी हैं :—

मेरी है पहेली बात !
रात के भीने सितांचल
से बिखर मोती बने जल,
स्वप्न पलकों में विचर झर
प्रात होते अश्रु केवल।
सजनि में उतनी करुण हूँ करुण जितनी रात !
मुस्कराकर राग मधुमय
वह लुटाता पी तिमिर विष,
आँसुओं का क्षार पी मैं
बाँटती नित स्नेह का रस।
सुभग में उतनी मधुर हूँ मधुर जितना प्रात !
ताप जर्जर विश्व उर पर
तूल से घन छा गए भर,
दुःख से तप हो मृदुलतर
उमड़ता करुणाभरा उर।
सजनि मैं उतनी सजल जितनी सजल बरसात ![1]

१—नीरजा के एक गीत में कवयित्री ने स्वयं अपने को "एक पहेली भी" बतलाया है— प्रिय ! मैं हूँ एक पहेली भी।
जितना मधु जितना मधुर हास जितना मद तेरी चितवन में,
जितना क्रंदन जितना विषाद जितना विष जग के स्पंदन में,
पी पी में चिर दुःख-प्यास बनी सुख सरिता की रंगरेली भी।

सजनि से करुण तथा सजल और सुभग से मधुर कहना तलस्पर्शी कथन है।

प्रेम चाहे जितना चिंतन करे, जितना रोए, जितना गाए, पर प्रिय का सान्निध्य पाने की एक-न-एक बार अवश्य कामना करता है। महादेवी अपने सारे चिंतन, रोदन तथा गायन के बीच प्रिय के सान्निध्य को प्राप्त करने की कामना भी व्यक्त करती रहती हैं। नीहार, रश्मि तथा नीरजा में ऐसी कामना अधिक स्पष्ट एवं तीव्र है। साँध्यगीत की निराशा में वह अस्पष्ट एवं प्रशांत हो गई हैं। कवियित्री 'जो तुम आ जाते' का गान अब नहीं कर पाती, क्योंकि उसे आशा नहीं है कि प्रिय आयेगा। पर संध्या की बेला में वह स्वप्न में आने का अनुरोध प्रिय से अब भी कर लेती है। पहले गीत में ही 'उतरो अब पलकों में पाहुन' का अनुरोध हो चुका है। उसे कवयित्री ने दुहराया भी है—

नव घन आज बनो पलकों में !
पाहुन अब उतरो अलकों में !
तम-सागर में अंगारे सा,
दिन बुझता टूटे तारे सा,
फूटो शत-शत विद्यु-शिखा से
मेरी इन सजला पुलकों में !
प्रतिमा के दृग सा नभ नीरस,
सिकता-पुलिनों सी सूनी दिश,
भर भर मंथर सिहरन कंपन
पावस से उमड़ों अलकों में !
जीवन की लतिका दुख-पतझर,
गए स्वप्न के पीत पात झर,
मधुदिन का तुम चित्र बनो अब
सूने क्षण क्षण के पलकों में !

दीपशिखा—स्नेह की जलन दीपशिखा—महादेवी की एक अत्यंत प्रौढ़ कलाकृति है, जिसका विषय-विस्तार सीमित है। अधिकांश गीतों का संबंध दीपक, निशा और अंधकार से है। बच्चन का 'निशा-निमंत्रण' 'दीप-शिखा' की परंपरा की कड़ी-सा लगता है। दीपशिखा का नामकरण नीहार, रश्मि,नीरजा तथा सांध्यगीत के सदृश ही पूर्णतः सार्थक है। कुछ गीत स्व-निरूपक भी हैं, जिनमें कवयित्री अपना और अपनी पीड़ा का परिचय देती है। ऐसा गीत बहुत ही हृदय-द्रावक हैं। ऐसे गीतों में यत्र-तत्र प्रकृति पर पीड़ा का विराट् प्रभाव विशद रूप से चित्रित किया

गया है। जैसा कि अन्य कृतियों में भी हुआ है, कुछ गीत रहस्यवादी तथा प्रकृति से संबंधित भी हैं, जिनके तल में कवयित्री की पीड़ा झलकती रहती है। कहीं-कहीं रहस्यवादी स्वर बहुत ही गंभीर रूप में हैं, जिसका कारण कवयित्री की प्रौढ़ता एवं अध्ययनशीलता है।

दीपशिखा में प्रिय की स्मृति तथा अपनी इच्छा के गान कम हुए हैं, स्नेह की शीतल ज्वाला का गान अधिक हुआ है। ग्रंथ में अंत के गीतों में 'प्रात' का उल्लेख केवल प्रासंगिक है। कवयित्री की आत्मा जलने में ही अधिक रमी है। प्रेम की निराशा-निशा के तम में कवयित्री के प्राण-दीप पावन प्रकाश भरने में जितना सफल यहाँ हुए हैं, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। बच्चन का 'निशा निमंत्रण' अधिक स्वाभाविक है, पर उसकी एकांत शोकमूलकता में वह उज्ज्वल प्रकाश नहीं है, जो दीपशिखा की आत्मा है। नीरज की 'विभावरी' तथा सुरेन्द्र की 'एक रात' में वह तन्मयता, एकरसता तथा उज्ज्वलता नहीं है, जो दीपशिखा में है। यदि यह कहा जाए कि निशा-गान की दृष्टि से महादेवी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है, तो अत्युक्ति न होगी।

दीपशिखा में सहजात उज्ज्वलता तो है, प्रभात का उल्लेख तो है, पर प्रभात-संदेश नहीं, प्रकाश के स्वर संतुलित हैं, पर आशान्वित नहीं। महादेवी का निराशामूलक पर उज्ज्वल पीड़ावाद दीपशिखा में अपनी चरम सीमा का स्पर्श कर लेता है।

दीपशिखा की पैंसठ पृष्ठों की विशाल भूमिका के सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उसका उद्देश्य ग्रंथगत वस्तु-विषय के स्पष्टीकरण से न होकर अपने विचारों को प्रकट करना है। विचारों को प्रकट करने का लोभ-संवरण बड़ा कठिन होता है। कवयित्री के विचार यद्यपि गंभीरता के आभास से युक्त तथा प्रवाहपूर्ण भाषा से सम्पन्न हैं, तथापि वे साहित्य में कोई नवीन निष्पत्ति नहीं प्रस्तुत करते। अपने सम्बन्ध में कवयित्री ने जो कुछ भी कहा है, वह अन्य कृतियों में व्यक्त अपने सम्बन्ध के कथनों के समान ही कृतियों के वास्तविक रूप से अधिक मेल नहीं खाता। संक्षेप में, दीपशिखा की आवश्यकता से अधिक लम्बी भूमिका पंत-द्वारा प्रचलित किए गए उस भूमिकावाद की एक प्रख्यात कड़ी मात्र है, जिसका आरम्भ पल्लव से हुआ था तथा जिसके परिणाम स्वरूप प्रौढ़ तथा तरुण सभी कवि अपने दर्शन, विचार तथा सिद्धान्तों को स्पष्ट करना अपना नैसर्गिक अधिकार समझने लगे हैं।

दीपशिखा दो रूपों में उपलब्ध है—सचित्र तथा साधारण। सचित्र संस्करण में छायावादी कविताएँ छायावादी सजधज तथा छायावादी प्रकाशक को पाकर

जन-जीवन के स्पर्श से दूर की चीज बन गई हैं। मूल्य इतना अधिक है कि सम्पन्न पुस्तकालयों में ही दीपशिखा के दर्शन होते हैं तथा हो सकते हैं। साधारण संस्करण सबकी पहुँच में आता रहता है। छायावादी कविता को लोकप्रियता की गरिमा न मिल सकने का एक बड़ा कारण छायावादी प्रकाशक भी हैं, जिनकी हवाई कीमतें भारत के पाठक एवं अध्येता की पूर्ण उपेक्षा करती हैं। प्रसाद की सारी रचनाएँ दस रुपये की ग्रंथावली में उपलब्ध हो सकती हैं, पर वे उपलब्ध होती हैं पांच-छह गुना अधिक खर्च करने पर। महादेवी के कुल गीत (नीहार में सैंतालीस, रश्मि में पैंतीस, नीरजा में अट्ठावन, सांध्यगीत में पैंतालीस और दीपशिखा में इक्यावन—कुल दो-सौ-छत्तीस), पाँच रुपये में उपलब्ध हो जाने चाहिए। पर वे उपलब्ध होते हैं कई गुने अधिक में।

महादेवी के चित्रों पर भी दो शब्द कह देना अनुचित न होगा। यह स्पष्ट है कि महादेवी मूलतः कवयित्री हैं, चित्रकरी नहीं। उनके चित्र वाह्य सज्जा या रूपरेखा की दृष्टि से नहीं, आंतरिक अनुभूतियों को प्रकट करने की दृष्टि से ही अपना मूल्य रखते हैं। पीड़ा महादेवी है, महादेवी पीड़ा है। इस कथन की सार्थकता उनकी कविताओं में भी हो जाती है, चित्रों में भी। उन्हें गीतों से चित्र-रचना की प्रेरणा मिलती है, चित्रों से गीत-रचना की प्रेरणा शायद ही कभी मिलती हो। पाठक यही अनुभव करता है। सचित्र दीपशिखा के अधिकांश चित्र कविताओं के भाव से युक्त हैं। यामा के चित्र अधिकतर सज्जा के प्रसाधन मात्र हैं, जिनकी बेतरतीब पुनरुक्ति होती रहती है। आजकल समर्थ कवि अपने विचारों को कविता में छपाते रहते हैं, चाहे उनका सम्बन्ध ग्रंथ की कविताओं से हो या न हो। इधर महादेवी ने अपने चित्रों को भी काव्य-ग्रन्थों में छपाकर चित्रकार-कवियों के लिये मैदान साफ कर दिया है। आशा की जाती है कि अब सचित्र काव्य-संग्रह भी बाजार की शोभा बढ़ायेंगे।

दीपशिखा की विरह-मूलक कविताओं में महादेवी अपनी कहानी तथा विकलता को व्यक्त करने में अधिक सचेष्ट दृष्टिगोचर होती हैं, स्मृति आदर्श तथा इच्छा पर उनका ध्यान अपेक्षाकृत कम गया है। कारण स्पष्ट है, स्मृति दीर्घ काल से स्मृति ही बनी चली आ रही है, आदर्श आदर्श एवं इच्छा इच्छा ; उन्हें मिलन, यथार्थ तथा पूर्ति नहीं मिली। अतः उनसे कवयित्री का मन भर चुका है, यद्यपि उन्हें वह छोड़ नहीं सकतीं। विकलता और अपनी कहानी कहने से व्यक्ति का मन नहीं भरता। कवयित्री का भी मन नहीं भरा।

कवयित्री के सुकुमार सपने प्रिय की स्मृति से उजले हैं, जो उसके सजल दृगों की मधुर कहानी को छूते हैं तथा जिनका हर कण वरदानी अमर करुणा का रूप ग्रहण करता रहता है :—

यह सपने सुकुमार तुम्हारी स्मृति से उजले ।
छूकर मेरे सजल दृगों की मधुर कहानी,
इनका हर कण हुआ अमर करुणा वरदानी,
× × ×

कवयित्री अपनी पलकों में किसी का सुकुमार सपना पाल रही हैं, आंसू के मिस प्यार ढाल रही हैं, उसके लिए झंझादूत किसी की सुरभिमय सांसों का उपहार लाता है :—

मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का ।
× × ×
मैं कण कण में ढाल रही अलि आंसू के मिस प्यार किसी का ।
× × ×
लाया झँझादूत सुरभिमय सांसों का उपहार किसी का ।

किसी की स्मृति ने कवयित्री को विकलता की विभूति प्रदान की है । विकलता ने उसके प्राणों को दीपक बना दिया है, जो निराशा की निशा में प्रकाश फैलाता है । कवयित्री चाहती है कि उसकी यह दीप-शिखा धुले, पर अचंचल रूप में । जले, पर अकंपित रूप में । प्रेम को उसके विगलित रूप में महादेवी ने जितना अधिक ग्रहण किया है, उतना हिन्दी क्या, कदाचित संसार के किसी कवि ने नहीं ग्रहण किया या नहीं ग्रहण कर पाया । निराशामूलक होते हुए भी उनका पीड़ावाद अत्यन्त पुष्ट एवं उज्ज्वल है । दीपशिखा के नामकरण की सार्थकता उसके प्रथम गीत में ही स्पष्ट हो जाती है—

दीप मेरे जल अकंपित,
धुल अचंचल !

प्राणदीप ! जल, धुल, साथ ही अकंपित, अचंचल रह ! यह उच्चस्तर की प्रेम-साधना सब के वश की नहीं । कवयित्री को एकाकिनी रहना प्रिय है, प्रेम में एकाकीपन मधुर एवं स्पृहणीय बन जाता है । पर उसके एकला चलो रे !' में प्रेम की दुर्गम पथ-साधना का भाव भी समाहित है । सारी विकलता एवं पीड़ा के साथ भी वह हारने को तैयार नहीं है । जो लोग महादेवी के पीड़ावाद की चुटकियां लेते हैं । उन्हें उसकी अमर दृढ़ता पर दृष्टि डालना चाहिए ।

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला !
घेर ले छाया अमा बन,
आज कज्जल अश्रुओं में रिमझिम ले यह घिरा घन,

और होंगे नयन सूखे,
तिल बुझे औ पलक रूखे,
आर्द्र चितवन में यहाँ
शत विद्युतों का दीप खेला !
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे...

कवयित्री अपने 'चिर नीरव' को बतलाती है कि वह एक साथ ही सरित-विकल, अश्रु-तरल, सुधि-नर्तन, पुलकाकुल, चिर-चंचल, ऊर्मिविरल तथा गति-विह्वल बन चुकी है। पर उसकी व्यथा के भार को प्राण हँसकर ले चलता है, वह पीड़ा को त्याग नहीं सकती, लौटा नहीं सकती—

अब न लौटाने कहो
अभिशाप की वह पीर,
बन चुकी स्पंदन हृदय में
वह नयन में नीर।
अमरता उसमें मनाती है मरण त्यौहार !

पीड़ा प्रलय बन चुकी है, पर कवयित्री पार नहीं देखना चाहती , इतना अवश्य चाहती हैं कि प्रिय सारी व्यथाओं के बीच भी उसे 'एक बार' पुकार ले। इस पुकार की शक्ति पा वह ज्वार की तरणी बनाकर प्रलय को पार कर सकती है। प्रेम की अनुभूति वेदना के प्रलय में प्रिय-संवेदन की कल्पना का सहारा पाकर पीड़ा के ज्वार को भी तरणी बना सकती है !—

अब तरी पतवार लाकर
तुम दिखा मत पार देना,
आज गर्जन में मुझे बस
एक बार पुकार लेना !
ज्वार की तरणी बना में इस प्रलय का पार पा लूँ !

नीहार से लेकर साँध्यगीत तक महादेवी की पीड़ा में हास की जो समन्वय-साधना चली है, वह दीपशिखा में अपनी सीमाएं छू लेती है। कवयित्री एक ही झंकार में अश्रु और हास घुला चुकी है, पर इतना स्पष्ट है कि उसकी पीड़ा का गान समाप्त नहीं हुआ है, वह अशेष है—

इक ही झंकार में युग अश्रु-हास घुला चुकी हूं !

× × ×

पर न मैं अब तक व्यथा का छंद अंतिम गा चुकी हूँ।

अभी उसका प्राणदीप जल रहा है—दीपशिखा वस्तुतः प्राणगीत है, उसे प्राण-गीत भी कहा जा सकता है—इस जलन के रस में वह इतना अधिक विह्वल हो उठी है कि प्रिय से कहती है—'यदि तुम्हें आना ही है, तो इस दीपक के बुझने पर आना':

जब यह दीप थके तब आना।

अभी तो बस इतना ही चाहिए कि—

यह मंदिर का दीप उसे नीरव जलने दो।

'नीरव जलने दो' में प्रेम का वह महान रूप बोल रहा है, जो जल कर भी उपालंभ और कामना के तीव्र स्वरों से परे रहता है। महादेवी का विरह-काव्य इस कथन का स्पष्ट प्रमाण है कि प्रेम के उदात्त रूप को जितना नारी समझ सकती हैं, उतना पुरुष नहीं। नारी प्रिय को ईश्वर के रूप में सचमुच देख सकती है, महादेवी का विरह-काव्य इसका निदर्शन है; उनमें रहस्यवाद का विवेचन व इसका विवेचन है।

पर जलना आखिर है तो जलना ही। कवयित्री को उसमें रस मिलता है, यह ठीक है, पर वह जानती है कि 'धूप-सा तन दीप-सी' कब से जल रही है, फलतः उसे गाना पड़ता है—

तू धूल-भरा ही आया
और चंचल जीवन-बाल। मृत्यु-जननी ने अंक लगाया।

मृत्यु को जीवन की जननी केवल धर्म और दर्शन ने ही माना है। मृत्यु के प्रति गीता इत्यादि ग्रंथों में जो उद्गार हैं, उनके मूल में मृत्यु की अनिवार्यता को देखकर जीवन को क्रिया सुदृढ़ करने का लक्ष्य ही है, और कुछ नहीं। मृत्यु की गरिमा का गान व्यक्ति तभी करता है, जब वह परेशान होजाता है, भयंकर परिस्थिति में पड़ जाता है या मरने वाला होता है। मृत्यु नहीं, जीवन सत्य है। पर मृत्यु की अनिवार्यता ने चिन्तन का बोझ लेकर उसे उज्ज्वल बनाने के प्रयास अनेक बार किए हैं। महादेवी, कालिदास, शेक्सपियर और प्रसाद के समान मृत्यु-स्तवन करती है।

महादेवी दीपशिखा में आंसुओं के देश में पहुँच जाती हैं। आंसू महादेवी के काव्य का प्राण है, पीड़ा आत्मा। फिर भी वे विरह के पंथ में इति-अथ मानने को प्रस्तुत नहीं हैं—

अलि विरह के पंथ में मैं तो न इति-अथ मानती री!

उनका दावा है:

निमिष में मेरे विरह के कल्प बीते!

महादेवी के पूर्व तक विरह के निमिष कल्प-से लगते थे, पर महादेवी ने विरह के कल्प निमिष में बिता दिए हैं। यह असाधारण कार्य बड़ी साधना के बाद ही हुआ है। इसमें कवयित्री के प्राण प्रिय से बार-बार हारे और हार कर भी जीते थे—

प्राण तुमसे हार कर प्रति वार जीते !

दीपशिखा के विरह-गान में भी प्रेम का बहुत ऊँचा आदर्श प्रकट किया गया है—

मैं क्यों पूँछूं यह विरह-निशा कितनी बीती क्या शेष रही ?
उर का दीपक चिर, स्नेह अतल,
सुधि-लो शत झंझा में निश्चिल,
सुख से भीनी दुख से गीली,
वर्ती सी सांस अशेष रही !
×   ×   ×
×   ×   ×
क्षण गूंजे औ यह कण गावें
जब वे इस पथ उन्मन आवें,
उनके हित मिट-मिट कर लिखती
मैं एक अमिट संदेश रही !

सचमुच महादेवी का संदेश अमिट ही है। पीड़ा को उन्होंने जो रूप प्रदान किया है, वह विश्व-साहित्य की निधि है। समर्पण एवं उत्सर्ग के स्वर जायसी की नागमती की याद दिलाते हैं। उनका विस्तार अनूठा है—

आँसू से धो आज इन्हीं अभिशापों को बर कर जाऊंगी !
×   ×   ×
सुरभित सांसें बांट तुम्हारे
पथ में हँस-हँस जाऊँगी !
×   ×   ×
तम में बन कर दीप, सबेरा
आंखों में भर बुझ जाऊँगी !
×   ×   ×

कवयित्री ने अपने पथ को ही निर्वाण बना लिया है, जिसका प्रति पग शत शत-वरदान बना हुआ है :

[३] प्रकृति से संबंधित कविताएँ। इनमें अधिकांश विरह-वेदना का उद्दीपन करती हैं, अतः स्वतंत्र न होकर विरह-काव्य के अन्तर्गत ही हैं। दो-चार कविताओं में संध्या, रजनी इत्यादि पर सुन्दर भाव प्रकट किए गए हैं, पर उनके मूल में भी विरह की छाया विद्यमान है।

स्पष्ट है कि महादेवी के काव्य का मूल एवं प्रधान स्वर विरह का स्वर है।

महादेवी की कृतियों का सम्यक् विश्लेषण प्रस्तुत करने वाला कोई सुन्दर ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया। कहीं उनकी कृतियों का अनुशीलनहीन स्तवन ही स्तवन भरा मिलता है, कहीं उन पर कटाक्ष ही कटाक्ष दिखलाई देते है, कहीं उनको रस की पिटी-पिटाई दृष्टि से देखा जाता है, कहीं रचनाओं में भावना एवं शैली में सुधार की अपेक्षा प्रकट की जाती है। जो पुस्तकें छात्रोपयोगी हैं, वे परिचयात्मक हैं, विवेचनात्मक नहीं। ऐसी पुस्तक अभी प्रकाश में नहीं आई, जो रहस्यवाद क तथाकथित अस्पष्टता से मुक्त होकर उनकी रचनाओं के मूल पार्थिव स्वरों को दृष्टि में रखकर साहसपूर्वक विषद विश्लेषण प्रस्तुत कर सके।

अधिकांश आधुनिक हिन्दी-कविता के शास्त्रीय रस-सिद्धांत पर आधारित न होकर स्वच्छन्दता पर आधारित हैं। अतः महादेवी की निराशा, पीड़ा और वेदना को करुण रस के भीतर देखना अप्रासंगिक है। पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने लिखा है—"आपकी पीड़ा तथा कसक को करुण रस के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। करुण रस में जिस दुःख का संवेदन कराया जाता है, उसका उद्गम किसी अभाव से होता है और प्रिय की प्राप्ति तथा अप्रिय के अवसान से उस दुःख का भी अंत हो जाता है। आपके दुःख को हम वैराग्य के अन्तर्गत ले सकते हैं[1]।" यहां कृष्णशंकर जी ने करुण रस की जो व्याख्या की है, वह विवादास्पद है। करुण रस का स्थायीभाव शोक है, उसमें दुःख के अन्त की कल्पना संभवतः शुक्ल जी की अपनी है। जहाँ तक महादेवी के दुखः को वैराग्य के अन्तर्गत लेने का प्रश्न है, वह समीचीन नहीं। न तो महादेवी के जीवन में वैराग्य का कहीं दर्शन होता है, न कृतियों में। प्रेम की निराशा और उस निराशा में एकाकीपन का गरिमा-गान ही यदि वैराग्य है, तो जितने निराशामूलक विरह-गीत हैं, वे सब वैराग्य के अन्तर्गत ही आ जायंगे। शांत रस की शास्त्रीय दृष्टि में महादेवी की स्वच्छंद काव्य-धारा को नहीं बांधा जा सकता। उनका दुःख प्रेम-मूलक है।

पं० परशुराम चतुर्वेदी ने एक स्थान पर महादेवी के विषय में लिखा है—"उनकी विचार-धारा एवं रचना-कौशल में अभी बहुत-कुछ परिवर्त्तन वा सुधार की आवश्य-

---

१. आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३७२।

कता है [1] ।" पर उन्होंने यह नहीं बतलाया कि वह सुधार कैसा हो अथवा महादेवी की विचारधारा और रचना-कौशल में क्या कमियाँ हैं । बात ऐसी है कि कुछ विद्वान मध्यकालीन आदर्शवाद एवं स्पष्टता के इतने अधिक प्रेमी हैं कि उन्हें आधुनिक सत्य एवं दुरूहता सर्वथा अप्रिय प्रतीत होती है । ऐसे विद्वान जब आधुनिक कविता पर दृष्टि डालते हैं तो अपनी विशेष मनोवृत्ति के कारण उन्हें उसमें दोष ही दोष नजर आते हैं । हमारी समझ में महादेवी की विचारधारा एकतान, एकरस तथा अनूठी है, सुधरी हुई है ।

महादेवी ने अपनी भूमिकाओं के वारंबार मीरा और बुद्ध की चर्चा की है । हमारी समझ में यह चर्चा व्यर्थ की वस्तु है । बुद्ध की विरक्ति एवं करुणा से महादेवी की प्रेम-विह्वल वेदना का कोई सम्बन्ध नहीं है । मीरा की भक्तिमूलक प्रेम-साधना महादेवी की पार्थिव प्रेम-साधना से भिन्न है । इसका यह अर्थ नहीं कि उनके स्वरों में उदात्तता नहीं है या वे कम महान कवयित्री हैं । भक्ति या रहस्यगान ही कविता नहीं है । कालिदास और शेक्सपियर जैसे विश्व-साहित्य के अनेक सीमान्त भक्त न थे, पर संसार का कोई भी भक्त कवि कला के क्षेत्र में उनसे आगे नहीं जा सका है ।

इस प्रसंग में श्री अज्ञेय ने लिखा है—"अपनी कविता की चर्चा करते समय महादेवी जी ने एकाधिक बार बुद्ध अथवा मीराबाई अथवा रहस्यवादियों का नाम लिया है । उनकी कविता में करुणा है किन्तु बुद्ध की सी व्यापक करुणा नहीं, आत्म-निवेदन है, किन्तु मीराबाई जैसी निरपेक्ष आत्म-विस्मृति नहीं, असीम की खोज और हलका स्पर्शानुभव है, चिंतन है किंतु रहस्यवादियों का अटपटा, अनगढ़ तेजस्वी, दार्शनिक असंतोष नहीं [2] ।" यहां 'व्यापक करुणा' एवं 'निरपेक्ष आत्म-विस्मृति' से अज्ञेय जी का क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट नहीं हुआ । सच पूछा जाए तो बुद्ध की करुणा और महादेवी की करुणा नितांत भिन्न वस्तुएँ हैं, बुद्ध की करुणा निवृत्तिमूलक है, महादेवी की प्रवृत्तिमूलक, बुद्ध की करुणा समष्टिमूलक है, महादेवी की व्यष्टिमूलक; बुद्ध की करुणा साधनात्मक है, महादेवी की वेदनात्मक । बाबू गुलाबराय ने ठीक लिखा है—"बुद्ध दुःख को अत्यन्त हेय वस्तु मानते हैं और उसके परित्याग के लिए अष्टांगिक मार्ग का उपदेश देते हैं, जबकि महादेवी वर्मा को दुख में उपादेयता मिलती है और वे उसका परित्याग करना नहीं चाहतीं [3] ।"

---

१. मीराबाई की पदावली, भूमिका, पृष्ठ ८४ ।
२. त्रिशंकु, 'आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा 'शीर्षक लेख, पृष्ठ १११ ।
३. गुलाबराय तथा शंभूनाथ पांडेय लिखित 'रहस्यवाद और हिन्दी-कविता' में महादेवी पर प्रकट किए गए विचार, पृष्ठ २१० ।

आगे चलकर बाबू जी ने इस विषय को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है— महादेवी का दु:खवाद संसार की क्षणिकता पर आधारित न होकर प्रणयजन्य वेदना पर आधारित है। उन्होंने अपने दु:खवाद का संबंध व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियों से स्वीकार नहीं किया। 'रश्मि' की भूमिका में कवयित्री ने लिखा है कि 'संसार साधारणत: जिसे दु:ख और अभाव के नाम से जानता है, वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दु:ख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगती है।" कवि के शब्दों को यदि अक्षरश: सत्य भी मान लिया जाय, तब भी 'वेदना का प्रिय लगना' जीवन की सम्पन्नता की प्रतिक्रिया प्रतीत नहीं होती। उसका सम्बन्ध प्रणयजन्य व्यथा से ही माना जायगा। प्रणय की अनुभूति कवियित्री को यौवन के उषा-काल में ही पूर्ण मादकता के साथ हुई थी—

कन कन में जब छाई थी
वह नवयौवन की लाली
मैं निर्धन तब आई ले
सपनों में भर कर डाली।
इन ललचाई पलकों पर
पहरा था जब व्रीड़ा का
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का।

'उस चितवन' के द्वारा दिया गया 'पीड़ा का राज्य' महादेवी की जीवन-निधि बन जाता है। प्राणों का दीप जलाकर कवयित्री उसमें दीवाली मनाती रहती है। किन्तु उसके परित्याग की बात नहीं सोचती। पीड़ा कवि को इसलिए प्रिय है कि वह स्वार्जित या प्रारब्ध न होकर आराध्य द्वारा कृपापूर्वक दी गई है। पीड़ा उनको इसलिए भी प्रिय है कि उनकी आत्मा को प्रियतम का स्पर्श पीड़ा के द्वारा ही हुआ, उसे उन्होंने पीड़ा में ही पाया।' हमारी समझ में महादेवी की कविता में आराध्य और आराधक के दर्शन न करके यदि प्रिय और प्रेमी—हृदय के दर्शन किए जाए[१], तो वह अधिक स्पष्ट, रमणीय, स्वाभाविक और महान लगेगी। मेघदूत, गीत-गोविन्द, सूर-सागर और विद्यापति की पदावली में अध्यात्मवाद की खोज का बुद्धि-विलास अब बहुत-कुछ समाप्त हो चुका है। अत: पार्थिवता मूलक

१—रहस्यवाद और हिन्दी-कविता, पृष्ठ २११-१२

छायावादी रहस्य-गान को भी यदि अब अध्यात्मवाद से मुक्त करके देखा जाए, तो अनुचित न होगा। महादेवी की जो प्रत्यालोचना हुई है, वह रहस्यवाद के कारण ही। यदि उनकी प्रणय-वेदना पार्थिव प्रणय-वेदना के रूप में देखी जाए, तो उसकी समता संसार की कवयित्रियों में शायद ही कहीं मिलेगी। महादेवी की कविता का सम्यक् मूल्यांकन रहस्यवादी दृष्टिकोण से नहीं हो सकता, क्योंकि मूलतः वह पार्थिव है। प्रसाद की अमर कृति 'आँसू' को यदि हम रहस्यवादी कृति के रूप में पढ़ेंगे, तो निस्संदेह वह हमारी अधिकाधिक प्रत्यालोचना का विषय बन जाएगी। किन्तु जब हम उसे उसके मूल पार्थिव रूप में पढ़ते हैं, तो उसका चारुत्व अद्वितीय प्रतीत होता है। यही बात महादेवी के काव्य पर भी लागू होती है। नीहार से लेकर दीपशिखा तक महादेवी के गीतों में जो पीड़ा, तड़प, संतुलन, कामना तथा विकलता दृष्टिगोचर होती है, वह रहस्यमूलक नहीं है, क्योंकि उसमें मिलन की कहानी स्पष्ट रूप में अंकित है, क्योंकि उसमें 'चिर-संचित विराग' को प्रिय के आगमन पर लुटा देने की साध स्पष्ट रूप में विद्यमान है, क्योंकि उसमें परिचय का उल्लेख स्पष्ट रूप में व्यक्त किया गया है। उसे उसके यथार्थरूप में ही देखना उचित होगा, तभी हम कवयित्री और उसकी रचनाओं के साथ सम्यक् रूप से न्याय कर सकेंगे। इस संबंध में एक व्यवधान है। प्रसाद की तरह यदि महादेवी अपने विरह पर मौन रहतीं, तो 'आँसू' की तरह उनके काव्य का यथार्थ अनुशीलन अपेक्षाकृत सरल कार्य हो जाता। किंतु महादेवी ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने 'अपार्थिव' की चर्चा की है। पर इससे भी विवेचन में बाधा न आनी चाहिए। रीतिकालीन कवियों के अनेक आत्मविषयक कथनों को आज समीचीन नहीं माना जा रहा। इसी प्रकार हम महादेवी के काव्य-सत्य को उनके कथनों से पृथक् दृष्टि के द्वारा भी उद्घाटित कर सकते हैं। ऐसा करते ही महादेवी काव्यगत सरलता, उदात्तता, अनुभूति की तीव्रता इत्यादि सभी दृष्टियों से एक अत्यंत महान कवयित्री प्रतीत होने लगेंगी। उन पर जो प्रत्यालोचना है, वह अध्यात्मवाद-रहस्यवाद के कारण है। आचार्य शुक्ल ने कदाचित उक्त वादों को ध्यान में न रखकर ही ये शब्द लिखे हैं "गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी जी को मिली, वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रांजल प्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भावभंगी। जगह-जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।' [१]

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६६५।

पंचम अध्याय

उपसंहार

मानव-जावन मूलतः प्रवृत्तिमूलक है, और प्रवृत्तियों में प्रेम का स्थान प्रमुख एवं श्रेष्ठतम है। अन्य प्रवृत्तियाँ प्रेमप्रसूत होती हैं। विरक्ति, क्रोध, लोभ इत्यादि का प्रत्यक्ष या परोक्ष मूल प्रेम में ही रहता है।

प्रेम-भावना का विस्तार अनंत है। जीवन में लैंगिक कार्य-कलापों की प्रधानता के कारण दांपत्य-प्रेम या प्रिय-प्रेम में उसका रूप प्रगाढ़तम भले ही रहता हो, पर वह इसी में आबद्ध नहीं है। बड़ों तथा छोटों के प्रति, भगवान के प्रति, देश के प्रति, मानव के प्रति, धर्म के प्रति, निर्धनों के प्रति, सेवकों के प्रति, महापुरुषों के प्रति इत्यादि उसके अनेक रूप हैं। वात्सल्य, श्रद्धा, भक्ति, देशप्रेम, मानव-प्रेम, धर्मप्रवणता, दीनबंधुता, दया तथा संमान इत्यादि का मूल प्रेम ही है।

काव्य में दांपत्य या प्रिय-प्रिया-प्रेम को प्रधानता मिलनी स्वाभाविक है, क्योंकि प्रेम का सबसे व्यापक एवं स्थूल रूप सेक्स से ही संबंधित है। पर अधिकांश कवियों की तीव्र वासनापूर्ण बुद्धि प्रेम के इस रूप पर आवश्यकता से अधिक रिझी है, इसे स्वीकार करना ही पड़ता है। काव्य में दांपत्य-प्रेम की ऐसी बाढ़ रही है कि अन्य प्रेम-भावनाएं गौण स्थान पाती गईं। शृंगार रस, रति तथा संयोग-वियोग की जो परिभाषाएं व्याख्याएं हुई हैं, उनमें अधिकांश प्रेम को दांपत्य रति का पर्यायवाची शब्द ही बतलाती है। इसे समीचीन नहीं कहा जा सकता। प्रेम शृंगार का पर्यायवाची नहीं है। शृंगार प्रेम का एक अंग मात्र है। यदि शृंगार रस के स्थान में प्रेमरस या प्रेमहारस का प्रयोग होता है तथा शास्त्रीय विवेचन कुछ अधिक विशद आधार पर होता, तो अधिक अच्छा रहता। उस स्थिति में वात्सल्य इत्यादि प्रवृत्तियों के 'रस या भाव' का प्रश्न न उठ पाता। भारतीय काव्य में दांपत्येतर प्रेमों को बहुत ही गौण स्थान मिला है, इसका कारण हमारे शास्त्रीय विवेचन का संकुचित क्षेत्र ही है। गुरुजन, छोटों, सेवकों, पशु-पक्षियों, देश इत्यादि के प्रेम पर हमारे काव्य में उतना उत्साह नहीं दिखलाया

गया, जितना दिखलाया जाना चाहिए था। हर्ष का विषय है कि अब हम शृंगार को प्रेम का पर्याय न मानकर प्रेम के व्यापक क्षेत्र में अधिक से अधिक प्रवेश पाने का प्रयास करने लगे हैं।

विरह प्रेम की आत्मा है। संयोग की सुखमूलकता मानव को प्रेम की गहराई में नहीं उतरने देती। वियोग की दुःखमूलकता ही उसे प्रेम-सागर की उस गहराई में उतारती है जहाँ शत-शत भावनाओं के मोती भरे पड़े हैं और जिन मोतियों ने सागर के कष्टों या मगर-मत्स्यादि को नगण्य कर दिया है। स्वभावतः प्रेम के साथ प्रायः विरह के दर्शन भी होते रहते हैं।

विरह के सर्वप्रथम वर्णन विश्व-साहित्य के आदि ग्रंथ ऋग्वेद में हुए हैं। यज्ञ करने वाले ऋषि परमात्मा के संयोग थे। विकल होकर जो उद्गार ऋग्वेद में प्रकट करते हैं, वे संसार के रहस्यवादी काव्य के मूलोद्गार हैं, जिनकी भावुकता, सात्विक-विकलता तथा समर्पण-भावना प्रेम की तलस्पर्शी विभूति से पूर्णतः संपन्न हैं।[1] ऋग्वेद के दशम मंडलांतर्गत पुरूरवा-ऊर्वशी-संवाद में आसन्न वियोग-वेदना का सुन्दर वर्णन हुआ है। वियोग-वर्णन के प्रमुखतः तीन तत्त्व होते हैं :

(१) विरही की तीव्र व्यथा तथा वेदना का वर्णन।
(२) प्रिय के गुणों का वर्णन।
(३) मिलन के प्रति विश्वास का वर्णन।

ये तत्त्व मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक हैं। प्रिय के अभाव में प्रेमी-हृदय व्यथित-विगलित होता है, उसे प्रिय के गुणों का ध्यान बारंबार आता है। अवगुणों पर कम, गुणों पर अधिक ध्यान देता है। विरही यदि निराश हो जाए तो उसके प्रेम की दुर्बलता या अपरिपक्वता प्रकट होती है। सच्चा प्रेमी विरह में प्रिय के मिलन की कामना नहीं त्यागता। यह कामना ही तो उसका जीवन होती है। ऋग्वेद में पुरूरवा के विरहोद्गारों में उक्त तीनों तत्व अत्यंत पुष्ट रूप में विद्यमान हैं। हमारी समझ में ऋग्वेद के विरहोद्गारों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भारतीय विरह-काव्य को बड़ी गहराई से प्रभावित किया है क्योंकि अपनी वेदना, प्रिय के गुण तथा मिलन का विश्वास हमारे विरह-काव्य के प्रमुख तत्व बन गऐ हैं और इनका प्रथम समन्वित दर्शन ऋग्वेद में ही होता है।

१—इस संबंध में डा० मुंशीराम शर्मा का पांडित्यपूर्ण प्रबंध 'भक्ति का विकास' द्रष्टव्य है; जिसमें विद्वान लेखक ने वैदिक भक्ति शीर्षक प्रकरण में ऐसे उद्गार छांट-छांट कर रखे हैं तथा उनका सुन्दर विवेचन किया है।

संस्कृत-काव्य में बाल्मीकि, भास, कालिदास तथा भवभूति जैसे भारतीय साहित्य के सीमांतों ने बड़े ही हृदयग्राही विरह-वर्णन किए हैं। भास और भवभूति दांपत्य-विरह के ही कवि हैं, पर बाल्मीकि और कालिदास ने प्रेम के विशद रूप को भली भाँति परख कर अपनी-विरह-भावना बहुत व्यापक बना दी है। भारतीय काव्य का विरह-वर्णन उक्त दोनों महानतम कवियों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। बाल्मीकि और कालिदास का प्रेम और विरह जड़ जगत तक प्रसारित है। वह किसी परंपरा या सीमा में आबद्ध नहीं है। वह पति, पत्नी, प्रिय, प्रिया, पिता, माता, पुत्र, भ्राता, सेवक, स्वामी, पशु, पक्षी इत्यादि तक फैला हुआ है। कालांतर में संस्कृत में बाल्मीकि और कालिदास के स्तर के कवि नहीं हुए। फलतः विरह-वर्णन भी दांपत्य-क्षेत्र में बंधता गया और अनुभूति के स्थान पर कला को अधिकाधिक महत्त्व देता गया।

हिंदी-काव्य-रचना का आरंभ कुछ ऐसी विषम परिस्थितियों में हुआ कि मानवीय अनुभूतियों का स्थान प्रयत्नजात अभिव्यक्तियों के प्राबल्य में तिरोहित प्राय बना रहा। पुण्ड से लेकर दलपति विजय के पूर्व तक का सृजन काव्य की सीमा में बलात् भले ही रखा जाए वस्तुतः वह सामान्य पथ या सैद्धांतिक तुकबन्दी मात्र है। सम्राट हर्ष का निधन भी होगया, छोटे-छोटे राज्यों में राष्ट्र विभक्त हो गया, और पारस्परिक कलह की वीभत्सता विनाशकारी रूप लेकर प्रकट हुई। ऐसी दयनीय और भयंकर परिस्थिति में मुसलमानों के हमले होने लगे। स्वाभावतः सहज मानवीय भावनाएँ परिस्थिति की कृत्रिमता से बहुत-कुछ दब गईं। दार्शनिक क्षेत्र में भी राष्ट्रीय पतन का प्रभाव पड़ा तथा बज्रयान-सहजयान के नाम पर अति-माँसल एवं अनावृत सिद्धाँतों का प्रतिपादन होने लगा। कुछ लोग इन सिद्धांतों को भी कविता कहते हैं। सिद्धों के अतिरिक्त जो चारण 'रासो-' काव्यों में अपने आश्रयदाताओं का गान कर रहे थे, वह भावमूलक अधिक था। अर्थ के आधार पर जब काव्य-रचना होती है तब उसमें जन जीवन, सत्य तथा स्रष्टा का मानस-संगीत सभी कुछ उपेक्षित हो जाता है, प्रधान केवल अर्थदाता रह जाता है। चारणों के सृजन में स्तुतियों की भरमार है, यत्र-तत्र बीररस का उत्तम परिपाक है, पर उसमें युगमानव का उद्गार और युगसत्य नहीं है। परिणामतः ऐतिहासिक तुला पर उनका सृजन व्यर्थप्राय ठहरता है, जनजीवन की गंगा से वह दूर का दूर रह जाता है। आज प्रक्षिप्त अंशों की बाढ़ में उसका असली रूप ही तिरोहित हो गया है। यद्यपि चारणों के सृजन में भी यत्र-तत्र प्रेम, मिलन एवं विरह के वर्णन हुए हैं। पर वे स्वतंत्र न होकर आश्रयदाता के गरिमा-गान के अंग-मात्र हैं। उनमें हार्दिकता एवं नवीनता की विभूति स्वभावतः नही है।

महाकवि विद्यापति हमारे काव्य के विरह-वैतालिकों में महत्व की दृष्टि से प्रथम स्थान रखते हैं । विद्यापति को हिंदी साहित्य के इतिहास में यह गौरव प्राप्त है कि उनके वर्ण्य-विषय बने तथा अब तक किसी न किसी रूप में उन पर सृजन होता रहता है । राधा-कृष्ण तथा गोपी-कृष्ण सम्बन्धी काव्य का सृजन, जो परवर्ती पुराणों तथा संस्कृत काव्यों की कल्पना पर आधारित है, हिंदी में विद्यापति से ही प्रारंभ हुआ । स्पष्टतः समूचे कृष्ण-काव्य पर विद्यापति का गहरा प्रभाव पड़ा । उनके विरह-वर्णन भी बड़े प्रभावशाली हुए हैं ।

महाकवि विद्यापति वियोग के नहीं, संयोग के कवि थे । वे दुःख के नहीं, सुख के कवि थे । स्वभावतः उनके विरह-वर्णन कला तथा कल्पना पर आधारित हैं, अनुभूति पर नहीं । उनकी अधिकांश उपमाएँ उत्प्रेक्षाएँ तथा अत्युक्तियाँ संस्कृत के कार्यों से अनुप्राणित हैं, उनकी आत्मा से नहीं । फिर भी प्रथम श्रेणी का महा-कवित्व उनके विरहोद्गारों को मर्मस्पर्शी बना देता है, जिसकी कोमल शब्द-योजना अद्वितीय है ।

भक्तिकाल हिंदी-साहित्य का स्वर्ण युग है । तुलसी, सूर, कबीर, जायसी, केशव और मीरा, इतने महान स्रष्टा एक ही युग में संसार के किसी साहित्य में शायद कभी नहीं हुए । इस सम्पन्न तथा महान युग में हिन्दी-काव्य के सभी अंग—क्या मुक्तक, क्या प्रबंध—परिपुष्ट हो गए । विरह के सभी अंग भी इस युग के सृजन में पुष्ट एवं प्रसन्न बने । कबीर, दादू इत्यादि का रहस्यात्मक विरह-निवेदन वेदों की आत्मा तथा सूफी धर्म का शरीर लेकर प्रकट हुआ, मीरा का कृष्ण-वियोग आंडाल और राबिया का नारी-वैकल्य लेकर प्रकट हुआ; केशव का कलात्मक वियोग संस्कृत के परवर्ती कलाकार-कवियों का चमत्कार लेकर प्रकट हुआ, जायसी के सूफी-हृदय ने 'रक्त की लेई' से नागमती प्रभृति के उद्गारों को जोड़ कर विरह वेदना की सीमा का स्पर्श किया तो तुलसी और सूर की विराट कवि-दृष्टि ने प्रेम के विशद रूप का साक्षात्कार करते हुए विरह के अनेकानेक अवयवों का सफल चित्रण प्रस्तुत किया । अनुभूति-प्रवणता ही किसी भी काव्य में स्वर्ण युग की सृष्टि करती है । भक्तिकाल काव्य में अनुभूति प्रवणता का काल था, जिसमें आत्म-संगीत प्रधान पद पर प्रतिष्ठित रहा, कला उसके पीछे चली । फलतः इस युग के विरह वर्णन बहुत ही ललित एवं सहजात अनुभूतियों से पुष्ट हुए ।

भक्तिकाल में हिन्दी-कविता ने अनुभूति-प्रवणता की सीमाओं का स्पर्श कर लिया । फलतः परवर्ती कवि कला की ओर अधिक सचेष्ट हुए । सभी साहित्यों के इतिहास इस तथ्य के साक्षी हैं कि अनुभूति प्रवणता के युग के पश्चात् कला-प्रवणता

का युग ही आता है। रीतिकाल हिंदी का कलाकाल है, अलंकृत काल है। इस युग के कवियों का ध्यान काव्य-परिधान की सज्जा पर अधिक रहा, उसके आत्म-विकास पर कम। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल विलासिता एवं निष्क्रियता का काल रहा है, जिसमें कविता भी बहुत सुकुमार एवं आलस्ययुक्त हो चली थी। वह अधिकतर राजाओं और राजकुमारों के निकट ही रही, जन-साधारण की कठोरता-कर्कशता से उसे अरुचि हो गई। कविगण 'यथा राजा तथा प्रजा' का राग ही नहीं अलापते रहे, स्वयं उसके प्रतीक भी बन गए। विलासिता और प्रेम में कोई संबंध नहीं है। रीति काल के अधिकांश कवि विलासिता के वातावरण में पगे थे। अतः प्रेम की गहराई उनकी पहुंच से दूर की वस्तु बन गई। संयोग का उन्हें स्थूल अनुभव था, अतः वे नग्न या नग्नप्राय संयोग-चित्र सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर सके। वियोग का उन्हें अनुभव न था क्योंकि वियोग-वेदना का अनुभव एकांत सुखवादी नहीं कर सकता। फलतः अध्ययन एवं कल्पना पर आधारित उनके विरह-चित्र अधिकतर रंगहीन ही रह गए। जिनको प्रेम के सच्चे रूप का बहुत-कुछ परिचय प्राप्त हुआ, जिन्हें विरह वेदना का सच्चा अनुभव हुआ, उनके वर्णन उत्कृष्ट भी हैं। देव और घनानंद के प्रेम एवं विरह से संबंधित वर्णन इसके प्रमाण हैं।

रीतिकाल में विरह-वर्णन प्रिय-प्रिया तक ही सीमित रहा। प्रेम के अन्य अवयवों की ओर इस काल के कवियों का ध्यान नहीं गया। इस युग के अधिकांश विरह-वर्णन 'वाह वाह' में अवसित होने वाले हैं। किन्तु घनानंद का विरही व्यक्तित्व इस युग के विरह-काव्य का वह सूर्य है जिसका प्रकाश चिरकाल तक बना रहेगा। शुद्ध वैयक्तिक प्रणयानुभूति के सफल गायक घनानंद हिन्दी कविता में स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। उनके प्रत्येक शब्द में उनकी विकल आत्मा के दर्शन होते हैं। परवर्ती विरह-वैतालिकों पर उनका प्रभाव पड़ा है, इसमें संदेह नहीं। प्रसाद के विरह गानों पर घनानंद का प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है।

रीतिकाल की संध्या में ही उस काल की विलासिता तथा नारी में ही सीमित संकुचित प्रवृति का विरोध होने लगा था। बोधा और ठाकुर से लेकर प्रतापनारायण मिश्र तक में इसके दर्शन होते हैं। फलतः आधुनिक काल का प्रपात कुछ विस्तृत काव्य भूमि पर हुआ। इसका कारण पाश्चात्य वाङ्मय का संपर्क एवं राष्ट्रीय जागरण का प्रारंभ था। हिन्दी-कविता में राष्ट्रीयता की प्रभाती छेड़ने वाले भारतेन्दु मुख्यतः प्रेम के कवि थे। उन्होंने प्रभूत परिमाण में विरह-वर्णन किए हैं, जिनमें चंद्रावली नाटिका की तो विषय-वस्तु ही वियोग है। यद्यपि भारतेन्दु के वियोग-गान मर्मस्पर्शी तथा कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं, तथापि मौलिकता तथा नवीनता की

दृष्टि से उनका अधिक महत्व नहीं माना जा सकता। ब्रजभाषा में काव्य-रचना अब भी हो रही है। यह एक शुभ लक्षण है। किन्तु समूचे आधुनिक काल के भीतर समर्थ एवं मौलिक स्रष्टा के रूप में ब्रजभाषा-कविता केवल रत्नाकर से ही अपना भण्डार सम्पन्न कर सकी है। भारतेन्दु, हरिऔध, दुलारेलाल भार्गव इत्यादि कवियों के ब्रजभाषा-काव्य में कलागत उत्कृष्टता के होते हुए भी अधिक नवीनता नहीं है, जो नवीनता है भी, वह बहुत गम्भीर नहीं है। विरह-वर्णनों पर यह बात और भी अधिक लागू होती है। रत्नाकर की बात और है। यद्यपि रत्नाकर शुद्ध परंपरावादी कवि हैं, जिन्हें नई चहल-पहल आकृष्ट नहीं कर सकी तथापि उनकी प्रतिभा प्राचीन पात्र में नया रस ढालने में सर्वत्र सफल हुई है। विरह वर्णन की दृष्टि से रत्नाकर ब्रजभाषी कवियों में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। सूर और घनानन्द के बाद तथा देव और मतिराम के साथ-साथ ब्रजभाषा के विरह-गायकों में उनका महत्वपूर्ण स्थान माना जा सकता है, हालांकि उनकी जैसी अकृत्रिम तन्मयता देव एवं मतिराम में भी दुर्लभ है। उद्धव-शतक में विरह से संबंधित छंद, भाषा, भाव तथा विचार सभी दृष्टियों से बहुत उच्चकोटि के बन पड़े हैं। प्रेम-वेदना के आंतरिक रहस्यों को उद्‌घाटित करते समय विरही के बाह्य आकार-प्रकार तथा क्रिया-कलाप का जैसा सटीक वर्णन रचनाकार ने किया है, वैसा हिन्दी के बहुत कम कवि कर सके हैं।

भारतेन्दु-युग आधुनिक काल के शिलान्यास का युग था। इस युग में आधुनिक काल की नींव मात्र पड़ सकी थी, जिसका सम्यक् निर्माण द्विवेदी-युग में हुआ। द्विवेदी-युग में हिन्दी कविता रीतिकालीन संस्कारों से पूर्णतः मुक्त होकर अपने नवीन कलेवर में प्रस्तुत हो सकी। राष्ट्रीय दृष्टि से त्याग तथा बलिदान का युग होने के कारण द्विवेदी-युग के विरह-वर्णन उच्चादर्शों से ओत-प्रोत हैं। कहीं-कहीं आशातिरेक में यथार्थ एवं स्वाभाविकता को धक्का भी लगा है। इतना होने पर भी द्विवेदी-युग के नारी-चित्रों को नैतिकता के आतंक से ग्रस्त, अक्खड़ और नीरस अथवा जीवन तथा काव्य-रस से वंचित नहीं कहा जा सकता। यशोदा, राधा, कैकेयी और उर्मिला द्विवेदी-युग के प्रमुख नारी चित्र हैं और इन्हें नैतिकता के आतंक से ग्रस्त, अक्खड़, नीरस या जीवन और काव्य रस से वंचित कहना उचित नहीं है। राधा के चरित्र में स्वयं सेविका का चित्र प्रस्तुत करने का आरोप हरिऔध पर लगाया जा सकता है, पर उसे अक्खड़, नीरस या काव्य-रस से वंचित नहीं कहा जा सकता।

छायावादी युग द्विवेदी-युगीन कविता का सरस विकास था, जिसकी कोमल कांत पदावली, मनोरम प्रतीकात्मकता, प्रभावशाली दर्शनाभास एवं तलस्पर्शी प्रकृति-प्रेम द्विवेदी युग में अंकुरित मात्र हुआ था। छायावादी कविता आधुनिक काल की कविता के चरम उत्कर्ष की द्योतक है। छायावाद रोमानी आंदोलन था। किन्तु राष्ट्रीय

परिस्थितियाँ हमारे काव्य में स्वच्छन्दता का समावेश एक सीमा तक ही आने देना चाहती थीं। फलतः छायावादी प्रेम मूलतः पार्थिव रहते हुए भी बाह्यतः अपार्थिव रूप लेकर प्रकट हुआ। प्रसाद और महादेवी छायावादी विरह गायकों में प्रमुख हैं। दोनों ने पार्थिवता को अपार्थिवता से संपृक्त सा करने का प्रयास किया है। अनेक अन्य कवियों ने भी ऐसा किया है। युग-प्रवृत्ति ऐसी ही थी।

यह अब स्पष्ट हो चुका है कि छायावादी कविता कुंठाओं से बहुत अधिक प्रभावित है। हम उन विद्वानों से सहमत नहीं हैं जो समग्र छायावादी सृजन में कुंठा ही कुंठा के दर्शन करते हैं। पर इतना स्वीकार करना ही पड़ता है कि छायावाद के प्रमुख सृष्टाओं का जीवन कुंठाओं से परिपूर्ण था। प्रसाद, निराला, पंत, और महादेवी छायावाद की चार दिशाएं हैं। चारों के जीवन कुंठाओं से युक्त रहे हैं, जिसकी झलक उनके सृजन में स्पष्ट मिलती हैं। स्पष्टतः छायावादी कविता में प्रेम अपने स्वस्थ एवं प्रसन्न रूप में प्रकट नहीं हो पाया, वह अस्पष्ट एवं वेदना-विगलित रह गया। स्वभावत; छायावादी विरह भी अपनी विकलता को स्पष्ट रूप में नहीं प्रकट करता, घुमा-फिरा कर प्रकट करता है। अतः उसमें वह ऋजुता एवं प्रसन्नता नहीं आपाई, जो भक्तिकाल के विरह काव्य में भरी पड़ी है। फिर भी अपनी कोमलता, प्रतीकात्मकता तथा कला छायावादी विरह-काव्य हिंदी में अद्वितीय है, इसमें संदेह नहीं।

छायावाद-युग के बाद हिन्दी को कोई उत्कृष्ट श्रेणी का श्रेष्ठ कवि नहीं प्राप्त हो सका। साहित्य में सृजन-साधना के स्थान पर राजनैतिक पाखंड की वृद्धि होरही है। विस्तृत भूमिकाओं और अमूल्य संमतियों की आड़ में प्रतिभा का अभाव या न्यूनता एवं साधना की शून्यता के छिपाने का नाटक हिन्दी में अब बड़े जोर-शोर से खेते जा रहे हैं। जो कुछ अच्छे कवि हैं, वे भी व्यापारी बनने के फेर में पड़कर आकाशवाणी, कवि सम्मेलनों, पत्र-पत्रिकाओं तथा गोष्ठियों के लिए एक के स्थान पर चार गीतों को फिट करने में जुटे पड़े हैं। कविता की दुर्दशा हो रही है। किंतु कूड़े के घूरे में प्रतिभा के मोती भी दबे पड़े हैं।

प्रगतिवाद के नाम पर काव्य में साम्यवाद का जो आंदोलन छिड़ा, वह प्रतिभा की नहीं, प्रचार की नींव पर खड़ा होने के कारण बहुत दूर तक असफल रहा। विरह की दृष्टि से प्रगतिवादी कविता बहुत मूल्यवान नहीं है। कृषक-हितकारी प्रगतिवादी ने किसी ग्रामीण विरहिणी का सफल चित्र प्रस्तुत नहीं किया या वह ऐसा कर ही नहीं पाया। श्रमिकों के प्रति शाब्दिक सहानुभूति तो बहुत प्रकट की गई पर किसी ऐसी नारी का एक भी चित्र नहीं प्रस्तुत किया ज़ा सका, जो

कल-कारखाने में काम करने वाले अपने पति के आगमन की विकलतापूर्वक बाट जोहती हो, अपने प्रिय के जीवन पर वेदना-विगलित कल्पनाएं करती हो। एक भी प्रगतिवादी कवि किसी ऐसी माता का चित्र प्रस्तुत न कर सका, जो अपने कोमल आयु के पुत्र के प्रवास से दुखित हो रही हो, उसके घर लौटने की प्रतीक्षा कर रही हो, उसे पत्र लिख-लिखा रही हो। राजनीति जब साहित्य पर छा जाती है तब साहित्य की कैसी दुर्दशा होती है, हिंदी की प्रगतिवादी कविता इसका एक ज्वलंत निदर्शन है। हिन्दी का प्रगतिवादी कवि नेताओं के भाषणों तथा चालू उपन्यासों इत्यादि के आधार पर निर्धनों, कृषकों तथा श्रमिकों पर जो आंसू बहाता है, वे अनुभूतिमूलक न होने के कारण प्रायः व्यर्थ रह जाते हैं। फिर उनमें कोई नवीनता भी नहीं रहती। निर्धनों तथा शोषितों की दरिद्रता-दयनीयता का वर्णन कर देना ही प्रगतिवादी साहित्य-सृजन नहीं है। उनके मनोभावों, अंतर्द्वन्द्वों तथा आंतरिक उज्ज्वलता का चित्रण सृजनात्मक मूल्य की दृष्टि से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, जिसकी ओर हमारे प्रगतिवादी कलाकार का ध्यान नहीं गया। इसका कारण है। शोषितों-उपेक्षितों के मनोभावों, अंतर्द्वन्द्वों तथा उनके जीवन के उज्ज्वल पक्षों का समुचित रूप से चित्रण करने के लिए उनके जीवन का ठोस अनुशीलन अनिवार्य है, जो बिना साधना के संभव नहीं है। भाषणबाजी करने वाले साधना नहीं कर पाते। अतः भाषणवादी प्रगतिवाद के काव्य का उथलापन सकारण ही है। हिन्दी का प्रगतिवाद अभी कोई श्रेष्ठ कवि नहीं पा सका। जब उसे कोई श्रेष्ठ कवि प्राप्त होगा तब उसमें सृजनात्मक गुरुता अवश्य आएगी।

प्रगतिवाद के कुछ बाद या उसी के साथ-साथ हिन्दी-कविता में प्रयोगवाद का आंदोलन छिड़ गया, जो कविता की विषय-वस्तु तथा उसके बाह्य कलेवर, सभी में नूतन प्रयोगों का संदेश लेकर मैदान में उतरा। अँग्रेजी के विश्व-विख्यात प्रयोग-प्रिय कवि इलियट का "निज पौरुष परमान त्यों मसक उड़ाहि अकास" के आधार पर अनुकरण करने वाला प्रयोगवादी काव्य अपने नवीनता के सिद्धान्त की दृष्टि से जितना ही स्पृहणीय है, किसी समर्थ स्रष्टा के अभाव में नवीनता के नाम पर उच्छृंखलता तथा सृजन के नाम पर खिलवाड़ के आधिक्य के कारण उतना ही हास्यास्पद भी है। पर प्रयोगवाद राजनैतिक आंदोलन से अनुप्राणित नहीं है, वह शुद्ध साहित्यिक आंदोलन है, जिसका विषय-विस्तार अपने स्तुल्प रूप में प्रकट हो चुका है, जिसकी नवीनता कुछ मजबूत हाथों में पड़कर अच्छी रचनाएँ भी कर चुकी है। प्रयोगवाद का भविश्य उज्जवल है।

विरह की दृष्टि से प्रयोगवाद ने हिन्दी को कुछ बहुत ही मनोरम कविताएँ प्रदान की हैं। अभी तक विरह-वर्णनों में बन्धी-बन्धाई परिपाटी के कारण रोना-

धोना ही अधिक रहता था, स्थान, वातावरण तथा व्यक्तित्व का ध्यान कम रखा जाता था, छोटी-छोटी स्मृति की लहरें कितनी मर्मबेधक होती हैं, यह ध्यान में कम ही रखा जाता था। प्रयोगवादी कवि प्रिय से सम्बद्ध छोटी-छोटी वस्तुओं से अपनी विरह वेदना का हृदयद्रावक उद्दीपन करता है। प्रयोगवादी कवि युग के साथ चलकर विदाई की तड़प को प्लेट फार्म जैसे स्थानों तक ले जाता है। ये लक्षण अत्यन्त शुभ हैं। प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद ने हिन्दी विरह काव्य को रूढ़ कल्पनाओं से मुक्त करके स्वांभाविक एवं नवीन कल्पनाओं से संपन्न बनाया है। यह इन वादों की एक बड़ी भारी देन है। अभी इन वादों को चिर-उज्जवल बनाने वाला कोई उत्कृष्ट कवि उत्पन्न नहीं हो पाया। पर जब कभी वह उत्पन्न होगा, उसका सृजन हिन्दी-कविता में क्रान्ति कर सकेगा, इसमें संदेह नहीं। छायावाद-युग में हिन्दी-कविता में जो परिवर्तन हुआ था, उसे क्रान्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि क्रान्ति का अर्थ है आमूल परिवर्तन। छायावाद की अनुभूति निरी नवीन नहीं थी, उसकी अभिव्यक्ति भी सर्वथा नूतन नहीं थी। प्राच्य-पाश्चात्य परम्पराओं एवं रूढ़ियों से छायावादी काव्य पूर्णतः अनुप्राणित था। यह रूढ़ि-प्रेम प्रगति-प्रयोगवादों को भी अपनी लपेट में लपेटता रहा है। अनुकरण से मुक्ति उन्हें भी नहीं मिली। आज के वैज्ञानिक युग में मानव का नवीनता-प्रेम रूढ़ियों से ऊबता है। किन्तु कविता क्रान्ति की दुहाई देने पर भी अभी सर्वथा नवीन रूप ग्रहण नहीं कर सकी। बाह्य क्लेवर की नवीनता आत्मा की नवीनता का स्थान नहीं ले सकती। प्रगतिवाद-प्रयोग-वाद की नवीनता ज्यादातर बाह्य क्लेवर की नवीनता ही रही है। वह जहाँ-कहीं आत्मा की नवीनता का रूप ग्रहण कर सकी है, उत्कृष्ट बन पड़ी है। पर आत्मा की नवीनता—पाश्चात्य हो या प्राच्य, अनुकरण की प्रवृत्ति से मुक्त नवीनता—का स्वस्थ सहज रूप उसमें नहीं आ पाया है। इसके लिए वह सचेष्ट अवश्य है। और यह एक शुभ लक्षण है, जो हमारी कविता के उज्जवल भविष्य का संकेत कर रहा है।

विद्यापति से बच्चन तक हिन्दी का विरह-काव्य उत्तरोत्तर सम्पन्न होता चला आया है तथा अपनी समग्रता में वह संसार के किसी भी साहित्य के विरह-काव्य की समता कर सकता है। वात्सल्य-विरह के क्षेत्र में हिन्दी-कविता संसार में अद्वितीय है। दांपत्य-विरह में संस्कृत की रूढ़ियों का प्रभाव पड़ते हुए भी वह जायसी-जैसे सफल विरह-वैतालिकों की अश्रु-विभूति से सम्पन्न है। ईश्वर-विरह के क्षेत्र में कबीर, दादू इत्यादि की सच्ची विकलता संसार-साहित्य की वस्तु है। प्रिय के विरह-गानों में मीरा, घनानन्द, हरिऔध, मैथिलीशरण, प्रसाद और महादेवी जैसे प्रकाशस्तंभ उसके अलौकिक-लौकिक वित्त को चिरस्थायी बना चुके हैं। तुलसी

और सूर की विराट विरह-दृष्टि हमारे विरह-काव्य की सीमाओं को अत्यन्त व्यापक कर चुकी है, जिसे तुलसी और सूर के आधुनिक काल के उत्तराधिकारी मैथिलीशरण और हरिऔध और भी अधिक विशद बना चुके हैं।

विरह की व्यापकता—प्रेम के विभिन्न पक्षों से संबंधित उसका क्षेत्रगत वैविध्य—और सफल वर्णन-शैली की दृष्टि से हिन्दी के विरह-काव्य में सूर का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। सूर की महान प्रेमदृष्टि प्रिय-प्रिया-प्रेम, मातृ-पितृ-प्रेम, मित्र-प्रेम, प्रकृति-प्रेम इत्यादि तक विस्तीर्ण हैं तथा इन सबके अभाव में विकल हो जाती हैं। प्रेम के दो सब से अधिक व्यापक एवं गंभीर पक्षों—श्रृंगार एवं वात्सल्य—में सूर का बहुत गहरा प्रवेश है। उनकी विश्व-साहित्य में प्रथम श्रेणी की साहित्यिक प्रतिभा ने श्रृंगार एवं वात्सल्य के विरह-वर्णनों में अप्रतिम सफलता पाई है। तुलसी की कवि-दृष्टि सूर की कवि-दृष्टि से व्यापकत्व की भूमि पर अधिक गंभीर है, घनत्व की भूमि पर कम गंभीर है। तुलसी के विरह-वर्णन वैविध्य-विस्तार की दृष्टि से सूर से कम व्यापक नहीं हैं। किन्तु प्रधान लक्ष्य भक्ति-निरूपण होने के कारण उनका पूरा हृदयोल्लास उसी में संनिहित रहता है। विरह के गानों में तुलसी ने अधिक ध्यान नहीं दिया। पर चूंकि वे हमारे सर्व श्रेष्ठ कवि हैं, विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों में हैं, उनकी निसर्गजात प्रतिभा इस क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण सफलता पाने में सक्षम हुई है।

अनुभूति की अकृत्रिम तीव्रता एवं निसर्गजात विकलता के साथ ही स्वानुभूति को सर्गानुभूति का विशतम रूप प्रदान कर सकने वाली अनूठी कल्पनाशक्ति से संपन्न महाकवि जायसी की विरह-दृष्टि हिन्दी की अन्यतम विरह-दृष्टि है। यद्यपि जायसी का विरह-क्षेत्र दांपत्य की सीमाओं में बाहर नहीं जा पाया, तथापि अपने सीमित क्षेत्र में उनकी सफलता हमारे साहित्य में अद्वितीय है। नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी या भारती ही नहीं, संसार साहित्य की एक अनूठी निधि है, जिसकी उज्जवल सजलता, अविकल विकलता तथा अप्रतिम शीतलता पर हम सदैव गर्व कर करते रहेंगे।

मीरा का कृष्ण-प्रेम वस्तु की दृष्टि से रूढ़ एवं कलागत सम्पन्नता से रहित-प्राय होते हुए भी अपनी सच्ची पवित्रता और भोलेपन के कारण भारतीय साहित्य की एक अनुपम संपत्ति बन चुका है। भारतीय साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री तथा संसार-साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय कवयित्री मीरा का स्थान हिन्दी-साहित्य में वैसा ही है, जैसा यूनानी साहित्य में सैफा का। मीरा ने अलौकिक को लौकिक बनाने का जो चमत्कार दिखाया है, वह हमारे साहित्य का एक अमर चमत्कार हैं

रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ विरह-गायक महाकवि घनानन्द का विरह-काव्य कला के कुछ अधिक आग्रह के होते हुए भी, अपनी मूल-गत सत्यता एवं गंभीरता के कारण हमारे साहित्य की एक अमूल्य निधि बन चुका है। कला का आग्रह रीतिकाल में अधिकतर दुराग्रह का रूप ग्रहण कर लेता है। पर घनानन्द के भुक्तभोगी मानस ने केवल आग्रह ही स्वीकार किया है, दुराग्रह नहीं। यह एक बड़ी बात है, जो घनानन्द को उनके काल से ऊपर उठा देती है।

आधुनिक काल हिन्दी-साहित्य का सर्वोदय काल रहा है। विरह-काव्य की दृष्टि से भी हमारा काल एक संपन्न काल है। हरिऔध और मैथिलीशरण की व्यापक प्रेम-दृष्टि तथा प्रसाद और महादेवी की तलस्पर्शी व्यष्टिगत वेदना खड़ी बोली विरह-काव्य को अत्यन्त प्रौढ़ रूप प्रदान कर चुकी है। बच्चन का भुक्तभोगी मानस करुण-रसांतर्गत विरह वेदना पर शत-शत गान कर चुका है तथा अपनी पवित्रता और सरलता से साहित्य में एक निश्चित स्थान बना चुका है। 'खड़ी बोली का विरह-काव्य' अपने व्यक्तिगत रूप में व्रजभाषा या अवधी अथवा भारत के किसी भी साहित्य के विरह-काव्य के समक्ष दृढ़तापूर्वक खड़ा हो सकता है, यह सत्य है।

किंतु अभी हमारे अनेकानेक कवियों को उस व्यापक विरह-दृष्टि से घनिष्ट संपर्क स्थापित करना है, जो प्रेम भावना के विशद मूर्त रूप को पाकर पशुओं, पक्षियों, वृक्षों, लताओं, वृद्धों, निर्धनों, सेवकों, गुरुजन, प्रयुक्त वस्तुओं, आवास-स्थानों, जन्म-भूमि, महापुरुषों इत्यादि से गंभीर आत्म-संबन्ध स्थापित करके रोने का वरदान पा लेती है। उसी व्यापक विरह-दृष्टि का पुलकित स्पर्श पाकर कालिदास का अंतस मेघ, वृक्ष, लता, मृग-शावक इत्यादि को भाव-विगलित रूप में देख सकने में समर्थ हो सका था; उसी व्यापक विरह-दृष्टि का सजल स्पर्श पाकर जायसी का 'बिहंगम बोल पड़ा था। वह समय सचमुच अत्यन्त पवित्र होगा, जब हमारे कवि अपने प्यारे बैल की याद में रोते किसान का चित्र प्रस्तुत करेंगे, अपनी स्वर्गता माता की स्मृति में संतान को रुलाएंगे, अपने शिष्य की याद में गुरु को विकल करेंगे, गुरु की याद में शिष्य को रुला देंगे, प्रिय सेवक की स्मृति में स्वामी को विगलित करेंगे, अच्छे स्वामी की स्मृति में सेवक को रुला देंगे, अतीत में पाले पंछी की स्मृति में पालक को विकल कर देंगे, पशु-पक्षियों को प्रेम करने वाले स्वामी के द्वारा किसी दूसरे के हाथ बेच देने पर रोता हुआ दिखला सकेंगे। प्रेम एक अत्यन्त विस्तीर्ण एवं गम्भीर मनोभाव है। अब समय आ गया है, जब हमारे कवि उसके व्यापक रूप का अनुशीलन करें तथा पिटे-पिटाए प्रिय-प्रिया-प्रेम की शृङ्खलाओं में अपने को आवश्यकता से अधिक न बंधाएँ अन्यथा विज्ञान की व्यस्तता में कविता की

उपयोगिता संदिग्ध होती चली जायगी तथा एक दिन ऐसा आएगा जब कविता केवल मनोरंजन की वस्तु बन जाएगी और मनोरंजन से ऊपर उठने के लिए लोग केवल पुराने कवियों में ही बँध जाएंगे। यह कार्य 'क्रान्ति-क्रान्ति' चिल्लाने से नहीं प्रकृति तथा मानव का गंभीर अध्ययन करने से ही होगा।

ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
अजातशत्रु	जयशंकर प्रसाद
अतिमा	सुमित्रानन्दन पन्त
अभिज्ञान-शाकुन्तल	कालिदास
आधुनिक कवि: भाग दो	सुमित्रानन्दन पन्त
आधुनिक-काव्य-संग्रह	(सं०) रामकुमार वर्मा
आधुनिक साहित्य	नंददुलारे बाजपेयी
आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियां	नगेन्द्र
आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास	कृष्णशंकर शुक्ल
आलोचना के पथ पर	कन्हैयालाल सहल
आंसू	जयशंकरप्रसाद
उत्तररामचरितम्	भवभूति
उद्धव-शतक	जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
ऊर्मिला	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
एक रात	सुरेन्द्रपालसिंह
ऋग्वेद (दशम मंडल)	
कबीर-ग्रन्थावली	(सं०) श्यामसुन्दरदास
करुणा-कादंबिनी	गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'
कविताएँ	कीर्ति चौधरी
कविता-कौमुदी (च० भा०)	(सं०) रामनरेश त्रिपाठी
कवि प्रसाद आँसू तथा अन्य कृतियाँ	विनयमोहन शर्मा
कवि-भारती	(सं०) सुमित्रानंदन पंत, बालकृष्णराव, नगेन्द्र

ग्रन्थ	ग्रन्थकार
कानन-कुसुम	जयशंकर 'प्रसाद'
कामायनी	जयशंकर 'प्रसाद'
काव्य-प्रकाश	मम्मट (सत्यव्रतसिंह की टीका)
काव्य-प्रदीप	रामबहोरी शुक्ल
किसान	मैथिलीशरण
कुमारसंभवम्	कालिदास
केशव की काव्य-कला	कृष्णशङ्कर शुक्ल
गीतावली	तुलसीदास
गीतांजलि	रवीन्द्रनाथ ठाकुर
गीतिका	सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला"
गुंजन	सुमित्रानन्दन पंत
गोस्वामी तुलसीदास	रामचन्द्र शुक्ल
ग्रन्थि	सुमित्रानन्दन पंत
घनआनन्द	शंभुप्रसाद बहुगुना
घनानन्द-ग्रन्थावली	(सं०) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
चक्रवाल	रामधारीसिंह 'दिनकर'
चिंतामणि (प्रथम भाग)	रामचंद्र शुक्ल
छायावाद	प्रताप साहित्यालंकार
जयद्रथवध	मैथिलीशरण गुप्त
जयभारत	मैथिलीशरण गुप्त
जायसी-ग्रंथावली	(सं०) रामचन्द्र शुक्ल
झरना	जयशंकर 'प्रसाद'
डिंगल साहित्य में नारी	हनुवंतसिंह छवड़ा
ढोला मारू रा दूहा	(सं०) रामसिंह, सूर्यकरण पारीक, नरोत्तमदास स्वामी
द्वापर	मैथिलीशरण गुप्त
दि गोल्डेन ट्रेजरी	(सं०) फ्रांसिस टर्नर पाल्ग्रेव
दि पाकेट बुक आफ वर्स	(सं०) एम० ई० स्पीयर
देव और बिहारी	कृष्णविहारी मिश्र
देव-सुधा	(सं०) मिश्रबंधु
धूप के धान	गिरिजाकुमार माथुर

ग्रन्थ	ग्रन्थाकार
नवीन पिंगल	अवध उपाध्याय
नया साहित्य नए प्रश्न	नंददुलारे वाजपेयी
नाट्यशास्त्र	भरत मुनि
निशा-निमंत्रण	बच्चन
बचपन की श्रेष्ट कविताएं	(सं०) रमाकांत 'कांत'
पथिक	रामनरेश त्रिपाठी
परिमल	निराला
पल्लव	पंत
प्रगतिवाद: एक समीक्षा	धर्मवीर भारती
प्रगति और परंपरा	रामविलास
प्रवासी के गीत	नरेंद्र शर्मा
प्रसाद की काव्य-साधना	रामनाथलाल 'सुमन'
प्रसाद और उनका साहित्य	विनोदशंकर व्यास
प्राण-गीत	नीरज
प्रिय-प्रवास	हरिऔध
प्रेम-पथिक	प्रसाद
पंचवटी	मैथिलीशरण गुप्त
बावरा अहेरी	अज्ञेय
बिहारी-सतसई	(सं०) रत्नाकर
बेरेक रूप बेलाउस एंड अदर वर्सेज	रडयार्ड किपलिंग
भक्ति का विकास	मुंशीराम शर्मा
भ्रमरगीतसार	(सं०) रामचन्द्र शुक्ल
भारतीय कविता १९५३	साहित्य अकादेमी, (नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित)
भारतीय साधना और सूर-साहित्य	मुंशीराम शर्मा
भिखारीदास-ग्रंथावली	(सं०) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
मनुस्मृति	मनु
महाकवि हरिऔध	गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश'
मालविकाग्निमित्रम्	कालिदास
मिश्रबन्धु-विनोद	मिश्र बन्धु
मीराबाई की पदावली	(सं०) परशुराम चतुर्वेदी

ग्रंथ	ग्रन्थकार
मेघदूतम्	कालिदास
मैथलीशरण गुप्त: कवि और भारती संस्कृति के आख्याता	उमाकांत
यशोधरा	मैथिलीशरण गुप्त
यामा	महादेवी वर्मा
रघुवंशम्	कालिदास
रस-कलश	हरिऔध
रस-गंगाधर	जगन्नाथ
रहस्यवाद और हिन्दी कविता	गुलाबराय और शंभुनाथ पांडेय
रामचंद्रिका	केशवदास (दीन जी की टीका)
रामचरितमानस	तुलसीदास
रुबाइयात ऑफ ओमर खैयाम	(अनुवादक) फिट्जेराल्ड
लहर	प्रसाद
वक्रोक्तिजीवितम्	कुंतक (आचार्य विश्वेश्वर की टीका)
विक्रमोर्वशीयम्	कालिदास
विचारधारा	धीरेंद्र वर्मा
विचार और विवेचन	नगेंद्र
विचार-विमर्श	चंद्रबली पांडेय
विद्यापति का अमर-काव्य	(सं०) गुणानंद जुयाल
विभावरी	नीरज
विवेचन	इलाचंद जोशी
वैदेही-वनवास	हरिऔध
वृहदारण्यक उपनिषद्	—
स्वर्ण-किरण	सुमित्रानंदन पंत
स्वर्ण-धूलि	सुमित्रानंदन पंत
स्वप्नवासवदत्तम्	भास
साकेत	मैथिलीशरण गुप्त
साकेत: एक अध्ययन	नगेंद्र
साकेत के नवम् सर्ग का काव्य-वैभव	कन्हैयालाल सहल
साहित्य-दर्पण	विश्वनाथ
सुदामा-चरित्र	नरोत्तमदास

ग्रंथ	ग्रंथकार
सुमित्रानंदन पंत	(सं०) शचीरानी गुर्टू
सूर-पंचरत्न	(सं०) भगवानदीन 'दीन' और मोहनबल्लभ पंत
सूर-सौरभ	मुंशीराम शर्मा
संचारिणी	शांतिप्रिय द्विवेदी
संजीवन-भाष्य .	पद्मसिंह शर्मा
संक्षिप्त सूर-सागर	(सं०) बेनीप्रसाद
संक्षिप्त हिन्दी-नवरत्न	मिश्रबन्धु
हिन्दी-कविता में युगांतर	सुधीन्द्र
हिन्दी के आलोचक	(सं०) शचीरानी गुर्टू
हिन्दी-नवरत्न	मिश्रबन्धु
हिन्दी-लोक-गीत	रामकिशोरी देवी
हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
होलीबाइबिल	
त्रिशंकु	अज्ञेय